द्रव्य प्रदातृ :
श्री सौ० सेठानी मनफूल बाई पाटनी
निवाई (राजस्थान)



पुस्तक प्राप्ति स्थान
बालचन्द, राजेन्द्रकुमार जैन
निवाई (टोंक-राजस्थान)



मूल्य :
स्वाध्याय



मुद्रक :
श्री वीर प्रेस,
मनिहारों का रास्ता, जयपुर-3

भी खूब प्रचार हो गया था। भट्टारक गण भी खूब ग्रन्थ रचना करते थे। वे प्राय: अपने ग्रन्थ श्रावकों के आग्रह से निबद्ध करते रहते थे। व्रत उपवास की समाप्ति पर श्रावको द्वारा इन ग्रन्थों की प्रतियां विभिन्न ग्रन्थ भंडारों को भेट स्वरूप दे दी जाती थी। भट्टारकों के साथ हस्तलिखित ग्रन्थों के बस्ते के बस्ते होते थे। समाज में स्त्रियों की स्थिति अच्छी नही थी और न उनके पढ़ने-लिखने का साधन था। व्रतोद्यापन पर उनके आग्रह से ग्रन्थों की स्वाध्यार्थ प्रतिलिपि कराई जाती थी और उन्हे साधु-सन्तो को पढ़ने के लिये दे दिया जाता था।

साहित्य सेवा :

साहित्य सेवा मे सकलकीर्ति का जबरदस्त योग रहा। कभी कभी तो ऐसा मालूम होने लगता है जैसे उन्होने अपने साधु जीवन के प्रत्येक क्षणका उपयोग किया हो। सस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। वे सहज रूपमें ही काव्य रचना करते थे। इसलिये उनके मुख से जो भी वाक्य निकलता था वही काव्य रूप में परिवर्तित हो जाता था। साहित्य रचना की परम्परा सकलकीर्ति ने ऐसी डाली कि राजस्थान के बागड एवं गुजरात प्रदेश मे होने वाले अनेक साधु सन्तो ने साहित्य की खूब सेवा की तथा स्वाध्याय के प्रति जन-साधारण की भावना को जाग्रत किया। इन्होने अपने अन्तिम २२ वर्ष के जीवन में २७ से अधिक संस्कृत रचनाएं एव ८ राजस्थानी रचनाएं निबद्ध की थी।

राजस्थान में ग्रन्थ भंडारो की जो अभी खोज हुई है उनमें हमें अभी तक निम्न रचनाएं उपलब्ध हो सकी है।

संस्कृत की रचनाएं :

१. मूलाचार प्रदीप, २ प्रश्नोत्तरोपासकाचार, ३ आदिपुराण, ४ उत्तरपुराण, ५. शातिनाथ चरित्र, ६. वर्द्धमान चरित्र, ७. मल्लिनाथ चरित्र, ८ यशोधर चरित्र, ९ धन्यकुमार चरित्र १० सुकुमाल चरित्र, ११. सुदर्शन चरित्र, १२. सद्भाषितावलि, १३ पार्श्वनाथ चरित्र, १४ व्रतकथा कोष, १५ नेमिजिन चरित्र, १६. कर्मविपाक, १७ तत्वार्थसार दीपक, १८. सिद्धान्तसार दीपक, १९ आगमसार, २०. परमात्मराज स्तोत्र, २१. सारचतुर्विशतिका, २२ श्रीपाल चरित्र, २३. जम्बूस्वामी चरित्र, २४. द्वादशानुप्रेक्षा,

पूजा ग्रन्थ :

२५ अष्टाह्निका पूजा, २६. सोलहकारण पूजा, २७. गणधरवलय पूजा,

ये स्वयं भी नग्न अवस्था में रहते थे और इसलिये ये निर्ग्रन्थकार अथवा निर्ग्रन्थराज के नाम से भी अपने शिष्यों द्वारा सम्बोधित किये गये हैं। इन्होंने वागड़ प्रदेश में जहां भट्टारकों का कोई प्रभाव नहीं था। संवत् १४९२ में गलियाकोट में एक भट्टारक गादी की स्थापना की और अपने आपको सरस्वती गच्छ एवं बलात्कारगण की परम्परा का भट्टारक घोषित किया। ये उत्कृष्ट तपस्वी थे तथा अपने जीवन में इन्होंने कितने ही व्रतों का पालन किया था।

सकलकीर्ति ने जनता को जो कुछ चरित्र सम्बन्धी उपदेश दिया था, पहिले उसे अपने जीवन में उतारा। २२ वर्ष के एक छोटे से समय में ३५ से अधिक ग्रन्थों की रचना, विविध ग्रामों एवं नगरों में विहार, भारत के राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, मध्यप्रदेश आदि प्रदेशों के तीर्थों की पद-यात्रा एवं विविध व्रतों का पालन केवल सकलकीर्ति जैसे महा विद्वान् एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले साधु से ही सम्पन्न हो सकते थे। इस प्रकार ये श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र से विभूषित उत्कृष्ट एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले साधु थे।

मृत्यु

एक पट्टावलि के अनुसार भट्टारक सकलकीर्ति ५६ वर्ष तक जीवित रहे। संवत् १४९९ मे महसाना नगर में उनका स्वर्गवास हुआ। पं० परमानन्दजी शास्त्री ने भी प्रशस्ति संग्रह मे इनकी मृत्यु संवत् १४९९ में महसाना (गुजरात) में होना लिखा है। डा० ज्योतिप्रसाद जैन एवं डा० प्रेमसागर भी इसी संवत् को सही मानते हैं। लेकिन डा० ज्योतिप्रसाद इनका पूरा जीवन ८१ वर्ष स्वीकार करते हैं जो अब लेखक को प्राप्त विभिन्न पट्टावलियों के अनुसार वह सही नही जान पड़ता। सकलकीर्ति रास मे उनकी विस्तृत जीवन गाथा है। उसमें स्पष्ट रूप से संवत् १४४३ को जन्म एवं संवत् १४९९ मे स्वर्गवास होने को स्वीकार किया है।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था

भट्टारक सकलकीर्ति के समय देश की सामाजिक स्थिति अच्छी नही थी। समाज में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना का अभाव था। शिक्षा की बहुत कमी थी। साधुओं का अभाव था। भट्टारकों मे नग्न रहने की प्रथा थी। स्वयं भट्टारक सकलकीर्ति भी नग्न रहते थे। लोगों मे धार्मिक श्रद्धा बहुत थी। तीर्थ यात्रा बड़े-बड़े संघों मे होती थी। उनका नेतृत्व करने वाले साधु होते थे। तीर्थ यात्राएं बहुत लम्बी होती थी तथा वहा से सकुशल लौटने पर बड़े-बड़े उत्सव एवं समारोह किये जाते थे। भट्टारकों ने पंच-कल्याणक प्रतिष्ठाओं एवं अन्य धार्मिक समारोह करने की अच्छी प्रथा डाल दी थी। इनके संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक आदि सभी होते थे। साधुओं में ज्ञान प्राप्ति की काफी अभिलाषा होती थी, तथा संघ के सभी साधुओं को पढाया जाता था। ग्रन्थ रचना करने का

हीत नही हो। वे साहित्य गगन के ऐसे महान् तपस्वी सन्त है जिनकी विद्वत्ता पर देश का सम्पूर्ण विद्वत् समाज गर्व कर सकता है। वे साहित्य गगन के सूर्य है और अपनी काव्य प्रतिभा से गत ७०० वर्षो से सभी को आलोकित कर रखा है। उन्होने संस्कृत एवं राजस्थानी में दो चार नही, पचासों रचनाये निवद्ध कीं और काव्य, पुराण, चरित, कथा, अध्यात्म, सुभाषित आदि विविध विषयों पर अधिकार पूर्वक लिखा। गुजरात, बागड़, मेवाड़ एवं ढूंढाहड़ प्रदेश में जिनके पचासो शिष्य प्रशिष्यो ने उनकी कृतियों की प्रतिलिपियां करके यहां के शास्त्र भण्डारों की शोभा में अभिवृद्धि की। और गत ५०० वर्षो से जिनकी कृतियो का स्वाध्याय एवं पठन पाठन का समाज में सर्वाधिक प्रचार रहा है। जिनमे कितने ही पुराण एवं चरित्र ग्रन्थो की हिन्दी टीकाये हो चुकी है तथा अभी तक भी वही क्रम चालू है। ऐसे महाकवि का सस्कृत साहित्य के इतिहास में कोई विशेष उल्लेख नही मिलना निसन्देह विचारणीय है। "राजस्थान के जैन सन्त व्यक्तित्व एवं कृतित्व"[1] पुस्तक में सर्व प्रथम लेखक ने भट्टारक सकलकीर्ति पर जब विस्तृत प्रकाश डाला तो विद्वानों का इस ओर ध्यान गया और उदयपुर विश्वविद्यालय से डा० बिहारीलाल जैन ने भट्टारक सकलकीर्ति पर एक शोध प्रबन्ध लिख कर उनके जीवन एव कृतित्व पर गहरी खोज की और बहुत ही सुन्दर रीति से उनका मूल्याकन प्रस्तुत किया। प्रसन्नता का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय ने शोध प्रबन्ध को स्वीकृत करके श्री बिहारीलाल जैन को पी-एच डी. की उपाधि से सम्मानित भी कर दिया है। डा० जैन ने सकलकीर्ति की आयु एवं जीवन के सम्बन्ध मे कुछ नवीन तथ्य उपस्थित किये है। लेकिन सकलकीर्ति के विशाल साहित्य को देखते हुये अभी उनका और भी विस्तृत मूल्यांकन होना शेष है। अभी तक विद्वानों ने सर्वे के रूप में उनके साहित्य का नामोल्लेख किया है तथा उनका सामान्य परिचय पाठको के समक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उनकी प्रत्येक कृति ही अपूर्व कृति है जिसमे सभी प्रकार की ज्ञान सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होने काव्य लिखे, पुराण लिखे एवं कथा साहित्य लिखा और जन साधारण मे उन्हे लोकप्रिय बनाया। उन्होने संस्कृत मे ही नही, राजस्थानी भाषा मे भी लिखा। इसमे भट्टारक सकलकीर्ति के महान व्यक्तित्व को देखा एवं परखा जा सकता है

भट्टारक सकलकीर्ति

जीवन परिचय–

भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म संवत् १४४३ (सन् १३८६) में हुआ था। इनके पिता का नाम करमसिह एव माता का नाम शोभा था। ये अणहिलपुर पट्टण के रहने वाले थे। इनकी जाति

---

१. साहित्य शोध विभाग श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीरजी द्वारा प्रकाशित।

हूमड थी।[1] "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" कहावत के अनुसार गर्भधारण करने के पश्चात् इनकी माता ने एक सुन्दर स्वप्न देखा और उसका फल पूछने पर करमसिंह ने इस प्रकार कहा—

"तजि वयण सुणीसार, कुमर तुम्ह होइसिइए।
निर्मल गंगानीर, चन्दन नन्दन तुम्ह तणुए ॥ ९ ॥
जलनिधि गहिर गम्भीर खीरोपम सोहामणुए।
ते जिहि तरण प्रकाश जग उद्योतन जस किरणि ॥ १० ॥

बालक का नाम पूनसिंह अथवा पूर्णसिंह रखा गया। एक पट्टावलि मे इनका नाम पदर्थ भी दिया हुआ है। द्वितीया के चन्द्रमा के समान वह बालक दिन प्रति दिन बढने लगा। उसका वर्ण राजहस के समान शुभ्र था तथा शरीर बत्तीस लक्षणो से युक्त था। पांच वर्ष के होने पर पूर्णसिंह को पढने बैठा दिया गया। बालक कुशाग्र बुद्धि का था इसलिए शीघ्र ही उसने सभी ग्रन्थो का अध्ययन कर लिया। विद्यार्थी अवस्था मे भी इनका अर्हद् भक्ति की ओर अधिक ध्यान रहता था तथा वे क्षमा, सत्य, शौच एव ब्रह्मचर्य आदि धर्मो को जीवन मे उतारने का प्रयास करते रहते थे। गार्हस्थ्य जीवन के प्रति विरक्ति देखकर माता-पिता ने उनका १४ वर्ष की अवस्था मे ही विवाह कर दिया, लेकिन विवाह बंधन मे बांधने के पश्चात् भी उनका मन संसार मे नही लगा और वे उदासीन रहने लगे। पुत्र की गति-विधिया देखकर माता-पिता ने उन्हे बहुत समझाया लेकिन उन्हे कोई सफलता नही मिली। पुत्र एवं माता पिता के मध्य बहुत दिनो तक वाद-विवाद चलता रहा। पूर्णसिंह के कुछ समझ मे नही आता और वे बार बार साधु जीवन धारण करने की उनसे स्वीकृति मांगते रहते।

अन्त मे पुत्र की विजय हुई और पूर्णसिंह ने २६ वे वर्ष मे अपार सम्पत्ति को तिलाञ्जलि देकर साधु जीवन अपना लिया। वे आत्म-कल्याण के साथ-साथ जगत्कल्याण की ओर चल पड़े।

१—हरषी सुणीय सुवाणि पालइ अन्य ऊअरि सुपर।
चोऊद निताल प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ ॥

न्याति माहि मुहुतवत हूँवड हरपि वखाणिइये।
करमसिंह वितपन्न उदयवत इम जाणीए ॥ ३ ॥

शोभित रस अरधागि, मूलि सरीस्य सुन्दरीय।
सील स्यगारित अंगि पेखु प्रत्यक्ष पुरदरीय ॥ ४ ॥

—सकल कीति रास

"भट्टारक सकलकीर्ति नु रास" के अनुसार उनकी इस समय केवल १८ वर्ष की आयु थी। उस समय भट्टारक पद्मनंदि का मुख्य केन्द्र नैणवां (उदयपुर) था और वे आगम ग्रन्थो के पारगामी विद्वान् माने जाते थे। इसलिये ये भी नेणवा चले गये और उनके शिष्य बन कर अध्ययन करने लगे। यह उनके साधु जीवन की प्रथम पद यात्रा थी। वहां ये आठ वर्ष रहे और प्राकृत एवं संस्कृत के ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन किया। उनके मर्म को समझा और भविष्य में सत्साहित्य का प्रचार प्रसार ही अपना जीवन का एक उद्देश्य बना लिया। ३४ वें वर्ष मे उन्होंने आचार्य पदवी ग्रहण की और नाम सकलकीर्ति रखा गया।

बिहार

सकलकीर्ति का वास्तविक साधु जीवन संवत् १४७७ से प्रारम्भ होकर संवत् १४९९ तक रहा। इन २२ वर्षो में इन्होंने मुख्य रूप से राजस्थान के उदयपुर, बासवाडा, प्रतापगढ आदि राज्यो एवं गुजरात प्रान्त के राजस्थान के समीपस्थ प्रदेशों में खूब बिहार किया।

उस समय जन साधारण के जीवन में धर्म के प्रति काफी शिथिलता आ गई थी। साधु-सन्तो के बिहार का अभाव था। जन-साधारण की न तो स्वाध्याय के प्रति रुचि रही थी और न उन्हे सरल भाषा मे साहित्य ही उपलब्ध होता था। इसलिए सर्वप्रथम सकलकीर्ति ने उन प्रदेशो में बिहार किया और सारे समाज को एक सूत्र मे बाधने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उन्होने कितने ही यात्रा-संघो का नेतृत्व किया। सर्व प्रथम उन्होने गिरनार की संघ के साथ यात्रा आरम्भ की। फिर वे चपानेर की ओर यात्रा करने निकले। वहा से आने के पश्चात् हूमड जातीय रतना के साथ मांगीतु गी की यात्रा के लिये प्रस्थान किया। इसके पश्चात् उन्होंने अन्य तीर्थो की वन्दना की जिससे देश मे धार्मिक चेतना फिर से जाग्रत होने लगी।

""तिष्ठाओं का आयोजन

तीर्थ यात्राओं के पश्चात् सकलकीर्ति ने नव मन्दिर निर्माण एवं प्रतिष्ठाएं करवाने का हाथ में लिया। उन्होने अपने जीवन में १४ विम्ब प्रतिष्ठाओ का संचालन किया। इस कार्य ा देने वालो मे संघपति नरपाल एव उनकी पत्नी बहुरानी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। कोट मे संघपति मूलराज ने इन्ही के उपदेश से "चतुर्विशति जिन विम्ब" की स्थापना की था। नागदा जाति के श्रावक संघपति ठाकुरसिंह ने भी कितनी ही विम्ब प्रतिष्ठाओ मे योग दिया। भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा संवत् १४९०, १४९२, १४९७ आदि संवतों मे प्रतिष्ठापित मूर्तियां उदयपुर डूंगरपुर एवं सागवाड़ा आदि स्थानो के जैन मन्दिरो में मिलती है। प्रतिष्ठा महोत्सवों के इन

आयोजनों से तत्कालीन समाज में जो जन जाग्रति उत्पन्न हुई थी, उसने देश में जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार प्रसार मे अपना पूरा योग दिया।

व्यक्तित्व एवं पांडित्य

भट्टारक सक्लकीर्ति असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। इन्होने जिन जिन परम्पराओ की नीव रखी, उनका वाद में खूब विकास हुआ। वे गम्भीर अध्ययन युक्त सन्त थे। प्राकृत एवं सस्कृत भाषाओ पर इनका पूर्ण अधिकार था। ब्रह्म जिनदास एवं भ० भुवनकीर्ति जैसे विद्वानो का इनका शिष्य होना ही इनके प्रबल पाण्डित्य का सूचक है। इनकी वाणी में जादू था इसलिए जहां भी इनका विहार हो जाता था वही इनके सैकड़ो भक्त वन जाते थे। ये स्वयं तो योग्यतम विद्वान थे ही, किन्तु इन्होने अपने शिष्यो को भी अपने ही समान विद्वान् वनाया। ब्रह्म जिनदास ने अपने ग्रन्थो में भट्टारक सकलकीर्ति को महाकवि, निर्ग्रन्थराज शुद्ध चरित्रधारी एवं तपोनिधि आदि उपाधियो से सम्बोधित किया है।[1]

भट्टारक सकलभूषण ने अपने उपदेश रत्नमाला की प्रशस्ति मे कहा है कि सकलकीर्ति जन जन का चित्त स्वत ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। ये पुण्यमूर्ति स्वरूप थे तथा अनेक पुराण ग्रन्थो के रचयिता थे।[2]

इसी तरह भट्टारक शुभचन्द्र ने सकलकीर्ति को पुराण एवं काव्यों का प्रसिद्ध नेता कहा है। इनके अतिरिक्त इनके वाद होने वाले प्रायः सभी भट्टारको ने सकलकीर्ति के व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की भारी प्रशसा की है। ये भट्टारक थे किन्तु मुनि नाम से भी अपने आपको सम्बोधित करते थे। धन्य कुमार चरित्र ग्रन्थ की पुष्पिका मे इन्होने अपने आपको मुनि सकलकीर्ति नाम से परिचय दिया है।

१–ततो भवत्तस्य जगत्प्रसिद्धे पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्ति ।
महाकवि शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रन्थराजा जगति प्रतापी ॥
जम्बू स्वामी चरित्र।

२–तत्पट्ट पंकेजविकासभास्वान् वभूव निर्ग्रन्थवर प्रतापी।
महाकवित्वादिकला प्रवीण. तपोनिधि: श्री सकलादिकीर्तिः ॥
–हरिवंश पुराण।

२–तत्पट्टधारी जनचित्तहारी पुराणमुख्योत्तम-शास्त्रकारी।
भट्टारक श्रीसकलादिकीर्ति प्रसिद्धनामाजनि पुण्यमूर्ति. ॥२१६॥
उपदेशरत्नमाला–सकल भूषण

राजस्थानी कृतियां :

१ आराधना प्रतिबोधसार, २. नेमीश्वर गीत, ३. मुक्तावलि गीत, ४. णमोकार फल गीत, ५. सोलहकारण रास, ६. सारसिखामणि रास, ७. शान्तिनाथ फागु।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त अभी और भी रचनाएं हो सकती है जिनकी अभी खोज होना बाकी है। भट्टारक सकलकीर्ति की संस्कृत भाषा के समान राजस्थानी भाषा में भी कोई बड़ी रचना मिलनी चाहिए, क्योकि इनके प्रमुख शिष्य ब्र० जिनदास ने इन्ही की प्रेरणा एवं उपदेश से राजस्थानी भाषा में ५० से भी अधिक रचनाएं निबद्ध की हैं।

उक्त सस्कृत कृतियो के अतिरिक्त पंचपरमेष्ठि पूजा, द्वादशानुप्रेक्षा एवं सारचतुर्विंशतिका आदि और भी कृतिया है जो राजस्थान के शास्त्र भंडारो में उपलब्ध होती है। ये सभी कृतियां जैन समाज में लोकप्रिय रही है तथा उनका पठन-पाठन भी खूब रहा है।

भट्टारक सकलकीर्ति की उक्त सस्कृत रचनाओं मे कवि का पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। उनके काव्यो में उसी तरह की शैली, अलंकार, रस एव छन्दों की परियोजना उपलब्ध होती है जो अन्य भारतीय सरकृत काव्यो मे मिलती है। उनके चरित काव्यों के पढने से अच्छा रसास्वादन मिलता है। चरित काव्यो के नायक त्रेसठशलाका के लोकोत्तर महापुरुष है जो अतिशय पुण्यवान है, जिनका सम्पूर्ण जीवन अत्यधिक पावन है। सभी काव्य शान्तरस पर्यंवसानी है।

काव्य ज्ञान के समान भट्टारक सकलकीर्ति जैन सिद्धान्त के महान् वेत्ता थे। उनका मूलाचार प्रदीप, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, सिद्धान्तसार दीपक एव तत्त्वार्थसार दीपक तथा कर्मविपाक जैसी रचनाएं उनके अगाध ज्ञान के परिचायक है। इसमे जैन सिद्धान्त, आचार-शास्त्र एवं तत्त्वचर्चा के उन गूढ रहस्यो का निचोड़ है जो एक महान विद्वान् अपनी रचनाओ में भर सकता है।

इसी तरह सद्भाषितावलि उनके सर्वांगज्ञान का प्रतीक है-जिसमें सकलकीर्ति ने जगत के प्राणियों को सुन्दर शिक्षाएं भी प्रदान की है, जिससे वे अपना आत्म-कल्याण करने की ओर अग्रसर हो सके। वास्तव मे वे सभी विषयों के पारगामी विद्वान् थे। ऐसे सन्त विद्वान् को पाकर कौन देश गौरवान्वित नही होगा ?

राजस्थानी रचनाएं

सकलकीर्ति ने हिन्दी में बहुत ही कम रचना निबद्ध की है। इसका प्रमुख कारण सम्भवतः इनका सस्कृत भाषा की ओर अत्यधिक प्रेम था। इसके अतिरिक्त जो भी इनकी हिन्दी रचनाएं

मिली है वे सभी लघु रचनाएं है जो केवल भाषा अध्ययन की दृष्टि से ही उल्लेखनीय कही जा सकती है। सकलकीर्ति का अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ था। इनकी रचनाओं में राजस्थानी भाषा की स्पष्ट छाप दिखलाई देती है।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत भाषा में ३० ग्रन्थों की रचना करके मां भारती की अपूर्व सेवा की और देश मे सस्कृत के पठन-पाठन का जबरदस्त प्रचार किया। पार्श्वनाथ चरित आपकी प्रसिद्ध रचना है जिसके स्वाध्याय का देश एवं समाज मे अत्यधिक प्रचार है। सकलकीर्ति ने अपने पूर्वाचार्यो के अनुसार पुराण एवं काव्य दोनो की सम्मिलित शैली मे भगवान पार्श्वनाथ के जीवन पर काव्य रचना की।

जैनाचार्यो एवं सन्तों तथा विद्वानों के लिये भगवान पार्श्वनाथ का जीवन अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। यही कारण है कि अनेक आचार्यों एवं कवियो ने उनके जीवन पर कितने ही काव्य एव पुराण लिखे, कथा काव्य लिखे एवं अन्य काव्य रूपों के माध्यम से जन साधारण में पार्श्वनाथ के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित की। राजस्थान के ग्रन्थ सग्रहालयों मे भगवान पार्श्वनाथ के जीवन पर जो काव्य, चरित एवं पुराण उपलब्ध हुए है उनका विवरण निम्न प्रकार है—

संस्कृत भाषा :

१. पार्श्वाभ्युदय	जिनसेनाचार्य
२. पार्श्वनाथ चरित्र	वादिराजसूरि (सन् १०२५)
३. ,,	भ० सकलकीर्ति
४. पार्श्वनाथकाव्य पंजिका	भ० शुभचन्द्र
५. पार्श्वनाथ पुराण	पार्श्वपंडित
६. पार्श्वपुराण	वादिचन्द्र (वि० सं० १६५१)
७. पार्श्वपुराण	चन्द्रकीर्ति

अपभ्रंश भाषा :

८. पासणाहचरिउ	पद्मकीर्ति
९. पासचरिउ	रइधू
१०. पासणाहचरिउ	श्रीधर
११. ,,	देवचन्द्र
१२. ,,	असवालकवि

१३. पासणाह चरिउ	मुनि पद्मनन्दि
१४. पासपुराण	तेजपाल

हिन्दी भाषा :

पार्श्वपुराण	भूधरदास, रचना सं० १७८९	
पार्श्वनाथरास	ब्र० कपूरचन्द, रचना सं० १६५६	
पार्श्वनाथ चरिउ	विश्वभूषण	—

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण, पुष्पदंत के महापुराण, हेमचन्द के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थों में भी भगवान पार्श्वनाथ के जीवन पर विस्तृत वर्णन मिलता है।

भट्टारक सकलकीर्ति के पूर्व संस्कृत में जिनसेनाचार्य का पार्श्वाभ्युदय तथा वादिराज सूरि का पार्श्वनाथचरित जैसे काव्य निबद्ध हो चुके थे तथा आचार्य गुणभद्र का उत्तरपुराण एवं हेमचन्द्र का "त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित" जैसे काव्य सामने आ चुके थे। यही नहीं, अपभ्रंश के तो पुष्पदन्त, पदमकीर्ति, श्रीधर जैसे महाकवियों के काव्य एवं पुराणो का उन्होंने अध्ययन कर लिया होगा। इस प्रकार यह कहना सत्य प्रतीत होगा कि भट्टारक सकलकीर्ति के पूर्व ही पार्श्वनाथ का जीवन काव्य निर्माण के लिए अत्यधिक लोकप्रिय बन गया था। और उनके जीवन पर काव्य निर्माण करना विद्वत्ता की कोटि में गिना जाने लगा था तथा किसी विद्वान के लिये महाकवि कहलाने के लिए आवश्यक समझा जाने लगा था। इसलिए भट्टारक सकलकीर्ति ने भी भगवान पार्श्वनाथ के जीवन पर काव्य निर्माण करके उनके चरणो में अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित किये।

भट्टारक सकलकीर्ति ने पार्श्वनाथ चरित को महाकाव्य के समान २३ सर्गो में पूर्ण किया है। इन सर्गो में भगवान पार्श्वनाथ के जीवन पर काव्यात्मक शैली में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। चरित के प्रथम १० सर्गों में पूर्वभवो का का वर्णन, ११ वे से १८ वे तक पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक का वर्णन तथा १९ वें से २३ वे सर्ग तक उनके उपदेशों एवं निर्वाण गमन का वर्णन किया गया है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्व प्रथम २४ तीर्थङ्करों को वंदना की है। उनके पश्चात् गौतमादि गणधरों को स्मरण करते हुए—आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधुओं को उनके गुणों का वर्णन करते हुए नमस्कार किया है। इसके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द, अकलंकदेव, आचार्य समन्तभद्र, एव जिनसेनाचार्य को नमस्कार किया गया है। यह सब मंगलाचरण प्रथम ३९ छन्दो में पूर्ण होता है। इसके पश्चात् कथा प्रारम्भ होती है।

पार्श्वनाथ की कथा वस्तु आ० गुणभद्र के उत्तरपुराण पर आधारित है। भट्टारक सकलकीर्ति ने उसमे कोई परिवर्तन नहीं किया। किन्तु फिर भी उसके प्रस्तुतीकरण में उनकी स्वयं की शैली के दर्शन होते है। किस घटना का विस्तृत वर्णन करना और किस घटना का सामान्य वर्णन करके आगे बढ़ जाना यह उनके लिये अत्यधिक सरल था। पार्श्वनाथ चरित मे पार्श्वनाथ एवं कमठ के दश भवों की कहानी है जिसका चित्र निम्न प्रकार है—

	पिता का नाम	माता का नाम	पार्श्वनाथ का नाम	कमठ का नाम	पार्श्व की मृत्यु का कारण
पहला भव	विश्वभूति	अनुन्धरी	मरुभूति	कमठ	कमठ द्वारा शिला गिराने से
दूसरा भव	—	—	वज्रघोष हस्ति	कुक्कट सर्प	सर्प द्वारा डस लिये जाने से के कारण।
तीसरा भव	—	—	सहस्रार कल्प	धूमप्रभ नरक	—
चतुर्थ भव	विद्युत्गति	विद्युत्माला	अग्निवेग (स्वर्ग)	अजगर	अजगर के निगलने से।
पचम भव	—	—	अच्युत स्वर्ग (विद्युत्प्रभदेव)	छठवां नरक	—
षष्ठ भव	वज्रवीर्य	विजया	वज्रनाभि चक्रवर्ति	भील कुरग	भील के बाण से
सप्तम भव	—	—	मध्यम ग्रैवेयक	सप्तम नरक	—
अष्टम भव	वज्रबाहु	प्रभंकरी	आनन्द मंडलेश्वर	सिंह	सिंह के खा जानेसे
नवम भव	—	—	आनत कल्प	नरक	—
दशम भव	विश्वसेन	ब्राह्मी	पार्श्वनाथ	ज्योतिर्लोक में नीच देव	निर्वाण

पार्श्वनाथ का जीवन मूल ग्रन्थ मे विस्तृत रूप से वर्णित है इसलिये उसका ऊपर वाला चार्ट ही सार रूप मे है। वास्तव मे पार्श्वनाथ के सारे भव जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त पर आधारित है। कर्म सिद्धान्त को सरल रूप मे पार्श्वनाथ के इन पूर्व भवो द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है। किस प्रकार एक बार पाप मार्ग की ओर प्रवृत्त हुआ जीव उसी ओर बढता चला जाता है और अनेक जन्मो के पश्चात् भी उस मार्ग को छोडने मे तब तक असमर्थ रहता है जब तक उसको सत्यमार्ग

की ओर प्रवृत्त कराने वाले साधुओ का सम्पर्क नही मिलता। कमठ का जीव एक बार कुमार्ग पर लग गया और अपने लघु भ्राता को ही शत्रु समझ बैठा। इसके पश्चात् उसकी यह विचार धारा बदल ही नही सकी और जब भी दोनों का साक्षात्कार हुआ कमठ ने अपने शत्रु स्वभाव को नहीं छोड़ा। पहिले उसने सर्प की योनि में जन्म लेकर उसे डसा और फिर अजगर के रूप में पैदा होकर ध्यानस्थ मुनि को ही निगल गया। इसके पश्चात् नरकों से निकल कर वह जीव भील हुआ लेकिन यहां भी उसने अपने बाण से उसकी जान ले ली। सिंह की पर्याय में आने पर उसने अपने पूर्व भव के शत्रु को खा लिया और जब मरुभूति के जीव ने दशवें भव में पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के रूप मे जन्म लिया और उसने नीच देव योनि मे जन्म लिया तब भी ध्यानस्थ पार्श्व पर अपने पूर्व भवों के वैर भाव का स्मरण करके उसने घोर उपसर्ग किया। पूर्व भव में उपार्जित कर्मों का फल किसी भी भव मे प्राप्त हो सकता है। ये सब घटनाएं सिद्धान्त की पुष्टि करने वाली है। और इसी कर्म सिद्धान्त के पक्ष का प्रबल समर्थन करने के लिए भट्टारक सकलकीर्ति ने पार्श्वनाथ चरित की रचना की थी।

पार्श्वनाथ चरित्र उच्च कोटि का काव्य है। पूरा काव्य २३ सर्गों में विभक्त है। हम इसे महाकाव्य की श्रेणी का काव्य कह सकते हैं। इसमे नायक एवं प्रतिनायक दोनों है और प्रस्तुत काव्य मे उनके एक भव का ही नही किन्तु दश भवों का चरित्र चित्रण बड़ी ही सुन्दर शैली मे प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक भव में नायक एव प्रतिनायक का मिलन होता है जो आगे भव के बन्ध का कारण बनता है। अन्त मे निर्वाण की प्राप्ति ही नायक की महान विजय है तथा प्रतिनायक द्वारा अपनी हार की स्वीकृति ही उसकी हार है। यहां नायक को कोई राज्य सम्पदा अथवा सुन्दरी की प्राप्ति नही होती और न उसको युद्ध में विजय होती है किन्तु जन्म-मरण की व्याधि से सदा सदा के लिए मुक्ति प्राप्ति ही उसकी महान् विजय है। भारतीय संस्कृति एवं विशेषतः श्रमण संस्कृति मे ऐसे काव्यों को ही विशेष आदरणीय स्थान प्राप्त है।

पूरा महाकाव्य शान्त रस प्रधान काव्य है, जहां धर्म की विजय एवं अधर्म तथा अनीति की निन्दा एवं तिरस्कार होता है। पूरे काव्य मे कही भी मन में विकार उत्पन्न करने वाली सामग्री नहीं है और न पाठक को अनीति एवं दुराचरण की ओर ले जाने वाली है। कवि ने प्रत्येक सर्ग में धर्म की, सत्याचरण की महिमा गायी है। मुनि भक्ति एवं वैराग्य मय जीवन की प्रशंसा की है तथा पापाचरण करने वालो की खुले हृदय से निन्दा की है। स्वर्ग के सुखो एवं नरक के दुःखों का वर्णन करने में भी कवि पीछे नही रहा है। लेकिन स्वर्ग लक्ष्मी प्राप्त होने पर भी किस प्रकार पार्श्वनाथ का जीव जिनेन्द्र भक्ति एवं पूजा में लगा रहता है इसका सकलकीर्ति ने अच्छा वर्णन किया है। मनुष्य अपने ही उपार्जित कर्मों से दुःख एवं सुख प्राप्त करता है इस सिद्धान्त का कवि ने अच्छी तरह प्रति-

पादन किया है। यही नहीं, सुख भी सदा स्थिर नही रहता और न ऐसा कोई पुण्यशाली जीव दिखाई देता जो सदा ही सुखी रहता हो।

काव्य के अन्तिम सर्गों में तो कविने छह द्रव्यों, सात तत्वों, अहिंसा सत्य आदि पांच महाव्रतों एवं मुक्ति मार्ग का जो वर्णन किया है उससे यह काव्य शान्त रस प्रधान काव्य बन गया हैं। १६ वें सर्ग में किस कार्य में प्रवृत्त होने से इस जीव को कौनसा भव मिलता है—इसका भट्टारक सकलकीर्ति ने जो वर्णन प्रस्तुत किया है वह उन लोगों को सत्पथ पर लगाने वाला है जो रात-दिन अनाचार मे फसे रहते हैं तथा आत्म हित का कभी विचार नहीं करते। वास्तव में यह सम्पूर्ण काव्य वैराग्य प्रधान है। वैराग्य उत्पत्ति के पश्चात् पार्श्वनाथ द्वारा द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन बहुत ही सुन्दर हुआ है। भट्टारक सकलकीर्ति निर्ग्रन्थराज थे, वे परम वैरागी सन्त थे। उन्होंने युवावस्था में ही अपार सम्पत्ति वैभव एवं स्त्री कुटुम्ब का त्याग किया था इसलिये उन्होंने इन भावनाओं के माध्यम से ससार का, उसमें रहने वाले संसारियो का, सुख सम्पत्ति की अस्थिरता का, आयु, बल, शरीर एव कुटुम्बीजनो की क्षणिकता का जिस गम्भीर शैली में प्रतिपादन हुआ है वह कवि की साधुता एव विद्वत्ता दोनों का द्योतक है। वास्तव में भावनाओ के माध्यम से उसने अपना हृदय खोल कर रख दिया है। अनित्यानुप्रेक्षा के वर्णन मे भट्टारक सकलकीर्ति के निम्न छन्द को देखिये।

> आयुश्चाक्षचयं बलं निजवपु. सर्वं कुटुम्बं धनं,
> राज्यं वायुकदर्थिताम्बुलहरीतुल्यं जगच्चचलम्।
> ज्ञात्वेर्ताहि शिवं जगत्त्रयहितं सौख्याम्बुधिं शाश्वतं
> दृक् चिद्वृत्तयमेर्दु तं बुधजना मुक्त्यै भजध्वं सदा ॥१४॥

१५ वा सर्ग इन्ही बारह भावनाओ के वर्णन से पूरा होता है। इस सर्ग में १३७ पद्य हैं। इन भावनाओं का वर्णन किसी प्रकृति वर्णन अथवा अन्य किसी ऋतु वर्णन से कम महत्वपूर्ण नहीं है। इनमे हृदय से निकले हुये शब्द हैं। जैन विद्वानों के काव्यों के अतिरिक्त ऐसा आध्यात्मिक अथवा आत्म विकास का सुन्दर वर्णन अन्यत्र कही नही मिलता। और जिसे हम केवल जैन कवियो की ही विशेषता कह सकते हैं। प्रस्तुत काव्य शृंगार वर्णन से दूर है।

पंच कल्याणकों का वर्णन

महाकवि भट्टारक सकलकीर्ति ने पार्श्वनाथ तीर्थंकर के पांचों कल्याणकों का विस्तृत वर्णन किया है। सर्व प्रथम कवि द्वारा माता के १६ स्वप्नो का अत्यधिक रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तीर्थंकर के पांच कल्याणकों का जैन काव्यो में वर्णन एक टेक्निकल वर्णन होता है जो तीर्थंकर

चरित प्रधान अधिकांश काव्य, पुराण एवं कथा परक कृतियों में मिलता है। भट्टारक सकलकीर्ति ने भी अपने इस काव्य में पार्श्वनाथ के पांचों कल्याणकों का विस्तृत वर्णन किया है। प्रस्तुत काव्य के १० वें सर्ग में पार्श्वनाथ के गर्भ में आने के पूर्व देवों द्वारा रत्नों की वृष्टि, माता के देखे हुये १६ स्वप्नों का पहिले विस्तृत वर्णन और फिर उनके फल की सविस्तार व्याख्या दी गयी है। काव्य का १० वां सर्ग इन्ही दोनों वर्णनों तक सीमित रखा गया है। पूरा वर्णन अलंकारिक भाषा में हुआ है जिससे सामान्य पाठक भी काव्य का रसास्वादन कर सकते है। पार्श्वनाथ की माता ने सरोवर एवं समुद्र दोनों देखे। इसका एक वर्णन काव्य में निम्न प्रकार किया गया है—

तरत्सरोजकिञ्जल्कपिञ्जरोदकसच्चयम्। विद्यार्णवं स्वसूनोंवक्षत दिव्यं सरोवरम् ॥१०२॥
क्षुभ्यत्तमब्धिमुद्वेलं सादर्शमणिसंकुलम्। दृग्ज्ञानवृत्तरत्नानां स्वस्य प्रत्रस्य वाकरम् ॥१०३॥

अर्थात् तैरते हुये कमलों की केशर से जिसके जल का समूह पीला पीला हो रहा है तथा जो अपने पुत्र के विद्यारूप सागर के समान जान पड़ता था ऐसा सुन्दर सरोवर देखा ॥ १०२ ॥

जो तट का उल्लंघन कर रहा है, मणियो से व्याप्त है और अपने पुत्र के दर्शन ज्ञान चरित्र रूपी रत्नों की खान के समान प्रतीत हो रहा है, ऐसे लहराते हुए समुद्र को देखा ॥ १०३ ॥

११ वें सर्ग में १६ स्वप्नों का फल, देवियों द्वारा पार्श्वनाथ की माता की सेवा एवं पार्श्व के जन्म का वर्णन किया गया है। काव्य के इस सर्ग में माता की सेवा सुश्रूषा करते हुये उनसे जो विभिन्न प्रश्न पूछे गये और माता ने उनका जो सहज किन्तु गम्भीर उत्तर दिया वह हमारे महाकवि के महान् पाडित्य का सूचक है। देवियों द्वारा किये गये सभी प्रश्नों का उत्तर दूसरा भी दिया जा सकता था, किन्तु माता के उत्तर धार्मिक पथ को सबल करने वाले है।

रतिः क्वात्र विधेया सद्ध्यानाध्ययनकर्मसु। धर्मे रत्नत्रये मुक्तिनार्यां गुर्वादिसेवने ॥ ८६ ॥
किं श्लाध्यं तुच्छद्रव्येऽपि पात्रदानमनेकशः। नि.पापाचरणं यच्च तयोबाल्येऽतिदुःकरम् ॥८७॥

१२ वें सर्ग में देवों द्वारा जन्माभिषेक के उत्सव का वर्णन किया गया है। तथा १३ वे सर्ग में बालक पार्श्व को आभूषण पहिना कर उसके समक्ष इन्द्र द्वारा किये गये नृत्य का वर्णन है। १८ वें सर्ग में पार्श्वनाथ के समवसरण रचना का विस्तृत वर्णन है। समवसरण का अथ तीर्थंकर को धर्म-सभा से है जहाँ पार्श्व का धर्मोपदेश होता था। किन्तु समवसरण की रचना भी पूर्णतः टेक्निक्ल है। भट्टारक सकलकीर्ति ने समवसरण की रचना का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है जो उनके गहन ज्ञान का द्योतक है। इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में पांचों ही कल्याणको का जो वर्णन हुआ है वह आकर्षक एवं गम्भीर है एवं महाकवि के पांडित्य का सूचक है।

पार्श्वनाथ का जन्म और निर्वाण

पार्श्वनाथ भगवान महावीर के समान ही ऐतिहासिक महापुरुष हैं। सभी इतिहासकारों ने एक मत से उनको श्रमण परम्परा के तीर्थङ्कर के रूप मे स्वीकार किया है। उनका जन्म वाराणसी मे हुआ। उनके पिता वाराणसी के राजा विश्वसेन एवं माता महारानी ब्राह्मी थी। उनका जन्म भगवान महावीर के जन्म से लगभग ३५० वर्ष पूर्व हुआ। तीस वर्ष तक राजकुमार का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् उन्होने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण करली[1]। कठोर तपश्चर्या के पश्चात् उन्हें कैवल्य हो गया। समीचीन मार्ग का उपदेश देते हुये उन्होने कुरू, कौशल, काशी, सुह्म, पुण्ड्र, मालव, अग, वङ्ग, कलिङ्ग, पचाल, मगध, विदर्भ, भद्रदेश तथा दशार्ण आदि अनेक देशो में विहार किया। उनका विशाल संघ था जिसमे १६ हजार तपस्वी मुनि, ३६ हजार आर्यिकाएं, एक लाख श्रावक एवं तीन लाख श्राविकाएं थी। अपने विशाल संघ के साथ पार्श्वनाथ सम्मेदाचल के शिखर पर आये और एक माह का योग निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया और अन्त में श्रावण शुक्ला सप्तमी के पूर्वाह्न काल में विशाखा नक्षत्र तथा उत्तम शुभ लग्न में उन्हे निर्वाण प्राप्त हो गया। इस समय उनको सौ वर्ष की आयु थी लेकिन प्रस्तुत महाकाव्य मे इनकी आयु का कोई उल्लेख नही किया।

पार्श्वनाथ के जीवन की दो घटनाओ का उल्लेख प्राय: सभी दिगम्बर आचार्यो ने समान रूप से किया है। एक घटना उनके राजकुमार काल की है, जब उन्होने एक पंचाग्नि तपस्या में लीन साधु को ज्ञानहीन कायक्लेश सहने को मना किया तथा अपने अपूर्व ज्ञान से उनके चारों ओर जलती हुई लकडी के अन्दर सर्प और सर्पिणी का जोडा होने की बात कही। लेकिन उस वृद्ध तपस्वी ने बाल की बात की परवाह किये बिना क्रोधाभिभूत होकर उस लकडी को काट डाला जिसमें नाग युगल था। लकडी के साथ उस तपस्वी ने उन्हें भी काट डाला। पार्श्वनाथ ने दयार्द्र भाव से मरते हुये दोनो नाग युगल को णमोकार मन्त्र सुनाया जिसके प्रभाव से वह युगल जोडी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए।

दूसरी घटना उनके दीक्षा जीवन के बाद की है। जब संवर देव ने तप: साधना मे लीन उन पर घोर उपसर्ग किया तथा उनको तपस्या से डिगाना चाहा। उस समय धरणेन्द्र पद्मावती ने आकर उपसर्ग सहते हुए पार्श्वनाथ की रक्षा की। उक्त दोनों ही घटनाओ का पार्श्वनाथ चरित में अच्छी तरह वर्णन किया गया है।

अन्य धर्मो की स्थिति

वैसे तो पार्श्वनाथ चरित मे जैन धर्म की प्रमुखता बतलायी गयी है, उस समय सभी देशो

---

१ देखिये १४/११६

एव नगरो मे जैन धर्म का प्रचार था। नगरो में जिन मन्दिर थे जहा श्रावक एवं श्राविकाएं बडे उत्साह के साथ पूजा पाठ करते थे। दिगम्बर आचार्य एवं मुनियो का नगरो में विहार होता रहता था तथा उनके नगर प्रवेश के अवसर पर शानदार स्वागत होता था। स्वयं काशीदेश के महाराजा जैन धर्मानुयायी थे, इसलिये भगवान पार्श्वनाथ को किसी नये धर्म की स्थापना नही करनी पडी; किन्तु २२ वे तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा प्रतिपादित धर्म का ही देश मे प्रचार प्रसार करते रहे तथा धर्म मे जो शिथिलता आयी उसे दूर किया।

लेकिन जैन धर्म के अतिरिक्त भी देश में एक और धर्म था जो वैदिक धर्म ही हो सकता है। कमठ राजा अरविन्द द्वारा अपमानित एव देश निष्कासित किये जाने के पश्चात् भूताद्रि पर्वत पर जिस रूप में तप करने लगा था वह जैन धर्म के अनुसार नही था। इसी तरह पार्श्वनाथ की अपने नगर के बाहर पचाग्नि तप करते हुए तपस्वी से भेंट हुई थी। उक्त प्रसंग ये बतलाते है कि देश मे जैन धर्म के अतिरिक्त वैदिक धर्म का भी खूब प्रचार था और उस धर्म के साधुओ को तपस्या आदि साधना की पूरी स्वतन्त्रता थी।

तत्कालीन सामाजिक स्थिति

पार्श्वनाथ चरित्र के आधार पर तत्कालीन सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में जो जानकारी मिलती है उसके अनुसार नागरिक वृद्धावस्था आने के पूर्व ही गृहस्थावस्था त्याग दिया करते थे। दुष्टजनों को राजा गधे पर चढा कर देश निकाला दिया करता था। मानव हत्या सबसे बडा अपराध माना जाता था। तपस्वी जीवन व्यतीत करने वाले कमठ को अपने भाई की हत्या के अपराध मे तपस्वियो ने उसे अपने आश्रम से निकाल दिया था।

नगर मे साधुओ के आने पर गृहस्थ जन उनसे अपने पूर्व भवो के बारे मे प्रश्न पूछते और जगत की क्षणभंगुरता जानने के पश्चात् वे स्वयं भी साधु जीवन ग्रहण कर लेते। जैन धर्म का व्यापक प्रचार था तथा ब्राह्मण वर्ग के अतिरिक्त सभी वर्ग जैन धर्म का पालन करते थे।[1]

बालको को पढाने के लिये जैन अध्यापको के पास भेजा जाता था तथा उसे आगम, अर्थ-शास्त्र शस्त्र विद्या, कला और विवेक आदि की शिक्षा दी जाती थी।[2] अष्टाह्निकाओं मे मन्दिरो मे विशेष पूजा होती थी।[3] महिलाये जब जिन मन्दिर जाती थी तो वे वस्त्र आभूषणो से पूर्ण अलकृत होती थी। विवाह आदि शुभ अवसरो पर मन्दिरो मे विशेष पूजन आदि का आयोजन होते थे।[4]

धार्मिक वातावरण का समाज मे विशेष जोर था। साधु सेवा की ओर जनता का विशेष लक्ष्य रहता था। आचार्य एव मुनि अपने प्रवचनो से नरको की यातना तथा स्वर्ग सुख के बारे में वर्णन करके समाज को शुभ मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा देते रहते थे।

---

१. चतुर्थ सर्ग–१४ २ चतुर्थ सर्ग ५२–५४ ३. वही ४४–४८ ४. १० वा सर्ग २२

अलंकार

जैसे कि पहिले कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ चरित शान्तरस प्रधान महाकाव्य है। यद्यपि शृगार एवं करुण रसो का भी यत्र तत्र वर्णन हुआ है; किन्तु काव्य मे सर्वत्र शान्त रस ही प्रधान रहा है। प्रत्येक सर्ग मे धर्म की यशो गाथा गाई गयी है। मुनियों एवं आचार्यो के उपदेशों का कथन किया गया है। बारह भावनाओं का वर्णन है तथा स्वर्ग के वैभव वर्णन में भी धार्मिक आचरण की महत्ता बतलाई गयी है।

काव्य की भाषा विभिन्न अलकारो से युक्त है जिनमे उपमा एवं अनुप्रेक्षा जैसे अलकारो का बहुत प्रयोग हुआ है।

छन्द

महाकाव्य का प्रमुख छन्द अनुष्टुप छन्द है। सर्ग के अन्त में मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, वसन्ततिलका, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा छन्दो मे से दो या तीन छन्दो का प्रयोग किया गया है

सम्पादन

ग्रन्थ के सम्पादक एवं हिन्दी अनुवादक संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड मनीषी डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य हैं। आपने संस्कृत ग्रन्थो के सम्पादन की दिशा मे अत्यधिक प्रशंसनीय कार्य किया है और महाकवि दौलतराम कासलीवाल के पश्चात् आपने वर्तमान युग में पुराण एवं चरित्र ग्रन्थो का हिन्दी अर्थ सहित सम्पादन करके उनको पठन पाठन की दृष्टि से लोकप्रिय बनाने मे अपना पूर्ण योग दिया है। प्रस्तुत काव्य का भी आपने सुन्दर रीति से सम्पादन किया है और उसके हिन्दी अर्थ को अत्यधिक सरल एव सरस रूप से प्रस्तुत किया है।

प्रेरणा

ग्रन्थ के प्रकाशन मे परम पूज्य आचार्य कल्प श्रुतसागरजी महाराज का आशीर्वाद ही प्रमुख प्रेरणा का स्रोत है। महाराज श्री परम शान्त स्वभावी, स्वाध्याय तप में ओतप्रोत साधु है तथा आपके हृदय मे जिनवाणी के प्रति अपूर्व श्रद्धा के भाव है। आपने अपने जयपुर प्रवास मे प्रस्तुत काव्य पर संक्षिप्त प्रस्तावना लिखने का जो आदेश दिया था उसका परिपालन उनके श्री चरणो में समर्पित है।

इस चरित्र काव्य का प्रकाशन आचार्य शिवसागर दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला द्वारा हो रहा है इसलिए उसके प्रकाशक ब्र० लाडमलजी सा० जैन का प्रयास भी प्रशंसनीय है।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
एम ए. पी-एच. डी , शास्त्री

प्रकाशकीय

तीर्थनायक भगवान् महावीर स्वामी के २५००वे निर्वाण महोत्सव की पुण्य वेला में श्री सकलकीर्त्याचार्य द्वारा विरचित पार्श्वनाथ चरित पाठकों के हाथ मे समर्पित करते हुए हर्ष होता है। श्री १००८ भगवान् पार्श्वनाथ के स्मरण मात्र से अनेक विघ्न नष्ट हो जाते है—समस्त उपसर्गो के समय छिन्न-भिन्न हो जाते है और स्मरणकर्त्ताओं के सब मनोरथ सिद्ध हो जाते है। यही कारण है कि शायद ही कोई ऐसा जैन मन्दिर-हो जिसमे पार्श्वनाथ भगवान् की प्रतिमा विराजमान न हो। उनके नाम से अनेक अतिशय क्षेत्र प्रसिद्ध है। वास्तव में भगवान् पार्श्वनाथ का न केवल वर्त्तमान् जीवन किन्तु पुराणो में वर्णित अनेक भवो का जीवन विविध घटनाओ से परिपूर्ण है। उनकी पूर्व भवावली पढ़ते या सुनते समय ऐसा लगता है कि कितने उपसर्ग रूपी अग्नियो मे सतप्त होकर यह सोलह् बानी का सोना बना है।

पार्श्वनाथ चरित का कविवर भूधरदासजी कृत हिन्दी पद्यमय सस्करण प्रकाशित करने के बाद शान्तिवीर जैन संस्थान महावीरजी का भाव सकलकीर्ति आचार्य विरचित संस्कृत पद्यमय काव्य का सानुवाद संस्करण प्रकाशित करने का हुआ। इस ग्रन्थ का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य पी-एच. डी. सागर ने किया है। ग्रन्थ का सम्पादन जयपुर और झालरापाटन से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है। जिनका परिचय सम्पादकीय वक्तव्य में संपादकजी ने दिया है। इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना श्री डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एम. ए. पी-एच डो जयपुर ने लिखी है जिसमें ग्रन्थ कर्ता के विशिष्ट परिचय के साथ ग्रन्थ का अभ्यन्तर परिचय भी विस्तार के साथ दिया गया है।

श्रीमान् पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागरजी महाराज का संघ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग मे निरत रहता है। वे तथा सघ के समस्त साधु निरन्तर स्वाध्याय में स्वयं तो लीन रहते ही है साथ में इस बात का भी ध्यान रखते है कि जनता में भी स्वाध्याय की प्रवृत्ति जागृत रहे। इसीलिये वे जहां त्रिलोकसार जैसे गूढ ग्रन्थो के प्रकाशन की ओर श्रावकों का लक्ष्य आकर्पित करते है वहा धन्यकुमार चरित, पार्श्वनाथ चरित, आराधनासार, पद्मपुराण तथा सम्यक्त्व कौमुदी जैसे सरल और सर्वजन ग्राह्य ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट करते रहते है।

यह ग्रन्थ श्री १०८ दिवंगत आचार्य शिवसागरजी महाराज की छठवी पुण्य स्मृति में साहित्योद्धारप्रेमी दानी सज्जनो के द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग से प्रकाशित हो रहा है। इसके सम्पादन और अनुवाद में श्री पं० पन्नालालजी ने परिश्रम किया है उसके प्रति हम आभारी हैं। श्री पं० भँवरलालजी न्यायतीर्थ श्री वीर प्रेस, जयपुर ने बड़ी तत्परता से इसका प्रकाशन किया इसके लिए उनका भी आभारी हूँ। प्रस्तावना लेख के लिए श्री डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल धन्यवाद के पात्र हैं। हम भावना रखते हैं कि इसी प्रकार अन्य चरित ग्रन्थो के भी सानुवाद संस्करण प्रकाशित किये जावे जिससे महिलाएं तथा नवयुवक वर्ग इन ग्रन्थो के स्वाध्याय से लाभ उठा सके। दानी महाशय एक एक चरित ग्रन्थ के प्रकाशन का भार उठा ले तो हम शीघ्र ही अपनी योजना को कार्यान्वित कर सकते हैं।

विनीत :

ब्र० लाडमल जैन

स्व० श्री १०८ आचार्य शिवसागर ग्रंथमाला

शान्तीवीर नगर

महावीरजी (राजस्थान)

वीर शासन जयन्ती

वीर नि० सं० २५०१

भगवान पार्श्वनाथ और उनके पूर्वभव

[र० पूज्य श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमति माताजी]

※ मंगलाचरण ※

दुख-भञ्जन संकट-हरण, भवदधि-तारणहार।
मोक्ष-प्रदायी पार्श्व प्रभु, नमहुँ त्रियोग सम्हार ॥

प्रथम भव :

जम्बूद्वीप नगर पोदनपुर, राजा था अरविन्द महान।
कमठ और मरुभूति पुत्र थे, राज पुरोहित द्विज के प्रान ॥ १ ॥
कमठ दुराचारी ने भोगी, अनुज बधू पापों की खान।
देश निकाला दिया नृपति ने, शिलोद्धरण तप लिया महान ॥ २ ॥
खोज खोज मरुभूति अनुज को, पहुँच गया तापस के पास।
शिला पटक भ्राता को मारा, स्वयं हुआ दुर्गति का दास ॥ ३ ॥

दूसरा भव :

मर मरुभूति सल्लकी वन में, वज्रघोष द्विप मद से युक्त।
कमठ उसी वन उपजा कुक्कुट, सर्प भयंकर विषसंयुक्त ॥ ४ ॥
हस्ती ने सम्यक्त्व सहित व्रत, लेकर चित्त धरा शुभध्यान।
डसा तभी विषधर कुक्कुट ने, ले सन्यास तजे गज प्राण ॥ ५ ॥

तीसरा भव :

गज मरकर हो देव महर्द्धिक, सोलह सागर आयु प्रमाण।
विषधर पंचम नर्क पहुँचकर, सहे भयंकर दुःख अत्राण ॥ ६ ॥

चतुर्थ भव :

चयकर शशिप्रभ देव स्वर्ग से, रश्मिवेग राजा मतिमान।
यौवन में जिन दीक्षा लेकर, हिमगिरि गुफा लीन शुभ ध्यान ॥ ७ ॥

कमठ जीव अजगर था उसमें, मुनि को निगल लिया तत्काल।
बैरभाव दुर्गति का कारण, छोड़ो बुद्धिमान जगजाल ।। ८ ।।

पांचवां भव :

अजगर दावानल में जलकर, छटवें श्वभ्र हुआ उत्पन्न।
रश्मिवेग मुनि अच्युत दिव में, हुए अनेक ऋद्धि सम्पन्न ।। ९ ।।

छटवां भव :

विद्युत्प्रभ चय वज्रनाभि, जग-मण्डन चक्रवर्ति गुणखान।
नरकभूमि से निकल कमठचर, भील कुरंग हुआ अघखान ।। १० ।।
वज्रनाभि मुनि आतापन रत, कोधित शबर किया अपमान।
छेदन भेदन बंधन ताडन, प्राण हरण उपसर्ग महान ।। ११ ।।

सातवां भव :

मध्यम ग्रैवेयक ऋषि पहुँचे, सप्तम श्वभ्र व्याध अघधाम।
पापों से नित डरो भव्यजन, नरभव पाय करो शुभ काम ।।। १२ ।।

आठवां भव :

दिव से चय मंडलेश्वर राजा, हुआ नाम "आनन्द" अनूप।
श्वभ्र भूमि से कमठ जीव मर, हुआ केशरी पाप स्वरूप ।। १३ ।।
तीर्थङ्कर प्रकृति को बांधा, प्रतिमायोग खडे ऋषिराज।
जगी वासना पूर्व वैर की, मुनि का घात किया मृगराज ।। १४ ।।

नवमा भव :

केहरि नरक गया मुनिवर हन, प्राणत स्वर्ग गये ऋषिराज।
आयु शेष छहमास रही जब, रत्नवृष्टि की तब सुरराज ।। १५ ।।

गर्भ कल्याणक

वामादेवी निद्रायुत हैं, मंगल द्रव्य अष्ट शुभ सार।
वसु कुमारियां सेवारत हैं, सोलह स्वप्न लखे सुखकार ।। १६ ।।
कृष्णा दूज वैशाख विशाखा-था नक्षत्र महा सुखदाय।
प्राणत दिव से चय वामा के, आये गर्भ पार्श्व जिनराय ।। १७ ।।

विश्वसेन राजा से प्रातः, स्वप्न कहे माता ने जाय।
धीर, वीर, त्रयज्ञान समन्वित, पुत्ररत्न होगा सुखदाय ॥ १८ ॥
सब इन्द्रो के आसन कम्पे, अवधिज्ञान से किया विचार।
शुचि सुरेश परिवार सहित सब, आये बनारस जय जयकार ॥ १९ ॥

जन्म कल्याणक

एकादशी पौष कृष्ण की, जन्मे बाल सूर्य जिनराज।
त्रिभुवन कमल प्रफुल्लित तत्क्षण, ऐरावत आये दिवराज ॥ २० ॥
इन्द्राणी कृत्रिम बालक को, रखकर लाई बाल जिनेश।
लालायित पतिवर को सौंपे, पाण्डुक वन ले चले सुरेश ॥ २१ ॥
एक सहस वसु क्षीर सिन्धु से, ले घट शक्र किया अभिषेक।
दिव के देव बने सब किंकर, स्वर्ग विभव विस्मृत क्षण एक ॥ २२ ॥
बाल जिनेश सौंप माता को, ताण्डव नृत्य किया प्रारम्भ।
मन मयूर मुकुलित सुरेश का, पार्श्व मेघ लख हो निर्दम्भ ॥ २३ ॥

रक्षा—

कमठ जीव हो महीपाल नृप—था पारस का जननी तात।
पञ्चानल तप तपे निरन्तर, भस्म रमा सम्पूरण गात ॥ २४ ॥
पार्श्व कुँवर को देख रोष से बोला—तापस, रे अघ-धाम !
मैं महन्त कुलवन्त सन्त, तू करता क्यों नहिं मुझे प्रणाम ॥ २५ ॥
प्रभु बोले मिथ्यातप छोडो, काष्ठ बीच जल रहे उरग।
रोषातुर तापस ने फाड़ी—लकड़ी निकले दो पन्नग ॥ २६ ॥
पार्श्व देव का उपदेशामृत, सुनकर छोड़े प्राण अशेष।
पद्मावति धरणेन्द्र हुए वे, धारण कर हृदि भक्ति विशेष ॥ २७ ॥

वैराग्य—

माता पिता मित्र जन परिजन, बोले बेटा ! करो विवाह।
मन वैराग्य हुआ लौकान्तिक, आये किया (नि) योग निर्वाह ॥ २८ ॥
देवयुक्त देवेन्द्र पालकी—पर बैठाकर पार्श्व कुमार।
अश्व विपिन ले गये उसी क्षण, भक्ति युक्त कर जय जयकार ॥ २९ ॥

तप कल्याणक

सिद्ध प्रभु को नमस्कार कर, पंचमुष्टि कर सिर लुञ्चन ।
निर्विकार बालकवत् तिष्ठे, तुर्यज्ञान युत भव भञ्जन ।। ३० ।।
रत्न मञ्जूषा केश निहितकर, शक्र ले गया क्षीर समुद्र ।
भव समुद्र से पार करो प्रभु, यही याचता है मन भद्र ।। ३१ ।।

आहार

तेला बाद उठे चर्या को, गुल्मखेट का राजा "धन्य" ।
नवधा भक्ति सहित पड़गाहा, दिया शुद्ध विधि से जल अन्न ।। ३२
पञ्चाश्चर्य किये देवों ने, दाता धन्य, धन्य यह पात्र ।
प्रतिदिन देकर दान भव्यजन, बनो स्वर्ग पंचम गति पात्र ।। ३३ ।।

उपसर्ग

दीक्षावन में योगासन प्रभु, आत्म-ध्यान में थे लवलीन ।
संवर देव कमठचर आया, वैर वासना में लवलीन ।। ३४ ।।
वज्रवायु भीषण जल वर्षा, दुष्ट विक्रिया की विकराल ।
पद्मावति धरणेन्द्र आगये, दूर किया उपसर्ग विशाल ।। ३५ ।।

ज्ञान-कल्याणक

भव्य कमल वन विकसित करता, हुआ उदय रवि केवलज्ञान ।
अव्ययवासी आये अवनिपर, करने को पूजन गुण-गान ।। ३६ ।।
समवसरण की रचना अनुपम, की कुवेर ने धर उल्लास ।
दिव्यध्वनि गणधर ने झेली, भव्यों का करने भव नाश ।। ३७ ।।

मोक्ष-कल्याणक

एक माह अवशेष आयु थी, सम्मेदाचल गये जिनेश ।
श्रावणसित तिथि सुखद सप्तमी, कर्म कुलाचल चूर अशेष ।। ३८ ।।
मोक्ष गये पारस परमेश्वर, आया देव समूह अपार ।
कल्याणक की पूजा करके, हर्ष युक्त की जय जयकार ।। ३९ ।।

अवगुण अखिल अशेष, मति अशुद्ध मन दोषयुत ।
हे पारस परमेश ! मति "विशुद्ध" मन शुद्ध कर ।।



॥ श्रीपार्श्वनाथाय नमः ॥

भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित ।

श्री पार्श्वनाथ चरित

[हिन्दी टीकाकार डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य पी-एच. डी]

प्रथम सर्ग

नमः श्री पार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौघनाशिने । त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना ह्यनन्तमहिमात्मने ॥१॥
जित्वा महोपसर्गान्यो ज्योतिर्देवकृतान् भुवि । स्ववीर्य केवल व्यक्तं चक्रे चेडे[1] तमद्भुतम् ॥२॥
यन्नामस्मृतिमात्रेण विघ्ना कार्यविनाशिनः । विलीयन्तेऽखिला नृणां सुमन्त्रेण विषाणि व[2]॥३॥
अरयो दुर्निवारा हि त्यक्त्वा वैरं व्रजन्त्यहो । बन्धुभाव सता नून यन्नामजपनेन हि ॥४॥
क्षुद्रा देवा दुराचारा. पीडयन्ति न जातुचित् । जीवा सिंहादयो यस्य चरणान्वितचेतसाम् ॥५॥
असाध्या दुष्करा रोगाः सर्वे यान्ति क्षणात् क्षयम् । यन्नामभेषजेनापि तमासिभानुना यथा ॥६॥

टीकाकार द्वारा मगलाचरण

पार्श्वं जिनमिनं नौमि जीववारिज-सन्ततेः । दुःखदावानलोत्तप्त–भव्य–वारिदसंनिभम् ॥
मोह-महातम-दलन-दिन, तपलक्ष्मी भरतार । ते पारस परमेस मुझ, होहु सुमति दातार ॥१॥
वामानन्दन कल्पतरु जयो जगत हितकार । मुनिजन जाकी आसकरि जाचै,सिवफलसार[3]।२।

समस्त विघ्नों के समूह को नष्ट करने वाले, तीनों जगत के स्वामी तथा अनन्त महिमास्वरूप श्री पार्श्वनाथ भगवान् को मैं शिर से नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ज्योतिष्क देव के द्वारा किये हुए महान् उपसर्गों को जीत कर जिन्होंने पृथिवी पर केवल अपना अनन्त बल प्रकट किया था उन आश्चर्यकारक श्री पार्श्व जिनेन्द्र को मैं स्तुति करता हूँ ॥२॥ जिनके नाम स्मरण मात्र से मनुष्यों के कार्य को नष्ट करने वाले समस्त विघ्न उस तरह नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार उत्तम मन्त्र से विष नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥ अहो ! आश्चर्य है कि जिनका नाम जपने से दुर्निवार शत्रु वैरभाव छोड़कर निश्चित ही सत्पुरुषों के बन्धुपने को प्राप्त होते हैं ॥४॥ जिनके चरणों में चित्त लगाने वाले पुरुषों को दुराचारी क्षुद्र देव तथा सिंहादिक जीव कभी पीडित नहीं करते ॥५॥ जिनके नामरूपी औषध मात्र से भी

---

१. न+ईडे स्तौमीत्यर्थः २. इव ३. कवि भूधरदास कृत ।

यद्ध्यानेन प्रणश्यन्त्यत्रानन्ता कर्मराशयः । यद्यतोऽपरविघ्नादि–नाशे को विस्मयः सताम् ॥७॥
इत्यादिमहिमोपेत जगन्नाथ जगद्गुरुम् । श्रीपार्श्वं स्तौम्यह वन्दे प्रारब्धविघ्नशान्तये ॥८॥
दिव्यवाक्किरणैरादौ रागद्वेष–तमश्चयम् । उच्छिद्य सम्प्रकाश्योच्चैर्मोक्षमार्गं सता च वै: ॥९॥
कारुण्यात्स्वर्गमुक्त्याप्त्यै योऽभूदद्भुतोऽशुमान् । तं जिनेशं वृषाधीशं वृषदं[1] वृषभं स्तुवे ॥१०॥युग्मम्
योऽज्ञानतिमिर हत्वा सद्धर्मामृतविन्दुभि । चक्रे कुवलयाह्लादं[2] चन्द्राभ तं स्मराम्यहम् ॥११॥
कामश्चक्री[3] जिनेन्द्रश्च योऽभवन्मुक्तिनायकः । जगच्छान्तिकरः शान्त्यै त शान्तीश नमाम्यहम् ॥१२॥
मोहमल्ल मृतं दृष्ट्वाऽमा[4] खैं[5] कामो भयातुर । यस्मान्नष्टोऽत्र बाल्येऽपि नेमिर्मे सोऽस्तु सिद्धये॥१३॥
येन प्रकाशितो धर्म्मो वर्ततेऽद्यापि दुःषमे[6] । काले द्वेधा मुनीन्द्रैश्च श्रावकै. शर्मसागर.[7] ॥१४॥

असाध्य तथा कठिन साध्य समस्त रोग उस तरह क्षणभर में क्षय को प्राप्त हो जाते हैं जिस प्रकार कि सूर्य के द्वारा अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥६॥ जिनके ध्यान से इस जगत् में यदि कर्मों के अनन्त समूह नष्ट हो जाते हैं तो इससे दूसरों के विघ्नादि के नष्ट होने में सत्पुरुषों को आश्चर्य की बात ही क्या है ? ॥७॥ इत्यादि महिमाओं से सहित जगत् के स्वामी तथा जगत् के गुरु श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मैं प्रारब्ध कार्य के विघ्नों का शमन करने के लिये स्तुति और वन्दना करता हूँ ॥८॥ जिन्होंने दिव्यध्वनिरूपी किरणों के द्वारा सबसे पहले राग द्वेष रूप अन्धकार के समूह को नष्ट कर निश्चय से सत्पुरुषों के लिये उत्कृष्ट मोक्ष मार्ग को प्रकाशित किया था ॥९॥ जो करुणाभाव से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए अद्भुत सूर्य स्वरूप हुए थे उन धर्म के अधीश्वर धर्मदायक वृषभ जिनेन्द्र की मैं स्तुति करता हूँ ॥१०॥ जिन्होंने समीचीन धर्मरूपी अमृत की बिन्दुओं से अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट कर कुवलय—मही मण्डल रूपी कुवलय–नील कमलों के हर्ष को किया था उन चन्द्रप्रभ भगवान् का मैं स्मरण करता हूँ ॥११॥ जो कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर पद के धारक होते हुए मुक्ति के स्वामी तथा जगत् के शान्तिकर्ता हुए थे उन शान्तिनाथ भगवान् को मैं शान्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥१२॥ इस लोक में इन्द्रियों के साथ मोह रूपी मल्ल को मरा हुआ देख काम, भय से पीडित होता हुआ जिनके पास से बाल्य अवस्था में भी नष्ट हो गया था–भाग गया था वे नेमिनाथ भगवान् सिद्धि के लिये हों–उनके प्रताप से मुझे मुक्ति की प्राप्ति हो ॥१३॥ मुनिराज और श्रावकों के भेद से जो दो प्रकार का है तथा सुख का सागर है ऐसा जिनके द्वारा प्रकाशित हुआ धर्म आज भी इस पञ्चम काल में विद्यमान है, जो स्वर्ग और मोक्ष के कर्ता है, जगत् के हितकारी

१ धर्मदं २ भूमण्डलरूपनीलकमलानन्द ३. कामदेव, चक्रवर्ती तीर्थंकरश्च ४ सह ५ इन्द्रियै ६ दुःषमा सञ्ज्ञके पञ्चमे काले ७ सुखसागर ।

नाक[1]-निर्वाण-कर्तारं महावीरं जगद्धितम् । वर्द्धमानं गुणैः पूर्णं नौमि प्रारब्ध सिद्धये ।।१५।।
शेषान् सर्वान् जितारातीन् धर्मसाम्राज्यनायकान् । अनन्तगुणवाराशीन् जिनान् स्तौमि तद्वृद्धये ।।१६।।
अष्टकर्माङ्गनिर्मुक्तान् गुणाष्टकविभूषितान् । लोकाग्रशिखरावासान् ध्येयान् विश्वमुनीश्वरैः ।१७।
कृत्स्नचिन्तातिगान्[2] सिद्धाननन्तसुखसागरान् । स्मरामि हृदये नित्य निरौपम्यान् शिवाप्तये ।।१८।।
आचारं पञ्चधा[3] मुक्त्यै ये चरन्ति स्वयं सदा । आचारयन्ति शिष्याणां सर्व्वानुग्रहबुद्धय ।।१९।।
सूरयो विश्वतत्त्वज्ञा जिनधर्मप्रभावकाः । तेषां पादाम्बुजान् वन्दे पञ्चाचारविशुद्धये ।।२०।।
पठन्त्येकादशाङ्गानि सर्व्वपूर्वयुतान्यपि । ये महामतयः सिद्धयै यतीना पाठयन्ति च ।।२१।।
स्वान्योपकारिणो लोके ह्यु पाध्यायमुनीशिनः । पादाब्जान् शिरसा तेषां नमस्कुर्वे चिदाप्तये ।२२।
साधयन्ति त्रिरोगं[4] ये दुष्करं भीरुभीतिदम् । ये कालत्रयजं मुक्त्यै साधवः सिद्धिसाधकाः ।।२३।।

है, महावीर है—महान् विशिष्ट मोक्ष लक्ष्मी के दाता है अथवा कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट करने में अद्वितीय वीर है तथा गुणों से परिपूर्ण है ऐसे वर्द्धमान स्वामी की प्रारब्ध कार्य की सिद्धि के लिये स्तुति करता हूँ ।।१४—१५।। जिन्होंने कर्म रूपी शत्रुओं को जीत लिया है, जो धर्म रूपी साम्राज्य के नायक है, और अनन्त गुणों के सागर है ऐसे शेष समस्त तीर्थकरों की मै उनकी वृद्धि के लिये—उनके समान वृद्धि को प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूँ ।।१६।। जो अष्ट कर्म और औदारिक आदि शरीरों से रहित है, अनन्तज्ञान आदि आठ गुणों से विभूषित है, लोक के अग्रिम शिखर पर जिनका निवास है, जो समस्त मुनिराजों के द्वारा ध्यान करने योग्य हैं, समस्त चिन्ताओं से रहित है, अनन्त सुख के सागर हैं तथा अनुपम हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठियों का मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिये निरन्तर हृदय में स्मरण करता हूँ ।।१७-१८।। जो मुक्ति की प्राप्ति के लिए पांच प्रकार के आचार का स्वयं सदा आचरण करते है तथा शिष्यों को आचरण कराते है, जिनकी बुद्धि सब जीवों के उपकार में लीन रहती है—जो सब का भला चाहते है, जो समस्त तत्त्वों के ज्ञाता है तथा जिनधर्म की प्रभावना करने वाले हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी है, मै पांच प्रकार के आचार की शुद्धि के लिये उनके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ ।।१९—२०।। जो महा बुद्धिमान्, समस्त पूर्वो से सहित ग्यारह अङ्गों को मुक्ति—प्राप्ति के लिए स्वयं पढ़ते हैं और दूसरों को पढाते है तथा जो लोक में निज और पर के उपकार में तत्पर रहते हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी है, चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये मै उनके चरण कमलों को मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूँ ।।२१—२२।। जो भीरु मनुष्यों को भय प्रदान करने वाले, अत्यन्त कठिन, तीनकाल सम्बन्धी जन्म जरा और मृत्यु रूपी तीनों रोगों की मुक्ति—प्राप्ति

---

१. स्वर्ग-मोक्ष-कर्तार २. निखिल चिन्तातीतान् ३ दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपो-वीर्याचारभेदेन पञ्चधा ४. जन्म-जरामृत्युरूपत्रिरोगं ।

ध्यानाध्ययनसंसक्ताः स्वकार्यकरणे रताः । तदंह्रिकमलात् स्तौमि तद्योगशक्तिहेतवे ।।२४।।
बभूव यत्प्रसादेन कवित्वादिविधौ क्षमा । दृगादिभूषिता दक्षागमे मे सन्मतिः शुभा ।।२५।।
तां जिनेन्द्रमुखोत्पन्नां जगतां मातरं पराम् । अज्ञानध्वान्त हन्त्री शारदां[1] नौमि पदाप्तये ।।२६।।
त्रिजगत्पूज्यसिद्धान्तं विश्वतत्त्वप्रदीपकम् । जैनं तदाप्तये वन्दे दुरन्तदुरितापहम् ।।२७।।
जैनं शासनमाहात्म्यप्रकाशनपरान् वरान् । महाकवीन् महर्षींश्च द्वादशाङ्गाब्धिपारगान् ।।२८।।
गोतमादीन् गणाधीशान् विश्वनाथैर्नुतक्रमान्[2] । वन्दे सर्वहितान् मूर्ध्ना तद्गुणग्रामहेतवे[3] ।।२९।।
येन पूर्वविदेहे साक्षाज्जिनेन्द्रो नमस्कृतः । नमामि शिरसा कुन्दकुन्दाचार्यं कविं हितम् ।।३०।।
कलङ्कातिगवाक्याय[4] कवित्वादिगुणाब्धये । वादिने धर्मस्थैर्यायाकलङ्कस्वामिने नमः ।।३१।।
समन्ताद्भुवने भद्रा[5] विश्वलोकोपकारिणी । यद्वाणी तं प्रवन्दे समन्तभद्रकवीश्वरम् ।।३२।।

के लिये सिद्ध करते हैं—वश में करते हैं, दूसरों के लिये सिद्धि को देने वाले हैं, ध्यान और अध्ययन में लीन रहते हैं तथा आत्म कार्य—समता वन्दना आदि आवश्यक कार्यों के करने में तत्पर रहते हैं उन साधु परमेष्ठी के चरण कमलों की मैं उनकी योग शक्ति–ध्यान-क्षमता को प्राप्त करने के लिये स्तुति करता हूं ।। २३–२४ ।। सम्यग्दर्शनादि गुणों से विभूषित तथा आगम में समर्थ मेरी शुभ सद्बुद्धि जिसके प्रसाद से कविता आदि के निर्माण में समर्थ हुई है, जो जिनेन्द्र भगवान् के मुखारविन्द से प्रकट हुई है, जगत् की माता स्वरूप है, उत्कृष्ट है तथा अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाली है उस सरस्वती जिनवाणी की मैं उसके पद की प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूं ।।२५–२६।। जो समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने वाला है, तथा दुःखदायक पापों को नष्ट करने वाला है ऐसे जिनेन्द्र प्रणीत त्रिजगत्पूज्य जिनागम को मैं उसकी प्राप्ति के लिये वन्दना करता हूँ ।।२७।। जो जैन शासन के माहात्म्य को प्रकट करने में तत्पर हैं, उत्कृष्ट हैं, महा कवि हैं, महर्षि हैं, द्वादशाङ्गरूपी समुद्र के पारगामी हैं, समस्त राजाओं के द्वारा जिनके चरणों की स्तुति की जाती है तथा जो सबका हित करने वाले हैं ऐसे गौतम आदि गणधरों को मैं उनके गुण समूह की प्राप्ति के लिये मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ ।।२८–२९।। जिन्होंने पूर्व विदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर जिनेन्द्र को साक्षात् नमस्कार किया था उन हितकारी कुन्द-कुन्दाचार्य को मैं शिर से नमस्कार करता हूँ ।।३०।। जिनके वचन दोषों से रहित हैं, जो कवित्व आदि गुणों के सागर हैं, वाद करने में निपुण हैं और धर्म में दृढ़ता उत्पन्न करने वाले हैं ऐसे श्री अकलङ्क स्वामी को नमस्कार करता हूँ ।।३१।। जिनकी वाणी जगत में सब ओर से कल्याणरूप तथा समस्त लोगों का उपकार करने वाली है । उन समन्तभद्र

---

१. सरस्वतीं जिनवाणीं २. स्तुतचरणान् ३. तद्गुणसमूह प्राप्तिहेतवे ४. निर्दोषवचनाय ५. कल्याणकारिणी

अन्ये ये जिनसेनाचार्यादयः कवयोऽखिला । वन्दितास्ते स्तुता. सन्तु कवित्वादिसिद्धये ।। ३३ ।।
मूलोत्तरगुणैः पूर्णान् द्विधा[1] सङ्गविवर्जितान् । समस्ताङ्गिहितोद्युक्तान् निर्ग्रन्थान् गुणवारिधीन्।३४।
स्मराक्षमृगसिंहाभान् गुरून् मुक्तिपथोद्यतान् । सार्द्धद्वीपद्वयोत्पन्नास्तद्गुणाय स्तुवेऽनिशम् ।। ३५ ।।
मङ्गलार्थं नमस्कृत्य जिनेन्द्रश्रुतसागरान् । स्वान्ययोरुपकाराय स्वशक्त्यातिसमासत ।। ३६ ।।
श्रीमतः पार्श्वनाथस्य सर्वानिष्टविनाशिन. । चरित्र पावन वक्ष्ये यथाम्नाय शुभाकरम् ।। ३७ ।।
यदुक्त प्राक्तनाचार्यैः कृत्स्नसिद्धान्तपारगैः । कथं तद् भाषितुं शक्य स्वल्पमेधादिना मया ।।३८।।
तथापि तत्पदाम्भोजप्रणामार्जितपुण्यत. । स्तोकसार[2] करिष्यामि तच्चरित्रं मनोहरम् ।।३९।।

कथा प्रारम्भः

अथ द्वीपोऽस्ति विख्यातो जम्बूवृक्षेण भूषित. । लक्षयोजनविस्तीर्णो जम्बूनाम्ना महान् शुभ ।।४०।।
सुमेरु[3]- समुकुटश्चैत्यालय[4]– कुण्डलमण्डितः । नदीहारोद्धराकाय कुलाद्रिभुजभृत्तमः ।। ४१ ।।

कविराज की भक्तिभाव से वन्दना करता हूँ ।। ३२ ।। जिनसेनाचार्य को आदि लेकर जो अन्य समस्त कवि हैं वे मेरे द्वारा वन्दित और स्तुत्य होते हुए मेरे कवित्व आदि गुणों की सिद्धि के लिए हों ।। ३३ ।। जो मूल और उत्तर गुणों से परिपूर्ण है, अन्तरङ्ग बहिरङ्ग– दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित है, समस्त जीवों के हित करने में उद्यत है निर्ग्रन्थ है, गुणों के सागर है, काम तथा इन्द्रिय रूपी मृगों को नष्ट करने के लिये सिंह के समान है, मुक्ति के मार्ग में उद्यत है तथा अढ़ाई द्वीपों में उत्पन्न हुए हैं ऐसे समस्त गुरुओं की मैं उनके गुणों की प्राप्ति करने के लिए निरन्तर स्तुति करता हूँ ।।३४–३५।। इस प्रकार मङ्गल के उद्देश्य को जिनेन्द्र देव तथा शास्त्रों के सागर स्वरूप गणधर देवों को निज और पर के उपकार के लिये अपनी शक्ति के अनुसार नमस्कार कर अत्यन्त संक्षेप से सर्व अरिष्ट निवारक श्रीमान् पार्श्वनाथ भगवान् का वह पवित्र चरित्र कहूँगा जो आम्नाय के अनुसार है तथा सब प्रकार के कल्याणों की खानरूप है ।।३६–३७।। समस्त सिद्धान्तों के पारगामी पूर्व आचार्यो के द्वारा जो चरित्र कहा गया है वह अत्यन्त अल्पबुद्धि के धारक मेरे द्वारा कैसे कहा जा सकता है ? ।।३८।। तो भी उनके चरण कमलों को नमस्कार करने से ही सचित पुण्य के प्रभाव से मैं अल्पसार से युक्त उनके मनोहर चरित्र को करूंगा ।।३९।।

कथा प्रारम्भ

तदनन्तर जम्बूवृक्ष से सहित, एक लाख योजन विस्तृत, जम्बूद्वीप नाम का एक महान् शुभ प्रख्यात देश है ।।४०।। सुमेरु पर्वत ही जिसका मुकुट है, जो चैत्यालय रूपी

१. वाह्याभ्यन्तरभेदान् २ अल्पसार ३ सुमेरुरूपमुकुट सहित ४. चैत्यालयरूप कुण्डल विशोभित ।

कल्पपादपसत्पादो भोगभूभोगभूषितः । लवणाम्बुधिसद्वस्त्रो ह्रदनाभिर्वृषाकरः[1] ॥ ४२ ॥
खगनृपामरैः सेव्यो देवीभिश्च सुखार्णवः । अनेकाश्चर्यसंयुक्तो महापुरुषसभृतः ॥ ४३ ॥
विश्वातिशयसम्पूर्णो जम्बूद्वीपो विराजितः । मध्येऽसंख्यद्वीपानां यथा चक्री हि भूभुजाम् ॥४४॥
सुदर्शनाभिधो मेरुस्तन्मध्ये भाति सुन्दरः । लक्षैकयोजनोतुङ्गो जिनालयविभूषित. ॥ ४५ ॥
मेरोर्दक्षिणदिग्भागे भारतं क्षेत्रमुत्तमम् । सुधार्मिकजनैः पूर्णं बभौ धर्माकर परम् ॥ ४६ ॥
विस्तीर्णं योजनानां पञ्चशतैः षटकलाधिकैः । षट्विंशतियुतैस्तत्स्याच्चापाकारं मनोहरम् ॥४७॥
गङ्गा-सिन्धु-नदीभ्यां च विजयार्द्धेनाति सुन्दरम् । षट्खण्डीभूतमाभाति तदार्यम्लेच्छसंकुलम् ॥४८॥
पूर्वापरमहानद्यो रजताद्रिसमुद्रयो । मध्ये धर्माकरं सारमार्यखण्डं विशोभते ॥ ४९ ॥
यत्रार्याः व्रतमादाय कर्मारातिं तपोऽसिना । हत्वा यान्ति च निर्वाणं केचिद् ग्रैवेयकं दिवम् ॥५०॥
पात्रदानेन केचिच्च भोगभूमिं सुखावनिम् । केचिदिन्द्रादिभूतिं च लभन्ते जिनपूजया ॥ ५१ ॥

कुण्डलों से मण्डित है, जिसका शरीर नदीरूपी हार से उन्नत है, जो कुलाचल रूपी भुजाओं को धारण करने वाला है, कल्पवृक्ष ही जिसके उत्तम चरण है, जो भोगभूमि के भोगों से विभूषित है, लवण समुद्र ही जिसका उत्तम वस्त्र है, पद्म आदि सरोवर जिसकी नाभि है, जो धर्म की खान है, विद्याधर, राजा तथा देव और देवियों से सेवनीय है, सुखों का सागर है, अनेक आश्चर्यों से संयुक्त है, महापुरुषों से परिपूर्ण है और समस्त अतिशयों से युक्त है ऐसा जम्बूद्वीप असंख्यात द्वीपों के मध्य में ऐसा सुशोभित हो रहा है जैसा राजाओं के बीच में चक्रवर्ती सुशोभित होता है ॥४१–४४॥ उस जम्बूद्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊंचा तथा जिनालयों–अकृत्रिम सोलह चैत्यालयों से विभूषित सुदर्शन नाम का सुन्दर मेरु सुशोभित हो रहा है ॥४४॥ मेरु पर्वत के दक्षिण दिग्भाग में भरत नामका उत्तम क्षेत्र सुशोभित है। वह क्षेत्र अत्यन्त धार्मिक जनों से परिपूर्ण है तथा धर्म की उत्कृष्ट खान है ॥४६॥ छह कला अधिक पांच सौ छब्बीस योजन विस्तृत है, धनुष के आकार है, मनोहर है, गङ्गा सिन्धु नदियों और विजयार्ध पर्वत के कारण उसके छह खण्ड हो गये हैं। उन खण्डों से वह अत्यन्त सुन्दर जान पड़ता है तथा एक आर्य और पांच म्लेच्छ खण्डों से युक्त है ॥४७–४८॥ पूर्व पश्चिम महा नदियों तथा विजयार्ध और समुद्र के बीच में धर्म की खान स्वरूप श्रेष्ठ आर्य खण्ड सुशोभित हो रहा है ॥४९॥ जिस आर्य खण्ड में कितने ही आर्य पुरुष व्रत ग्रहण कर तपरूपी तलवार से कर्मरूपी शत्रुओं का घात कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं और कितने ही नौ ग्रैवेयक तथा सोलह स्वर्गों में जाते हैं ॥५०॥ कोई पात्रदान के द्वारा सुख की खानस्वरूप भोगभूमि को प्राप्त होते हैं

१ धर्माकरः ।

शलाकापुरुषा यत्र जायन्ते श्रीजिनादयः । खेचरामरभूपालैः सेव्यास्त्रिषष्टिसंख्यकाः ।। ५२ ।।
सुधाभुजो[1] यदीहन्ते यत्र जन्म शिवाप्तये । उच्चैस्तरपदाप्त्यै वा तस्य का वर्णना परा ।। ५३ ।।
तन्मध्ये नाभिवद् भाति सुरम्यविषयो महान् । विश्वरम्यपदार्थानामाकरीभूत एव च ।। ५४ ।।
यत्र चैत्यालयोपेता ग्रामखेटपुरादयः । पुण्यवद्भिर्घनाढ्यैश्च विराजन्ते महोत्सवैः ।। ५५ ।।
वनानि शालिक्षेत्राणि सफलानि बभुस्तराम् । मुनेर्वृत्तानि वा यत्र तर्पकाणि सतां सदा ।। ५६ ।।
केवलज्ञानिनो यत्र विहरन्ति तपोधनाः । गणेशा[2] वेष्टिता[3] सर्वैः सन्मार्गदेशनाय च ।। ५७ ।।
साध्यते यदि चेत्सिद्धिर्यत्रोत्पन्नैर्जगन्नुता । रत्नत्रयेण धर्मश्च वर्णना तत्र कापरा ।। ५८ ।।
तन्मध्ये पोदनाभिख्यं पुरं देवपुरोपमम्[4] । धन-धान्यादिकर्द्धीनामाकरं वा व्यभात्तराम् ।। ५९ ।।
अरीणामतिदुर्लंङ्घ्यं तुङ्गशालेन तन्महत् । दीर्घखातिकया रम्यैर्गोपुरैरुन्नतैर्बभौ ।। ६० ।।
[5]यज्जिनालय[6] कूटाग्रध्वजहस्तैः सुरेशिनाम् । मुक्तिस्त्रीसाधनार्थंवाह्वयतीव तरां व्यभात् ।। ६१।।

और कितने ही जिन पूजा के द्वारा इन्द्रादि की विभूति को प्राप्त करते है ।।५१।। जिस आर्यखण्ड में विद्याधर देव तथा भूमिगोचरी राजाओं के द्वारा सेवनीय तीर्थंकर आदि त्रेशठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते है ।।५२।। जब देव भी मोक्ष प्राप्ति के लिये अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट पद की प्राप्ति के निमित्त जहां जन्म लेने की इच्छा करते है तब उसका और अधिक वर्णन क्या हो सकता है ? ।।५३।।

उस आर्यखण्ड के मध्य में नाभि के समान सुरम्य नामका महान देश सुशोभित है जो समस्त सुन्दर पदार्थो की मानों खान ही है ।।५४।। जिस देश में चैत्यालयों से सहित ग्राम, खेट तथा नगर आदि पुण्यशाली धनाढ्य जनों और बड़े बड़े उत्सवों से सुशोभित हो रहे है ।।५५।। जहां फलों से सहित बाग बगीचे और धानों के खेत सत्पुरुषों को सतुष्ट करते हुए मुनियों के आचार के समान सदा सुशोभित रहते है ।।५६।। जहां केवलज्ञानी, तपस्वी मुनि, और चतुर्विध संघ से वेष्टित गणधर सन्मार्ग का उपदेश देने के लिये विहार करते रहते है ।।५७।। जहां उत्पन्न हुए मनुष्यों के द्वारा जब जगद्वन्द्य मुक्ति और रत्नत्रय के द्वारा धर्म की साधना की जाती है तब वहां की महिमा का अन्य वर्णन क्या करना ।।५८।।

उस सुरम्य देश के मध्य में पोदनपुर नामका नगर है जो स्वर्गपुरी के समान अथवा धन धान्यादिक सम्पदाओं की खान के समान अत्यन्त शोभायमान था ।।५९।। वह महा नगर अपने ऊंचे कोट से शत्रुओं के लिये अत्यन्त कठिनाई से लांघने योग्य था और विस्तृत परिखा तथा ऊंचे और सुन्दर गोपुरों से सुशोभित हो रहा था ।।६०।। जो नगर जिन मन्दिरों की शिखरों के अग्रभाग पर फहराती हुई ध्वजा रूपी हाथों से ऐसा सुशोभित

१ देवा २ गणधरा ३ परिवृता ४ स्वर्गनगरसदृशम् ५ यत् नगरम् ६ जिनमन्दिरशिखराग्रस्थितपताकापाणिभिः.

दानिनो धार्मिका शूरा व्रतशीलादिमण्डिता । जिनभक्ताः सदाचारा न्यायमार्गरता बुधाः॥६२॥
धर्मकर्मकरा दक्षा वसन्ति यत्र सत्कुलाः । पुरुषास्तत्समा नार्यो रूपलावण्यभूषिताः ॥६३॥
पतिस्तस्य महीपालोऽरविन्दं ख्यातिपुण्यवान् । धर्म्यमार्गरतो धीमानभवन्नीतितत्पर ॥६४॥
पिप्रियुस्त समाश्रित्य प्रजापतिमिव[1] प्रजाः । भूप सर्वहितोद्युक्त न्यायमार्गविशारदम् ॥६५॥
स्वय करोति यो धर्म जिनोक्त प्रत्यह यदि । अन्येषा कारयत्येव कान्या तस्यात्र वर्णना ॥६६॥
तन्मन्त्री विश्वभूत्याख्यो ब्राह्मणोऽनेकशास्त्रवित् । ब्राह्मण्यनुन्धरी तस्य प्रीत्यै श्रुतिरिवाभवत् ॥६७॥
पुत्रो तयोरभूता विषामृतोपमता[2] गतौ । कमठो मरुभूत्याख्य पापपुण्याविवापरौ ॥६८॥
कमठस्य प्रिया जाता वरुणा वरलक्षणा । भार्याभून्मरुभूतेश्च दिव्यरूपा वसुन्धरा ॥६९॥
दक्ष शास्त्रविचारज्ञो नीतिविन्न्यायमार्गग. । मरुभूतिरभूल्लोके ख्यातो राजप्रियो महान् ॥७०॥

हो रहा था मानों मुक्ति रूपी स्त्री की साधना के लिये इन्द्रों को बुला ही रहा था ॥६१॥ जहां ऐसे पुरुष निवास करते थे जो दानी थे, धर्मात्मा थे, शूर वीर थे, व्रत शील आदि से सुशोभित थे, जिन भक्त थे, सदाचारी थे, न्याय मार्ग में रत थे, ज्ञानी थे, धार्मिक कार्यों को करने वाले थे, चतुर थे और उच्च कुलीन थे। पुरुषों के समान वहां की स्त्रियां भी रूप तथा सौन्दर्य आदि से विभूषित थीं ॥६२-६३॥

उस पोदनपुर का स्वामी राजा अरविन्द था। वह अरविन्द प्रसिद्धि और पुण्य से युक्त था, धर्म मार्ग में रत था, बुद्धिमान् था और नीति में तत्पर था ॥६४॥ सब जीवों के हित करने में उद्यत तथा न्यायमार्ग में निपुण उस राजा को पाकर प्रजा ऐसी प्रसन्न थी मानो प्रजापति ब्रह्मा को ही प्राप्त हुई हो ॥६५॥ जो राजा स्वयं ही प्रतिदिन जिनेन्द्र कथित धर्म को पालन करता है और दूसरों को पालन कराता है उसका और क्या वर्णन किया जाय ? ॥६६॥

अनेक शास्त्रों को जानने वाला विश्वभूति नामका ब्राह्मण उसका मन्त्री था। अनुन्धरी नामकी ब्राह्मणी विश्वभूति की स्त्री थी जो श्रुति के समान उसकी प्रीति को बढाती रहती थी ॥६७॥ उन दोनों के कमठ और मरुभूति नाम के दो पुत्र हुए जो विष और अमृत की उपमा को प्राप्त थे अथवा दूसरे पाप और पुण्य के समान जान पड़ते थे। भावार्थ—कमठ विष अथवा पाप के समान था और मरुभूति अमृत अथवा पुण्य के समान था ॥६८॥ उत्तम लक्षणों से सहित वरुणा कमठ की स्त्री हुई और सुन्दररूप को धारण करने वाली वसुन्धरा मरुभूति की स्त्री हुई ॥६९॥

मरुभूति अत्यन्त चतुर था, शास्त्र के विचार को जानने वाला था, नीति का ज्ञाता था, और न्यायमार्ग पर चलने वाला था, इसलिये वह लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध था और

१ ब्रह्माणमिव २. गरलपीयूषमाह्वय कमठो विषोपम मरुभूतिश्चामृततुल्य ।

अथैकदा विलोक्याशु मस्तके पलित[1] कचम् । राजमन्त्री ससंवेग[2] प्राप्येदं चिन्तयेद्धृदि ।। ७१ ।।
अहो मे पुण्ययोगेन के[3]ऽभूद् धर्माङ्कुरो महान् । पलितच्छद्मना केशोऽयं चारित्रविधायकः ।। ७२ ।।
दग्ध जराग्निना देह कुटीर यत् क्षयप्रदम्[4] । वसन्ति किं बुधास्तत्र धर्मादिवस्तुदाहिनि ।। ७३ ।।
सन्तो गृहाश्रमे तावत्तिष्ठन्त्येव जरा शुभा । यावन्नायादहीवात्र प्राक्तना खादितुं वरान् ।। ७४ ।।
दृष्ट्वेव भगिनी मृत्योर्जरा विश्वक्षयंकरीम् । आत्मकार्य न कुर्वन्ति ये यमास्ये[5] पतन्ति ते ।। ७५ ।।
इत्यादिचिन्तया प्राप सवेगं परमं तदा । विश्वभोगभवाङ्गेषु मन्त्री मन्त्रिपदादिषु ।। ७६ ।।
मरुभूति ततो राज्ञ समर्प्य वल्लभ सुतम् । निधाय स्वपदे हित्वा गेहावासं व्यथाकरम् ।। ७७ ।।
द्विधासङ्ग' च नैर्ग्रन्थ्यं पद लोकत्रयाग्रिमम् । मुक्तिश्रीजनक मन्त्री जग्राह मोक्षसिद्धये ।। ७८ ।।
मरुभूतिर्नृपस्यातिप्रियो भूत्वा गुणैर्निजैः । राजलोकजनानां च भुनक्ति[6] स्वपद शुभात्[7] ।।७९।।

राजा को भी बहुत प्रिय था ।।७०।। तदनन्तर एक दिन राजमन्त्री विश्वभूति ने अपने मस्तक पर सफेद बाल देखा । उसे देख बह शीघ्र ही संवेग को प्राप्त होकर हृदय में यह विचार करने लगा ।।७१।। अहो ! पुण्य योग से मेरे मस्तक पर सफेद बाल के छल से धर्म का बड़ा भारी अंकुर उत्पन्न हुआ है । यह केश चारित्र को उत्पन्न करने वाला है ।।७२।। जो शरीर रूपी कुटिया वृद्धावस्था रूपी अग्नि से दग्ध होकर मृत्यु को प्रदान करने वाली है, धर्मादि वस्तुओं को भस्म करने वाली उस शरीर रूपी कुटिया में क्या विवेकी जन निवास करते है ? अर्थात् नहीं करते ।।७३।। सत्पुरुष गृहाश्रम में तभी तक रहते है जब तक कि पूर्वभव की विरोधिनी सर्पिणी की तरह अशुभ वृद्धावस्था मनुष्यों को खाने के लिये नहीं आती है । भावार्थ—वृद्धावस्था के आते ही विवेकीजन गृहवास का परित्याग कर साधु दीक्षा धारण कर लेते है ।।७४।। यमराज की बहिन के समान सब जीवों का क्षय करने वाली वृद्धावस्था को देखकर जो मनुष्य आत्महित का कार्य नहीं करते है वे यमराज के मुख में पड़ते है ।।७५।। इत्यादि विचार करने से मंत्री उस समय समस्त भोग, संसार, शरीर और मंत्री पद आदि के विषय में परम संवेग को प्राप्त हो गया ।।७६।।

तदनन्तर प्रिय पुत्र मरुभूति को राजा के लिये सौंपकर तथा उसे अपने पद पर नियुक्त कर मंत्री ने पीड़ा उत्पन्न करने वाले गृहवास को छोड़ दिया । उसने दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर तीनों लोकों के अग्रभाग को प्राप्त कराने वाले और मुक्ति रूपी लक्ष्मी के जनक निर्ग्रन्थ पद को मोक्ष की सिद्धि के लिये ग्रहण कर लिया अर्थात् मुनिदीक्षा ले ली ।।७७–७८।। मरुभूति अपने गुणों के द्वारा राजा तथा राज परिजनों का अत्यन्त

---

१ वार्धक्येन शुक्ल २. ससाराद्भयं ३. मस्तके ४ मृत्युप्रदम् ५ मृत्युमुखे ६ रक्षति ७ पुण्यात् ।

अथैकदा नृपो मण्डलेश्वरस्योपरि द्रुतम् । वज्रवीर्याभिधस्यैव जगाम मन्त्रिणा समम् ॥८०॥
राजसिंहासने पश्चादुपविश्य निरङ्कुश । 'कमठोऽद्यं व राज्यं मे' इत्यादिकवचोऽभणत् ॥८१॥
करोति पापपाकेन सोऽगम्यगमनादिकम् । लोकेऽतिदीर्घसंसारी पापात्मा पापकारकः ॥८२॥
रागान्धोऽप्येकदा दृष्ट्वा स्वभ्रातुर्भूषितां प्रियाम् । कामदाहाग्नितप्तोऽभूत्पीडितो मदनेषुभिः ॥८३॥
वने लतागृहे त तद्वेदनां सोढुमक्षमम् । तत्सखः कलहसाख्यो दृष्ट्वापृच्छत्प्रदु:खिनम् ॥८४॥
हे मित्रेयमवस्था ते वर्त्ततेऽत्राशुभा कुत । स्वविकल्पं ततस्तेन सर्वं प्रोक्तं व्यथाकरम् ॥८५॥
श्रुत्वा तद्वचन निन्द्यं प्राह तद्बोधक वचः । सुहृत्त्वयेदमत्यन्तायोग्यनिन्द्यं च चिन्तितम् ॥८६॥
यतो मज्जन्ति ते पापा. परस्त्रीलम्पटाः शठाः । दुर्गत्यब्धौ[1] नृपादाप्य[2] यथा वन्धवधादिकम् ॥८७॥
कुर्वन्त्यालिङ्गन येऽत्रान्यस्त्रियामाप्यधो गतौ । तप्तलोहाङ्गनाभिस्ते भजन्त्यालिङ्गन हठात् ॥८८॥

प्रिय होकर पुण्योदय से अपने पद की रक्षा करने लगा अथवा अपने पद का उपभोग करने लगा ॥७९॥

तदनन्तर एक समय राजा, शीघ्रता से वज्रवीर्य नामक मण्डलेश्वर के ऊपर मंत्री के साथ गया । भावार्थ–एक बार राजा अरविन्द ने वज्रवीर्य मण्डलेश्वर के ऊपर अचानक चढाई कर दी । मंत्री मरुभूति भी राजा के साथ गया था ॥८०॥ राजा और मंत्री के चले जाने के पश्चात् राज सिंहासन पर बैठकर कमठ निरंकुश–स्वच्छन्द हो गया और 'अब मेरा ही राज्य है' इत्यादि वचन कहने लगा ॥८१॥ जिसका संसार बहुत भारी था, जो पाप को करने वाला था और जिसकी आत्मा पाप से परिपूर्ण थी ऐसा कमठ पाप कर्म के उदय से लोक मे अगम्यागमन असेवनीय स्त्रियों का सेवन आदि कार्य करने लगा ॥८२॥ रागान्ध कमठ, एक समय अपने भाई की स्त्री को अलंकृत देख कामरूपी अग्नि से संतप्त हो गया, कामबाणों से वह पीडित हो उठा ॥८३॥ उस वेदना को सहन करने के लिये असमर्थ होकर वह वन के एक लतागृह में पड़ा हुआ था । उसे अत्यन्त दुःखी देखकर उसके कलहंस नामक मित्र ने उससे पूछा ॥८४॥ हे मित्र ! यहां तुम्हारी यह अशुभ अवस्था किस कारण से हो रही है ? मित्र का प्रश्न सुन कमठ ने पीड़ा करने वाला अपना सब विकल्प उसके लिये कह दिया ॥८५॥ कमठ के निन्दनीय वचन सुनकर कलहंस मित्र ने उसे समझाने वाले वचन कहे । हे मित्र ! तुमने यह अत्यन्त अयोग्य और निन्दनीय विचार किया है । क्योंकि परस्त्रियों के लम्पट वे पापी मूर्ख, राजा से वध बन्धन आदि प्राप्त कर दुर्गति रूपी समुद्र मे निमग्न होते हैं ॥८६–८७॥ जो मनुष्य इस लोक में अन्य स्त्रियों का आलिङ्गन करते हैं वे अधोगति–नरक में जाकर हठ पूर्वक कराये हुए संतप्त लोहाङ्गनाओं–तपाये

१. दुर्गतिसागरे २ लब्ध्वा ।

सर्वस्वहरणं चात्मनाशं ह्यत्रैव भूपतेः । परस्त्रिया शठा[1] गोत्रकलङ्कं प्राप्नुवन्त्यहो ।। ८९ ।।
पररामाभिलाषेण महान्तो रावणादयः । यदि नष्टा गताः श्वभ्रं नश्यत्यन्यो न किं भुवि ।।९०।।
सर्वदुःखाकरं घोरं महत्पापं प्रजायते । महता[2]यशसा सार्द्धं परस्त्रीकांक्षिणा हृदा ।। ९१ ।।
तस्याः पितृसमो ज्येष्ठो रे निर्लज्ज न लज्जसे । वाञ्छन् भ्रातृप्रिया तस्मात्त्यजेद त्वं दुराग्रहम् ।।९२।।
अन्धस्य नर्तनं यद्वदौषध च गतायुषः । हितं च जायते व्यर्थं रागिणो धर्मभाषणम् ।।९३।।
तद्वत्तद्वचनं सारं पापघ्नं धर्मसूचकम् । अनाचारापह जात व्यर्थं तत्पापतोऽखिलम् ।। ९४ ।।
ततस्तद्वाक्यमाकर्ण्य जगौ कामातुरो हि स । यदि तत्सेवन न स्यात्तर्हि मे मरण ध्रुवम् ।। ९५ ।।
तदाग्रह परिज्ञाय प्राप्य तां वक्ति सोऽप्यधीः[3] । हे सुन्दरि वनेऽनिष्टं वर्तते कमठस्य हि ।। ९६ ।।
अतो याहि वनं शीघ्रं तच्छुश्रूषादिहेतवे । तद्व्यथां जानती सागात्कमठं प्रति तद्गिरा ।। ९७ ।।
दृष्ट्वा सोऽभ्यन्तरीकृत्य तामनेकप्रजल्पनैः । सरागचेष्टितैस्तत्र सिषेवे निन्द्यकर्मकृत् ।। ९८ ।।

हुए लोहे की पुतलियों के आलिङ्गन को प्राप्त होते है ।।८८।। पर स्त्री के कारण धूर्तजन इसी लोक में राजा से सर्वस्वहरण, आत्मनाश–प्राणदण्ड और वंश के अपवाद को प्राप्त होते है; यह आश्चर्य की बात है ।।८९।। जब रावण आदि बडे बडे पुरुष भी परस्त्री की अभिलाषा मात्र से नष्ट होकर नरक गये तब पृथिवी पर अन्य साधारण मनुष्य क्या नष्ट नहीं होगा ? अवश्य होगा ।।९०।। हृदय से परस्त्री की इच्छा रखने वाले के बडे भारी अपयश के साथ समस्त दुःखों की खान स्वरूप बहुत भारी भयंकर पाप होता है ।।९१।। अरे निर्लज्ज ! तू उसका पिता तुल्य जेठ है । भाई की स्त्री को चाहता हुआ तू लज्जित नहीं हो रहा है ? इसलिये तू इस दुराग्रह को छोड़ ।।९२।।

जिस प्रकार अन्ध पुरुष के सामने नृत्य, क्षीण आयु वाले पुरुष को प्रदत्त औषध और रागी मनुष्य को दिया हुआ हितकारी धर्म का उपदेश व्यर्थ होता है उसी प्रकार पाप को नष्ट करने वाले, धर्म के सूचक, और अनाचार को नष्ट करने वाले मित्र के सारपूर्ण समस्त वचन कमठ के पाप से व्यर्थ हो गये ।।९३–९४।। तदनन्तर उसके वचन सुनकर काम से पीडित कमठ ने कहा कि यदि उसका सेवन नहीं होता है तो मेरा मरण निश्चित हो जायगा ।।९५।।

उसका आग्रह जान दुर्बुद्धि कलहंस ने मरुभूति की स्त्री के पास जा कर कहा कि हे सुन्दरि ! वन में कमठ का अनिष्ट हो रहा है–वह बहुत अधिक अस्वस्थ है, अतः उसकी सेवा आदि के लिये शीघ्र ही वन को जाओ । उसकी वाणी से कमठ की पीडा को जानती हुई मरुभूति की स्त्री कमठ की ओर गई ।।९६–९७।। निन्द्य काम को करने वाले

---

१. वशापवादं २ महता अयशसा इतिच्छेद ३ निर्बुद्धि ।

राजा शत्रु विनिर्जित्यागतश्च बुबुधे जनात् । समस्त तदनाचार मरुभूतिर्विशेषत: ॥९९॥
मरुभूति नृपोऽप्राक्षीत्कमठस्य दुरात्मन. । को दण्डो दीयतेऽत्रे[1]दृग्विधान्यायविधायिन: ॥१००॥
व्यामोहेनावदत्सोऽपि देवास्यान्यायकारिण. । वारैककृतदोषस्य दण्डं मा देह्यनुग्रहात् ॥१०१॥
भूपोऽवादीत्करिष्यामि निग्रहार्हस्य[2] निग्रहम्[3] । अस्य मा कुरु खेदं त्वं गृह गच्छाशु नीतिवित् ॥१०२॥
इत्यादिवचनैस्त सबोध्य प्रेष्य गृहं द्रुतम् । विधाय बहुधा दण्ड गर्दभारोहणादिजम् ॥१०३॥
राजा निर्धाटित.[4]पापी स्वदेशात्कमठोऽधमः । महत्पापं नृणामत्राहो दद्याद्दुष्करं[5] फलम् ॥१०४॥
अथ गत्वाशु भूताद्रौ मानभङ्गात्कुतापस । भूत्वा कर्तुं तपो लग्न स शिलोद्धरणाभिधम् ॥१०५॥
मन्त्री तद्बुद्धिमाकर्ण्य राजान प्रत्युवाच सः । देव कुर्वंस्तपो ह्यास्ते कमठः कष्टकारणम् ॥१०६॥
गत्वाह त विलोक्याशवागच्छामि[6] प्राह भूपति । किं रूपं तत्तपः सोऽवोचद्भौतिकतपो हि तत् ॥१०७॥

कमठ ने उसे देखकर भीतर कर लिया और राग पूर्ण चेष्टाओं सहित अनेक प्रकार के वार्तालाप से उसका सेवन किया ॥९८॥

राजा अरविन्द शत्रु को जीत कर जब वापिस आया तब लोगों से उसने कमठ के सब अनाचारों को जाना तथा मरुभूति ने भी सब समाचार विशेष रूप से अवगत किया ॥९९॥ राजा ने मरुभूति से पूछा कि यहां इस प्रकार का अन्याय करने करने वाले दुष्ट कमठ के लिये क्या दण्ड दिया जाय ? ॥१००॥ भ्रातृ स्नेह के कारण मरुभूति ने कहा कि हे देव ! यद्यपि यह अन्याय करने वाला है तथापि इसने एकबार ही अपराध किया है अतः कृपाकर इसे दण्ड न दीजिये ॥१०१॥ राजा ने कहा कि मै निग्रह–दमन के योग्य इस कमठ का निग्रह–दमन अवश्य करूंगा । तुम स्वयं नीति को जानते हो, अतः खेद नहीं करो, शीघ्र ही घर जाओ ॥१०२॥ इत्यादि वचनों से उसे समझा कर राजा ने शीघ्र ही घर भेज दिया और गधे पर चढ़ाना आदि नाना प्रकार का दण्ड देकर पापी-नीच कमठ को अपने देश से निकाल दिया। सो ठीक ही है क्योंकि महान् पाप मनुष्यों को इसी लोक में कठिन फल दे देता है ॥१०३–१०४॥

तदनन्तर शीघ्र ही जाकर वह भूताद्रि नामक पर्वत पर मानभङ्ग के कारण खोटा तापसी हो गया और शिलोद्धरण नामक तप करने लगा अर्थात् दोनों हाथों से एक बड़ी शिला उठाकर तप करने लगा ॥१०५॥ उसकी वुद्धि को सुनकर मंत्री मरुभूति ने राजा से कहा कि हे देव ! कमठ ऐसा तप करता हुआ स्थित है जो कि कष्ट का कारण है ॥१०६॥ मै उसे देखकर शीघ्र ही वापिस आ जाऊंगा । राजा ने कहा कि उसका तप कैसा है ? मरुभूति ने कहा कि वह तप निश्चित ही भौतिक तप है–कुतप है । राजा ने कहा–तब

१ [illegible] २ दण्डयोग्यस्य ३ दण्डम् ४ निष्कासित ५ कठिन ६. विलोक्य+आशु+आगच्छामि, इतिच्छेद

मा गच्छ तर्हि नूनं त्व निषिद्धोऽपीति तेन सः । कालेनातिगृहीतोऽगादेकाकी- तस्य सन्निधिम् ॥१०८॥
तं विलोक्योऽभणद् भ्रातस्त्व क्षमस्वाखिल हि तत् । निषिद्धे न मया राज्ञा यत्कृत तेऽतिदण्डनम्॥१०९॥
इत्युक्त्वा सोऽघपाकेन पपात तत्कुपादयोः । त्वयैव विहितं सर्वं तदित्युक्त्वातिपापिना ॥११०॥
तेन तन्मस्तकस्योपरि निक्षिप्यातिकोपतः । शिला स मारितो भ्राता स्वस्य दुर्गतिगामिना ॥१११॥
तस्मान्निर्घाटितः पापी हत्यादोषात् स तापसैः । मिलित्वा चौरभिल्लाना कुर्याच्चौरी गृहादिषु ॥११२॥
कदाचित्प्रहतो ग्राम्यैः सोऽनाचारार्जिताघतः । चौरीप्रविष्टः पापात्मा वधबन्धकदर्थनैः ॥११३॥
राज्ञैकदावधिज्ञानी मन्त्र्यनागमकारणम् । मुनि पृष्टोऽखिल तेन तद्वृत्तान्त निरूपितम् ॥११४॥
श्रुत्वा तद्दुराचार विनिन्द्य स्व विबोध्य सः । हत्वा शोकं यति नत्वा जगाम निजमन्दिरम् ॥११५॥

मालिनी

इति खलजनसंगान्मूढभावेन चापत्, कुमरणमतिनिन्द्य दुर्गति सोऽपि मन्त्री ।
सुजनविबुधभद्राश्चेति विज्ञाय जातु, खलजनचयसंग धत्त मा मूढभावम् ॥११६॥

तुम निश्चित ही नहीं जाओ । इस प्रकार राजा के निषेध करने पर भी काल से प्रेरित मरुभूति अकेला ही उसके पास चला गया ॥१०७–१०८॥

उसे देख मरुभूति ने कहा कि हे भाई ! राजा ने जो तुम्हें तीव्र दण्ड दिया है वह मेरे निषेध करने पर दिया है, इस दण्ड के मिलने में मेरा अपराध नहीं है, इसलिये उस सब को तुम क्षमा करो । इस प्रकार कह कर पापोदय से वह उसके निन्दनीय चरणों में पड़ गया । 'वह सब तेरा ही किया हुआ है, यह कह अतिशय पापी कमठ ने तीव्र क्रोध से वह शिला उसके मस्तक पर गिरा दी । इस प्रकार दुर्गति को जाने वाले कमठ ने अपने भाई को मार डाला ॥१०९–१११॥ हत्या के दोष से तापसियों ने उस पापी कमठ को अपने आश्रम से निकाल दिया जिससे चोरी करने वाले भीलों के साथ मिल कर वह घरों आदि में चोरी करने लगा ॥११२॥ किसी समय वह पापी चोरी के लिये घुसा तो अनाचार के कारण संचित पाप से ग्रामवासियोंने उसे वधबन्धन आदिकी पीड़ाओंसे मारडाला ॥११३॥

इधर एक समय राजा ने अवधिज्ञानी मुनि से मंत्री के नहीं आने का कारण पूछा तो उन्होंने सब वृत्तान्त बतलाया ॥११४॥ उसे सुनकर राजा ने कमठ के दुराचार की निन्दा की, अपने आपको संबोधित किया । पश्चात् मन्त्री के वियोगजन्य शोक को नष्ट कर तथा मुनिराज को नमस्कार कर राजा अपने घर चला गया ॥११५॥

कवि कहते हैं कि वह मंत्री भी मूढभाव के कारण इस प्रकार दुष्टजनों की संगति से अत्यन्त निन्दनीय कुमरण को प्राप्त होकर दुर्गति को प्राप्त हुआ । इसलिये हे ज्ञानीजन

अखिल दुरित हन्तारं सुकर्मैक हेतुं, जगति बुधशरण्यं विश्व[1]कर्मव्रजघ्नम् ।
निहत[2]करणमारं बोधकं भव्यपुंसां, सकलविशदकीर्त्या संस्तुवे पार्श्वनाथम् ॥११७॥

इति भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्रीपार्श्वचरिते मरुभूति-भव-वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

हो ! ऐसा जानकर कभी भी दुष्टजनों की संगति और मूढभाव को मत धारण करो ॥११६॥ जो समस्त पापों को नष्ट करने वाले हैं, समीचीन धर्म के अद्वितीय कारण हैं, जगत् में ज्ञानीजनों के शरणभूत हैं—रक्षक हैं, जिन्होंने समस्त कर्मों के समूह को नष्ट कर दिया है, इन्द्रियों तथा काम को मार भगाया है, जो भव्य पुरुषों को सम्यक् बोध के देने वाले हैं तथा सम्पूर्ण निर्मल कीर्ति से युक्त हैं ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् की मैं अच्छी तरह स्तुति करता हूं ॥११७॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में मरुभूति भव का वर्णन करने वाला प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।



---

१ निखिलकर्मसमूहघातक २ नष्टेन्द्रियमदनं ।

द्वितीय सर्गः

श्रीपार्श्वं जिनप वन्दे धर्मचक्रप्रवर्तकम् । सर्वज्ञं विश्वभर्त्तारं कृत्स्नानर्थहरं चिदे ।। १ ।।
विषये कुब्जकाख्येऽथ विपुले सल्लकीवने । मुनिद्विपारिससेव्ये फलनम्रतरुव्रजे ।। २ ।।
मरुभूतिरभून्मृत्वा वज्रघोषाभिधो महान् । द्विपाधिपो[1] महाकाय आर्त्तध्यानफलेन सः ।। ३ ।।
वरुणापि मृता तस्य करेणुरभवत्प्रिया । सस्नेहा साशुभा तुङ्गा भार्या प्राक्कमठस्य या।। ४।।
कृत्वा राज्यं कियत्कालं[2] विलीनाभ्रं निरीक्ष्य सः । काललब्ध्या नृपः प्राप्य वैराग्यमिति चिन्तयेत्।।५।।
राज्यं रजोनिभं निन्द्यं बहुवैरकरं भुवि । कृत्स्नचिन्ताकरं पापमूलं कः पालयेत्सुधीः ।। ६ ।।
वेश्येव चपला लक्ष्मीर्दुःप्राप्या बहुसेविता । प्रार्थ्या चौरादि-क्षुद्रौघैः श्वभ्रदा[3] मोहकारिणी।।७।।
बान्धवा बन्धनानि स्यु भार्या मोहखनी खला । विश्वपापाकरं सर्वं कुटुम्ब धर्मनाशनम् ।। ८ ।।

द्वितीय सर्ग

जो धर्मचक्र के प्रवर्तक हैं, सर्वज्ञ है, सब के रक्षक है और समस्त अनर्थों को हरने वाले है ऐसे श्री पार्श्व जिनेन्द्र की चित्स्वरूप स्वात्मोपलब्धि के लिये वन्दना करता हूँ ।।१।

तदनन्तर कुब्जक देश में एक विशाल सल्लकीवन है। वह वन मुनि और सिंहों के द्वारा सेवनीय है अर्थात् उसमें या तो निर्भय मुनि विचरते है या दुष्ट सिंह निवास करते हैं तथा वृक्षों के समूह फलों से नम्रीभूत हैं। मरुभूमि मर कर उसी वन में आर्त्तध्यान के फलस्वरूप वज्रघोष नामका बहुत बड़ा महा शरीर का धारक हाथी हुआ ।।२–३।। पूर्व भव में कमठ की जो वरुणा नाम की स्त्री थी वह भी मरकर इसी वन में हस्तिनी हुई। वही हस्तिनी शुभ, ऊंची तथा स्नेह से युक्त इस हाथी की प्रिया हुई ।।४।। राजा अरविन्द कितने ही समय तक राज्य कर एक दिन विलीन होते हुए मेघ को देखकर काललब्धिवश वैराग्य को प्राप्त हो गये तथा ऐसा विचार करने लगे कि यह राज्य धूलि के समान निन्द्य है, पृथिवी पर अनेकों के साथ वैर कराने वाला है, समस्त चिन्ताओं को उत्पन्न करने वाला है और पाप की जड़ है, ऐसे राज्य की कौन बुद्धिमान् रक्षा करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।।५–६।। लक्ष्मी वेश्या के समान चंचल है, कठिनाई से प्राप्त होने योग्य है, बहुजन सेवित है, चौर आदि क्षुद्रजीवों के समूह के द्वारा प्रार्थनीय है अर्थात् वे सदा इसकी वांछा करते रहते हैं, नरक को देने वाली है और मोह को उत्पन्न करती है ।।७।। भाई–बान्धव बन्धन स्वरूप है, स्त्री मोह की खान तथा दुष्ट स्वभाव वाली है, तथा समस्त कुटुम्ब परिवार

१ गजराज. २. विलीनमेघं ३. नरकप्रदा ।

कृत्स्नदुःखाकरीभूतं संसारं शर्मदूरगम् । भ्रमन्त्येवाङ्गिनोऽनादि धर्महीनाः कुकर्मणा ॥ ९ ॥
क्षुत्तृड्रोगाग्निसंतप्ते क्लिष्टे कायकुटीरके । सर्वाशुच्याकरे,निन्द्ये को विधत्ते रतिं सुधीः ॥१०॥
भुजङ्गसदृशान् भोगा नतृप्तिजनकान् खलान् । एनोऽब्धीन्[1] दुःखजान् दुःखकरान् कः सेवते सुधीः॥११
यावदायुर्न क्षीयेत यावन्न ढौकते[2] जरा । पटूनि यावदक्षाणि तावद्धर्मं व्यधुर्बुधाः ॥१२॥
इत्यादिचिन्तनेनाशु संवेगं द्विगुणं नृपः । प्राप्तः स्वर्मोक्षकर्तारं देहभोगभवादिषु ॥१३॥
ततस्त्यक्त्वाखिलं राज्यं सतां त्याज्यं तृणादिवत् । आददे संयमं देवदुर्लभं स सुखार्णवम् ॥१४॥
द्विषड्भेदं[3] तपः कुर्याद् ध्यानाध्ययनमन्वहम्[4] । व्युत्सर्गं निष्प्रमादेन कर्महान्यै च सन्मुनिः ॥१५॥
अथैकदा वने गच्छन् सम्मेदाद्रिं प्रवन्दितुम् । सार्द्धं सार्थेन भक्त्यै स ईर्यापथस्वलोचनः ॥१६॥
मंदधे प्रतिमायोगं स्ववेलायां सुदुष्करम् । भूत्वा काष्ठोपमोऽनेकरौद्रसत्त्वसमाकुले ॥१७॥

सब पापों की खान और धर्म को नष्ट करने वाला है ॥८॥ यह संसार समस्त दुःखों की खान स्वरूप है तथा सुख से दूर है। धर्महीन प्राणी अपने कुत्सित कर्म के कारण इस अनादि संसार में निरन्तर भ्रमण करते रहते है ॥९॥जो क्षुधा, तृषा तथा रोगरूपी अग्नि से संतप्त है, संक्लेशमय है, समस्त अपवित्र पदार्थों की खान है तथा निन्दनीय है ऐसे शरीर रूपी कुटीर–छोटीसी झोपड़ी में कौन बुद्धिमान् मनुष्य राग करता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१०॥ जो सापों के समान है, अतृप्ति को उत्पन्न करने वाले है, दुष्ट है, पाप के सागर हैं, दुःख से उत्पन्न होते है, और दुःखों को उत्पन्न करते है ऐसे भोगों का कौन बुद्धिमान् सेवन करता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ११ ॥ जब तक आयु क्षीण नहीं हुई है, जब तक जरा–वृद्धावस्था नही आई है और जब तक इन्द्रियां अपना काम करने में समर्थ हैं तब तक बुद्धिमान् मनुष्यो को धर्म कर लेना चाहिये ॥१२॥ इत्यादि विचार से राजा शीघ्र ही शरीर, भोग तथा संसार आदि के विषय में स्वर्ग तथा मोक्ष को करने वाले दुगुने वैराग्य को प्राप्त हो गया ॥१३॥

तदनन्तर सत्पुरुषों के छोड़ने योग्य समस्त राज्य को तृणादि के समान छोड़ कर राजा अरविन्द ने देव-दुर्लभ तथा सुख के सागर स्वरूप संयम को ग्रहण कर लिया अर्थात् मुनि दीक्षा ले ली ॥१४॥ वे उत्तम मुनि कर्मों का क्षय करने के लिये प्रमाद रहित होकर प्रतिदिन बारह प्रकार के तप, ध्यान, अध्ययन और कायोत्सर्ग करने लगे ॥१५॥

तदनन्तर एक समय वह मुनिराज गमन के मार्ग पर अपने नेत्रों को स्थापित करते हुए–ईर्यासमिति से चलते हुए, भक्तिवश सम्मेद शिखर की वन्दना करने के लिये एक बड़े संघ के साथ उस सल्लकी वन मे पहुंचे। अनेक दुष्टजीवों से भरे हुए उस वन में उन्होंने

१ पापसागरान् २ आगच्छति ३ द्वादशविधं ४. प्रतिदिनम् ।

स्वप्रतिज्ञापरा धीरा मनागपि मनस्विनः । नोल्लङ्घन्ते नियोगं स्वं प्राणान्तेऽपि कदाचन॥१८॥
तं विलोक्य महानागस्त्रिधास्रुतमदोद्धत. । हन्तुं समुद्यतस्तस्य त्यक्तकायस्य[1] सन्मुनेः ॥१९॥
वीक्ष्य वक्षःस्थले मङ्क्षु[2] साक्षाच्छ्रीवत्सलाञ्छनम् । स्वपूर्वभवसम्बन्ध प्रत्यक्षीकृत्य मानसे ॥२२॥
तिर्यग्गतिकरं कर्म स्वं विनिन्द्य पुरातनम् । तस्मिन् प्राक्तनसुस्नेहान्मुनिपादौ ननाम सः॥२१॥
तत्क्षणं पूर्णयोगे तु मुनिना प्रोक्तो गजाधिपः । हे भद्र श्रृणु मे वाणीं धर्मरत्नखनीं पराम् ॥२२॥
आर्त्तध्यानार्जिताघेन विना धर्मं च मायया । बभूविथात्र मन्त्री त्वं पराधीनो गजोऽघकृत् ॥२३॥
अद्यापि क्रूरतां किं न जहास्येवाघकारिणीम् । अहिंसालक्षणं धर्मं किन्न गृह्णासि संप्रति ॥२४॥
अतो धर्म्मं विनोद्धर्तुं ध्रुवं त्वां कोऽपि न क्षमः । सुरेन्द्रो वा नरेन्द्रोऽत्र दुर्गतेर्दुःखसन्ततेः ॥२५॥
तस्माद्धर्मं. गृहाण त्वं सर्वदुःखवनानलम् । सुखार्णवं गृहस्थानां जिनेन्द्रोक्तं दयामयम् ॥२६॥

ध्यान के समय काठ के समान निश्चल होकर अतिशय कठिन प्रतिमा योग धारण कर लिया ॥१६-१७॥ यह ठीक ही है; क्योंकि अपनी प्रतिज्ञा में तत्पर रहने वाले धीर वीर मनस्वी मनुष्य प्राणान्त होने पर भी कदाचित् अपने नियम का थोड़ा भी उल्लङ्घन नहीं करते है ॥१८॥ उन्हें देखकर जो तीन प्रकार से झरते हुए मद के द्वारा उद्धत हो रहा था ऐसा वह हाथी कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित उन मुनिराज का घात करने के लिये उद्यत हो गया ॥१९॥ परन्तु उन मुनिराज के वक्षस्थल पर जो साक्षात् श्रीवत्स का चिह्न था उसे शीघ्र ही देखकर उस हाथी के मनमें प्रत्यक्ष हो गया कि इनके साथ तो हमारा पूर्वभव का सम्बन्ध है । उसी समय उस हाथी ने तिर्यञ्चगति का वन्ध कराने वाले अपने पूर्वकर्म की निन्दा की और उन मुनिराज पर अपने पूर्वभव का स्नेह होने से वह उनके चरणों में नम्रीभूत हो गया-उसने उन्हें नमस्कार किया ॥२०-२१॥

उसी क्षण ध्यान पूर्ण होने पर मुनिराज ने गजराज से कहा कि हे भद्र ! तू धर्म रूपी रत्न की खानस्वरूप मेरी उत्कृष्ट वाणी सुन ॥ २२ ॥ तू मेरा मन्त्री मरुभूति है । आर्त्तध्यान से अर्जित पाप के कारण तूने धर्म का आचरण नहीं किया इसलिये माया से तू यहां पाप को करने वाला पराधीन हाथी हुआ है ॥ २३ ॥ तू अब भी पाप को करने वाली क्रूरता को क्यों नहीं छोड़ रहा है, और इस समय अहिंसा लक्षण धर्म को क्यों नहीं ग्रहण कर रहा है ? ॥ २४ ॥ चूंकि यह निश्चित है कि इस संसार में धर्म के बिना चाहे इन्द्र हो, चाहे नरेन्द्र, दुर्गति सम्बन्धी दुःखों की सन्तति से तेरा उद्धार करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है इसलिये तू समस्त दुःख रूपी वन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान, सुखों के सागर, जिनेन्द्रोक्त, दयामय गृहस्थ धर्म को ग्रहण कर ॥२५-२६॥

---

१ कृतकायोत्सर्गस्य २ शीघ्रम् ।

श्रुत्वा तद्वाक्यमेवासौ धर्मकर्मनिबन्धनम् । सद्धर्मकांक्षयात्राधात्तत्पादाब्जे निजं शिरः ॥२७॥
ततो जगौ मुनिर्वाच धर्मसद्भावसूचिकाम् । गजाधीश शृणु त्वं ते वक्ष्ये सागारिणां वृषम्[1] ॥२८॥
शङ्कादिदोषनिर्मुक्तं गुणाष्टक[2]-विभूषितम् । दर्शनं प्रथमं धार्यं सोपानं मुक्तिधामनि ॥२९॥
श्रद्धानं सप्ततत्त्वानां तीर्थशागमयोगिनाम् । क्रियते यत्र निःसन्देहं तत्सम्यक्त्वमुच्यते ॥३०॥
अर्हतो नापरो देवो दयाभावान्न सद्वृषः । निर्ग्रन्थान्न गुरुर्ज्येष्ठ एतत्सम्यक्त्व-कारणम् ॥३१॥
मद्यं मांसं मधु त्याज्यं सहोदुम्बरपञ्चकैः । दृग्गुणैः व्यसनैः सार्धं सदाद्य-प्रतिमाप्तये ॥३२॥
अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिधासारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि हीति द्वादश-सद्व्रताः ॥३३॥
सामायिकं विधातव्यं काले काले वृषाकरम् । कर्मारण्यानलः कार्यः प्रोषधः सर्वपर्वसु ॥३४॥
सच्चित्तवस्तुनस्त्यागश्चतुराहार—वर्जनम् । रात्रौ च नवधा सारं ब्रह्मचर्यं सुखाकरम् ॥३५॥

धर्म कर्म के कारणभूत मुनिराज के उन वचनों को सुनकर हाथी ने समीचीन धर्म की इच्छा से अपना मस्तक उनके चरणकमलों पर रख दिया ॥२७॥ तदनन्तर मुनिराज ने धर्म के सद्भाव को सूचित करने वाले वचन कहे—हे गजराज ! तू सुन, मैं तुझे गृहस्थों का धर्म कहूँगा ॥ २८ ॥ सबसे पहले शङ्का आदि आठ दोषों से रहित तथा संवेग आदि आठ गुणों से सुशोभित, मोक्षमहल की पहली सीढी के समान सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिये ॥२९॥ सात तत्त्वों तथा आप्त, आगम और निर्ग्रन्थ गुरुओं का जिसमें निःसन्देह श्रद्धान किया जाता है वह सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥ ३० ॥ अर्हन्त से बढ़कर दूसरा देव नहीं है, दयाभाव से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है, और निर्ग्रन्थ से बढ़कर श्रेष्ठ गुरु नहीं है । यह तीनों ही सम्यक्त्व के कारण हैं ॥३१॥ गृहस्थ धर्म की ग्यारह प्रतिमाएँ हैं उनमें से प्रथम प्रतिमा की प्राप्ति हेतु जीवन पर्यन्त के लिये सात व्यसन तथा पांच उदुम्बर फलों के साथ मद्य, मांस और मधु का त्याग करना चाहिये तथा मूलगुणों के साथ सम्यग्दर्शन को धारण करना चाहिये । यह पहली दर्शन प्रतिमा है ॥३२॥ तदनन्तर पांच अणुव्रत, तीन प्रकार के श्रेष्ठ गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रत धारण करना चाहिये । यह दूसरी व्रत प्रतिमा है ॥ ३३ ॥ पश्चात् समय समय पर अर्थात् तीनों संध्याओं में धर्म की खान स्वरूप सामायिक करना चाहिये । यह तृतीय सामायिक प्रतिमा है । फिर समस्त पर्वों में प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन कर्मरूपी वन को भस्म करने के लिये अग्निस्वरूप प्रोषध करना चाहिये । यह चतुर्थ प्रोषध प्रतिमा है ॥३४॥ तदनन्तर सचित्त वस्तुओं का त्याग करना चाहिये । यह पञ्चम सचित्त त्याग प्रतिमा है । फिर रात्रि में अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिये । यह

१. [illegible] णिव्वेओ णिंदा गरहा य उवसमो भत्ती ।
[illegible] अट्ठगुणा हुन्ति सम्मत्ते (वसुनन्दि श्रावकाचार)

गृहारम्भोऽखिलो हेय:[1] समस्तैनो निबन्धनम् । लोभ हत्वा विना वस्त्रं परिग्रह-विवर्जनम् ।।३६।।
सावद्यानुमति:[2] कृत्स्ना न कार्या जातु सिद्धये । हालाहलमिवोद्दिष्टाहारं ग्राह्यं न पापदम् ।।३७।।
एता यः प्रतिमा धीमानेकादश प्रपालयेत् । प्राप्य षोडशकं नाकं[3] क्रमाधाति शिवालयम् ।।३८।।
मुनेर्वाक्यामृत पीत्वा हत्वा दुःखाघदुर्विषम् । जग्राह काललब्ध्याशु त्रिशुद्ध्यानन्दनिर्भरम् ।।३९।।
निखिलानि व्रतान्येव स्वयोग्यानि स गेहिनाम् । धर्मबुद्ध्याघ-घाताय नत्वा तत्पादपङ्कजम् ।४०।।
तदा प्रभृति नागेन्द्रो भग्नशाखाः परैर्गजैः । तृणान्यत्यतिशुष्काणि पत्राण्यघभयात्सदा ।।४१।।
उपलास्फालनाक्षेपद्विप—संघातघट्टितम् । पारणे स निराहारस्तोय पिवति शुद्धधीः ।।४२।।
षष्ठाष्टमादिना नित्य करोत्येवानघं तपः । प्राक्तनाशुभ-हान्यै स सवेगान्वित-मानसः ।।४३।।

छठवीं रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा है । पश्चात् नौ कोटियों—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से श्रेष्ठ तथा सुखदेव की खान स्वरूप ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये । यह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ।। ३५ ।। पश्चात् समस्त पापों का कारण सब प्रकार का गृह सम्बन्धी आरम्भ छोड़ना चाहिये । यह अष्टम आरम्भ त्याग प्रतिमा है । फिर लोभ को नष्ट कर उपयोगी वस्त्र के बिना समस्त परिग्रह का त्याग करना चाहिये । यह नौवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा है ।।३६।। तदनन्तर मुक्ति प्राप्त करने के लिये सब सकार के सावद्य सपाप कार्यो की अनुमति नहीं करना चाहिये । यह दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा है, और पश्चात् हालाहल विष के समान पाप को देने वाला उद्दिष्ट आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये । यह उद्दिष्ट त्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा है ।।३७।। जो बुद्धिमान् मनुष्य इन ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करता है वह सोलहवें स्वर्ग तक जाकर क्रम से मोक्ष प्राप्त होता है ।।३८।।

मुनिराज के वचन रूपी अमृत को पीकर तथा दुःखदायक पापरूपी दुष्ट विष को नष्टकर उस हाथी ने काल लब्धि से शीघ्र ही आनन्द से परिपूर्ण हो मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक अपने योग्य श्रावकों के समस्त व्रत ग्रहण किये । उसने यह व्रत धर्मबुद्धि से पापों का विघात करने के लिये मुनिराज के चरण कमलों को नमस्कार कर ग्रहण किये थे ।।३९–४०।। उस समय से वह गजराज पाप के भय से, दूसरे हाथियों के द्वारा तोड़ी हुई वृक्ष की शाखाओं तथा सूखे तृण और पत्तों को खाने लगा ।।४१।। शुद्ध बुद्धि से युक्त वह हाथी उपवास के दिन निराहार रहता और पारणा के दिन भदभदा से पड़े हुए तथा हाथियों के संघात से घट्टित प्रासुक जल को पीता था ।।४२।। जिसका चित्त संसार सम्बन्धी भय से युक्त है ऐसा वह हाथी पूर्वबद्ध अशुभ कर्मों की निर्जरा के लिये वेला तेला आदि

---

१ समस्तपापक रणभूतम् २. सपापकार्यानुमतिः ३. स्वर्ग ।

जातु बाधां विधत्ते नो द्वीन्द्रियाद्यखिलाङ्गिनाम् । कृत्स्नसत्त्वदयालीन एनोभीतो[1] व्रताप्तये ।।४४।।
तृणादीनि परेषां न क्वचिद् गृह्णाति धर्मभाक् । त्रिशुद्धया पालयत्येव ब्रह्मचर्यं स्वसिद्धये ।।४५।।
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य चिरं कुर्वंस्तपो महत् । संवेगेनाभवद्धस्ती क्षीणदेहपराक्रम. ।।४६।।
कदाचित्पातुमायातो वेगवत्या ह्रदे जलम् । क्षीणगात्रोऽतिनि.शक्तोऽपतज्जीवदयापर: ।।४७।।
पङ्के क्षिप्तः समुत्थातुं [2]विहितेहोऽप्यशक्तवान् । सन्यासमाददे धीमास्तत्क्षणं सिद्धिलब्धये ।।४८।।
ध्यायन् हृदि जिनाधीशं तपो धर्मं च सद्गुरून् । आराधना स्वधैर्येण धर्मध्यान-परायण. ।।४९।।
मृत्वाथ कमठ: पापी कुर्कुटाहिर्बभूव[3] सः । क्रूरोऽतिदारुण: पापाद्वने तत्र भयंकर: ।।५०।।
व्रजता तेन सर्पेण पूर्ववैरोदयात्तदा । कोपातुरेण दष्टोऽसौ गजो धर्मपरायण: ।।५१।।
तद्विषोत्पन्नदाहेन त्यक्त्वा प्राणान् समाधिना । महत्या क्षमया धर्मव्रतसंन्यासपाकत. ।।५२।।

के द्वारा निरन्तर निर्दोष तप करता था ।।४३।। जो समस्त जीवों की दया में लीन रहता था तथा पाप से भयभीत था ऐसा वह हाथी व्रत की प्राप्ति के लिये कभी भी द्वीन्द्रियादि समस्त जीवों को बाधा नहीं करता था ।।४४।। धर्म को धारण करने वाला वह हाथी कहीं भी दूसरों के तृण आदि को ग्रहण नहीं करता था और आत्मसिद्धि के लिये त्रिशुद्धि पूर्वक नियम से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता था ।।४५।। संवेग–संसार भ्रमण के भय से अपने वीर्य को प्रकट कर वह हाथी चिरकाल तक महान् तप करता रहा, जिससे उसके शरीर का पराक्रम क्षीण हो गया ।।४६।।

जिसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया है तथा जो अत्यन्त शक्तिहीन हो चुका है ऐसा जीव दया में तत्पर रहने वाला वह हाथी किसी समय वेगवती नदी के ह्रद में पानी पीने के लिये आया और वहां गिर पड़ा ।। ४७ ।। वहां की कीचड़ में वह ऐसा गिरा कि प्रयत्न करने पर भी उठने के लिये समर्थ नहीं हो सका । अन्त में उस बुद्धिमान् ने सिद्धि प्राप्ति के लिये उसी क्षण संन्यास ले लिया अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिये आहार पानी का त्याग कर दिया ।।४८।। वह हृदय में जिनेन्द्र देव, तपश्चरण, धर्म और सद्गुरुओं का ध्यान करता हुआ चार आराधनाओं की आराधना करने लगा तथा अपने धैर्य से धर्मध्यान में तत्पर हो गया ।।४९।।

तदनन्तर पापी कमठ अपने पाप से मर कर उसी वन में क्रूर परिणामी, अत्यन्त कठोर और भयकर कुर्कुट सर्प हुआ ।।५०।। उस समय वह सर्प वहीं से जा रहा था । पूर्व वैर के उदय से क्रोधातुर उस सर्प ने धर्म्यध्यान में तत्पर उस हाथी को डस लिया ।।५१।। उसके विष से उत्पन्न दाह के कारण उसने समाधिपूर्वक प्राण छोड़े और बहुत भारी क्षमा,

१. पापभीत २ विहितोद्यमोपि ३ कुर्कुटसर्प, उड्डयनशीलः सर्पविशेष ।

अभूतत्कल्पे सहस्रारे नैकर्द्धि—परिमण्डिते । स्वयप्रभविमाने शशिप्रभो निर्जरो महान् ।।५३।।
परिज्ञायावधिज्ञानात् प्राग्भवव्रतजं[1] फलम् । धर्मे च शासने दृढभावोऽमरोऽभवत् ।।५४।।
तत्रत्यचैत्य—गेहेषु महापूजां चकार सः । जिनार्चाणां[2] शिवायातिभक्त्यादौ दिव्यपूजया ।५५।
मेरुनन्दीश्वरादौ स करोति यजनं[3] परम् । कृत्रिमाकृत्रिमार्चाणा स्वर्गजैश्चारुवस्तुभिः ।।५६।।
कुर्यात् केवलिनां सिद्धयै तीर्थेशां च महामहम्[4] । कल्याणे[5] दिव्यसामग्र्या स्वपरीवारमण्डित ।५७
इत्यादि विविध पुण्यं विश्वाभ्युदयसाधनम् । तनोति संतत मुक्त्यै देवोऽनेकर्द्धिभूषित. ।।५८।।
देवीनिकरसभूतैर्नर्तनैश्च मनोहरैः । सुगीतैर्मधुरैः क्रीडनैर्विनोदैस्तु जल्पनैः ।।५९।।
शृङ्गारालोकनैरप्सरसा भुनक्ति प्रत्यहम् । सुख रामादिभि सार्द्धं दिव्य स स्ववृषापितम्[6]।६०।
करोति विविधां क्रीडां क्रीडाद्रौ मन्दरेषु च । स्वेच्छयामा[7] स्वदेवीभि. सोऽसख्यद्वीपवार्धिषु ।६१
षोडशाब्धिप्रमाणायुः[8] प्राप्तकामसुखो महान् । देवीनां शब्दमात्रेण सार्द्धं त्रयकरोन्नतिः ।।६२।।

धर्म, व्रत तथा संन्यास के फलस्वरूप वह सहस्रार स्वर्ग के अनेक ऋद्धियों—संपदाओं से सुशोभित स्वयप्रभ विमान में शशिप्रभ नामका महान् देव हुआ ।।५२—५३।। अवधिज्ञान से वह देव, इसे पूर्वभव सम्बन्धी व्रत से उत्पन्न फल जानकर धर्म और जिनशासन में दृढ श्रद्धानी हो गया ।।५४।। उसने सर्व प्रथम कल्याण प्राप्ति के लिये वहां के चैत्यालयों में विद्यमान जिन प्रतिमाओं की भक्तिपूर्वक उत्तम सामग्री से महा पूजा की ।।५५।। तदनन्तर सुमेरु पर्वत और नन्दीश्वर द्वीप आदि में विद्यमान कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओं की स्वर्ग में उत्पन्न हुए उत्तम द्रव्यों से उत्कृष्ट पूजन की ।।५६।। वह अपने परिवार से सुशोभित होता हुआ सिद्धि प्राप्ति के लिये कल्याणकों के समय सामान्य केवलियों तथा तीर्थंकरों की, दिव्य सामग्री से महामह पूजा करता था ।।५७।। इस प्रकार अनेक ऋद्धियों से विभूषित वह देव, मुक्ति प्राप्ति के लिये निरन्तर समस्त अभ्युदयों के साधन स्वरूप नाना प्रकार के पुण्य को करता था ।।५८।। देवियों के समूह से उत्पन्न मनोहर नृत्यों, मधुर संगीतों, उत्तम क्रीडाओं, विनोदपूर्ण वार्तालापों तथा अप्सराओं के शृङ्गार पूर्ण अवलोकनों से वह देव प्रतिदिन देवाङ्गनाओं के साथ, अपने धर्म के द्वारा प्राप्त हुए दिव्य सुख का उपभोग करता था ।।५९—६०।। वह क्रीडाचल, मन्दरगिरि और असंख्यात द्वीप समुद्रों में अपनी देवियों के साथ इच्छानुसार नाना प्रकार की क्रीडा करता था ।।६१।। उसकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी, उसे देवियों के शब्द सुनने मात्र से काम का सुख प्राप्त होता था, वह महान् उत्कृष्ट था, साढ़े तीन हाथ ऊंचाई वाला था, अणिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य से

१ प्राक्तनपर्यायकृतव्रतोद्भूत २. जिनप्रतिमाना ३ पूजन ४ महापूजाम् ५ गर्भादिकल्याणकेषु ६स्वधर्मप्रापित । ७. सह ८ षोडशसागरप्रमितायुष्क ।

अणिमादिगुणाष्टैश्वर्याढ्यविक्रियदेहभाक् । छायातिगातिदिव्याङ्गकान्त्या दीप्त्या व्यभात्तराम् ।६३।
द्व्यष्टवर्षसहस्रे¹ गते आहार सुधामयम् । सर्वाक्षतृप्तिद दिव्यं भुनक्ति मनसा सुर: ।।६४।।
द्व्यष्टपक्षगते²रुच्छ्वासमनाग् लभतेऽमर: । सुगन्धीकृत्य दिग्भाग जराक्लेशरुजातिग. ।।६५।।
चतुर्थावनिपर्यन्तावधिज्ञानाखिलार्थवित् । तत्समानमहा—विक्रियर्द्धिभूषितकायभाक् ।।६६।।
क्वचिन्नृत्य क्वचिद्गीत क्वचित्पूजां क्वचिद् वृषम् । भजन्मग्नोऽतिशर्माब्धौ³ गतं कालं न वेत्ति स: ।६७
सोऽथ कुर्कुटसर्पोऽतिपापभारेण पापधी: । धूमप्रभाभिधश्वभ्रसागरे मग्न एव हि ।।६८।।
छेदन भेदनं शूलारोहणं च विदारणम् । ताडनं मारणं घोरं बन्धनञ्च कदर्थनम्⁴ ।।६९।।
शारीरं मानस तीव्रदु ख वाचामगोचरम् । क्षेत्रोत्पन्न महारोगजातं च विक्रियोद्भवम् ।।७०।।
सतप्ततैलनिक्षेप वैतरण्या प्रमज्जनम् । इत्यादि विविधां पीडां नारकेभ्य: क्षण क्षणम् ।।७१।।
हिंसार्जितपापौघफलात्स लभते चिरम् । अशरण्यो बलात्तत्र नारको दीनमानस: ।।७२।।
प्रार्थयन् मरण तत्र गच्छन्मूर्च्छां मुहुर्मुहु: । कदर्थ्यमान⁵ एवास्ते नारको नारकै: सदा ।।७३।।

युक्त वैक्रियिक शरीर से सहित था तथा छाया से रहित दिव्य शरीर की कान्ति और दीप्ति से अत्यन्त शोभायमान था ।।६२–६३।। वह देव सोलह हजार वर्ष बीत जाने पर समस्त इन्द्रियों को तृप्ति देने वाला अमृतमय मानसिक आहार ग्रहण करता था ।।६४।। वृद्धावस्था सम्बन्धी क्लेश और रोगों से रहित वह देव, सोलह पक्ष व्यतीत होने पर दिशाओं को सुगन्धित कर थोड़ा श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता था ।।६५।। वह अवधिज्ञान के द्वारा चतुर्थ पृथिवी तक के समस्त पदार्थों को जानता था और उतनी ही दूर तक की विक्रिया ऋद्धि से विभूषित शरीर से युक्त था ।।६६।। सुखरूपी विशाल सागर में मग्न रहने वाला वह देव, कहीं नृत्य, कही गान, कहीं पूजा, और कहीं धर्म-चर्चा को प्राप्त होता हुआ व्यतीत हुए काल को नहीं जान सका ।।६७।।

तदनन्तर पापरूप बुद्धि से युक्त वह कुर्कुट सर्प तीव्र पाप के भार से धूमप्रभा नामक नरक रूपी सागर में जाकर निमग्न हो गया अर्थात् मरकर पांचवें नरक गया ।।६७।। वहां वह हिंसा आदि कार्यों से उपार्जित पाप समूह के फलस्वरूप छेदा जाना, भेदा जाना, शूली पर चढ़ाया जाना, विदारण किया जाना, ताडन, मारण, भयंकर बन्धन, तथा पीडन आदि शारीरिक, वचनों के अगोचर तीव्र मानसिक, क्षेत्र से उत्पन्न, महा रोगों से उत्पन्न, विक्रिया से उत्पन्न, संतप्त तैल में डाला जाना, और वैतरणी में डुबाया जाना, इत्यादि नाना पीड़ाओं को नारकियों से चिरकाल तक प्रत्येक क्षण प्राप्त करता रहा ।। यह सब दुःख उसे बलात् भोगने पड़ते थे । वहां उसका कोई शरण्य–रक्षा करने वाला नहीं था । अत्यन्त दीन हृदय

१ षोडशसहस्रवर्षेषु गतेषु २. षोडश पक्ष व्यपगमानन्तरम् ३. अत्यधिकसुखसागरे ४. पीडनम् ५ पीड्यमान ।

अथ जम्बूमतिद्वीपे मेरोः प्राग्दिशि शाश्वतम् । पूर्वविदेहनामास्ति क्षेत्रं धर्माकर परम् ।।७४।।
विदेहान्मुनयो यस्माद् गच्छन्त्येवाव्यय[1] पदम् । तस्मात्तत्सार्थकं नाम विद्यत्ते[2] क्षेत्रमुत्तमम्।।७५।।
विद्यते [3]विषयस्तत्र मनोज्ञो मङ्गलावती । विश्वमङ्गलद्रव्यौघैः पूर्णो माङ्गल्यकारकः।।७६।
तस्य मध्ये महान् भाति विजयार्द्धाभिधोऽचलः। शुद्धरूप्यमय[4]स्तुङ्गः खगदेवाभिसेवित ।।७७।।
उत्तुङ्गो योजनानां स पञ्चविंशतिमेव हि । तच्चतुर्थांशभूमध्यो नवकूटविभूषित ।।७८।।
पूर्वकूटे जिनागारो ह्यभात्स्वर्णमयो महान् । हेमोपकरणै रत्नबिम्बैः कूटस्थकेतुभिः ।।७९।
तत्रायान्ति च देवेशा विद्येशाश्चारणाः सदा । वन्दितुं श्रीजिनार्चाश्च महाभूतिविराजिताः ।।८०।।
चतुःसंघवरैर्देवैर्गीतैर्वाद्यैश्च नर्तनैः । यातायातजनैः सोऽभाद्धर्माकर इवानिशम् ।।८१।।
श्रेणीभ्यां द्विगुहाभ्या च सेव्यमानः खगामरैः । वनैः कूटैर्महारत्नैर्यतिवत्सोऽचलो बभौ ।।८२।।

होकर वह वहां शरण की प्रार्थना करता हुआ बार बार मूर्छित हो जाता था । इतने पर भी नारकी उसे सदा पीडित करते रहते थे ।।६८–७३।।

तदनन्तर जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरुपर्वत की पूर्व दिशा में पूर्व विदेह नामका शाश्वत-सदा विद्यमान रहने वाला क्षेत्रहै । वह क्षेत्र धर्म की उत्कृष्ट खान स्वरूप है ।।७४।। चूं कि विदेह क्षेत्र से मुनि अविनाशी–मोक्षपद को प्राप्त होते रहते हैं इसलिये वह उत्तम क्षेत्र 'विदेह' इस सार्थक नामको धारण करता है ।।७५।। उसी विदेह क्षेत्र में समस्त मङ्गल द्रव्यों के समूह से परिपूर्ण, मङ्गल को करने वाला मङ्गलावती नामका मनोहर देश है ।।७६।। उस देश के मध्य में विजयार्ध नामका एक महान् पर्वत सुशोभित हो रहा है । वह पर्वत शुद्ध चांदी रूप है, ऊंचा है, विद्याधर और देवों से सदा सेवित रहता है, पच्चीस योजन ऊंचा है, ऊंचाई के चतुर्थांश पृथिवी में गहरा है, और नौ कूटों से विभूषित है ।।७७–७८।। उसके पूर्वकूट पर सुवर्णमय विशाल जिन मन्दिर है जो सुवर्ण के उपकरणों, रत्नमय प्रतिबिम्बों और शिखर पर स्थित पताकाओं से शोभायमान हो रहा है ।।७९।। देवेन्द्र, विद्याधरेन्द्र और चारण ऋद्धि के धारक मुनिराज अष्ट प्रातिहार्यरूप महान् विभूति से सुशोभित जिन प्रतिमाओं की वन्दना करने के लिये वहां सदा आते रहते है ।।८०।। चतुर्णिकाय के उत्कृष्ट देवों, गीतों, वाद्यों, नृत्यों और आने जाने वाले मनुष्यों से वह पर्वत निरन्तर ऐसा सुशोभित होता है मानों धर्म की खान ही हो ।।८१।। दो श्रेणियों, दो गुफाओं, विद्याधरों, देवों, वनों, कूटों और महारत्नों से सेवित हुआ वह पर्वत मुनिराज के समान सुभोभित हो रहा था ।।८२।।

१. अविनाशिपदम् मोक्षमित्यर्थ. । २ कुरुते ३. देशं ४ शुद्धरजतमय ।

नगरं तत्र रौप्याद्रौ त्रिलोकोत्तमसंज्ञकम् । अस्त्युत्तमजनैः पूर्णं त्रैलोक्यतिलकोपमम् ॥८३॥
तद्बाह्ये सफलान्युच्चैस्तर्पकाणि वनानि च । सतां तुङ्गानि शोभन्ते यतेर्वाचरणान्यहो ॥८४॥
क्षेत्राण्यत्यतिरम्याणि काले काले कृतान्यपि । मुनेरावश्यकानीव फलदानि बभुर्नृणाम् ॥८५॥
वापीकूपतडागानि [1]खतृष्णास्फेटकान्यपि । ऋषेर्हृदयतुल्यानि भान्ति लोकहितान्यहो ॥८६॥
पुरं तुङ्गैरभाद्धेमरत्नप्राकारतोरणैः । दीर्घखातिकया जम्बूद्वीपवेद्यब्धिवत्तराम् ॥८७॥
विभ्राजन्ते जिनागारा मणिस्वर्णमयाः शुभाः । खगीभिश्च[2] खगै.[3] पूर्णा महान्तो वा वृषाब्धयः[4] ॥८८॥
जयस्तवादिशब्दौघैर्गीतैर्वाद्यैश्च नर्तनैः । उत्सवैर्विविधैर्नित्यं दीप्तैर्बिम्बैर्मनोहरैः ॥८९॥
धार्मिकाणां महाधामाग्रस्थध्वजकरोत्करैः । आह्वयतीव तद्भाति नाकेशां मुक्तिहेतवे ॥९०॥
वर्तते शाश्वतो यत्र धर्मो जीवदयामय. । जिनोक्तः स्वर्गमुक्त्यादिसाधको नापरः क्वचित् ॥९१॥
विहरन्ति यतीन्द्रौघा यत्र केवलिनोऽनिशम् । धर्मप्रवर्तनाहेतोः संघैर्न च कुलिङ्गिनः ॥९२॥

उस विजयार्द्ध पर्वत पर त्रिलोकोत्तम नामका एक नगर है जो उत्तम जनों से परिपूर्ण है तथा तीनों लोकों के तिलक के समान जान पड़ता है ॥८३॥ उस नगर के बाहर फलो से सहित तथा सत्पुरुषों को संतुष्ट करने वाले ऊंचे ऊंचे उत्कृष्ट वन सुशोभित हो रहे हैं जो मुनि के आचरण चारित्र के समान जान पड़ते हैं ॥८४॥ समय समय पर जिनकी सभाल की जाती है ऐसे यहां के अत्यन्त रमणीय खेत, मनुष्यों को फल देते हुए मुनियों के आवश्यकों के समान सुशोभित होते हैं। अहा ! पक्षियों की तृष्णा को नष्ट करने वाले वहां के लोकहितकारी वापी कूप और तालाब मुनि के हृदय के समान सुशोभित हैं ॥८५-८६॥ वह नगर, ऊंचे ऊंचे सुवर्ण तथा रत्ननिर्मित कोट, तोरणों से तथा बहुत बडी परिखा से जम्बूद्वीप की वेदी के समान अत्यन्त सुशोभित होता है ॥८७॥ विद्याधरियों और विद्याधरों से भरे हुए वहां के मणि तथा स्वर्णमय शुभ मन्दिर ऐसे सुशोभित होते हैं मानो बडे भारी धर्म के सागर ही हों ॥८८॥ जय जय आदि स्तवनों के शब्द समूहों, गीतों, वादित्रों, नृत्यो, नाना प्रकार के उत्सवों और निरन्तर देदीप्यमान रहने वाले जिन विम्बों से वह नगर अत्यन्त शोभायमान है ॥८९॥ धर्मात्मा जनों के बड़े बड़े भवनों के अग्रभाग पर स्थित ध्वज रूपी हाथो के समूह से वह नगर ऐसा जान पड़ता था मानों मुक्ति की प्राप्ति के लिये इन्द्रों को बुला ही रहा हो ॥९०॥ जहां पर स्वर्ग और मोक्ष आदि को प्राप्त कराने वाला, जिनेन्द्र कथित दयामय धर्म ही शाश्वत स्थायी धर्म है कहीं कोई दूसरा धर्म नहीं है ॥९१॥ जहां पर धर्म की प्रवर्तना के लिये चतुर्विध संघों के साथ मुनिराजों के समूह तथा केवली भगवान् निरन्तर विहार करते है, कुलिङ्गी विहार नहीं करते थे॥९२॥

१. पक्षितृपानाशकानि २. विद्याधरीभि. ३ विद्याधरैः ४. धर्मसागरा

कुदेवस्तन्मठे जातु स्वप्नेऽपि दृश्यते न च । कुलिङ्गी तद्रतोऽज्ञान कुज्ञानी कुवृषोऽशुभः ।।९३।।
धार्मिका विशदा दक्षा जिनभक्तिपरायणाः । पात्रदानरता धर्ममहोत्सव-विधायिनः ।।९४।।
गुरुभक्ताः सदाचारा व्रतशीलादिभूषिताः । आकाशगामिनो मेर्वादियात्रारत-बुद्धयः ।।९५।।
वसन्ति यत्र विद्येशाः सकुलास्तुङ्गधामसु । खगीभीर्दिव्यरूपाभिर्देवीभिश्चामरा दिवि ।।९६।।
इत्यादिवर्णनोपेते पुरे तस्मिन्मनोहरे । विद्युद्गतिखगेशोऽभूद् विद्युद्गतिविराजितः[1] ।।९७।।
प्रतापी नातिमार्गज्ञोऽनेकविज्ञाननायकः । दक्षो धर्मविचारज्ञो विवेकी शीलमण्डितः ।।९८।।
प्रजानां तर्पको ज्ञानी जैनधर्मप्रभावकः । यमीव[2] स बभौ लोके सत्क्षमादिगुणोत्करैः ।।९९।।
विद्युन्माला प्रिया तस्य बभूव शुभलक्षणा । रूपलावण्यभूषाढ्या सती पुण्यात्तमानसा ।।१००।।
तयो सूनुरभूदग्निवेगाख्य. पुण्यपाकत' । शशिप्रभोऽमरश्च्युत्वा स दिवः प्राक्तनो महान्।।१०१।।
शुभलग्नादिकेऽनेकमहोत्सवशतैर्नृपः । महामऽह चकारोच्चैर्जिनागारे जिनेशिनाम् ।।१०२।।

जहां पर कुदेव, कुदेवों के मठ में ही दिखाई देता था अन्यत्र कहीं स्वप्न में भी दिखाई नहीं देता था। इसी प्रकार कुलिङ्गी, उनका भक्त, कुज्ञान, कुज्ञानी और अशुभ धर्म कहीं स्वप्न में भी नहीं दिखाई देता था ।।९३।। जो धर्मात्मा है, निर्मल है, चतुर है, जिनभक्ति में तत्पर है, पात्र दान में रत है, धार्मिक महोत्सवों को करते है, गुरुभक्त है, सदाचारी है, व्रत-शील आदि से विभूषित है, आकाशगामी है, मेरु आदि की यात्रा में जिनकी बुद्धि लग रही है तथा जो उच्च कुलीन है ऐसे विद्याधर जहां ऊंचे ऊंचे महलों मे सुन्दर रूप की धारक विद्याधरियों के साथ इस प्रकार रहते है जिस प्रकार स्वर्ग में देव देवियों के साथ निवास करते है ।।९४-९६।।

इत्यादि वर्णन से सहित उस मनोहर नगर में बिजली के समान तीव्रगति से सुशोभित विद्युद्गति नामका विद्याधर राजा रहता था ।। ९७ ।। वह विद्युद्गति प्रतापी था, नीति मार्ग का ज्ञाता था, अनेक प्रकार के विशिष्ट ज्ञानों का स्वामी था, चतुर था, धर्म विचार का ज्ञाता था, विवेकी था, शील से सुशोभित था, प्रजाजनों को संतुष्ट करने वाला था और उत्तम क्षमा आदि गुणों के समूह से लोक में मुनि के समान सुशोभित था ।।९८-९९।। जो शुभ लक्षणों से सहित थी, रूप और लावण्य रूपी आभूषणों से सहित थी, पतिव्रता थी तथा जिसका मन पुण्यकार्यो में संलग्न रहता था ऐसी विद्युन्माला नामकी उसकी प्राणवल्लभा थी ।।१००।।

वह शशिप्रभ नामका पूर्वोक्त महान् देव स्वर्ग से च्युत होकर पुण्योदय से उन दोनों के अग्निवेग नामका पुत्र हुआ ।।१०१।। राजा विद्युद्गति ने शुभ लग्न आदि के समय

१. विद्युत्सदृशगतिविशोभित. २ मुनिरिव

परिवारेण सार्द्धं विभूत्या तज्जातकर्मणि । दीनानाथजनेभ्यश्च ददौ दानान्यनेकश. ।।१०३।।
वालचेष्टैर्मुदं कुर्वन् पित्रोस्तद्योग्यमानकैः । वर्द्धितुं लग्न एवासौ वालचन्द्रकलेव च ।।१०४।।
कौमारत्वं क्रमात्प्राप स पित्रोरञ्जयन्मन । मुग्धादिहसनै पुण्याद्वरैर्मन्मनभाषणैः ।।१०५।।
ततोऽध्यापकमासाद्य जैनं शास्त्रास्त्रविद्ययोः । पारं सोऽगाद्धिया तीक्ष्णप्रज्ञयाऽविरतो वुध. ।।१०६।।
सम्पूर्णयौवनो धीमान् मुकुटादिविभूषित । जिनभक्त सदाचारी शमी रूपी मदातिगः ।।१०७।।
शुभाशयो विचारज्ञो मन्दमोही कृपापरः । प्रत्यासन्नभवी धर्मरञ्जित. स्वजनप्रिय. ।।१०८।।
दिव्यदेहधरः सोऽभात्कुमार. सहजैर्गुणैः । विवेकादिभवैरन्यैर्लोकान्तिकसुरोऽत्र वा ।।१०९।।

मालिनी

इति सुकृतविपाकात्प्राप्य कौमारभूति, विविधमखिलसौख्यं स्वस्य योग्यं भुनक्ति ।
स्वजन-परजनानां वल्लभोऽनङ्गमूर्ति- हृंदि वरवृषमुच्चैरग्निवेगो निधाय ।।११०।।

अनेक महोत्सवों के साथ जिन मन्दिर में जिनेन्द्र भगवान् की महामह नामक उत्कृष्ट पूजा की ।।१०२।। परिवार के साथ मिलकर उसने बड़े वैभव से पुत्र का जन्मोत्सव किया और दीन तथा अनाथ जनों को अनेक दान दिये ।।१०३।। बालचेष्टाओं तथा अपने योग्य वाहन आदि की क्रीडाओं से माता-पिता के हर्ष को उत्पन्न करता हुआ वह बालक बालचन्द्र की कला के समान दिन प्रतिदिन बढने लगा ।।१०४।। सरल मन्द मुसकानों तथा पुण्योदय से प्राप्त उत्कृष्ट तोतली बोली से माता पिता के मन को अनुरञ्जित करता हुआ वह क्रम से कुमारावस्था को प्राप्त हुआ ।।१०५।।

तदनन्तर बुद्धि और तीक्ष्ण प्रज्ञा से युक्त वह विवेकी अग्निवेग जैन अध्यापक को प्राप्त कर शास्त्र और शस्त्रविद्याओं मे पार को प्राप्त हो गया अर्थात् दोनो विद्याओं में निपुण हो गया ।।१०६।। जो सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त था, बुद्धिमान् था, मुकुट आदि से विभूषित था, जिनभक्त था, सदाचारी था, शान्त था, रूपवान् था, अहंकार से रहित था, शुभ अभिप्राय वाला था, विचारज्ञ था, मन्दमोह था, दयालु था, निकट संसारी था, धर्म में अनुरक्त था, आत्मीयजनों को प्रिय था और सुन्दर शरीर का धारक था ऐसा वह कुमार अपने सहज गुणों से तथा विवेक आदि से होने वाले अन्य गुणों से इस लोक में लौकान्तिक देव के समान सुशोभित हो रहा था ।।१०७-१०९।।

इस प्रकार जो स्वजन और परजनों को अतिशय प्रिय था तथा जिसका शरीर कामदेव के समान सुन्दर था ऐसा अग्निवेग, पुण्योदय से कुमार काल की विभूति को प्राप्त कर तथा हृदय में उत्कृष्ट जैन धर्म को धारण कर अपने योग्य नाना प्रकार के समस्त सुखों का उपभोग करता था ।। ११० ।। यह अग्निवेग पूर्वभव में धर्म से देवगति सम्बन्धी

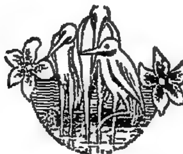
शार्दूलविक्रिडितम्

धर्मादेष किलाप्त एव विविध सौख्य वर देवजं, धर्मादेव ततोऽमले नृपकुले कौमारजं चोत्तमम्।
ज्ञात्वेतीह बुधा वृष व्यघहरं[1] यत्नात्कुरुध्वं सदा, स्वर्मोक्षैकवशीकर हितकरं सौख्याकरं मुक्तये ।।१११।।
पाश्व' पार्श्वघर: सता व्यघहर: पार्श्वं श्रिता धार्मिका:, पार्श्वेनैव किलाप्यते शिवसुख पार्श्वाय सिद्धयै नम:।
पार्श्वाद्विघ्नचयोऽद्भु त विघटते पार्श्वस्य मुक्ति' प्रिया, पार्श्वे पार्श्वजिन स्थितोऽहमनिश मे वृत्तविघ्नं हर।

इति भट्टारक श्रीसकलकीतिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे गजेन्द्रशशिप्रभदेवाग्निवेग भवत्रय-वर्णनो नाम द्वितीय सर्ग ।

नाना प्रकार के उत्तम सुख को प्राप्त हुआ, तदनन्तर वर्तमान भव में धर्म से ही निर्मल राजकुल में कुमारावस्था में होने वाले उत्तम सुख को प्राप्त हुआ है, यह जानकर हे बुध-जन हो ! मुक्ति के लिये विविध प्रकार के पापों को हरने वाले, स्वर्ग और मोक्ष को वश करने वाले, हितकारी और सुख की खान स्वरूप धर्म को सदा यत्नपूर्वक धारण करो ।।१११।। विविध पापों को हरने वाले पार्श्वनाथ भगवान् सत्पुरुषों को अपने पास में रखते थे, धार्मिक जीव पार्श्वनाथ की शरण में पहुंचते थे। पार्श्वनाथ के द्वारा ही मोक्ष का सुख प्राप्त होता है, सिद्धि की प्राप्ति के लिये पार्श्व जिनेन्द्र को मेरा नमस्कार हो, पार्श्वनाथ से विघ्नों का समूह अद्भु तरूप से विघटित हो गया था, मुक्तिरूपी स्त्री पार्श्वनाथ भगवान् को अतिशय प्रिय थी, हे पार्श्व जिनेन्द्र ! मैं निरन्तर आप में ही स्थित हूँ, अतः मेरे चारित्र सम्बन्धी विघ्न को शीघ्र ही हरण करो ।।१११-११२।।

इस प्रकार श्री भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित्र में गज-राज, शशिप्रभ देव और अग्निवेग के तीनभवों का वर्णन करने वाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।



---

१. विविधपापविध्वसक २ चारित्रविराधकं।

तृतीय सर्गः

श्रीपार्श्वं त्रिजगन्नाथं विश्वानिष्टक्षयंकरम् । सतां स्वपार्श्वदातारं स्तुवे तत्पार्श्वहेतवे ।।१।।
अथैकदा स्वधर्माय समाधिगुप्तयोगिनम् । अग्निवेगकुमारोऽगाद् वन्दितुं गुप्तिरक्षकम् ।।२।।
त्रिःपरीत्य यतीशं तं गुप्तित्रितयमण्डितम् । नत्वा मूर्ध्ना च संपूज्य सोऽस्थात्तत्सन्मुखो मुदा ।।३।।
धर्मवृद्धयभिधाशीर्वादेन भव्यं नृपात्मजम् । अभिनन्द्य मुनिर्धर्मं प्रोक्तुं निजोद्यमं व्यधात् ।।४।।
अहो कुमार सद्धर्मं मुक्तिश्रीवशकारकम् । यतीन्द्रसेवितं सारं निःपापं कुरु सर्वथा ।।५।।
येन धर्मेण मुक्तिश्रीर्दत्ते स्वालिङ्गनं सताम् । अत्यासक्ता स्वयं ह्येत्य का कथा नाकयोषिताम्[1] ।।६।।
धार्मिकाणां सुधर्मेण चरणाब्जं निरन्तरम् । किंकरा इव देवेन्द्रा नमन्त्याज्ञाविधायिनः ।।७।।
जिनेन्द्रपदजां लक्ष्मीं सर्वलोकातिशायिनीम् । त्रिजगद्वन्दितां धर्माल्लभन्ते मुनयोऽचिरात् ।।८।।

तृतीय सर्ग

जो तीनों जगत् के नाथ हैं, समस्त अनिष्टों का क्षय करने वाले है और सत्पुरुषों को अपनी समीपता प्रदान करते है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मै उनकी समीपता प्राप्त करने के हेतु स्तुति करता हूँ ।।१।।

तदनन्तर एक समय अग्निवेग कुमार अपने आपमे धार्मिक भाव जागृत करने के लिये गुप्तियों के रक्षक समाधिगुप्त नामक मुनिराज की वन्दना के अर्थ गया ।।२।। तीन गुप्तियों से सुशोभित उन मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा देकर उसने उन्हे शिर से नमस्कार किया, उनकी पूजा की, तदनन्तर वह बडे हर्ष से उनके सन्मुख बैठ गया ।।३।। मुनिराज ने धर्मवृद्धि नामक आशीर्वाद के द्वारा भव्य राजपुत्र का अभिनन्दन कर धर्म कहने के लिये अपना पुरुषार्थ किया ।।४।। उन्होंने कहा कि अहो राजकुमार ! मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश करने वाले, बडे बडे मुनियों के द्वारा सेवित, श्रेष्ठ और पाप रहित समीचीन धर्म का तुम सब प्रकार से पालन करो ।।५।। जिसधर्म के द्वारा अत्यन्त आसक्त हुई मुक्तिरूपी लक्ष्मी स्वयं आकर सत्पुरुषों के लिये अपना आलिङ्गन देती है उस धर्म के द्वारा देवाङ्गनाओं के आलिङ्गन की कथा ही क्या है ? ।।६।। समीचीन धर्म के द्वारा देवेन्द्र, किङ्करों के समान आज्ञाकारी होकर धर्मात्माओं के चरण कमलों को निरन्तर नमस्कार करते है ।।७।। जो सब लोगों को अतिक्रान्त करने वाली है अथवा जो समस्त लोक में श्रेष्ठ है और तीनों जगत् के द्वारा वन्दनीय है ऐसी तीर्थंकर पद की लक्ष्मी को मुनि धर्म के प्रभाव से शीघ्र

---

१ देवीनाम् ।

लौकान्तिकपदं शक्रपदं देवनमस्कृतम् । धर्मात्सर्वार्थसिद्धिश्च सता सपद्यते क्षणात् ।।९।।
रत्ननिध्यादिसंपूर्णां षट्खण्डपृथिवीभवाम् । चक्रवर्तिप्रजा[1] भूतिं लभन्ते धर्मिणो वृषात् ।।१०।।
धर्ममन्त्रेण वाकृष्टा सुश्रीर्लोकत्रयोद्भवा । धीमता वशमायाति गृहदासीव शर्मदा ।।११।।
धर्मो बन्धुर्महामित्र' पापशत्रुक्षयकर' । मोक्षदाता सुखाब्धिश्च सहगामी जगद्धित ।।१२।।
यतिधर्मोऽत्र यस्यास्ति तस्य चिन्तामणि करे । कल्पद्रुमो गृहद्वारे कामधेनुश्च किङ्करी ।।१३।।
लवणेन विना भोज्य श्रीदानेन विना क्वचित् । शीलादृते नरो नारी विद्वानुपशम विना ।।१४।।
धर्मो दया विना लोके सयमेन विना यमी । भ्राजते न यथा तद्वत् सतामायुर्वृष विना ।।१५।।
जीवन्तोऽपि मृता ज्ञेया निर्गन्धकुसुमोपमा. । धर्मवन्तो मृता मर्त्या अत्रामुत्र च जीविता ।।१६।।
जीवितव्येन तेनात्र किं साध्यं पापवर्तिना । येन न क्रियते धर्मो हत्वाश्रेय[2] सुखार्णव ।।१७।।
धन्यास्त एव लोकेऽस्मिन् ये सर्वत्र च सर्वथा । एक यतिवृष[3] मुक्त्यै यत्नात् कुर्वन्त्यहो सदा ।।१८।

ही प्राप्त कर लेते हैं ।।८।। धर्म से सत्पुरुषों को लौकान्तिक देवों का पद, देवों के द्वारा नमस्कृत इन्द्र का पद और सर्वार्थसिद्धि क्षणभर में प्राप्त हो जाती है ।।९।। धर्मात्मा जन धर्म से चौदह रत्न और नौ निधियों आदि से परिपूर्ण, षट्खण्ड पृथिवी में होने वाली चक्रवर्ती की विभूति को प्राप्त होते हैं ।।१०।। तीनों लोकों में उत्पन्न, सुखदायक उत्तम लक्ष्मी, धर्मरूपी मन्त्र के द्वारा आकृष्ट हुई गृहदासी के समान बुद्धिमानों के वश को प्राप्त होती है ।।११।। धर्म ही बन्धु है, महा मित्र है, पापरूप शत्रु का क्षय करने वाला है, मोक्ष को देने वाला है, सुख का सागर है, साथ जाने वाला है तथा जगत् का हितकारी है ।।१२।

इस लोक में मुनिधर्म जिसके पास है चिन्तामणि रत्न उसके हाथ मे है, कल्पवृक्ष उसके घर के द्वार पर है और कामधेनु उसकी किङ्करी है ।।१३।। जिस प्रकार नमक के विना भोजन, दान के विना लक्ष्मी, शील के विना नर नारी, शान्तभाव के विना विद्वान्, दया के विना धर्म और संयम के विना मुनि, लोक में कहीं सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार धर्म के विना सत्पुरुषों की आयु सुशोभित नहीं होती ।।१४-१५।। गन्ध रहित फूलों के समान धर्महीन मनुष्य जीवित रहते हुए भी मृत हैं और धर्मसहित मनुष्य मर कर भी इस लोक तथा परलोक में जीवित जानने के योग्य है ।।१६।। यहां पाप में प्रवर्तने वाले उस जीवन से क्या साध्य है जिसके द्वारा अश्रेय-कल्याण को नष्ट कर सुख का सागर स्वरूप धर्म नहीं किया जाता है। भावार्थ-वही जीवन सफल है जिसमे पाप से निवृत होकर सुखदायक धर्म की आराधना की जाती है ।।१७।। अहो ! इस लोक में वे ही धन्य हैं जो सब जगह सब प्रकार से मुक्ति के लिये एक मुनि धर्म का यत्नपूर्वक सदा आचरण

१ चक्रधरोत्पन्ना २ हत्वा+अश्रेय इतिच्छेद अकल्याण दूरीकृत्येत्यर्थ ३ मुनिधर्मं ।

सर्वसङ्गपरित्यागान्मोह-शत्रु-विनाशनात् । कामेन्द्रियारिसंघातात् परीषहजयाद् वृषात् ॥१९॥
मूलोत्तरगुणाचाराद्ध्यानाध्ययनकर्मभि । तपसा साध्यते धीरैः स धर्मो यतिगोचरः ॥२०॥
धर्मो निष्पाद्यते दक्षै. क्षमादिदशलक्षणैः । व्युत्सर्गैश्च वपु क्लेशैः प्रत्यहं वनवासिभिः ॥२१॥
मुनिधर्मं सुखाब्धि त्व हत्वा मोहमहाभटम् । पाणिग्रहणजं कर्म गृहाणाशु नृपात्मज ॥२२॥
भोगतृष्णाविषं हत्वा पीत्वा मुनिवचोऽमृतम् । कुमारः प्राप्य संवेग व्यधाच्चिन्ता हृदीत्यहो ॥२३॥
ध्रुव तपो महत्कार्यं कुमारत्वेऽपि धीधनैः । वृद्धत्वं वा समायाति न वा न ज्ञायते क्वचित् ॥२४॥
व्युत्सर्गं दुष्कर योग श्रुतपाठ[1] खनिग्रहम् । परीषहजयं कर्तुं यौवनस्थैश्च शक्यते ॥२५॥
शुक्लध्यानक्षमा सर्वसिद्धान्तज्ञा विवेकिनी । उत्पद्यते महाबुद्धिर्यौवने विश्वदर्शिनी ॥२६॥
कषायवैरिणां सैन्य महोपसर्गदुर्जयम् । अन्यद्वा दुष्कर जेतुं युवभिः शक्यतेऽखिलम् ॥२७॥

करते हैं ॥१८॥ समस्त परिग्रह के त्याग से, मोहरूपी शत्रु के नाश से, कामेन्द्रियरूपी शत्रु का अच्छी तरह घात करने से, परीषहों को जीतने से, उत्तम क्षमा आदि धर्मों से, मूलगुण और उत्तर गुणों के आचरण से, ध्यान अध्ययन रूप कार्यों से तथा अनशन आदि तप से वह मुनिधर्म धीर वीर मनुष्यों के द्वारा सिद्ध किया जाता है—प्राप्त किया जाता है ॥१९-२०॥ जो दक्ष शक्तिशाली हैं, क्षमा आदि दशलक्षण धर्मों से सहित हैं, कायोत्सर्ग करते है, आतापन आदि योगों के द्वारा कायक्लेश करते है और निरन्तर वन में निवास करते हैं ऐसे मनुष्यो के द्वारा ही मुनिधर्म निष्पन्न किया जाता है ॥२१॥ हे राजकुमार ! तू मोह रूपी महायोद्धा को नष्टकर विवाह सम्बन्धी कार्य का परित्याग कर और शीघ्र ही सुख के सागरस्वरूप मुनिधर्म को ग्रहण कर ॥२२॥

मुनिराज के वचनरूपी अमृत को पीकर तथा भोगतृष्णा रूपी विष को नष्ट कर कुमार अग्निवेग संवेग को प्राप्त हो गया—संसार से भयभीत हो गया और मनमें इस प्रकार विचार करने लगा ॥२३॥ अहो ! बुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले मनुष्यों को कुमार अवस्था मे भी निश्चित महान् तप करना चाहिये क्योंकि वृद्धावस्था आयगी या नहीं, यह कहीं नहीं जाना जाता ॥२४॥ शरीर से ममता भाव छोड़कर कायोत्सर्ग करना, आतापन आदि कठिन योग धारण करना, शास्त्रों का पढना, इन्द्रिय-निग्रह करना और परीषहों को जीतना यह सब तरुण मनुष्यो के द्वारा ही किया जा सकता है ॥२५॥ शुक्लध्यान में समर्थ, समस्त सिद्धान्तों को जानने वाली, विवेकवती तथा समस्त पदार्थों को देखने वाली महाबुद्धि यौवन अवस्था मे उत्पन्न होती है ॥२६॥ कषायरूपी वैरियों की सेना, दुर्जेय महोपसर्ग अथवा अन्य समस्त कठिन शत्रु तरुणजनों के द्वारा ही जीते जा सकते है ॥२७॥

१ इन्द्रियनिग्र ।

सुवालं यावद्वृद्धानां यमो नयनि स्वान्तिकम् । स्वेच्छया यदि नादेया किं दीक्षा तरुणैस्तदा ।।२८।।
वृद्धत्वेऽतिभरात् कार्यं तपो दान यमादि च । बालत्वे नेति वेत्तारो यान्त्यहो यमग्रासताम्[1]।।२९।।
वासुपूज्यादितीर्थेशाः कौमारपदभूषिता । प्राक्तनास्तपसा हत्वा कर्माण्यापुः परं पदम् ।।३०।।
विलिप्य कर्दमेनाङ्ग कुर्यात्कः क्षालनं बुधः । यथातथार्जयित्वाघं भोगै कोऽत्र क्षिपेत्पुन. ।।३१।।
यदि नार्यादि संगृह्य पुनरन्ते विसर्जनम् । स्यात्तस्माद्धीमतां तस्याग्रहणं चोत्तमं भुवि ।।३२।।
ततोऽवश्यं मयादेयं वृत्तपूर्वं तपोऽनघम् । हत्वा मोहभट कामशत्रु जित्वाशु मुक्तये ।।३३।।
करिष्याम्यद्य वा प्रातः पक्षमासादिकान्तरे । यश्चिन्तयंस्तपोऽत्रेति वैराग्य द्विगुणं भवेत् ३४।।
ततो बाह्यान्तरं सङ्ग त्यक्त्वा दीक्षा सुखाकराम् । आददौ मुनिवाक्येन मुक्त्यै मुक्तिसखी पराम् ।।३५।।

जब बालक से लेकर वृद्धों तक सभी को यमराज स्वेच्छा से अपने समीप ले जाता है तब तरुण मनुष्यों को दीक्षा क्यों नहीं लेना चाहिये ? ।।२८।। तप, दान और संयम आदि कार्य वृद्धावस्था में अत्यधिक करना चाहिये, बाल अवस्था में नहीं, ऐसा जानने वाले मनुष्य यमराज की ग्रासता को—मृत्यु को प्राप्त हो जाते है । भावार्थ—'तपश्चरण आदि कार्य वृद्धावस्था आने पर करेंगे' ऐसा विचार करते करते ही मनुष्यों की मृत्यु हो जाती है, वे कुछकर नहीं पाते ।।२९।। पूर्वकाल में हुए वासुपूज्य आदि तीर्थंकर कुमार पद से विभूषित रहते ही तप के द्वारा कर्मों को नष्ट कर परम पद को प्राप्त हुए है । भावार्थ—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान इन पांच तीर्थंकरों ने गृहस्थी में प्रवेश नहीं किया । कुमार अवस्था में ही दीक्षा लेकर कर्म शत्रुओं को नष्ट किया तथा मोक्षपद प्राप्त किया ।।३०।। जिस प्रकार ऐसा कौन विद्वान् होगा जो कीचड़ से अपने शरीर को लिप्त कर पश्चात् उसका प्रक्षालन करे ? इसी प्रकार ऐसा कौन विवेकी होगा जो भोगों के द्वारा पाप का संचय कर पश्चात् उसे नष्ट करे ? ।।३१।। यदि स्त्री आदि को ग्रहण कर अन्त में उसे छोड़ना पड़ता है तो बुद्धिमानों को पृथिवी पर उसका ग्रहण नहीं करना ही उत्तम है ।।३२।। इसलिये मोक्ष प्राप्त करने के लिये मुझे अवश्य ही मोहरूपी योद्धा और कामरूपी शत्रु को शीघ्र ही जीतकर चारित्र पूर्वक निर्मल तप ग्रहण करना चाहिये ।।३३।। जो ऐसा विचार करता रहता है कि मैं आज प्रातः अथवा पक्ष या एक माह के भीतर तपश्चरण करूंगा उसका वैराग्य द्विगुणित हो जाता है ।।३४।।

तदनन्तर कुमार अग्निवेग ने मुनिराज के कहने से बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मुक्ति की प्राप्ति के लिए उसकी सखीस्वरूप, सुख की खान, उत्तम दीक्षा ले ली ।३५। दीक्षा लेने के पश्चात् वह महाबुद्धिमान् किसी प्रमाद के विना श्री गुरु के मुखारविन्द से

---

१ मृत्युम् ।

अतोऽप्रमादयोगेन द्वादशाङ्गश्रुताम्बुधेः । पारं सोऽगान्महाबुद्धिः श्रीगुरोर्वदनाम्बुजात् ॥३६॥
करोति प्रत्यहं सर्वतोभद्रादि तपोविधान् । पक्षमासोपवासादीन्मुनीन्द्रः कर्महानये ॥३७॥
एकग्रासादिमादत्तेऽवमोदर्याय स क्वचित् । वाहारे वृत्तिसंख्यायै प्रतिज्ञां चत्वरादिभिः ॥३८॥
आचाम्लनिर्विकृत्यादीन् क्वचित्कुर्यान्मुनीश्वरः । रसत्यागाय दुर्दान्तेन्द्रियारिदमनाय च ॥३९॥
श्मशाने गिरिशून्यागारे वृक्षकोटरादिषु । वनेषु स्त्र्यादिहीनेषु स दध्याच्छयनासनम् ॥४०॥
आददे वृक्षमूलेऽसौ प्रावृट्कालेऽहिसंकुले[1] । कायोत्सर्गं सदैवोघ्नं[2] शीतझञ्झामरुद्धते ॥४१॥
व्युत्सर्गं विदधे शीतकाले दग्धवने मुनिः । भूत्वा काष्ठोपमो मुक्त्यै चत्वरे भीरुभीतिदे ॥४२॥
उग्ररश्म्योघसंतप्ते[3] तुङ्गाद्र्यग्रशिलातले । उष्णकालेऽघघाताय सोऽस्थाद्भानुप्रसन्मुखः ॥४३॥
भूतप्रेतादिघससेव्ये श्मशानेऽतिभयङ्करे । सोऽधाद्व्युत्सर्गमेकाकी वने व्याघ्रादिसंकुले॥४४॥
इत्यादि-विविधं धीमान् कायक्लेशं भजेत्सदा । कायशर्मातिगो[4] धीरः सो[5]ऽकायपद सिद्धये॥४५॥

अध्ययन कर द्वादशाङ्गश्रुत रूपी सागर के पार को प्राप्त हो गया ॥३६॥ मुनिराज अग्निवेग कर्मों का क्षय करने के लिये प्रतिदिन सर्वतोभद्र आदि तप के भेदों को तथा पक्ष और मास आदि के उपवासों को करने लगे ॥३७॥ अवमोदर्य तप के लिये वे कहीं एक ग्रास आदि को लेने लगे और वृत्तिपरिसंख्यान तप के लिये आहार के समय चौराहे आदि की प्रतिज्ञा करने लगे ॥३८॥ मुनिराज कहीं रस परित्याग तप के लिये और इन्द्रियरूपी प्रबल शत्रुओं का दमन करने के लिये आचाम्ल अथवा निर्विकृति आहार आदि का नियम करने लगे ॥३९॥ विविक्त शय्यासन तप के लिये वे श्मशान, पर्वत की गुहाओं, वृक्ष की कोटरों तथा स्त्री आदि से रहित वनों में शयनासन करने लगे ॥४०॥ कायक्लेश तप की साधना के लिए वे सदा सर्पों की प्रचुरता से युक्त तथा ठण्डी झञ्झा वायु से उद्धत वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे पाप को नष्ट करने वाला कायोत्सर्ग ग्रहण करते थे ॥४१॥ जिसमें तुषार से वन दग्ध हो गये हैं ऐसे शीतकाल में वे मुक्ति प्राप्ति के लिये काष्ठ के समान होकर भीरु-कायर मनुष्यों को भय उत्पन्न करने वाले चौराहे आदि स्थानों पर कायोत्सर्ग करते थे ॥४२॥ और ग्रीष्मकाल में वे पापों का क्षय करने के लिये सूर्य के सन्मुख होकर तीक्ष्ण किरणों के समूह से संतप्त ऊंचे पर्वत के अग्रभाग पर स्थित शिला तल पर आरूढ होते थे ॥४३॥ भूत प्रेत आदि से सेवनीय अत्यन्त भयंकर श्मशान में तथा व्याघ्र आदि से भरे हुए वन मे वे अकेले ही व्युत्सर्ग तप थे ॥४४॥ इस प्रकार शरीर सम्बन्धी सुख से दूर रहने वाले वे बुद्धिमान् धीर वीर मुनिराज मोक्षपद की सिद्धि के लिये सदा नाना प्रकार का कायक्लेश तप करते थे ॥४५॥

---

१ सर्पव्याप्ते २ पापघ्नं ३ तीक्ष्ण-किरण-समूह-संतप्ते ४. शारीरिकसुखनिःस्पृहः ५. मोक्षपदप्राप्तये ।

यदैव जायते दोषो व्रतानां कर्मगौरवात् । निःप्रमादोऽपि तच्छुद्धयै प्रायश्चित्तं व्यधात्तदा ।।४६।।
ज्ञानदर्शनचारित्रतपसा तद्वता यति । त्रिशुद्धया विनयं कुर्याद् गुरूणां गुणशालिनाम्।।४७।।
आचार्यादिमनोज्ञान्ताना विश्वसुगुणात्मनाम् । तनोति दशधा वैयावृत्य सोऽनन्तशक्तये ।।४८।।
वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मदेशनाः । करोत्यक्षमन. शान्त्यै मोक्षाध्ववर्त्तनाय सः ।।४९।।
पक्षमासादिवर्षान्तं व्युत्सर्गं सोऽकरोद्यमी[१] । कायादौ ममतां त्यक्त्वा धैर्यशाली स्वमुक्तये ।।५०।।
अनिष्टेष्ट-प्रसयोग-वियोग-जनित क्वचित् । पीडाचिन्ता-निदानोत्थमार्त्तध्यान चतुर्विधम् ।।५१।।
तिर्यग्गतिकरं पापाकर सोऽनर्थमन्दिरम् । ध्यायत्यत्र न स्वप्नेऽपि धर्मशुक्लादितत्परः ।।५२।।
सत्त्वहिंसानृतस्तेयानन्दाख्यं पापसागरम् । घोरं विषयसंरक्षणाभिधं श्वभ्रकारणम् ।।५३।।
शुभध्यानासिना हन्याद्रौद्रध्यानमहारिपुम् । चतुर्धा सोऽघभीतात्मा प्रागेवात्मसुधाप्तये ।।५४।।
आज्ञापाय-विपाकाख्य-संस्थानविचयाभिधम् । धर्म्यध्यानं चतुर्भेद महापुण्यनिबन्धनम् ।।५५।।

कर्मोदय की गुरुता से जब भी उनके व्रतों में कोई दोष लगता था तो वे उसी समय उसकी शुद्धि के लिये प्रमाद रहित होकर प्रायश्चित्त करते थे ।।४६।। वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप तथा इनसे युक्त गुणशाली गुरुओं की त्रिशुद्धिपूर्वक विनय करते थे ।।४७।। वे अनन्तवीर्य की प्राप्ति के लिये समस्त गुणों से युक्त आचार्य उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, सङ्घ, साधु और मनोज्ञ, इन दश प्रकार के मुनियों की वैयावृत्य–सेवा करते थे ।।४८।। वे मुनिराज इन्द्रिय और मन की शान्ति तथा मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिये वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, इन पांच प्रकार के स्वाध्यायों को करते थे ।।४९।। वे धैर्यशाली मुनिराज अपनी मुक्ति के लिये शरीर आदि में ममता भाव छोड़कर पक्ष, मास तथा वर्ष पर्यन्त व्युत्सर्ग तप करते थे ।।५०।।

अनिष्ट–संयोगज, इष्टवियोगज, वेदनाजन्य और निदानज के भेद से आर्त्तध्यान चार प्रकार का है । यह आर्त्तध्यान तिर्यंचगति का बन्ध करने वाला है, पाप की खान है तथा समस्त अनर्थों का घर है । धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर रहने वाले वे मुनिराज कहीं स्वप्न में भी इस आर्त्तध्यान का चिन्तन नहीं करते थे ।।५१–५२।। जीवहिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और विषयसंरक्षणानन्द के भेद से रौद्रध्यान चार प्रकार का है । यह रौद्रध्यान पाप का सागर है, भयंकर है, और नरक का कारण है । जिनकी आत्मा पाप से भयभीत है ऐसे उन मुनिराज ने आत्मसुधा की प्राप्ति के लिये इस चार प्रकार के रौद्र ध्यानरूपी महाशत्रु को शुभध्यानरूपी खड्ग के द्वारा पहले ही नष्टकर दिया था ।।५३-५४।। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय के भेद से धर्म्यध्यान चार

१ मुनि. ।

सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमहाफलकरं परम् । नि प्रमादेन सिद्धयै स ध्यायत्येव निरन्तरम् ॥५६॥
चिदानन्दमय शुद्धमनन्तगुणसागरम् । महाशममयं सिद्धसमानं स्वोपमातिगम् ॥५७॥
स्वात्मान स हृदा नित्य ध्यायत्यत्राशु मुक्तिदम् । त्रै-हित्वाखिलसंकल्पान् शुक्लध्यानाय शान्तधी ॥५८॥
इत्यादीनि तपांस्येव द्विषड्भेदानि[1] सिद्धये । करोत्येवानिश धीमान् सर्वशक्त्यप्रयत्नत ॥५९॥
एकाकी विहरन्नानाग्रामदेशान् वनाटवीम् । सिंहवद्गिरिपर्यद्रिगुहा प्राप्तोऽतिनिर्भय ॥६०॥
ग्रादधत्तत्र योग स मनोवाक्कायरोधकम् । निश्चलाङ्ग विधायोच्चैरेनोघ्न ध्यानसिद्धये ॥६१॥
अथ कुर्कुटसर्पः प्राक्तनो भुक्त्वा सुख महत् । निर्गत्य नरकात्तत्र बभूवाजगरोऽशुभात् ॥६२॥
निगीर्णो मुनिनाथोऽसौ तेनालोक्यातिकोपिना पूर्वजन्मादिवैरेण पापिना श्वभ्रगामिना ॥६३॥
तदा संन्यासमादायाश्चाराध्याराधना शुभा. । मनो निधाय तीर्थेशपादाब्जे धर्मवासितम् ॥६४॥
सहित्वा तत्कृत घोरमुपसर्गं समाधिना । धर्म्यध्यानेन स त्यक्त्वा प्राणान्सर्वप्रयत्नत ॥६५॥
बभूवाच्युतकल्पस्थे विमाने पुष्कराभिधे । विद्युत्प्रभाभिधो देव पुण्यपाकान्महर्द्धिकः ॥६६॥

प्रकार का है । यह धर्मध्यान महान् पुण्य बन्ध का कारण है, सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त महाफल को करने वाला है तथा उत्कृष्ट है । वे मुनिराज मुक्ति प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रमाद रहित होकर इसी का ध्यान करते थे ॥५५–५६॥ जो ज्ञानानन्द से तन्मय है, शुद्ध है, अनन्त गुणों का सागर है, महासुखमय है, सिद्ध के समान है, अपनी उपमा से रहित है, तथा शीघ्र ही मुक्ति को देने वाला है ऐसा स्वकीय शुद्ध आत्मा है । शान्त बुद्धि से युक्त वे मुनिराज शुक्लध्यान के लिये समस्त संकल्प विकल्पों का त्याग कर हृदय से निरन्तर उसी स्वकीय शुद्धात्मा का ध्यान करते थे ॥५७–५८॥ इत्यादि बारह तपों को वे बुद्धिमान् मुनिराज मुक्ति प्राप्ति के लिये निरन्तर सर्वशक्ति प्रयत्नों से करते थे ॥५९॥

सिंह के समान अत्यन्त निर्भय रहने वाले वे मुनिराज एक बार नाना ग्राम देश और बीहड़ अटवियों में अकेले विहार करते हुए पर्वत की गुहा में पहुंचे ॥६०॥ वहां उन्होंने शरीर को निश्चल कर ध्यान की सिद्धि के लिये मन वचन काय के निरोध से युक्त तथा पापों को नष्ट करने वाला उत्कृष्ट प्रतिमायोग धारण कर लिया ॥६१॥

तदनन्तर पहले का कुर्कुट सर्प बहुत भारी-दुःख भोगकर नरक से निकला और पापोदय से उसी गुहा में अजगर हुआ ॥६२॥ देखते ही पूर्वजन्म के वैर से जिसका क्रोध प्रबल हो गया है ऐसे उस पापी नरकगामी अजगर ने उन मुनिराज को निगल लिया ।६३। उस समय संन्यास लेकर मुनिराज ने शुभ आराधनाओं की आराधना की, धर्म से सुवासित अपना मन जिनेन्द्र देव के चरण कमलों में लगाया, और अजगर के द्वारा किया हुआ घोर

1. द्वादशभेदानि ।

तत्रोपपादशिलायां यौवनं घटिकाद्वयात् । सपूर्णं प्राप्य तच्छय्याया उत्थाय विभूषितः ।।६७।।
दिशो विमानदेव्यादीन् सैन्यर्द्धीन् स्वप्नवत्तदा । दृष्ट्वा विस्मयमापन्नोऽवधिज्ञानमवाप सः ।।६८।।
तेन ज्ञात्वाखिल पूर्वजन्मवृत्तफलं महत् । संभव स्वस्य स्वर्गेऽस्मिन् धर्मे रक्तोऽभवत्तराम् ।।६९।।
ततो जिनालयं गत्वा स्वपरीवारवेष्टितः । चकार जिनबिम्बाना महापूजां स भक्तितः ।।७०।।
दिव्यैर्जलैः सुगन्धैर्विलेपनैश्च वराक्षतैः । मुक्ताफलमयैश्चारुपुष्पैः कल्पद्रुमोद्भवैः ।।७१।।
सुधापिण्डजनैवेद्यै रत्नदीपैस्तमोपहैः । धूपैः फलोत्तमैः सारैस्तत्पदाय शुभप्रदैः ।।७२।।
गीतगानैश्च वादित्रैर्नर्त्तनैरप्सरःप्रजैः । महोत्सवं जिनेन्द्राणां सोऽकरोत्तत्र संमुदा ।।७३।।
व्यधात् स विविधामर्चा मेरुनन्दीश्वरादिषु । अन्वहं जिनमूर्त्तीनां भूत्या तद्भूतयेऽमरः ।।७४।।
गर्भादिपञ्चकल्याणके जिनेशा महामहम् । तनोति परया भक्त्या तद्विभूत्यै शुभार्णवम्[1] ।।७५।।

उपसर्ग समताभाव से सहन किया । अन्त में पूर्ण प्रयत्न से धर्म्यध्यान पूर्वक प्राणों का परित्याग कर वे अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में पुण्योदय से महान् ऋद्धियों को धारण करने वाले विद्युत्प्रभ नाम के देव हुए ।।६४–६६।। वहां उपपाद शिला पर दो घड़ी में पूर्ण यौवन प्राप्त कर आभूषणों से विभूषित हुआ वह देव उपपाद शय्या से उठा और दिशाओं विमान देवी आदि विभूति तथा सैनिक सम्पत्ति को देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुआ । उस समय उसे ऐसा जान पड़ता था कि क्या मै स्वप्न देख रहा हूँ । इसी के मध्य उसे अवधि ज्ञान प्राप्त हो गया उस अवधि ज्ञान से उसने जान लिया कि यह सब पूर्वजन्म में किये हुए मेरे चारित्र का महान् फल है । उसी चारित्र के फलस्वरूप मेरा इस स्वर्ग में जन्म हुआ है । यह सब जान कर वह धर्म में अत्यन्त अनुरक्त हुआ ।।६७–६९।।

तदनन्तर अपने परिवार के साथ जिन मन्दिर जाकर उसने भक्तिपूर्वक जिन प्रतिमाओं की महापूजा की ।।७०।। दिव्य जल, सुगन्धित चन्दन, मोतियों के उत्तम अक्षत, कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए सुन्दर पुष्प, अमृत के पिण्ड से उत्पन्न नैवेद्य, अन्धकार को नष्ट करने वाले रत्न दीप, धूप, और सारभूत उत्तम फलों से उसने जिनप्रतिमाओं की पूजा की थी । साथ ही जिनेन्द्र भगवान् का पद प्राप्त करने के लिये शुभभावों को देने वाले गीत-गान, वादित्र और अप्सराओं के नृत्य आदि के द्वारा उसने बड़े हर्ष से जिनेन्द्र भगवान् का महोत्सव किया ।।७१–७३।। वह देव मेरु तथा नन्दीश्वर आदि द्वीपों में प्रतिदिन जिन प्रतिमाओं की नाना प्रकार की पूजा बड़े वैभव के साथ उनकी विभूति–अष्ट प्रातिहार्य रूप विभूति की प्राप्ति के लिये किया करता था ।।७४।। वह तीर्थंकरों के गर्भ आदि पञ्च कल्याणकों के समय उनकी विभूति प्राप्त करने के लिये बड़ी भक्ति से पुण्य के सागर स्वरूप

---

१. शुभसागरम् ।

शृणोति तीर्थनाथाना वाणी विश्वहितकराम् । प्रत्यहं तत्त्वश्रद्धायै स्वैकचित्तेन सोऽमरः ।।७६।।
वनमन्दिरक्रीडाद्रिष्वसख्यद्वीपवार्धिषु । मेर्वादौ स स्वदेवीभिः सार्द्धं क्रीडति शर्मणे ।।७७।।
जिनेश्वरगुणोत्पन्नगीतानि संशृणोति सः । नर्त्तनं विविधं पश्यन्मनोज्ञमप्सरोभवम् ।।७८।।
द्वाविंशत्यब्दसहस्त्रेषु[1] गतेषु सुधामयम् । मनसाहारमश्नाति तृप्तिकारमसौ महत् ।।७९।।
स द्वाविंशतिपक्षेषु गतेषु सोऽतिशर्मवान् । सुगन्धीकृतदिग्भागमुच्छ्वास लभते मनाक् ।।८०।।
षड्धरावधिपर्यन्त मूर्त्तद्रव्य चराचरम् । स्वावधिज्ञानयोगेन स पश्यति निरन्तरम् ।।८१।।
षष्ठश्वभ्रावधौ सर्वं गमनागमनादिजम् । कार्यं कर्तुं समर्थोऽसौ विक्रियर्द्धिबलेन हि ।।८२।।
द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्दिव्यलक्षणलक्षित. । हस्तत्रयप्रमाणोरु शुभदेहधरोऽद्भुत. ।।८३।।
स्रग्वस्त्रैर्मुकुटाद्यैर्नेपथ्यै कृत्स्नैर्विभूषितः । स्वर्णबिम्बनिभो रूपी सप्तधातुविवर्जितः ।।८४।।
निर्निमेपमहानेत्रो निःस्वेदो नित्ययौवन. । मान्यो नुत सुरैश्चार्च्यो दिव्यभोगोपभोगवान् । ८५।।

महामह नामक पूजा को विस्तृत करता था ।।७५।। वह देव अपने चित्त को अपने आपमें स्थिर कर तत्त्वों की श्रद्धा के लिये प्रतिदिन तीर्थंकरों की सर्वहितकारी वाणी सुनता था ।।७६।। वह वन मन्दिर क्रीडाचल, असंख्य द्वीप समुद्र तथा मेरु आदि स्थानों में सुख प्राप्ति के लिये अपनी देवियों के साथ क्रीड़ा किया करता था ।।७७।। वह अप्सराओं के नाना प्रकार के मनोहर नृत्य को देखता हुआ जिनेन्द्र भगवान् के गुणों से उत्पन्न गीतों को अच्छी तरह सुनता था ।।७८।।

वह बाईस हजार वर्ष व्यतीत होने पर अमृतमय तृप्ति कारक मानसिक महान् आहार को ग्रहण करता था ।।७९।। सातिशय सुख से युक्त वह देव बाईस पक्ष व्यतीत होने पर दिशाओं को सुगन्धित करने वाला थोड़ा श्वासोच्छ्वास लेता था ।।८०।। वह अपने अवधिज्ञान के द्वारा छठवीं पृथिवी पर्यन्त के चराचर मूर्तिक द्रव्यों को निरन्तर देखता था ।।८१।। वह विक्रिया ऋद्धि के बल से छठवें नरक की अवधि तक गमनागमन आदि सब कार्य करने के लिये समर्थ था ।। ८२ ।। जिसकी बाईस सागर प्रमाण आयु थी, जो दिव्य लक्षणों से सहित था, तीन हाथ प्रमाण अत्यन्त शुभ शरीर का धारक था, आश्चर्य कारक था, माला, वस्त्र तथा मुकुट आदि समस्त नेपथ्यों से विभूषित था, स्वर्ण बिम्ब के के समान रूपवान् था, सात धातुओं से रहित था, टिमकार रहित नेत्रों से सहित था, स्वेद रहित था, स्थायी यौवन से युक्त था, मान्य था, देवों के द्वारा स्तुत तथा पूज्य था, दिव्य भोगोपभोगों से सहित था, देवियों के साथ पुण्योदय से प्राप्त नाना प्रकार के भोगों का सदा उपभोग करता था और भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता था ऐसा वह

१ द्वाविंशति वर्षसहस्त्रेषु ।

भुञ्जानो विविधान् भोगान् देवीभिर्धर्मजान्सदा। भक्त्या कुर्वन् जिनेन्द्रार्चां गतकालं न वेत्ति सः।८६।
सोऽथाजगर एवातिपापभारेण मग्नवान्। मुनिहत्याप्रजेनाशु षष्ठे च श्वभ्र[1] वारिधौ।।८७।।
देहं संपूर्णमासाद्य पपात नरकावनौ। अधोमुखोऽतिबीभत्सो पापादस्थानदुःस्पृहः।।८८।।
वज्रकण्टकसंकीर्णां मही प्राप्य पुनः पुनः। सोऽनूत्पत्य पतत्येव कुर्वन् पूत्कारमायतम्।।८९।।
नवं तं नारकं दृष्ट्वा प्राक्तना नारकाः खला। घ्नन्त्यमा कटुकालापैर्मुद्गरादिमहायुधैः।।९०।।
केचित्तप्तकटाहस्थतैलेष्वागत्य तत्क्षणम्। तमुत्थाप्य क्षिपन्त्याशु नारका दुःखदायिनः।।९१।।
वैतरण्या जलेऽत्यन्तपूतिगन्धेऽतिदाहदे। मज्जयन्ति तमानीय केचिद् दुःखाय नारका।।९२।।
केचिद् व्याघ्रादिरूपैस्त विक्रियर्द्धिभवैः खलाः। खादन्ति पापपाकेन भष्ट गिरिगुहादिषु।।९३।।
छेदनं भेदनं शूलारोहणं वधबन्धनम्। तीव्रशीतोद्भवं दुःखं मनोवाक्कायसंभवम्।।९४।।
प्रार्थयन् शरणं दीनो निःशरण्यो निरन्तरम्। सहते सोऽघसंजातं कविवाचामगोचरम्।।९५।।

देव व्यतीत हुए काल को नहीं जानता था। भावार्थ—भोगोपभोगों में मग्न होने से वह नहीं जान सका था कि मेरी कितनी आयु व्यतीत हो चुकी है।।८३–८६।।

तदनन्तर मुनि हत्या से उत्पन्न हुए तीव्रपाप के भार से वह अजगर शीघ्र ही छठवें नरक रूपी समुद्र में मग्न होगया। भावार्थ—मर कर छठवें नरक गया।।८७।। संपूर्ण शरीर प्राप्त कर वह नरक की भूमि में पड़ा। पड़ते समय उसका मुख नीचे की ओर था। वह अत्यन्त घृणित था और पाप के कारण उस खोटे स्थान में आकर पड़ा था।।८८।। वज्रमय कांटों से व्याप्त भूमि को प्राप्त कर वह बार बार ऊपर की ओर उछलता था और दीर्घ रोदन करता हुआ पुनः उसी पृथिवी पर पड़ता था।।८९।। उस नवीन नारकी को देख कर पहले के दुष्ट नारकी कटुक आलापों के साथ मुद्गर आदि बड़े बड़े शस्त्रों से उसे मारने लगे।।९०।। दुःख देने वाले कितने ही नारकी तत्काल आगये और उसे उठा कर शीघ्र ही तपाये हुए कड़ाहे में स्थित तैल में डालने लगे।।९१।। कितने ही नारकी उसे लाकर अत्यन्त दुर्गन्धित और अत्यन्त दाह उत्पन्न करने वाले वैतरणी के जल में डुबाने लगे।।९२।। यदि वह पर्वत की गुहा आदि में छिपता था तो वहां उसके पापोदय से कितने ही दुष्ट नारकी विक्रिया ऋद्धि से उत्पन्न व्याघ्र आदि का रूप रखकर उसे खाने लगते थे।।९३।। छेदन, भेदन, शूलारोहण, वध बन्धन, तीव्र शीत से उत्पन्न तथा मन, वचन, काय से उत्पन्न दुःख को वह भोगता था।।९४।। दीन हुआ शरण की प्रार्थना करता था, परन्तु कोई भी उसे शरण नहीं देता था। इस प्रकार वह पाप से उत्पन्न, कविवचन—अगोचर दुःख को निरन्तर सहन करता था।।९५।। वह शठ अढ़ाईसौ धनुष ऊंचाई वाले

१ नरकसमुद्रे

शतसार्द्ध द्वयोत्सेधकायः स धनुषा शतः । हुण्डकाख्यकुसंस्थानोऽखिलदुर्व्याधिपीडितः ॥९६॥
पापात्मात्यन्तबीभत्सः कुरूपोऽतिभयंकरः । दु:खाम्बुधौ निमग्नोऽस्थाद् द्वाविंशत्यब्धिजीवितः ॥९७॥

मालिनी

इति चरणमहाक्षान्त्यर्जितायौघ[1]पाका—न्निरुपमसुखसारं देवताभिः स भुङ्क्ते ।
सममसरनिषेव्यो विक्रियद्धर्यादिजातं, क्षणभवमतिरम्यं देवलोके सदैव ॥९८॥
निरुपमतितीव्रं घोरदु:खं भुनक्ति, स विविधमतिवैरक्रोधहत्याघपाकात् ।
अजगर उरुदाहच्छेदनादिप्रभूतं, नरक विषमभूमौ नारकौघैः प्रदत्तम् ॥९९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

ज्ञात्वैवं विबुधा क्षमायजनित सार फल शर्मदं, कोपोत्पन्नकुपापजातमसम दु:ख च नानाविधम् ।
हत्वा क्रोधमहारिपुं नरकद क्षान्त्यायुधेन द्रुतं, स्वर्मोक्षैकवशीकरां निरुपमा यत्नाद् भजध्वं क्षमाम् ॥१००

शरीर से युक्त था, हुण्डक नामक खोटे संस्थान से सहित था, समस्त दु:खदायक रोगों से पीडित था, पापी था, अत्यन्त घृणित था, कुरूप था, अतिशय भयंकर था, दु:खरूपी सागर में निमग्न था और बाईस सागर प्रमाण आयु से सहित था ॥९६-९७॥

क्षमा का फल बतलाते हुए कवि कहते है कि इस प्रकार चारित्र सम्बन्धी महाक्षमा से उपार्जित पुण्य समूह के उदय से देवों के द्वारा सेवनीय वह विद्युत्प्रभ देव, विक्रिया ऋद्धि आदि से उत्पन्न देवलोक के अनुपम, क्षणिक तथा अत्यन्त रमणीय सुख का सदा देवों के साथ उपभोग करता था ॥९८॥ क्रोध का फल बतलाते हुए कवि कहते है कि वह अजगर अत्यन्त वैर क्रोध और हत्या से उत्पन्न पाप के उदय से नरक की विषम भूमि में नारकियों के द्वारा दिये हुए तथा तीव्रदाह और छेदन आदि से उत्पन्न अनुपम नाना प्रकार के अतिशय तीव्र घोर दु:ख को भोगता है ॥९९॥ अहो विद्वज्जन हो ! इस प्रकार क्षमा सम्बन्धी पुण्य से उत्पन्न सुखदायक श्रेष्ठ फल को और क्रोध से उत्पन्न खोटे पाप से उद्भूत नाना प्रकार के दु:ख रूप विषम फल को जान कर क्षमा रूपी शस्त्र के द्वारा शीघ्र ही नरकदायक क्रोध रूपी महा शत्रु को नष्ट करो और स्वर्ग तथा मोक्ष को वश में करने वाली अनुपम क्षमा की यत्न पूर्वक सेवा करो । भावार्थ—क्षमा का फल सुख है और क्रोध का फल दु:ख है ऐसा जान कर ज्ञानी जनों को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वे क्रोध को छोड़ कर क्षमा को धारण करें ॥१००॥

१ पुण्य समूह २. क्षमाधर्मोत्पन्न पुण्योद्भूत ।

स्रग्धरा

तीर्थेशो विश्वनाथो निखिलसुखकरो विश्वविघ्नौघहन्ता,

त्राता भव्यात्मनां यो भवजलधिभयाद्देवनाथैः सुपूज्यः[1]।

वन्द्यश्चार्च्योऽतिमान्योऽखिलगुणसदनोऽनन्तशर्मैकभोक्ता,

हन्यात्स्तुत्यो मया मे सकलसुचरणे विघ्नजालं स पार्श्वः ।।१०१।।

इति भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रेऽग्निवेगकुमारदीक्षा विद्युत्प्रभ-देवभववर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

जो तीर्थङ्कर हैं, सब के स्वामी हैं, समस्त सुखों को करने वाले हैं, सर्वविघ्न समूह के नाशक हैं, संसार समुद्र के भय से भव्यजीवों की रक्षा करने वाले हैं, इन्द्रों के द्वारा सुपूज्य हैं, वन्दनीय हैं, अर्चनीय है, अतिशय मान्य हैं, समस्त गुणों के घर है, अनन्त सुख के अद्वितीय भोक्ता हैं, और मेरे द्वारा स्तुत्य हैं वे पार्श्वनाथ भगवान मेरे सकल चारित्र सम्बन्धी विघ्न समूह को नष्ट करें ।।१०१।।

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में अग्निवेग कुमार की दीक्षा तथा विद्युत्प्रभदेव के भव का वर्णन करने वाला तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।।३।।



---

१. नृनाथैः ख ।

चतुर्थं सर्गः

जगत्त्रयगुरुं वन्दे धर्मसाम्राज्यनायकम् । श्रीपार्श्वं विघ्नहन्तारं तत्पार्श्वाय सुरार्चितम् ॥१॥
अथ जम्बूमति द्वीपे विदेहेऽपरसंज्ञके । पद्माख्यो विषयो[1] विद्यते पद्मकभृतो महान् ॥२॥
कुल-पर्वत-सीतोदानद्योर्मध्ये स राजते । द्विनदीविजयार्द्धैश्च वेदीवक्षारयोर्महान् ॥३॥
नदीभ्यां विजयार्द्धेन स षट्खण्डीकृतोऽभवत् । म्लेच्छखण्डानि पञ्चैकार्यखण्डं तत्र शर्मदम् ॥४॥
यत्रार्या मुनयो नित्यं विहरन्ति विदोऽमलाः । भव्यधर्मोपदेशाय कारुण्यवासिताशयाः ॥५॥
जिनेशा गणनातीताः पञ्चकल्याणनायकाः । जायन्ते यत्र सर्वज्ञा विश्वनाथा जगद्धिताः ॥६॥
चक्रिणो वासुदेवास्तद्विपवो नृसुरार्चिताः । रूपिणः कामदेवाश्चोत्पद्यन्ते संख्यवर्जिताः ॥७॥
अहिंसालक्षणो धर्मो नित्यो यत्र प्रवर्तते । द्विप्रकारो जिनैः प्रोक्तो यतिश्रावकगोचरः ॥८॥

चतुर्थ सर्ग

मैं तीनों जगत् के गुरु, धर्म साम्राज्य के नायक, विघ्न प्रणाशक और देवों के द्वारा पूजित श्री पार्श्वनाथ भगवान् को उनकी निकटता की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

अथानन्तर जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र में लक्ष्मी से परिपूर्ण पद्म नामका महान् देश है ॥२॥ वह देश उत्तर दक्षिण की अपेक्षा नील कुलाचल और सीतोदा नदी के मध्य में सुशोभित है तथा पूर्व पश्चिम की अपेक्षा वेदी और वक्षार गिरि के मध्य में दो नदियों और विजयार्ध पर्वत से महान् है ॥ ३ ॥ दो नदियों और विजयार्ध पर्वत के कारण वह षट्खण्ड रूप हो गया है। उसके छह खण्डों में पांच म्लेच्छ खण्ड और एक सुखदायक आर्यखण्ड है ॥४॥ जिस देश में ज्ञानी, निर्मल चारित्र के धारक तथा दया से सुवासित हृदय वाले मुनि भव्य जीवो को धर्म का उपदेश देने के लिये निरन्तर विहार करते रहते हैं ॥५॥ जहां कालक्रम से पञ्च कल्याणकों के नायक, सर्वज्ञ, सब के स्वामी और जगत् के हितकारी असंख्य तीर्थंकर होते रहते हैं ॥६॥ जहां मनुष्य और देवों के द्वारा पूजित चक्रवर्ती, नारायण, प्रति नारायण, और सुन्दर रूप के धारक असंख्य कामदेव उत्पन्न हुआ करते हैं ॥७॥ जहां जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ मुनि और श्रावक सम्बन्धी दो

---

1 देश ।

ग्रामे ग्रामे जिनागारा हेमरत्नमया. शुभा.। विभ्राजन्ते महोत्तुङ्गा धार्मिकैर्वा वृषाब्धयः[1]॥९॥
केवलज्ञानिनो यत्र चतुःसर्घैविराजिताः[2]। मुक्तिमार्गप्रकाशाय भ्रमन्ति विश्ववन्दिताः।१०।
गणाधीशा गणैर्युक्ताः समस्तर्द्धिविमण्डिताः। व्रजन्ति यत्र सन्मार्गोपदेशाय सुरार्चिताः॥११॥
निर्वाणभूमयो यत्र दृश्यन्ते च पदे पदे। वन्द्याः पूज्याः स्तुता भव्यैर्वर्ध्या[3] वातिवृषाकराः॥१२॥
एका वाणी जिनेन्द्राणा श्रूयते यत्र धीधनैः। संवेगतत्वबोधाय समस्तार्थप्रकाशिनी॥१३॥
प्रजा वर्णत्रयोपेताः सन्ति यत्र द्विजैर्विना। न्यायमार्गरता जैनधर्मदानपरायणाः॥१४॥
कुलिङ्गिनश्च तद्भक्ताः कुदेवा हि तदालयाः। कुधर्मास्तत्प्रणेत्तरस्तच्छ्रद्धाचरणान्विताः॥१५॥
कुशास्त्राणि च तद्वक्तारः श्रोतारो न जातुचित्। दृश्यन्ते यत्र स्वप्नेऽपि धर्मभेदादयो[4] मताः।१६।
यत्रोत्पन्ना जनाः केचित्तपसा यान्ति निर्वृतिम्। केचित्सर्वार्थसिद्धिञ्च केचित्स्वर्गं सुखार्णवम्॥१७॥
केचित्सत्पात्रदानेन भोगभूमि व्रजन्त्यहो। जिनार्चनेन केचिच्च श्रयन्तीन्द्रादिसच्छ्रियम्॥१८॥

प्रकार का अहिंसा लक्षण धर्म स्थायी रूप से प्रवर्तमान रहता है ॥८॥ जहां ग्राम ग्राम में सुवर्ण और रत्नों से निर्मित बहुत ऊंचे शुभ जिन मन्दिर सुशोभित हो रहे हैं। वे जिन मन्दिर धर्मात्माजनों से ऐसे जान पड़ते है मानों धर्म के सागर ही हों ॥९॥ जहां चार संघों से सुशोभित, विश्ववन्दित केवलज्ञानी मुनि मोक्ष मार्ग को प्रकाशित करने के लिये विहार किया करते है ॥१०॥ जहां गणों—मुनिसंघों से युक्त, समस्त ऋद्धियों से सुशोभित और देवों के द्वारा पूजित गणधर समीचीन मार्ग का उपदेश देने के लिये गमन करते हैं ॥११॥ जहां भव्य जीवों के द्वारा वन्दनीय, पूजनीय, स्तुत्य तथा धर्म की विशाल खानों के समान वर्धनीय निर्वाणभूमियां पद पद पर दिखाई देती है ॥१२॥ जहां बुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले भव्य जीवों के द्वारा संवेग—संसार से भय और तत्त्व पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये समस्त पदार्थो को प्रकाशित करने वाली एक जिनवाणी ही सुनी जाती है। भावार्थ—जहां सार्वधर्म के रूप में एक जैनधर्म की ही प्रतिष्ठा है ॥१३॥ जहां की प्रजा ब्राह्मणों के बिना शेष तीनवर्णों से सहित, न्याय मार्ग में रत और जैनधर्म तथा दान में परायण है ॥१४॥ कुलिङ्गी—कुगुरु और उनके भक्त, कुदेव और उनके मन्दिर, कुधर्म और उनकी श्रद्धा तथा आचरण से युक्त उनके प्रणेता, कुशास्त्र और उनके वक्ता तथा श्रोता और धर्मभेद से युक्त नाना मत जहां स्वप्न में भी दिखाई नहीं देते हैं ॥१५–१६॥ जहां उत्पन्न हुए कोई मनुष्य तप के द्वारा निर्वाण को प्राप्त होते हैं, कोई सर्वार्थसिद्धि जाते है और कोई सुख के सागर स्वरूप स्वर्ग को प्राप्त करते है ॥१७॥ कोई सत्पात्रों को दान देने से भोग भूमि जाते है और कोई जिनेन्द्र भगवान् की पूजन करने इन्द्र आदि की

१. धर्मसागरा २ ऋषि मुनियत्यनगार रूपै चतुःमङ्घै ३ वर्धितु योग्या ४. धर्मभेदोदया मता क ।

देवेशा यदि मोक्षायेहन्ते जन्म महाकुले । यत्र मुक्त्यङ्गनासक्तास्तत्र का वर्णना परा ॥१६॥
इत्यादिवर्णनोपेतदेशस्य मध्यभागगम् । पुरमश्वाभिध भाति विश्वर्द्धिवृषसज्जनै[1] ॥२०॥
तुङ्गशालप्रतोलीकमनुल्लङ्घ्यमरिव्रजै । यद्रत्नसकुलाम्भोभि. दीर्घखातिकया व्यभात् ॥२१॥
धामाग्रस्थध्वजव्रातकरैराह्वयतीव यत् । नाकिना धर्ममुक्त्यादिसाधनाय वभौ पुरम् ॥२२॥
धर्मोपकरणैर्हेममयैः कटाग्रकेतुभि.[2] । यातायातनरस्त्रीभिर्गीतवाद्यैश्च नर्त्तनै ॥२३॥
जयस्तवादिशब्दौघैरभिषेकमहोत्सवै । रत्नबिम्बैर्जिनागारा भ्राजन्ते वा वृषाकराः ॥२४॥
भर्तृस्त्रीणा महायुग्मा गच्छन्तो जिनधामनि । पूजोपलक्षिता रम्या देवयुग्मा इवावभुः ॥२५॥
पूजा कृत्वा जिनेशानामागच्छन्त्यो निजं गृहम् । काश्चिन्नार्यो विभान्त्युच्चैर्भूषणैर्वामराङ्गना ॥२६॥
काश्चिद्गायन्ति नृत्यन्ति स्नपयन्ति जिनेशिनम् । पूजयन्ति पराः काश्चिन्नार्यः खग्य[3] इवाद्भुता ॥२७॥
यत्रोत्पन्ना गृहद्वार प्रपश्यन्त्येव गेहिनः । प्रत्यह पात्रदानाय दानिनो धर्म्मवासिताः ॥२८॥

उत्तम लक्ष्मी को प्राप्त होते है ॥१८॥ जब मुक्तिरूपी स्त्री में आसक्त रहने वाले इन्द्र मोक्ष के लिये जहां के उच्चकुल में जन्म लेने की इच्छा करते है तब वहां की दूसरी वर्णना क्या हो सकती है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१६॥

इत्यादि वर्णना से सहित उस पद्म देश के मध्य में एक अश्वपुर नामका नगर है जो नाना प्रकार की सम्पदाओं से विभूषित धर्मात्मा जनों से सुशोभित हो रहा है ॥२०॥ उन्नत कोट और गोपुरों से सहित तथा शत्रु समूह के द्वारा अनुल्लङ्घनीय जो नगर रत्नों से व्याप्त जल से उपलक्षित विशाल परिखा से सुशोभित था ॥२१॥ जो नगर महलों के अग्रभाग पर स्थित ध्वजाओं के समूहरूप हाथों से ऐसा सुशोभित होता था मानों धर्म और मोक्ष आदि की साधना के लिये देवों को बुला ही रहा था ॥२२॥ सुवर्णमयधर्म के उपकरणों से, शिखरों के अग्रभाग पर फहराती हुई पताकाओं से, आने जाने वाले नर नारियों से, सगीत वाद्य और नृत्यों से, जय जय आदि स्तुति के शब्द समूहों से, अभिषेक के महोत्सवों से और रत्नमयी प्रतिमाओं से, जहां के जिनमन्दिर धर्म की खानों के समान सुशोभित होते है ॥२३–२४॥ पूजा की सामग्री लेकर जिन मन्दिरों की ओर जाने वाले स्त्री पुरुषों के सुन्दर महा युगल जहां देव दम्पतियों के समान सुशोभित होते थे ॥२५॥ जहां जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर अपने घर की ओर आती हुई कितनी ही स्त्रियां उत्तम आभूषणों से देवाङ्गनाओं के समान सुशोभित होती थीं ॥२६॥ जहां आश्चर्य उत्पन्न करने वाली विद्या-धरियों के समान कोई स्त्रियां गाती है, कोई नृत्य करती है, कोई जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करती हैं, और कोई पूजन करती हैं ॥२७॥ जहां उत्पन्न हुए दानी तथा धर्म

---

१ विविधसम्पदाभूषितधार्मिकसुजनै २ शिखराग्रपताकाभि ३ विद्याधर्म इव ।

केचित्संप्राप्य सत्पात्रं कुर्वन्ति तोषमद्भुतम् । मध्याह्ने केचिदप्राप्य तद्विषाद व्रजन्त्यहो ।।२९।।
विधिद्रव्यसुपात्रादिसामग्र्या दानिनः शुभात् । लभन्ते पञ्चकाश्चर्यं[1] रत्नवृष्टयादिजं सुरैः ।।३०।।
तदालोक्य जनाः केचित्पात्रदाने मति व्यधुः । केचित्तत्परा जाताः प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।।३१।।
केचिन्मोहभटं हत्वा कर्मणोना[2] तपोऽसिना । तत्रत्याः प्राप्य देवार्चा यान्ति मुक्ति विरागिणः ।।३२।।
केचिद् वृत्तार्जितायेन[3] वाहमिन्द्रपद महत् । केचिच्छक्रपद लौकान्तिकभूति भजन्ति च ।।३३।।
पात्रदानजपुण्येन केचिद्भद्राशया जनाः । भोगभूमौ महाभोगान् प्राप्नुवन्ति च राजजान्[4] ।।३४।।
धार्मिका दानिनो जैना जिनधर्मप्रभावकाः । जिनभक्ता सदाचारा व्रतशीलादिभूषिताः ।।३५।।
न्यायमार्गरता दक्षाः सिद्धान्तज्ञा विवेकिनः । सद्दृष्टयोऽतिभोगाढ्या महाविभवसङ्कुलाः ।।३६।।
रूपलावण्यभूषादिमण्डिता यत्र सन्नरा । स्त्रियस्तादृग्गुणोपेताः सौधे सौधे वसन्ति च ।।३७।।
नवयोजनविस्तीर्णं द्वादशायाममद्भुतम् । सहस्रगोपुरैः क्षुल्लकद्वारशतपञ्चकैः ।।३८।।

की वासना से युक्त गृहस्थ पात्रदान के लिये प्रतिदिन घर के द्वार का प्रेक्षण नियम पूर्वक करते है ।।२८।। मध्याह्न के समय कोई गृहस्थ सत्पात्र को प्राप्त कर अद्भुत संतोष करते है और कोई पात्र के न मिलने से विषाद को प्राप्त होते है ।।२९।। दानी पुरुष विधि, द्रव्य तथा सत्पात्र आदि सामग्री से उत्पन्न पुण्य के फलस्वरूप देवों के द्वारा किये हुए रत्नवृष्टि आदि पञ्चाश्चर्यों को प्राप्त होते है ।।३०।। उन पञ्चाश्चर्यों को देखकर कितने ही लोग ऐसी इच्छा करते थे कि हम भी पात्रदान देंगे और कोई प्रत्यक्ष फल देखने से दान देने में तत्काल तत्पर हो जाते थे ।।३१।। वहां उत्पन्न हुए कोई मनुष्य तपरूपी तलवार के द्वारा मोहरूपी योद्धा को नष्टकर देवकृत पूजा को प्राप्त होते है और फिर वीतराग होकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं ।।३२।। कोई चारित्र के द्वारा उपार्जित पुण्य के द्वारा अहमिन्द्र के उत्कृष्ट पद को, कोई इन्द्रपद को और कोई लौकान्तिक देवों की विभूति को प्राप्त होते हैं ।।३३।। भद्र परिणामों से युक्त कोई मनुष्य पात्रदान से उत्पन्न पुण्य के द्वारा भोगभूमि में महाभोगों को और कोई कर्मभूमि में राजाओं के बडे बड़े भोगों को प्राप्त होते है ।।३४।। जो धर्मात्मा है, दानी हैं, जैनधर्म के धारक हैं, जिनधर्म की प्रभावना करने वाले है, जिनभक्त हैं, सदाचारी हैं, व्रत शील आदि से विभूषित है, न्यायमार्ग में रत है, चतुर है, सिद्धान्त के ज्ञाता हैं, विवेकी है, सम्यग्दृष्टि हैं, भोगोपभोग की अत्यधिक सामग्री से युक्त हैं, महान् वैभव से सहित हैं तथा रूप लावण्य और आभूषणों आदि से सुशोभित है ऐसे समीचीन पुरुष तथा ऐसे ही गुणों से सहित स्त्रियां जहां घर घर में निवास करती हैं ।।३५–३७।। जो नगर नौ योजन चौड़ा है, बारह योजन लम्बा है, आश्चर्य कारक है तथा एक हजार गोपुरों, पांच

१ रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि, मन्दसुगन्धिसमीर, देवदुन्दुभिध्वान, अहोदानम् अहोदानम् इति शब्द, एतानि पञ्चाश्चर्यकानि । २ कर्मणोमा क० कर्मणामा ख० कर्मणा+ऊना रहिता इति यावत् ३. चारित्रार्जितपुण्येन ४ राज्यजान् क०

यद्विभाति पुरं द्वादशमहस्रपथैर्वरैः । सहस्रचत्वरैर्नित्यैरारामालयपङ्क्तिभि. ॥३९॥
कल्याणान्कर्तुमायाता जिनेशा यत्र नाकिनः । रतिं कुर्वन्त्यमा स्त्रीभिस्तत्को वर्णयितुं प्रभुः ॥४०॥
इत्यादिवर्णनोपेते पुरे राजा शुभोदयात् । वज्रवीर्याभिधोऽतीववीर्यशाली बभूव हि ॥४१॥
त्यागी भोगी सदाचारी व्रतशीलादिशोभितः । नीतिमार्गरतो दक्षो जैनः सोऽभाद्गुणोत्करैः ॥४२॥
बभूव विजया तस्य देवी रूपगुणैकभू । लावण्यजलधेवेला [1]वातिपुण्योपलक्षिता ॥४३॥
अच्युतात्सोऽमरश्च्युत्वा पुण्यपाकात्तयोः सुत । अभवद्वज्रनाभिः सन्नाम्ना[2] वज्रसमाङ्गभाक् ॥४४॥
जिनालये जिनेन्द्राणा महाभिषेकमद्भुतम् । भूत्या चकार माङ्गल्यकरं माङ्गल्यवृद्धये ॥४५॥
दीनानाथजनेभ्यश्च याचकेभ्यो नृपो ददौ । दानानि बहुधा प्रीत्यै सूनुजन्ममहोत्सवे ॥४६॥
गीतनर्तनवाद्याद्यैः केतुमालादिमण्डनैः । महोत्सवस्तदा प्राभूत्पुरे च राजमन्दिरे ॥४७॥
पयः पानादिकै रम्यैस्तद्योग्यैर्मधुरैर्वरैः । प्रत्यहं सगुणैः सार्द्धं वर्द्धते बालचन्द्रवत् ॥४८॥

सौ क्षुद्र द्वारों, वारह हजार उत्कृष्ट राजमार्गों, एक हजार चौराहों तथा निरन्तर हरे भरे रहने वाले वाग वगीचों और महलों की पंक्तियों से सुशोभित है ॥३८–३९॥ तीर्थंकरों के कल्याणक को करने के लिये आये हुए देव भी जहां अपनी स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हैं तब उसका वर्णन करने के लिये कौन समर्थ है ? ॥४०॥

इत्यादि वर्णना से सहित उस नगर में वज्रवीर्य नामका राजा रहता था जो पुण्योदय से अत्यन्त शक्तिशाली था ॥४१॥ वह राजा त्यागी, भोगी, सदाचारी, व्रत शील आदि से विभूषित, नीतिमार्ग में रत, चतुर, तथा जैनधर्म का धारक था और गुणों के समूह से शोभायमान था ॥४२॥

उस राजा की विजया नामकी रानी थी, जो सौन्दर्य गुण की अद्वितीय भूमि थी, सौन्दर्यरूपी समुद्र की वेला के समान थी तथा अत्यधिक पुण्य से सहित थी ॥४३॥ वह विद्युत्प्रभ नामका देव अच्युत स्वर्ग से च्युत होकर पुण्योदय से उन दोनों के वज्र के समान शरीर को धारण करने वाला वज्रनाभि नामका पुत्र हुआ ॥४४॥ राजा ने मङ्गल वृद्धि के लिये जिन मन्दिर में जिनप्रतिमाओं का वैभव पूर्वक मङ्गलकारी आश्चर्यजनक महाभिषेक किया ॥४५॥ राजा ने पुत्रजन्म के महोत्सव में प्रीति के लिये दीन अनाथ जनों तथा याचकों को वहुत प्रकार के दान दिये ॥४६॥ उस समय नगर तथा राज महल में गीत, नृत्य, वादित्र आदि तथा पताका और वन्दनमाला आदि की सजावट से वहुत भारी उत्सव हुआ था ॥४७॥ वह पुत्र, वालकोचित मधुर, उत्कृष्ट तथा रमणीय दुग्धपान आदि कार्यों में प्रतिदिन गुणों के साथ साथ वालचन्द्र दोयज के चन्द्रमा के समान वढ़ने लगा ॥४८॥

१ [illegible] क० २ स नाम्ना क०

पित्रोः कुर्वन्मुदं मुग्धैर्हास्यैर्मन्मनभाषणैः । कौमारत्वं क्रमादाप स्वस्य योग्याशनादिभिः ॥४९॥
स्वजनानां च भृत्यानां स्वानन्दं वर्द्धयंस्तराम् । कान्त्या दीप्त्या विवेकादिगुणैर्वीर्यमहोद्यमै ॥५०॥
रूपलावण्यसौभाग्यलक्षणैः पुण्यपाकजैः । कुमारोऽभात्तरां सोऽसुर[1]कुमार इवाद्भुत. ॥५१॥
विधाय पूजनमहोत्सवं च जिनमन्दिरे । देवशास्त्रमुनीन्द्राणां सुमूहूर्ते प्रियात्मजम् ॥५२॥
पिता समर्पयामास जैनस्य पाठकस्य च । शास्त्रार्थास्त्रसुविद्याकलाविवेकादिसिद्धये ॥५३॥
विनयेन श्रिया बुद्धया स्वल्पकालेन सोऽगमत् । पारं धीमान् सुसिद्धान्तार्थास्त्रविद्याकलाम्बुधे ॥५४॥
ततो यौवनमासाद्य नीतिमार्गविशारद. । जिनभक्तः सदाचारी व्रती शीलालयः परः ॥५५॥
सुस्वरः सुभगो वाग्मी रूपेण जितमन्मथः । स्वजनापरमर्त्यानां प्रियोऽनेकगुणाकरः ॥५६॥
जिनेन्द्राणां गुरूणां च पूजासेवापरायणः । दानशीलः कुमारोऽसौ जिनशासनवत्सल ॥५७॥
कार्याकार्यविचारज्ञो बभौ शक्र इवापरः । विश्वाभरणस्रग्वस्त्रैर्दिव्यलक्षण सचयैः ॥५८॥
तथाविध तमालोक्य रूपयौवनशालिनम् । विवाहविधिनानेक[2]महोत्सवशतै परैः ॥५९॥

मनोहर हास्य और तोतली बोली के द्वारा माता पिता के हर्ष को उत्पन्न करता हुआ वह बालक अपने योग्य भोजन आदि से क्रमशः कुमार अवस्था को प्राप्त हुआ ॥४९॥ कुटुम्बी जनों तथा भृत्य वर्ग के हर्ष को बढ़ाता हुआ वह विस्मयकारी कुमार कान्ति, दीप्ति, विवेकादि गुणों, शक्ति, साहस तथा पुण्योदय से उत्पन्न होने वाले रूप लावण्य और सौभाग्य सूचक लक्षणों से असुर कुमार के समान अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥५०–५१॥

तदनन्तर पिता ने शुभ मुहूर्त में जिन मन्दिर में देव शास्त्र तथा गुरु का पूजन महोत्सव कर आगम, अर्थशास्त्र, शस्त्रविद्या, कला और विवेक आदि की सिद्धि के अर्थ प्रियपुत्र को जैन अध्यापक के लिये सौंप दिया ॥५२–५३॥ वह बुद्धिमान् पुत्र अल्पकाल में ही विनय, लक्ष्मी और बुद्धि के द्वारा सिद्धान्तशास्त्र, अर्थशास्त्र, शस्त्रविद्या और कलारूप समुद्र के पार को प्राप्त हो गया ॥५४॥

पश्चात् जो नीति मार्ग में निपुण है, जिनभक्त है, सदाचारी है, व्रती है, शील का उत्तम सदन है, सुन्दर स्वर वाला है, सुभग है, प्रशस्त वचन बोलने वाला है, रूप से जिसने काम को जीत लिया है, जो स्वजन और परजनों को प्रिय है, अनेक गुणों की खान है, जिनेन्द्र और गुरुओं की पूजा तथा सेवा मे तत्पर है, दानशील है, जिन शासन का स्नेही है, और कार्य अकार्य के विचार को जानता है ऐसा वह कुमार यौवन अवस्था प्राप्त कर समस्त आभरण, माला, वस्त्र तथा दिव्य लक्षणों के समूह से दूसरे इन्द्र के समान सुशोभित होने लगा ॥५५–५८॥ पुत्र को उस प्रकार रूप और यौवन से सुशोभित देखकर पिता ने

१ सुरभर्ता इवाद्भूतः ख० २ विधिना तेन क० ।

पिता तस्मै स्वपुत्राय परिणेतु मुदा ददौ । वह्वी[1] राजसुता रम्या रूपलावण्यमण्डिताः ॥६०॥
ताभिः कुमार एवातिनिर्वृतिं मनसागमत् । तदङ्गस्पर्शनैस्तद्रूपाद्यालोकनभाषणैः ॥६१॥
क्रमात्पितृपदं प्राप्य विश्वभूपनुतक्रमः । श्रियं भुनक्ति भूपो महामण्डलेश्वरोद्भवाम् ॥६२॥
ततः पुण्यविपाकेन चक्ररत्नं महीपतेः । प्रादुर्बभूव दीप्तं ह्यायुधागारेऽरिखण्डनम् ॥६३॥
तथैवाशेषरत्नानि[2] ह्युत्पन्नान्यखिलान्यपि । षट्खण्डसाधनान्यत्र स्वस्वस्थानेषु पुण्यतः ॥६४॥
निधयो नव पद्माद्यास्तस्य देवैः समर्पिताः । विश्वभोगोपभोगादिदायिनः सुररक्षिताः ॥६५॥
ततः षट्खण्डभूभागमाक्रम्य चक्रनायकः । सार्द्धं षडङ्गसैन्येन पराक्रमेण सङ्गरे ॥६६॥
समाध खचरान् सर्वान् [3]षट्खण्डभूजभूपतीन् । व्यन्तरेशान् स्वपुण्याच्च मागधादिपुरस्सरान् ॥६७॥
तेभ्योऽनुप्राददे चक्री कन्यारत्नान्यनेकशः । रत्नानि भूषणादीनि सारवस्तूनि संपदः ॥६८॥
ततो हेमघटैः स्वच्छसलिलैः संभृतैः परैः । महोत्सवेन तस्याभिषेकं चक्रुः सुचक्रिणः ॥६९॥

उसे विवाह विधि से विवाहने के लिये अनेक सैकड़ों उत्तम महोत्सवों के साथ हर्ष पूर्वक रूप और सौन्दर्य से सुशोभित बहुत सी सुन्दर राजपुत्रियां दीं ॥५९-६०॥ कुमार उन राजपुत्रियो के द्वारा उनके शरीर सम्बन्धी स्पर्श से, उनके रूप आदि के देखने से तथा उनके वार्तालाप से अत्यधिक मानसिक संतोष को प्राप्त हुआ था ॥६१॥ क्रम क्रम से वह पिता के पद को प्राप्त हुआ अर्थात् उसका राज्याभिषेक हुआ । समस्त राजा उसके चरणों की स्तुति करने लगे । इस तरह वह राजपद को प्राप्त होकर महामण्डलेश्वर की लक्ष्मी का उपभोग करने लगा ॥६२॥

तदनन्तर पुण्योदय से उस राजा की आयुधशाला में शत्रुओं को खण्डित करने वाला देदीप्यमान चक्ररत्न प्रकट हुआ ॥६३॥ उसी प्रकार उसके पुण्य से षट्खण्ड को वश मे करने वाले शेष सभी रत्न अपने अपने स्थानों पर प्रकट हुए ॥६४॥ समस्त भोगोपभोगों को देने वाली, देव रक्षित पद्म आदि नौ निधियां भी देवों ने उसके लिये समर्पित कीं ।६५।

तदनन्तर चक्ररत्न के स्वामी वज्रनाभि चक्रवर्ती ने षडङ्ग सेना के साथ छहखण्ड के भूभाग पर आक्रमण कर स्वकीय पुण्य के प्रभाव से युद्ध में पराक्रम के द्वारा समस्त विद्याधरों, छहखण्डो मे उत्पन्न हुए समस्त भूमिगोचरी राजाओं और मागध आदि व्यन्तर देवो को वश किया ॥६६-६७॥ विजय के अनन्तर चक्रवर्ती ने उनके लिये अनेकों कन्या रत्न, रत्न तथा आभूषण आदि सारभूत संपदाएं प्रदान कीं ॥६८॥ तदनन्तर स्वच्छ जल से भरे हुए श्रेष्ठ सुवर्णमय कलशों के द्वारा मागध आदि व्यन्तरेन्द्रों, विद्याधर राजाओं

1 बह्वयो ख० २, तथैव शेषरत्नानि ख० २ षट्खण्डजभूपतीन् क० ।

मागधाद्याश्च देवेशाः खेचरेशा नृपोत्तमा । सिंहासनाधिरूढस्य नमस्कारपुरस्सरम् ॥७०॥
ततश्चक्रिश्रियं प्राप्य श्रेयःपाकेन[१] चक्रभृत् । सार्द्धं रामादिभिः सोऽवगाहतेऽतिसुखाम्बुधिम् ॥७१॥
आज्ञाविधायिनो मूर्ध्ना नमन्ति तत्क्रमाम्बुजौ । वै[२] द्वात्रिंशत्सहस्रप्रभा भूपाला निरन्तरम् ॥७२॥
चतुरशीतिलक्षाः स्युर्गजेन्द्राः पर्वतोपमाः । तावन्तश्च रथास्तुङ्गा. स्वर्णरत्नविनिर्मिताः ॥७३॥
वायुवेगा महाश्वाश्च सन्त्यष्टादशकोटयः । अत्यन्तश्रेयसास्यैव पदात्यादिबहुश्रियः ॥७४॥
पदातयो भवन्त्यस्य चतुरशीतिकोटयः । दासीदासान्यभृत्याना प्रमाणं वेत्ति को बुध ॥७५॥
कालाख्यो हि महाकालो नैसर्पः पाण्डुकाह्वयः । पद्ममाणवपिङ्गाः शङ्खसर्वरत्नसञ्ज्ञकौ ॥७६॥
नवैते निधयो दद्युश्चक्रिणः सकलान्यपि । भोगायुधादिवस्तूनि स्वनर्घ्याणि शुभोदयात् ॥७७॥
चक्रातपत्रदण्डासिमण्यश्चर्मकाकिणी— । चमूगृहपतीभाश्वस्थपतिस्त्रीपुरोधसः ॥७८॥
इमानि सुररक्षाणि सद्रत्नानि चतुर्दश । जीवाजीवप्रभेदानि षट्खण्डसाधनान्यपि ॥७९॥
उपभोगानि कुर्वन्ति राज्यवृद्धिमनेकशः । दुष्कराणि च कार्याणि पुण्यपाकान्महीपतेः ॥८०॥

तथा भूमिगोचरी नरेशों ने सिंहासन पर बैठे हुए चक्रवर्ती वज्रनाभि का बहुत भारी उत्सव से नमस्कार पूर्वक अभिषेक किया ॥६९–७०॥ तदनन्तर चक्ररत्न को धारण करने वाला वह वज्रनाभि, पुण्योदय से चक्रवर्ती की लक्ष्मी को प्राप्त कर स्त्रियों आदि के साथ अत्यधिक सुखरूपी सागर में अवगाहन करने लगा। भावार्थ—चक्रवर्ती की लक्ष्मी का उपभोग करने लगा ॥७१॥ आज्ञा का पालन करने वाले बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा निरन्तर उसके चरण कमलों को शिर झुका कर नमस्कार करते थे ॥७२॥ उसके पास पर्वतों के समान बड़े बड़े चौरासी लाख हाथी थे और स्वर्ण तथा रत्नों से बने हुए उतने ही ऊंचे रथ थे ॥७३॥ वायु के समान वेग वाले अठारह करोड़ घोड़े थे। इसके तीव्र पुण्य से सेवक आदि बहुत संपदा उसे प्राप्त थी ॥७४॥ इसके चौरासी करोड़ पैदल चलने वाले सैनिक थे फिर दासी दास तथा अन्य सेवकों के प्रमाण को कौन विद्वान् जानता है? अर्थात् कोई नहीं ॥७४॥

काल, महाकाल, नैसर्प, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिङ्ग, शङ्ख और सर्वरत्न ये नौ निधियां चक्रवर्ती के लिये उसके पुण्योदय से भोग तथा शस्त्र आदि सभी श्रेष्ठ वस्तुएं देती रहती थीं ॥७६–७७॥ चक्र, छत्र, दण्ड, खड्ग, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अचेतन तथा सेनापति, गृहपति, गज, अश्व, स्थपति, स्त्री और पुरोहित ये सात चेतन इस प्रकार चेतन अचेतन के भेद से चौदह रत्न उसके पास थे। ये सभी रत्न देवों के द्वारा सुरक्षित थे तथा षट्खण्डवसुन्धरा को वश करने के साधन थे ॥७८–७९॥ चक्रवर्ती के पुण्योदय से

१. पुण्योदयेन २. द्वात्रिंशत्सहस्रप्रभा भूपाला स्ते निरन्तरम् ख० ।

मन्त्यम्य योषित्तो रम्या भूखेचरनृपात्मजाः । षण्णवतिसहस्राणि पुण्यात्पुण्यगुणान्विताः ॥८१॥
रत्नानां सारवस्तूनां भोगादीनां च शर्मणाम् । प्रमाणं वेत्ति को धीमान् पुण्याढ्ये[1] तस्य धामनि ।८२।
वृष चित्तो निधायोच्चैर्भु ङ्क्ते भोगान्निरन्तरम् । स स्वश्रेयोर्ऽपितान् सारान् वहून्भार्यादिभिः समम् ।८३
दयासत्यव्रतादीनि धृत्वा स मानसेऽनिशम् । स्वराज्यं पालयत्येव राजनीत्या सुधीर्महान् ॥८४॥
प्रोषध कुरुते नित्यं चतुःपर्वसु मुक्तये । राज्यारम्भाखिलं त्यक्त्वा कर्मघ्नं स सुखार्णवम् ॥८५॥
आर्त्तरौद्रादि-दुर्ध्यान हत्वा सामायिकं महत् । धर्मबीजं करोत्येव चक्री कालत्रये सदा ॥८६।
सामायिकं[2] समापन्नो दिवाजाताघसंचयम् । निन्दागर्हणयोगेन क्षिपेद्धीमान्गुणाप्तये ।।८७॥
जिनागारे जिनेशाना विधत्ते स महामहम् । विभूत्या परया नित्यं सर्वविघ्नहर परम् ॥८८॥
कृत्स्नाभ्युदयसिद्धयर्थं पूजनं[3] श्रीजिनेशिनाम् । विश्वाभ्युदयदातारं स कुर्यात्स्वगृहे सदा ॥८९॥
श्रीतीर्थेशा भजत्येव महान्तं स महोत्सवम् । नानाभूत्या जनैः सार्द्धं जैनमार्गप्रभावकः ॥९०॥

ये रत्न उपभोग के रूप थे, राज्यवृद्धि तथा अनेकों बार कठिन कार्यों को सम्पन्न करते थे ॥८०॥ पुण्योदय से इसकी छ्यानवे हजार सुन्दर स्त्रियां थीं जो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओं की पुत्रियां थीं, और पवित्र गुणों से सहित थीं ॥८१॥ पुण्य से परिपूर्ण उसके घर में रत्न, श्रेष्ठ वस्तुओं और भोगोपभोग आदि सुखों के प्रमाण को कौन बुद्धिमान् जानता है ? अर्थात् कोई नही ॥८२॥ वह निरन्तर धर्म में चित्त लगाकर अपने पुण्योदय से प्राप्त हुए उत्कृष्ट, सारभूत नाना प्रकार के भोगों का स्त्री आदि के साथ उपभोग करता था ॥८३॥ वह महान् बुद्धिमान् निरन्तर दया, सत्य तथा व्रत आदि को मन में धारण कर ही राजनीति से अपने राज्य का पालन करता था ॥८४॥

वह मुक्ति प्राप्त करने के लिये दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस प्रकार माह के चारो पर्वों में राज्य सम्बन्धी सब आरम्भ को छोड़कर कर्म निर्जरा के कारण तथा सुख के सागर स्वरूप प्रोषधोपवास को करता था ॥८५॥ वह चक्रवर्ती आर्त्त रौद्र आदि खोटे ध्यान को छोड़ कर सदा तीनो काल धर्म के बीजस्वरूप उत्कृष्ट सामायिक को नियम से करता था ॥८६॥ सामायिक को प्राप्त हुआ वह बुद्धिमान्, गुणों की प्राप्ति के लिये दिन में उत्पन्न हुए पाप समूह का निन्दा गर्हा के द्वारा क्षय किया करता था ॥८७॥ वह निरन्तर जिन मन्दिर में वड़ी विभूति के साथ श्रीजिन प्रतिमाओं की सर्व विघ्नहारी उत्कृष्ट महापूजा करता था ॥८८॥ वह सदा अपने गृहचैत्यालय में समस्त अभ्युदयों की सिद्धि के लिये समस्त अभ्युदयों को देने वाली श्रीजिन प्रतिमाओं की पूजा करता था ॥८९॥ जैन मार्ग की

---

१ पुण्यात्तस्य धामनि ख०　२ समायिकसमापन्नो क०　३ क० प्रतौ पूजनमित्यारभ्य श्लोकान्त पाठो नास्ति ।

गुरून्सङ्गविनिर्मुक्तान्मूर्ध्ना वन्देत प्रत्यहम् । तच्छुश्रूषां करोत्येव गत्वा तद्गुणसिद्धये ।।९१।।
विश्वशर्माकरं दानं चतुर्धा विधिपूर्वकम् । सत्पात्रेभ्यो ददात्येव भक्त्या दातृगुणान्वितः ।।९२।।
शृणोति तद्वचो रम्य निःशेष तत्त्वसूचकम् । सार्द्धं स्वपरिवारेण वैराग्याय सुखाप्तये ।।९३।।
जिनेन्द्राणां गणेशानां भक्त्या यात्रां प्रयाति सः । तन्नमस्कारपूजायै सद्धर्मश्रवणाय च ।।९४।।
मनोवाक्काययोगैः सद्धर्मं श्रीजिनभाषितम् । विश्वसौख्याकरीभूतं तनोत्येकं सदा नृपः ।।९५।।
अणुव्रतैश्च शीलौघैर्दानैः श्रीजिनपूजनैः । वैराग्यभावनाढ्यैः सुधर्म्यध्यानैश्च चक्रभृत् ।।९६।।
सिंहासनं समारुह्य सभायां धर्मवृद्धये । धर्मोपदेशमादत्ते वाक्यैः सद्धर्मसूचकैः ।।९७।।
स्वजनानां च बन्धूनां भृत्याना बहुभूभुजाम् । लोकानां स्वर्गमोक्षाय जिनधर्मविचारकः ।।९८।।
वाचा वदति सद्धर्मं स्थापयेच्चिन्तयेद्धृदि । तच्छुश्रूषामधादङ्गेनेति धर्ममयोऽभवत् ।।९९।।
चक्रवर्तिभवा लक्ष्मी राज्य षट्खण्डभूभवम् । मान्यं देवनृपाद्यैश्च नुतिः पूज्यपदं महत् ।।१००।।

प्रभावना करने वाला वह चक्रवर्ती लोगों के साथ मिलकर नाना प्रकार की विभूति से श्री तीर्थंकरों के महान् महोत्सवों को संपन्न करता था ।।९०।। वह प्रतिदिन निर्ग्रन्थ गुरुओं को शिर झुका कर वन्दना करता था और उनके गुणों की प्राप्ति के लिये नियमपूर्वक जाकर उनकी सेवा करता था ।।९१।। दाता के श्रद्धा तुष्टि आदि गुणों से सहित चक्रवर्ती नियम से भक्तिपूर्वक सत्पात्रों के लिये यथाविधि समस्त सुखों की खान स्वरूप चार प्रकार का दान देता था ।।९२।। वह वैराग्य तथा सुख की प्राप्ति के लिये अपने परिवार के साथ सत्पात्रों–निर्ग्रन्थ गुरुओं के तत्त्वोपदेशक समस्त सुन्दर वचनों को सुनता था ।।९३।। वह नमस्कार तथा पूजा करने और समीचीन धर्म को सुनने के लिये भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र देव तथा गणधरों की यात्रा के लिये भी जाता था ।।९४।। वह राजा समस्त सुखों की खानभूत जिनेन्द्र प्रतिपादित अद्वितीय सद्धर्म को मन वचन काय–तीनों योगों से विस्तृत करता था ।।९५।। अहिंसा आदि पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलो के समूहों, चार प्रकार के दानों, श्रीजिनेन्द्र देव की पूजाओं और वैराग्यभावना से युक्त उत्तम धर्म्यध्यानों से युक्त चक्रवर्ती सभा में सिंहासन पर आरूढ होकर धर्मवृद्धि के लिये सद्धर्मसूचक वाक्यों के द्वारा धर्मोपदेश देता था ।।९६–९७।। जिन धर्म का विचार करने वाला वह वज्रनाभि चक्रवर्ती, अपने कुटुम्बीजनों, बन्धुओं, सेवकों तथा अन्य अनेक राजाओं को स्वर्ग तथा मोक्ष के लिये शब्दों द्वारा समीचीन धर्म का उपदेश देता था, स्वयं अपने हृदय में उसकी स्थापना तथा चिन्तना करता था, और शरीर से उन सब की सेवा करता था, इस प्रकार वह धर्ममय हो रहा था ।।९८–९९।। चक्रवर्ती की लक्ष्मी, देव तथा राजाओं आदि के द्वारा मान्य षट्खण्ड वसुधा का राज्य, नमस्कार, महान् पूज्यपद तथा अन्य सार-

बभूव श्रेयः पाकेनेहान्यद्वा सारवस्तु मे । ज्ञात्वेत्येक तनोत्युच्चैर्धर्मं सम्राट् स सर्वदा ।।१०१।।

वसन्ततिलका

धर्माद्विना कुत इहाद्भुतचक्रिभूति–र्धर्माद्विना कुत इहातिसुखं गरिष्ठम् ।
धर्माद्विना कुत इहामरभूपमान्य, धर्माद्विना कुत इहाखिलकार्यसिद्धिः ।।१०२।।
धर्माद्विना कुत इहानुपमा सुकीर्ति–र्धर्माद्विना कुत इहात्यमला सुबुद्धिः ।
धर्माद्विना कुत इहातिसुधर्मवृद्धि–र्धर्माद्विना कुत इहाखिलभोगलाभः ।।१०३।
धर्माद्विना कुत इहातिविवेकविद्या, धर्माद्विना कुत इहाशु सुवाञ्छितार्थः ।
मत्वेति स प्रतिदिनं भजते तमेकं, धर्मं जिनेन्द्रगदितं सकलार्थसिद्ध्यै ।।१०४।।

शार्दूलविक्रीडितम

धर्मादर्थचयो जगत्त्रयभवः संजायते धीमतां,
तस्मात्कामसुखं नृदेवजनितं सर्वेन्द्रियाह्लादकम् ।

भूत जो कुछ भी वस्तुएं मुझे इस लोक में प्राप्त हुई हैं वे सब पुण्य के उदय से प्राप्त हुई हैं ऐसा जानकर वह चक्रवर्ती सदा एक उत्कृष्ट धर्म को विस्तृत करता था । भावार्थ–निरन्तर धर्ममय आचरण करता था ।।१००–१०१।।

इस जगत् में धर्म के विना चक्रवर्ती की अद्भुत विभूति कैसे मिल सकती है ? धर्म के विना यहां श्रेष्ठ सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? धर्म के विना यहां देव और राजाओं के द्वारा मान्य पद कैसे मिल सकता है ? धर्म के बिना यहां समस्त कार्यों की सिद्धि कैसे हो सकती है ? धर्म के विना यहां अनुपम उत्तम कीर्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? धर्म के बिना यहां निर्मल सुबुद्धि कैसे मिल सकती है ? धर्म के बिना यहां सुधर्म की वृद्धि कैसे हो सकती है ? धर्म के विना यहां समस्त भोगों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? धर्म के बिना यहां अत्यधिक विवेक से युक्त विद्या कैसे मिल सकती है ? और धर्म के बिना यहां अत्यन्त अभिलषित पदार्थ शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो सकता है ? ऐसा मान कर वह प्रतिदिन समस्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिये एक जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म की आराधना करता था ।।१०२–१०४।।

धर्म से बुद्धिमानों को त्रिलोक सम्बन्धी अर्थों का समूह प्राप्त होता है, धर्म से समस्त इन्द्रियों को हर्षित करने वाला मनुष्य और देव सम्बन्धी काम सुख उपलब्ध होता है और

धर्मान्मोक्ष इहाद्भुतान्मुनिवरैः संसाध्यते चक्रभृद्—
　　विज्ञायेति चतुःपदार्थगुणसंसिद्धयै[1] विधत्ते वृषम् ।।१०५।।
धर्मादेव महत्पद सुरनुत षट्खण्डजाः सम्पदः,
　　सौख्य स्त्रीनिकरोद्भवं निरुपमं प्राप्त च धर्मोदयात् ।
मत्वेतीह वृषं जिनेन्द्रपदद हिंसोज्झित धीधनाः,
　　कुर्वीध्वं नितरां प्रयत्नचरणात्सर्वार्थसंसिद्धये ।।१०६।।
धर्मो विश्वसुखप्रदो व्यघहरो[2] धर्मं व्यधुर्धार्मिका,
　　धर्मेणाशु किलाप्यते शिववधूर्धर्माय मूर्ध्ना नमः ।
धर्मान्नास्ति हितकरो परसुहृद् धर्मस्य मूलं क्रिया,
　　धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मेऽघं[3] हर ।।१०७।।

मालिनी

सुरनिकरकिरीटानर्घ्यमाणिक्यभाभि—श्चरणकमलयुग्मं यस्य प्रद्योतितञ्च ।
गणधरमुनिसेव्यं वन्दित पूजितं तं, जिनवरमहमीडे पार्श्वनाथं गुणाप्त्यै ।।१०८।।

अद्भुत धर्म से मुनिवरों के द्वारा इस लोक में मोक्ष प्राप्त किया जाता है—ऐसा जानकर चक्रवर्ती धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पदार्थो की सिद्धि के लिये धर्म करता था ।।१०५।। धर्म से ही देवों के द्वारा स्तुत उच्च पद और षट्खण्ड में उत्पन्न होने वाली संपदाएं मिली है तथा धर्म के उदय से ही स्त्री समूह से उत्पन्न होने वाला अनुपम सुख प्राप्त हुआ है—ऐसा विचार कर हे विद्वज्जन हो ! समस्त प्रयोजनों की सिद्धि के लिये जिनेन्द्र भगवान् का पद देने वाले हिंसा रहित धर्म का प्रयत्न पूर्वक अत्यधिक पालन करो। भावार्थ–अहिंसा धर्म ही सब सुखों का कारण है इसलिये उसका प्रयत्न पूर्वक आचरण करो ।। १०६ ।। धर्म समस्त सुख दायक तथा विविध पापों को हरने वाला है, धार्मिक लोग धर्म को करते है, धर्म के द्वारा शीघ्र मुक्तिरूपी स्त्री की प्राप्ति होती है, धर्म के लिये मै शिर से नमस्कार करता हूं, धर्म से बढ़कर दूसरा हितकारी परम मित्र नहीं है, धर्म का मूल क्रिया–सदाचरण है, मै प्रतिदिन अपना चित्त धर्म में लगाता हूं । हे धर्म ! मेरे पाप को नष्ट कर ।।१०७।।

जिनके चरण कमलों का युगल, देव समूह के मुकुटों में लगे हुए अमूल्य मणियों की कान्ति से अतिशय देदीप्यमान रहते थे, जो गणधर तथा मुनियों के द्वारा सेवनीय थे,

---

१ धर्मार्थकाममोक्षा चत्वार पदार्थाः २ विविधपापहर ३ मे-मम, अघं-पाप ।

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे वज्रनाभिचक्रवर्तिविभववर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

और सब के द्वारा वन्दित तथा पूजित थे उन जिनेन्द्र पार्श्वनाथ को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूं ॥१०८॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति के द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में वज्रनाभि चक्रवर्ती के विभव का वर्णन करने वाला चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥



पञ्चमः सर्गः

विश्वविघ्नारिहन्तारं त्रातारं भव्यदेहिनाम् । अनन्तसुखदातारं श्रीपार्श्वं संस्तुवे गुणैः ।।१।।
अथैकदा स चक्रेशो भुक्त्वा भोगानतृप्नुवन् । मुक्तिस्त्रीमुद्यतो भोक्तुं प्रार्थ्यां भव्यजनैर्यमैः[1] ।।२।।
क्षेमङ्कराख्य—भट्टारक—समीपमगाद् द्रुतम् । सैन्येन सह धर्माय विश्वक्षेमविधायिने[2] ।।३।।
त्रिः परीत्य मुनीन्द्र तं त्रिजगन्नाथवन्दितम् । मूर्ध्ना नत्वा प्रपूज्योच्चैर्दिव्यैः पूजनवस्तुभि ।।४।।
स्तुत्वा गुणगणैः सारैर्वृत्तादिजनितैर्मुदा । तत्पादान्ते नृप सोऽस्थात्सद्धर्मश्रवणाय च ।।५।।
धर्मवृद्धयाभिनन्द्योच्चैर्मुनीन्द्रोऽनुग्रहाय सः । अवोचद्धर्ममत्यर्थं निरवद्यं नृप प्रति ।।६।।
राजन् धर्मोऽत्र कर्तव्यो नैकशर्माकरः परः । हितो मुमुक्षुभिर्नित्य दृक्चिद्वृत्ततपोयमैः ।।७।।
द्विधा स विद्यते धर्मो देशसर्वप्रभेदतः । एकदेशो गृहस्थानां सपूर्णः स मुनीशिनाम् ।।८।।

पञ्चम सर्ग

समस्त विघ्नरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले, भव्यजीवों के रक्षक तथा अनन्त सुखों के दाता श्री पार्श्वनाथ भगवान् की मैं उनके गुणों के कारण सम्यक् स्तुति करता हूँ ।।१।।

अथानन्तर एक समय भोगों को भोगकर तृप्त नहीं होने वाला वह चक्रवर्ती भव्य जनों के द्वारा चारित्र से प्रार्थनीय मुक्तिरूपी स्त्री का उपभोग करने के लिये उद्यत हुआ ।।२।। वह शीघ्र ही समस्त संसार का कल्याण करने वाले धर्म के लिये सेना के साथ श्री क्षेमंकर भट्टारक के समीप गया ।।३।। तीन जगत् के स्वामियों के द्वारा वन्दित उन मुनिराज की तीन प्रदक्षिणाएं देकर उसने शिर से प्रणाम किया, उत्कृष्ट तथा सुन्दर पूजन को सामग्री से पूजा की, तथा चारित्र आदि से उत्पन्न सारभूत गुणों के समूह से हर्षपूर्वक स्तुति की। पश्चात् वह राजा सद्धर्म को सुनने के लिये उनके चरणों के निकट बैठ गया ।।४–५।।

मुनिराज ने धर्मवृद्धि के द्वारा अभिनन्दन कर बहुत भारी अनुग्रह करने के लिए राजा के प्रति अत्यन्त निर्दोष धर्म का निरूपण किया ।।६।। उन्होने कहा कि हे राजन् ! मोक्ष के अभिलाषी जनों को निरन्तर दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के द्वारा धर्म करना चाहिये, क्योंकि वह धर्म ही अनेक सुखों की उत्कृष्ट खान है ।।७।। वह धर्म एक देश और सर्व देश की अपेक्षा दो प्रकार का है। एकदेश धर्म गृहस्थों के और सर्वदेश धर्म मुनियों के

१ चारित्रै. २ विश्वक्षेमविधायिनम् क० ख० ३ निर्दोषं षोडशम नाक क० ख० ।

माव्य सोऽणुव्रतैर्धर्मो गुणशिक्षाव्रतैस्तथा । दानपूजोपवासाद्यैः प्रत्यहं गृहमेधिभिः ॥९॥
महान् महाव्रतैर्गुप्तित्रयैः समितिपञ्चकैः । क्रियते स तपोयोगैर्ध्यानाध्ययनकर्मभिः ॥१०॥
गुणैर्मूलाभिधैः सर्वैः परीषहजयोद्यतैः । त्यक्तरागैश्च मोहघ्नैर्मुनीन्द्रैर्नापरैः क्वचित् ॥११॥
गेहिधर्मेण गार्हस्थ्यैः प्राप्यते सुखमुल्वणम् । यावत् षोडशकं[१] नाक देवीनिकरसंभवम् ॥१२॥
मुक्तिरामा समादत्तो स्वयमेव तपस्विनाम् । आलिङ्गनं स्वभार्येव यतिधर्मप्रभावतः ॥१३॥
वेष्टनोद्वेष्टन कुर्याद् गृही स्व कर्मणानिशम् । सामायिकतपोहिंसाद्यैर्मोहान्वितमानसः ॥१४॥
यतो दध्यात् क्वचिद् गेही पुण्यं दानैरघक्षयम् । तपोभिस्तद्द्वयं सामायिकसावद्यचिन्तनैः ॥१५॥
क्वचिच्चाघाद्ययुग्मं श्रीचैत्योद्धारादिकारणैः । ततो न तद्भवे मोक्षोऽस्त्यास्रवाद् गृहमेधिनाम् ॥१६॥
बहुद्वन्द्वार्तचित्ताना दुराशाग्रसितात्मनाम् । स्त्रीकटाक्षेषु विद्धानां[१] हिंसाद्यारम्भवर्तिनाम् ॥१७॥

होता है ॥८॥ गृहस्थों को वह धर्म अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत तथा दान पूजा और उपवास आदि के द्वारा प्रतिदिन करना चाहिये ॥९॥

महान्–सर्वदेश धर्म, पांच महाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति, बारह तप, ध्यान अध्ययन रूप कार्य तथा अट्ठाईस मूलगुणों के द्वारा किया जाता है। यह सर्वदेश धर्म, परीषहों के जीतने में उद्यत, वीतराग तथा मोह को नष्ट करने वाले मुनिराजों के द्वारा किया जाता है अन्य लोगों के द्वारा कहीं नहीं किया जाता ॥१०–११॥ गृहिधर्म–एक देश धर्म से गृहस्थों द्वारा सोलहवें स्वर्ग तक देवियों के समूह से उत्पन्न होने वाला अत्यधिक सुख प्राप्त किया जाता है। भावार्थ–गृहस्थ धर्म को धारण करने वाला मनुष्य सोलहवें स्वर्ग तक ही उत्पन्न हो सकता है उसके आगे नहीं ॥१२॥ और मुनिधर्म के प्रभाव से मुक्ति रूपी स्त्री स्वयं आकर अपनी स्त्री के समान तपस्वी जनों को आलिङ्गन देती है॥ भावार्थ–मुनिधर्म के प्रभाव से यह जीव मोक्ष को भी प्राप्त होता है फिर स्वर्ग की तो बात ही क्या है? ॥१३॥ जिसका चित्त मोह से युक्त है ऐसा गृहस्थ सामायिक, तप तथा हिंसा आदि के द्वारा अपने आपको निरन्तर कर्मों से वेष्टित और उद्वेष्टित करता रहता है ॥१४॥ क्योंकि कहीं तो गृहस्थ दान के द्वारा पाप का क्षय करने वाला पुण्य करता है, कहीं तप, सामायिक और सावद्य कार्यों के चिन्तन से क्रमशः पुण्य पाप दोनों करता है ॥१५॥ और कहीं चैत्यालयादि के निर्मापण आदि कार्यों से एक साथ पाप-पुण्य दोनों करता है। इसलिये गृहस्थों को आस्रव होते रहने से उसी भव में मोक्ष प्राप्त नहीं होता है ॥१६॥ जिनका चित्त नाना प्रकार के द्वन्द्वों से दुखी हो रहा है, जिनकी आत्मा दुष्ट आशा से ग्रसित है, जो स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाणों से विद्ध हैं, हिंसा आदि के आरम्भों में प्रवृत्ति करते हैं, जिन्होंने इन्द्रियरूपी

१ [illegible]टाक्षबाणविद्धाना।

अदान्तेन्द्रियचौराणां गृहचिन्ताविधायिनाम् । गृहस्थानां हित नश्येदास्रवैरेनसां सदा ।।१८।।
यतीनां निर्मलो धर्मो हिंसादिमलदूरगः[1] । विश्वचिन्ताद्यतिक्रान्तो निष्पापोऽनेकशर्मकृत् ।।१९।।
तद्भवे मुक्तिदातातिख्यातिपूजाकरः पर. । आदेयो धर्मिभि शीघ्रं सिद्धचै कर्मारिहानये ।।२०।।
चक्रिस्त्वया चिरं भुक्ता चक्रिलक्ष्मीर्मनोहरा । तथापि तृप्तिरेवात्र न ते जाता खसेवनैः[2] ।।२१।।
इदानी त्वं महाभाग त्यक्त्वेमां चक्रिण. श्रियम् । हत्वा मोहभट खैः[3] सार्द्धं गृहाण तपोऽनघम् ।।२२।।
इत्यादिमुनिवक्त्राब्जधर्मपीयूषनिर्गतम् । समस्तपापसंतापहरं भूयोरसावहम् ।।२३।।
पीत्वा कर्णाञ्जलिभ्या स भोगतृष्णामहाविषम् । हत्वा प्राप्यातिनिर्वेद हृदि चक्रीति चिन्तयेत् ।।२४।।
अहो मयातिरागेण स्वेच्छया चक्रिगोचराः । भुक्ता भोगा हि दु प्रापास्तृप्तिर्मे नाभवन्मनाक्।।२५।।
एति दैवा क्वचित्तृप्तिमिन्धनैरनलो महान् । सरित्पूरैः समुद्रो वा तीव्रलोभी धनागमैः ।।२६।।

चौरों का दमन नहीं कर पाया है, तथा जो निरन्तर गृह की चिन्ता करते रहते हैं ऐसे गृहस्थों को सदा पापों का आस्रव होता रहता है अतः उनका हित नष्ट हो जाता है। भावार्थ–गृहस्थ के कार्यों से कभी निर्जरा होती है, कभी वन्ध होता है। अतः वह अपने आप को कर्म–बन्ध से सर्वथा निवृ त्त करने में असमर्थ रहता है ।।१७–१८।।

मुनियों का धर्म निर्मल है, हिंसादि दोषों से दूर रहने वाला है, समस्त चिन्ताओं से परे है, पाप रहित है, अनेक सुखों को करने वाला है, उसी भव में मोक्ष को देने वाला है, अत्यन्त प्रसिद्धि तथा प्रतिष्ठा को करने वाला है और अपने आप में उत्कृष्ट है, अतः धर्मात्मा जीवों को शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करने और कर्मरूप शत्रुओं का क्षय करने के लिये इसे ग्रहण करना चाहिये ।।१९–२०।। हे चक्रवर्तिन् ! तूने चक्रवर्ती की मनोहर लक्ष्मी का चिरकालतक उपभोग किया है तो भी इसमें इन्द्रियों के सेवन से तुझे तृप्ति नहीं हुई है ।।२१।। हे महाभाग ! अब तू चक्रवर्ती की इस लक्ष्मी का त्याग कर तथा इन्द्रियों के साथ मोहरूपी सुभट को नष्ट कर निर्दोष तप को ग्रहण कर ।।२२।।

इस प्रकार जो मुनिराज के मुख कमल से निकला हुआ है, समस्त पाप और संताप को हरने वाला है, तथा अत्यधिक रस को धारण करने वाला है ऐसे धर्मरूपी अमृत को कर्णरूपी अञ्जलियों से पीकर चक्रवर्ती ने भोगतृष्णारूपी महाविष को नष्ट कर दिया और अत्यधिक वैराग्य को प्राप्त कर हृदय मे इस प्रकार का विचार किया ।।२३–२४।।

अहो ! मैने तीव्रराग वश अपनी इच्छानुसार चक्रवर्ती के दुर्लभ भोग भोगे परन्तु इनमें मुझे रञ्चमात्र भी तृप्ति नहीं हुई ।।२५।। कदाचित् दैववश महान् अग्नि ईन्धन से तृप्ति को प्राप्त हो सकती है, अथवा समुद्र नदियों के प्रवाह से और तीव्र लोभी मनुष्य धन

१ हिंसादिमलदूरत ख० २ इन्द्रियसेवनै ३ इन्द्रियै ।

असंख्यकामभोगैश्च चक्रिशक्रादिगोचरे । भुक्तैश्चिरतरं कालं जातु जीवो न दुर्विधेः ॥२७॥
यथायथात्र सेव्यन्ते भोगा बहुतरा शठैः । तथातथातिगृद्ध्याहो तृष्णा विश्वं विसर्पति ॥२८॥
कामदाहप्रशान्त्यै ये भोगानिच्छन्ति कामुकाः । ज्वरं निषेधयन्त्येव सर्पिषा ते मतेर्भ्रमात् ॥२९॥
भोगोरगप्रदष्टाना सतोषभेषजैर्विना । न शान्तिर्जायते जातु भुक्तैर्भोगैस्त्रिलोकजैः ॥३०॥
भोगा ये निन्द्यकर्मोत्था महादाहविधायिनः । दुस्त्याज्याश्चातिदुःप्राप्यास्ते कुतो रतये सताम् ॥३१॥
दाहदु खंकरा आदौ मध्ये स्वल्पसुखप्रदाः । अन्ते [1]ग्लान्यघकर्तारो ये,ते भोगाः कथं शुभाः ॥३२॥
मानभङ्गोद्भवा भोगा नार्या प्रार्थनयोगतः । स्ववीर्यनाशिनो ये तान् किमीहन्तेऽतिमानिनः ॥३३॥
वपुर्विडम्बनोत्पन्ना ये भोगा हि स्वयोषितोः । अपवित्रकरा निन्द्यास्ते प्रीत्यै धीमता कुतः ॥३४॥
भोगाः सुगुणहन्तार कृत्स्नदोषविधायिन । धर्मरत्नभृते भाण्डे चौराः पापाग्निदारवः ॥३५॥

ी प्राप्ति से संतुष्ट हो सकता है परन्तु दुष्कर्म के उदय से, यह जीव चक्रवर्ती और इन्द्र ादि सम्बन्धी असंख्य काम भोगों से जिन्हें कि यह चिरकाल से भोग रहा है कभी भी ृप्ति को प्राप्त नहीं हो सकता ॥२६–२७॥ इस जगत् में अज्ञानीजनों के द्वारा बहुत ारी भोग जैसे जैसे भोगे जाते है वैसे वैसे ही आश्चर्य है कि तीव्र आसक्ति के कारण इस ीव की तृष्णा समस्त विश्व में फैलती आती है ॥२८॥ जो कामी पुरुष कामदाह की ान्ति के लिये भोगों की इच्छा करते है वे बुद्धिभ्रम से घृत के द्वारा ज्वर को नष्ट करते ैं। भावार्थ–जिस प्रकार घृत के सेवन से ज्वर नष्ट न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार भोगों से तृष्णा शांत न होकर वृद्धि को प्राप्त होती है ॥२९॥ भोगरूपी सांप के द्वारा डसे हुए मनुष्यों को सतोष रूपी औषध के बिना, भोगे हुए तीन लोक सम्बन्धी भोगों से कभी शान्ति नहीं होती है ॥३०॥ जो भोग निन्द्य कार्यों से उत्पन्न है, महान् दाह को उत्पन्न करने वाले है, दुष्त्याज्य है तथा अत्यन्त दुष्प्राप्य है वे सत्पुरुषों को शान्ति के लिये कैसे हो सकते हैं ? ॥ ३१ ॥ जो भोग प्रारम्भ में दाहरूप दुःख को करने वाले है, मध्य में अत्यन्त अल्प सुख को देने वाले हैं, और अन्त में ग्लानि तथा पाप को करने वाले है वे शुभ कैसे हो सकते है ? ॥३२॥ जो भोग स्त्री से प्रार्थना करने के कारण मानभङ्ग से उत्पन्न होते है तथा अपने वीर्य को नष्ट करने वाले है उन भोगों की ज्ञानीजन कैसे इच्छा करते है ? ॥३३॥ जो भोग स्वयं अपने तथा स्त्रियों के शरीर की विडम्बना से उत्पन्न होते हैं, अपवित्रता को करने वाले है तथा निन्दनीय है वे बुद्धिमानों की प्रीति के लिये कैसे हो सकते हैं ॥३४॥ ये भोग उत्तम गुणो को नष्ट करने वाले हैं, समस्त दोषो को उत्पन्न करने वाले हैं, धर्मरूपी रत्नों से भरे हुए पात्र के चौर हैं, पापरूपी अग्नि को बढ़ाने के लिये

१ ग्लान्यघकर्तारो ख० ।

स्वर्गमुक्तिसुखादिघ्ना:[1] श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रदा: । मतिध्वंसकरा दुष्टा रोगक्लेशादिखानय. ।।३६।।
विश्वदोषाकरीभूता इहामुत्रातिशत्रव । कामुकै कातरै सेव्या पशुम्लेच्छादिदुर्जनैः ।।३७।।
इत्यादिदोषसपूर्णा भोगा विषधरोपमा. । हालाहलनिभा ये ते त्याज्या सेव्या न जातुचित् ।।३८।।
भोगाशा वर्तते यावन्नृणा चित्ते मनागपि । तावद् वृत्ततप क्लेशैर्मुक्तिर्जातु न जायते ।।३९।।
अतो मोक्षार्थिभि पूर्वं मनोवाक्कायकर्मभि । फणीन्द्रा इव नादेया भोगा: स्वप्नेऽपि मुक्तये ।।४०।।
सप्तधातुमय निन्द्य विष्ठादिमलसभृतम् । नवद्वारै. स्रवत्पूतिमल प्रास्थिकुटीरकम्[2] ।।४१।।
कृत्स्नदोषनिधान कामाक्षसर्पविलोपमम् । शुक्रशोणितसभूत कायं किं रतये सताम् ।।४२।।
क्षुधातृषास्मरव्याधिक्रोधाग्नयो ज्वलन्त्यहो । वपु:कुटीरके यत्र कास्था तत्र सुधीमताम् ।।४३।।
काये पञ्चाक्षसामग्री तया[3] च विषयव्रज । तेन चोत्पद्यते रागद्वेषमोहादिसचय: ।।४४।।
तत· कर्मसमूहश्च कर्मणा भ्रमण महत् । भवारण्ये चलेऽसारे दु:खव्याघ्रादिसकुले ।।४५।।

लकड़ी है, स्वर्ग मोक्ष सम्बन्धी सुखादि.को नष्ट करने वाले हैं, नरक तथा तिर्यञ्चगति को देने वाले हैं, बुद्धि को भ्रष्ट करने वाले हैं, दुष्ट हैं, रोग तथा क्लेश आदि की खान हैं, समस्त दोषों के आकर खान स्वरूप हैं, इस लोक तथा परलोक के तीव्र शत्रु है, कामी, दीन तथा पशु और म्लेच्छ आदि दुर्जनों के द्वारा सेवनीय है, इत्यादि दोषों से परिपूर्ण हैं, विषधर के समान है अथवा हालाहल के तुल्य है, अतएव ये छोड़ने के योग्य है, कभी सेवन करने योग्य नहीं हैं ।।३५–३८।। जब तक मनुष्यों के चित्त में रञ्चमात्र भी भोगों की आशा विद्यमान रहती है तब तक चारित्र और तप सम्बन्धी क्लेशों से कभी मुक्ति नहीं हो सकती ।।३९।। इसलिये मोक्षाभिलाषी जीवों को पहले ही मन वचन काय से मुक्ति के उद्देश्य से स्वप्न में भी भोग ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये भोग नागराज के समान दु:खदायक है ।।४०।। जो सप्त धातुओं से तन्मय है, निन्दनीय है, विष्ठा आदि मल से परिपूर्ण है, जिसके नव द्वारों से दुर्गन्धित मल झर रहा है, जो हड्डियों की कुटी के समान है, समस्त दोषों का भाण्डार है, काम और इन्द्रियरूपी सर्पों के बिल के समान है तथा रज और वीर्य से उत्पन्न हुआ है ऐसा यह शरीर सत्पुरुषों की प्रीति के लिये कैसे हो सकता है ? ।।४१–४२।। अहो ! जिस शरीर रूपी कुटी में क्षुधा, तृषा, काम, नाना प्रकार के रोग और क्रोध रूपी अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही है उसमें उत्तम बुद्धि के धारक मनुष्यों का आदर क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ।।४३।। शरीर में पांचों इन्द्रियां एकत्रित है, उन इन्द्रियों से विषयों का समूह एकत्रित किया जाता है, उससे राग द्वेष तथा मोह आदि का समूह उत्पन्न होता है, उससे कर्मों का समूह संचित होता है, कर्म समूह से चञ्चल, नि:सार तथा दु:खरूपी व्याघ्र आदि

१ स्वर्गमुक्तिसुखाविघ्ना ख० २ प्रकृष्टकीकसकुटीरकम् ३ सामग्र्या ख० ।

तस्माद्घोरतरं दुःखं जायते प्राणिनां चिरम् । इति कृत्स्नान्यनर्थानां मूलं देहं जगुर्जिनाः ॥४६॥
कायोऽयं पोषितोऽत्रापि [1]स्वन्नपानादिभूषणैः । पादैकं याति सार्द्धं न जीवेन दुर्जनादिवत् ॥४७॥
यथाहि पोषितो दत्ते विषं प्राणान्हरत्यहो । तथा शरीरशत्रुश्च रोगक्लेशादिदुर्गतीः ॥४८॥
यत्राङ्गे संस्थितो ज्ञानी कारागारोपमे[2] भजेत् । प्रत्यहं रोगशोकादीन् सुप्रीतिं तत्र किं व्यधात् ॥४९॥
यथात्र पाल्यते दक्षैः सेवकः कार्यसिद्धये । ग्रासमात्रप्रदानैश्च विना रागं तथा वपुः ॥५०॥
गात्रं कदर्थितं वृत्ततपोयोगयमादिभिः । यैस्तैश्च सफलं चक्रे त्यक्त्वा तत्संभवं सुखम् ॥५१॥
असारेण शरीरेण सारं वृत्तादिसेवनम् । कर्तव्यं मुक्तये येन भवेत्तत्सफलं भुवि ॥५२॥
पोषितं शोषितं चाङ्गं यमान्तं यदि यास्यति । अवश्यं तर्हि सिद्ध्यै हि वरं शोषितमञ्जसा ॥५३॥
विज्ञायेति चलाङ्गेन[3] ग्रासमात्रादिदानतः । द्रुतं मुमुक्षुभिः साध्यमचलं पदमद्भुतम् ॥५४॥

जीवों से भरे हुए संसार रूपी अटवी में बहुत भारी भ्रमण होता है और उससे प्राणियों को चिरकाल तक तीव्र दुःख होता है, इसीलिये जिनेन्द्र भगवान् ने शरीर को समस्त अनर्थों का मूल कारण कहा है ॥४४–४६॥

उत्तम अन्न पान तथा भूषण आदि के द्वारा पोषित होने पर भी यह शरीर दुर्जनादि के समान एक पद भी जीव के साथ नहीं जाता है ॥४७॥ जिस प्रकार पोषा गया सर्प विष को देता है और प्राणों को हरता है उसी प्रकार आश्चर्य है कि यह शरीररूपी शत्रु रोग क्लेश आदि दुर्गतियों को देता है ॥४८॥ कारागार के समान जिस शरीर में स्थित ज्ञानी जीव प्रतिदिन रोग शोक आदि को प्राप्त होता है उसमें वह उत्तम प्रीति को कैसे कर सकता है ? ॥४९॥ जिस प्रकार इस जगत् में चतुर मनुष्यों के द्वारा कार्य की सिद्धि के लिये सेवक का पालन किया जाता है उसी प्रकार ग्रासमात्र के दान से–भोजन मात्र देकर राग के बिना शरीर का पालन किया जाता है ॥५०॥ जिन्होंने चारित्र, तप, योग और यम, इन्द्रिय-दमन आदि के द्वारा शरीर को पीडित किया है उन्होंने शरीर से उत्पन्न होने वाले सुख को छोड़कर उसे सफल किया है ।५१। जिस कारण निःसार शरीर से मुक्ति के लिये सार-भूत चारित्र आदि का सेवन किया जाता है उसी कारण वह पृथिवी पर सफल होता है । भावार्थ–जिस शरीर से तपश्चरण आदि किया जाता है वही शरीर सफल कहा जाता है ॥ ५२ ॥ शरीर का चाहे पोषण किया जाय चाहे शोषण, वह अवश्य ही यदि मृत्यु को प्राप्त होता है तो मुक्ति प्राप्ति के लिये उसका सम्यक् प्रकार से (सल्लेखना विधि से) शोषण करना ही अच्छा है ॥५३॥ ऐसा जानकर मोक्षाभिलाषी जीवों को शीघ्र ही चञ्चल शरीर के द्वारा मात्र ग्रास आदि देकर आश्चर्यकारी अविनाशी पद–मोक्ष

[1] शोभनान्नपानभूषणैः [2] बन्दीगृहसदृशे [3] नश्वरशरीरेण ।

नि.सारे विषमे भीमेऽनादौ कृत्स्नासुखाकरे । अनन्ते को रतिं कुर्यात् त्यक्त्वा धर्मं भवे सुधीः ।।५५।।
मृत्युवाडवदुर्गर्त्ते जराजन्मजलाकुले । दुःखमीनादिसंकीर्णे रोगक्लेशोर्मिचञ्चले ।।५६।।
मिथ्यावाताकुले पापावर्ते मोहार्त्तितस्करे । मज्जन्त्यहो भवाब्धौ हि धर्मनावं विनाङ्गिनः ।।५७।।
केचिदिष्टवियोगेन पीडिताः शोककारिणः । चानिष्टयोगतः केचिद्रोगैर्ग्रस्ता हि केचन ।।५८।।
केचिज्जराग्निना दग्धाः केचिद् दारिद्र्यदुःखिनः । धृता वन्दीगृहे केचित् केचिन्नेत्रादिवर्जिताः ।।५९।।
दुःखीजाता जनाः केचिन्मानभङ्गेन मानिनः । देशाद्र्यब्ध्यटवी[1] केचिद् द्रव्यार्थं सभ्रमन्ति च ।६०।
इत्यशर्ममये घोरे भवे दुःखैकपूरिते । पुण्यवान् दृश्यते जातु न स योऽहो सदा सुखी ।।६१।।
सेवनं विषयाणां यत्सुखं जानन्ति रागिणः । भवेत्तद्विषमं दुःखं ज्ञानिनश्चाघवर्द्धनात् ।।६२।।
यदि स्यात्संसृतिर्भद्रा तर्हि चक्रिश्रिया समम् । तां त्यक्त्वाशु कथं मोक्षं[2] ससाधुस्तपसा जिना ।।६३।।

की प्राप्ति कर लेना चाहिए ।।५४।। ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो धर्म को छोड़कर निःसार, विषम, भयंकर, आदिरहित तथा समस्त दुःखों की खान स्वरूप अनन्त संसार में प्रीति करेगा ? ।।५५।।

अहो ! जिसमें मृत्युरूपी बडवानल के कारण दुःखदायक अनेक गर्त है, जो जरा और जन्मरूपी जल से भरा हुआ है, दुःखरूपी मगर मच्छ आदि से परिपूर्ण है, रोग जन्य क्लेशरूपी तरङ्गों से चंचल है, मिथ्यात्वरूपी वायु से आकुलित है–लहरा रहा है, पापरूपी भंवरों से युक्त है, तथा मोह जनित पीड़ारूपी चोरों से सहित है ऐसे इस संसाररूपी सागर में जीव धर्मरूपी नौका के विना डूब रहे है ।।५६–५७।।

इस संसार में कोई इष्ट वियोग से पीडित होकर शोक कर रहे है, कोई अनिष्ट संयोग से, कोई रोगों से ग्रस्त होकर, कोई जरारूपी अग्नि से जलकर, कोई दरिद्रता का दुःख भोगते हुए, कोई वन्दीगृह में पड़कर, कोई नेत्रादि से रहित होकर, और कोई मानी जीव मानभङ्ग से दुःखी हो रहे है तथा कितने ही जीव धन के लिये देश, पर्वत, समुद्र और अटवियों में भ्रमण कर रहे है । इस प्रकार दुःखमय तथा मात्र दुःखों से भरे हुए भयंकर संसार में कभी ऐसा कोई पुण्यशाली जीव दिखाई नहीं देता जो सदा सुखी रहता हो ।।५८–६१।।

रागी जीव विषयों के जिस सेवन को सुख मानते हैं ज्ञानी जीव को वह पाप वर्द्धक होने से विषम दुःख जान पड़ता है ।।६२।। यदि संसार अच्छा होता तो जिनेन्द्र भगवान चक्रवर्ती की लक्ष्मी के साथ उसका त्याग कर तप के द्वारा शीघ्र ही मोक्ष का साधन क्यों

---

१ देशपर्वतसमुद्ररण्यानि २. सहस्रास्तपसा जिना क० ।

राज्य रजोनिभं कृत्स्नपापारम्भादिसागरम् । बहुवैरकर चिन्ताकरं क. पालयेत्सुधी' ।।६४।।
वेश्येव चपला लक्ष्मी सेव्यानेकजनै' खला । अतृप्तिजननी दुःप्रापा कथ रञ्जयेत्सताम् ।।६५।।
बन्धवो बन्धनान्येव भार्या मोहनकारिणी । पुत्रा' पाशोपमाः पु सा स्वजना. शृङ्खलानिभा ।६६।
कुटुम्बमहित धर्मतपोदानादिवारकम् । सावद्यप्रेरकं विद्धि कृत्स्नपापनिबन्धनम् ।।६७।।
रत्नत्रयतपोध्यानधर्मादिभ्यो विना हितम् । न नृणा विद्यते जातु वस्तु किञ्चिन्महीतले ।।६८।।
अतो यावत्पटून्येव[1] पञ्चाक्षाणि दृढ वपु । तप.क्षमं महाबुद्धिरायुर्नीरोगतोद्यमा:[2] ।।६९।।
तावद्धत्वाशु मोहारिं सार्द्धं पञ्चेन्द्रियै खलै । सुनिर्वेदासिना[3] शीघ्रं गृह्णामि परमं तप. ।।७०।।
इत्यादिचिन्तनाल्लब्ध्वा महत्संवेगमञ्जसा । विश्ववस्तुषु दीक्षायै चकारात्युद्यम नृप' ।।७१।।
ततस्त्यक्त्वाखिला लक्ष्मी तृणवच्चक्रिगोचराम् । कामिनीनिधिरत्नादिपूर्णां षट्खण्डभूप्रजाम्[4] ।।७२।।
संस्थाप्य स्वसुत राज्ये विभूत्या विधिना ततः । नि शल्यो नि:स्पृह सोऽभूत्सस्पृहो मुक्तिसाधने ।।७३।।

करते ? ।।६३।। जो रज के समान है, समस्त पाप तथा आरम्भ आदि का सागर है, बहुत वैर को करने वाला है तथा चिन्ता की खान है ऐसे राज्य का कौन बुद्धिमान् पालन करेगा? ।।६४।। जो वेश्या के समान चञ्चल है, अनेक मनुष्यों के द्वारा सेवनीय है, दुष्ट है, अतृप्ति को उत्पन्न करने वाली है और उतने पर भी दुष्प्राप्य है, ऐसी लक्ष्मी सत्पुरुषों को अनुरक्त कैसे कर सकती है ? ।।६५।। पुरुषों के लिये बन्धु बन्धन ही है, स्त्री मोह उत्पन्न करने वाली है, पुत्र पाश के समान हैं, और स्वजन कुटुम्बी लोग सांकल के तुल्य है ।।६६।। जो धर्म, तप तथा दान आदि को रोकने वाला है, पाप कार्य में प्रेरणा करने वाला है और समस्त पापो का कारण है ऐसे कुटुम्ब को अहित शत्रु जानना चाहिये ।।६७।। पृथिवी तल पर रत्नत्रय, तप, ध्यान और धर्म आदि के बिना कोई भी वस्तु कभी भी मनुष्यों के लिये हितकारी नहीं है ।।६७।। इसलिये जब तक मेरी पांचों इन्द्रियां समर्थ है, शरीर दृढ़ तथा तप करने मे समर्थ है, उत्तम बुद्धि है तथा आयु, नीरोगता और उद्यम आदि विद्यमान हैं तब तक उत्तम वैराग्यरूपी तलवार के द्वारा दुष्ट पञ्चेन्द्रियों के साथ मोहरूपी शत्रु को नष्ट कर मैं शीघ्र ही परम तप को ग्रहण करता हूँ ।।६९–७०।। इत्यादि चिन्तन से समस्त वस्तुओं में बहुत भारी वास्तविक वैराग्य को प्राप्तकर राजा ने दीक्षा के लिये अत्यधिक उद्यम किया ।।७१।।

तदनन्तर चक्रवर्ती की समस्त लक्ष्मी और स्त्री, निधि तथा रत्नादि से परिपूर्ण षट्खण्ड वसुधा की प्रजा को तृण के समान छोड़कर उसने अपने पुत्र को विधिपूर्वक वैभव के साथ अपने पद पर स्थापित किया। इस तरह वह निःशल्य तथा निःस्पृह होकर भी

१ समर्थानि २ नीरोगतोद्यमाः म० ३ प्रकृष्टवैराग्यमङ्गेन ४, षट्खण्डभूभुजाम् ख० ।

क्षेत्रादिदशधाबाह्यं परिग्रह द्विसप्तधा[1] । अभ्यन्तरं विहायोच्चैस्त्रिशुद्धया च कृतादिभि ॥७४॥
जग्राह मुक्तये चक्री संयमं देवदुर्लभम् । राजभिर्बहुभि· सार्धं सवेगादिगुणान्वितै ॥७५॥
ततोऽतिदुष्करं घोर द्विषड्भेद तपोऽनघम् । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य विधत्ते सोऽघहानये ॥७६॥
अङ्गपूर्वश्रुतं सारं दुःकर्मघ्न जगद्धितम् । पठत्येवाप्रमादेन मनोऽक्षाघजयाय स ॥७७॥
अरण्ये निर्जने स्थानेऽद्रिकन्दरगुहादिषु । शून्यागारश्मसानेषु वनादौ तरुकोटरे ॥७८॥
व्याघ्रादिदुष्टसंकीर्णे एकाकी निर्भयो मुनि· । व्यधात्म सिंहवन्निष्यं ध्यानाय शयनासनम् ॥७९॥
प्रावृट्काले तरोर्मूले पतन्नीराहिसकुले । सर्वदु खाकरे दध्याद्योगं योगनिरोधकम् ॥८०॥
तुषारबहुलेऽसाध्ये हेमन्तेऽपि चतु पथे । ध्यानोष्मणा हनन् शीतबाधा सोऽस्थात्सुनिर्मल.॥८१॥
ग्रीष्मे भानुकरैस्तप्त पर्वताग्रशिलातले । पिवन् ध्यानामृत कुर्याद् व्युत्सर्ग सूर्यसन्मुख ॥८२॥

मुक्ति की साधना के लिये उत्कण्ठित हो गया ॥७२–७३॥ पश्चात् क्षेत्र आदि के भेद से दश प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रह को छोड़कर चक्रवर्ती वज्रनाभि ने मन वचन काय की शुद्धि तथा कृत कारितादि पूर्वक मुक्ति के लिये संवेग आदि गुणों से सहित बहुत राजाओं के साथ देव दुर्लभ संयम को धारण कर लिया । भावार्थ–अनेक राजाओं के साथ मुनि दीक्षा ले ली ॥७४–७६॥

तदनन्तर वे आत्मशक्ति को प्रकट कर पापों को नष्ट करने के लिये बारह प्रकार का अतिशय कठिन घोर और निर्दोष तप करने लगे ॥७६॥ वह मन तथा इन्द्रिय सम्बन्धी पापों को जीतने के लिये प्रमाद रहित होकर दुष्कर्मों के नाशक तथा जगत् हितकारी अङ्ग पूर्व रूप श्रेष्ठ श्रुत को पढ़ते थे । भावार्थ–अङ्ग पूर्व ग्रन्थों का निरन्तर स्वाध्याय करते थे ॥७७॥ वन में, निर्जन स्थान में, पर्वत की कन्दरा तथा गुफा आदि में, शून्यागार तथा श्मसान में, वृक्ष की कोटर में तथा व्याघ्र आदि दुष्ट जीवों से भरे हुए वन आदि में वह सिंह के समान निर्भय मुनि एकाकी ध्यान के लिये निरन्तर शयनासन करते थे । भावार्थ–विविक्त शय्यासन तप का पालन करते थे ॥७८–७९॥ वे वर्षाऋतु में पड़ते हुए पानी तथा सांपों से युक्त और समस्त दुःखों की खानस्वरूप वृक्ष के नीचे योगों का निरोध करने वाला वर्षायोग धारण करते थे ॥८०॥ वे निर्मल मुनिराज तुषार से परिपूर्ण असाध्य हेमन्त ऋतु में ध्यान रूप गर्मी से शीत की बाधा को नष्ट कर चौराहे पर स्थित होते थे–शीतयोग को धारण करते थे ॥८१॥ ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणों से संतप्त पर्वत के अग्रभाग पर विद्यमान शिलातल पर सूर्य के सम्मुख हो ध्यानरूपी अमृत का पान करते हुए व्युत्सर्ग तप करते थे । भावार्थ–संतप्त शिलातलों पर आसीन होकर ग्रीष्म योग को धारण करते

---

१ चतुर्दशविधम् ।

अप्रशस्तं द्विधा ध्यान त्यक्त्वा दूरं दुरुत्तरम् । धर्मध्यानं भजेन्नित्यं चतुर्धा स सुखाकरम्[1] ॥८३॥
नि सकल्पं मन. कृत्वा स्वसवेदनसन्मुखम् । कृत्स्नचिन्तातिग निर्मलं सुसंवेगवासितम् ॥८४॥
अनन्तगुणराशे स्वचिदानन्दमयात्मनः । ध्यानं शुक्लाभिध धत्ते कर्मेन्धनहुताशनम् ॥८५॥
अनेकान् विहरन् देशान् ग्रामखेटपुरादिकान् । वनाटव्यद्रिदुर्गादीन् निर्ममत्वाय वायुवत् ॥८६॥
धर्मोपदेशना दद्याद्भव्येभ्यो मुक्तिहेतवे । स्वर्गमोक्षकरां दिव्यगिरा नित्यं मुनीश्वरः ॥८७॥
आदौ क्षुधातृषाशीतोष्णदंशमशकाभिधाः । तथा नाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्यापरीषहाः ॥८८॥
शय्याक्रोशबधा याञ्चालाभरोगसमाह्वया. । तृणस्पर्शमलौ सत्कारपुरस्कारनामभाक् ॥८९॥
प्रज्ञाज्ञानाभिधौ चादर्शनमेतान् हि दुर्धरान् । सहते धीरधीर्नित्य द्वाविंशतिपरीषहान् ॥९०॥
दु कर्मनिर्जरार्थं सन्मार्गाच्यवनहेतवे । सर्वशक्त्या प्रयत्नेन प्रतीकारं विनाञ्जसा[2] ॥९१॥
उत्तमा क्षान्तिरेवादौ मार्दवोऽप्यार्जव तत । सत्य शौचं तथा संयमतपस्त्याग एव हि ॥९२॥
आकिञ्चन्यं वरं ब्रह्मचर्यं चेति दशात्मकम् । धर्मं स्वमुक्तिकर्तारं त्रिशुद्धया स भजेत्सदा ॥९३॥

थे ॥८२॥ वे दो प्रकार के अप्रशस्त ध्यान को दूर से ही छोड़कर अतिशय कठिन तथा सुख की खान स्वरूप चार प्रकार का धर्म्यध्यान निरन्तर धारण करते थे॥८३॥ वे मन को संकल्प रहित, स्वसंवेदन के सम्मुख, समस्त चिन्ताओं से शून्य, निर्मल और उत्तम संवेग से सुवासित कर अनन्त गुणों की राशि स्वरूप ज्ञानानन्द से तन्मय स्वकीय शुद्ध आत्मा का चिन्तन करते हुए कर्मरूपी इन्धन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप शुक्लध्यान को धारण करते थे ॥८४–८५॥ अनेक देश, ग्राम, खेट, नगर, वन, अटवी, पर्वत और दुर्ग आदि स्थानो मे ममता का अभाव करने के लिये वायु के समान विहार करते हुए वे मुनिराज भव्य जीवों को मुक्ति प्राप्ति के लिये निरन्तर मधुर वाणी से स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त कराने वाले धर्म का उपदेश देते थे ॥८६–८७॥ स्थिर बुद्धि को धारण करने वाले वे मुनिराज खोटे कर्मो की निर्जरा के लिये तथा समीचीन मार्ग से च्युत न होने हेतु अपनी समस्त शक्ति से प्रयत्नपूर्वक यथार्थ रूप से क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याञ्चा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन दुर्धर बाईस परीषहों को सहन करते थे ॥९१॥ वे सदा त्रियोग की शुद्धिपूर्वक स्वर्ग और मोक्ष के करने वाले उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों की आराधना करते थे ॥९२–९३॥

१ सुखाकर ब० २ परमार्थेन ।

एकदा मुनिनाथोऽसौ त्यक्त्वा देहं वने दधौ । ध्याने चित्त नियोज्यातापनयोग स्वमुक्तये[1] ।।९४।।
अथ सोऽजगरः प्राक्तनो निर्गत्यायुषः क्षये । श्वभ्राद्[2]दुःख महद् भुक्त्वा पापपाकेन पापधीः ।।९५।।
कुरङ्गाख्यो वने भिल्लोऽनेकसत्त्वक्षयंकरः । पापद्ध्र्यादिरतो[3] दुष्टो दुष्टकर्मकरोऽप्यभूत् ।।९६।।
भ्रमता तेन पापर्द्धौ[4] वनेऽतिपापिनाऽशुभात् । क्रूराशयेन स दृष्टो मुनीन्द्रोऽतीवधीरधीः ।।९७।।
निस्सङ्गो वायुवच्छान्तमानसः स्वच्छनीरवत् । पृथिवीवत्क्षमायुक्तो मेरुवत्सुस्थिरो महान् ।।९८।।
कर्मेन्धनेऽग्निसादृश्यो गम्भीर इव सागरः । सिंहवन्निर्भयोऽत्यन्तनिःस्पृहस्त्यक्तविक्रियः ।।९९।।
शीतवातोष्णदंशादिकृतबाधासहः परः । ध्यानारूढ परित्यक्तकायोऽनेकगुणाम्बुधि. ।१००।
ततः प्राक्तनवैरेण कोपारुणितलोचनः । भूत्वा घोरतरं पापी प्रोपसर्गं व्यधान्मुनेः ।।१०१।।
दुःसहं विविध तीव्रं प्राणघ्नं भीरुभीतिदम् । निर्भर्त्सनकरैर्वाक्यैः कटुकैः कर्णभीतिदैः ।।१०२।।
छेदनैर्भेदनैस्तीव्रै र्वधबन्धनताडनैः । सर्वदुःखाकरीभूतैश्चान्यैः कातरभीतिदैः. ।।१०३।।

एक समय वे मुनिराज अपनी मुक्ति के लिये शरीर से ममता भाव छोड़कर तथा ध्यान में चित्त लगाकर वन में आतापन योग धारण कर रहे थे ।।९४।। तदनन्तर वह पहले का अजगर आयु का क्षय होने पर बहुत भारी दुःख भोगकर नरक से निकला और पाप के उदय से वन में अनेक जीवों का क्षय करने वाला कुरङ्ग नाम का पापी भील हुवा । वह शिकार आदि में तत्पर रहता था, दुष्ट था और दुष्टकार्यों को करने वाला भी था ।।९५–९६।। एक बार वह तीव्र पापी शिकार के लिये वन में घूम रहा था, कि क्रूर अभिप्राय वाले उसने अत्यन्त धीर वीर बुद्धि के धारक उन मुनिराज को देखा ।।९७।। वे मुनिराज वायु के समान निःसङ्ग थे, स्वच्छ जल के समान स्वच्छ अन्तःकरण के धारक थे, पृथिवी के समान क्षमा से युक्त थे, मेरु के समान अत्यन्त स्थिर तथा महान् थे, कर्मरूपी इन्धन को भस्म करने के लिये अग्नि के समान थे, समुद्र के समान गंभीर थे, सिंह के समान निर्भय थे, अत्यन्त निःस्पृह थे, निर्विकार थे, शीत वायु, उष्ण तथा दंशमशक आदि के द्वारा की हुई बाधा को सहन करने वाले थे, उत्कृष्ट थे, ध्यान में आरूढ थे, शरीर की ममता का त्याग कर कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन थे तथा अनेक गुणों के सागर थे ।।९८–१००।।

तदनन्तर पूर्व वैर के कारण क्रोध से लाल लाल नेत्रों वाला होकर उस पापी भील ने मुनिराज पर अत्यन्त भयंकर उपसर्ग किया ।।१०१।। तिरस्कार करने वाले, कटुक तथा कानों को भय दायक वचनों के द्वारा, छेदन, भेदन, तीव्र वध, बन्धन, ताडन, समस्त दुःखों की खानभूत तथा कायर मनुष्यों को भय देने वाले अन्य साधनों के द्वारा उसने दुःख से सहन करने योग्य, प्राणघातक, तथा भीरु मनुष्यों को भय देने वाला नाना प्रकार का तीव्र उप-

---

१. स्वमुक्तये क० २. नरकात् ३, मृगयादिव्यसनासक्त ४ मृगयाया मृगयोद्देश्येनेत्यर्थः ।

तस्मिन्नुपद्रवे सोऽतिनिःशङ्को निर्भयो व्यधात् । ध्याने परात्मनोऽनन्तगुणसिन्धोर्निजं मनः ॥१०४॥
निःसंकल्पं निराबाधं [1]द्विधाराधन—तत्परम् । भयसप्तविनिःक्रान्तं संवेगादिगुणाङ्कितम् ॥१०५॥
न वेदयत्यसौ धीरस्तत्कृतां बहुधा व्यथाम् । ध्यानाविष्टेन चित्तेन संकल्पाभावतस्तदा ॥१०६॥
अभूत् स हन्यमानोऽपि सद्धयानामृतपानतः । निःशल्योऽतिनिराबाधो भयसप्तविनिर्गतः ॥१०७॥
पीड्यमानोऽपि सोऽगान्न मनागपि कुविक्रियाम् । चन्दनं च यथा लोके खण्डनैर्दहनादिकैः ॥१०८॥
क्षमां विधाय कर्मघ्नां प्राणान्तेऽपि व्यधान्न सः । मनाक्कोपं तपोधर्मचिद्वृत्तादिवनेऽनलम् ॥१०९॥
अहो धन्यास्त एवात्र येषां याति न विक्रियाम् । मनः शत्रु[2]कृतैर्घोरैरुपद्रव[3]कदम्बकैः ॥११०॥
प्रशस्यास्ते मुनीन्द्रा हि महान्तो धैर्यशालिनः । येषां चालयितुं शक्यं ध्यानं नात्रात्युपद्रवैः[4] ॥१११॥
वन्द्याः स्तुत्यास्त एवात्र कायोत्सर्गयमादिकम् । मुञ्चन्ति प्राणनाशेऽपि ये न सर्वैः परीषहैः ॥११२॥
सहित्वा तत्कृतां बाधां दशप्राणान्तकारिणीम् । निश्चयव्यवहाराख्यां चतुराराधनां वराम् ॥११३॥

सर्ग किया ॥१०२–१०३॥ उस उपद्रव के बीच अत्यन्त निःशङ्क तथा निर्भय मुनिराज ने अपना मन अनन्त गुणों के सागर स्वरूप परमात्मा के ध्यान में लगाया ॥१०४॥ उस समय उनका मन संकल्प रहित था, बाधा रहित था, निश्चय और व्यवहार के भेद से दोनों प्रकार की आराधनाओं में तत्पर था, सात भयों से रहित था और संवेग आदि गुणों से युक्त था ॥१०५॥ वे धीर वीर मुनिराज उस समय संकल्प का अभाव होने से ध्यान में लवलीन चित्त से उस भील के द्वारा की हुई नाना प्रकार की पीड़ा का वेदन नहीं कर रहे थे ॥१०६॥ मारे जाने पर भी वे महामुनि सद्धर्मरूपी अमृत के पान से निःशल्य, अत्यन्त निराबाध, और सातभयों से रहित थे ॥१०७॥ जिस प्रकार लोक में चन्दन, खण्डित करने तथा जलाये जाने आदि से विकार को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार वे मुनिराज पीडित किये जाने पर भी रञ्चमात्र विकारभाव को प्राप्त नहीं हुए ॥१०८॥ उन मुनीश्वर ने कर्मों को नष्ट करने वाली क्षमा धारण कर प्राणान्त होने पर भी, तप, धर्म, ज्ञान तथा चारित्र आदि वन को भस्म करने के लिये अग्नि स्वरूप क्रोध रञ्चमात्र भी नहीं किया था ॥१०९॥ अहो ! इस संसार में वे ही मनुष्य धन्य है जिनका मन शत्रुओं के द्वारा किये हुए भयंकर उपसर्गों के समूह से विकारभाव को प्राप्त नहीं होता है ॥११०॥ धैर्य से सुशोभित वे महामुनि ही प्रशंसनीय हैं जिनका ध्यान इस जगत् में उपद्रवों के द्वारा चलाया नहीं जा सकता ॥१११॥ समस्त परीषहों के द्वारा प्राणनाश की स्थिति आने पर भी जो इस लोक में कायोत्सर्ग तथा संयम आदि को नहीं छोड़ते हैं वे ही वन्दनीय तथा स्तवनीय है ॥११२॥ इस प्रकार दश प्राणों का अन्त करने वाली भिल्लकृत बाधा को सहन कर

१ निश्चयव्यवहारभेदेन द्विधा २ शत्रुकरैर्घोरै क० ख० ३. उपद्रवसमूहै ४ नात्राप्युपद्रवैं ख० ।

आराध्यादाय, सन्यासं सर्वयत्नेन तत्क्षणम् । शुद्धिं रत्नत्रये कृत्वा मुक्त्वा[1]प्राणान् समाधिना ।११४।
सुभद्राख्ये विमाने हि मध्यग्रैवेयके शुभात् । अहमिन्द्रो मुनिः सोऽभून्मध्यत्रिकस्य मध्यमे ।।११५।।

शार्दूलविक्रीडितम्

एवं क्षान्तिजधर्मपाकविविधात्कोपारिसंहापनाद्[2] ।
वृत्ताद्याचरणात्परीषहजयाज्जातोऽहमिन्द्रो मुनिः ।।
मत्वेतीह निहत्य कोपकुरिपुं श्वभ्रार्गलोच्छाटकां,
क्षान्तिं विश्वगुणाकरां सुमुनयो यत्नाद्भजध्वं सदा ।।११६।।
क्षान्त्या शर्मपरम्परां नृसुरजां भुक्त्वा शिवं यान्त्यहो,
मर्त्याः कोपवशाद् व्रजन्ति कुगतीः श्वभ्रादिका दुःसहा ।
ज्ञात्वैवं सुखदुःखद बहुफल सर्वं क्षमाकोपयोः,
कुर्वीध्वं मुनिपुङ्गवास्तदखिलं स्वेष्टं च यद्भूतये ।।११७।।

उन्होंने निश्चय व्यवहार नामक चार प्रकार की उत्कृष्ट आराधनाओं की आराधना की, संन्यास धारण किया और सब प्रकार के प्रयत्नों से उस समय रत्नत्रय में विशुद्धता उत्पन्न कर समाधि से प्राण छोड़े । संन्यास मरण के फलस्वरूप वे मुनिराज पुण्योदय से मध्य में स्थित तीन ग्रैवेयकों के मध्यमग्रैवेयक सम्बन्धी सुभद्र नामक विमान में अहमिन्द्र हुए । भावार्थ–सोलहवें स्वर्ग के ऊपर एक के बाद एक के क्रम से नौ ग्रैवेयक है । वे ग्रैवेयक तीन तीन के त्रिक से अधोग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयक, और उपरितन ग्रैवेयक कहलाते है । उनमें से मध्यम त्रिक के मध्यम विमान सम्बन्धी सुभद्र नामक विमान में वे अहमिन्द्र हुए ।।११३–११५।।

इस प्रकार क्षमा से उत्पन्न होने वाले धर्म के विविध प्रकार के उदय से, क्रोधरूप शत्रु का घात करने से, चारित्र आदि का आचरण करने से तथा परीषहों को जीतने से वे मुनिराज अहमिन्द्र, हुए ऐसा मानकर अहो मुनिजन हो ! क्रोधरूपी खोटे शत्रु को नष्ट कर सदा यत्न पूर्वक उस क्षमा को धारण करो जो नरक के द्वार पर आगल को देने वाली है तथा समस्त गुणों की खान है ।।११६।। क्षमा के द्वारा मनुष्य, मनुष्य तथा देवगति में उत्पन्न होने वाली सुख सन्तति का उपभोग कर मोक्ष को प्राप्त होते है और क्रोध के वश नरकादिक दुःसह तथा दुःख दायक कुगतियों को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार क्षमा और क्रोध के सुख दुःख दायक सब प्रकार के बहुत फल को जानकर हे मुनिराज हो ! आत्म संपदा के लिये जो तुम्हें इष्ट हो वह सब करो ।।११७।।

१ त्यक्त्वा ख० २. क्रोधशत्रुसत्यजनात् ।

मालिनी

अखिलगुणसमुद्रं विश्वतत्त्वप्रदीपं, रहितसकलदोषं भव्यसत्त्वैकबन्धुम् ।
दुरिततिमिरभानुं विश्वविघ्नाग्निमेघं, ह्यसममममलबुद्धयै पार्श्वनाथं स्तुवेऽहम् ।।११८।।

इति भट्टारक—श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्री पार्श्वनाथचरित्रे वज्रनाभिचक्रिवैराग्योत्पत्ति—तपोग्रैवेयकगमननाम पञ्चमः सर्गः ।।५।।

जो समस्त गुणों के सागर हैं, समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिये श्रेष्ठ दीपक है, समस्त दोषों से रहित हैं, भव्य जीवों के अद्वितीय बन्धु है, पापरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये सूर्य हैं, अखिल विघ्न रूपी अग्नि को शान्त करने के लिये मेघ हैं तथा अनुपम है ऐसे पार्श्वनाथ भगवान् की मै निर्मल बुद्धि के लिये स्तुति करता हूं ।।११७।।

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में वज्रनाभिचक्रवर्ती के वैराग्य की उत्पत्ति, तप तथा मध्यम ग्रैवेयक में जाने का वर्णन करने वाला पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।।५।।



षष्ठः सर्गः

श्रीमते विश्वनाथाय जगदानन्ददायिने । नमः श्रीपार्श्वनाथाय मूर्ध्ना तत्पार्श्वसिद्धये ॥१॥
अथानर्घ्ये स्फुरद्दीप्रे[1] ह्युपपादशिलातले । अन्तर्मुहूर्तकालेन प्राप्य संपूर्णयौवनम् ॥२॥
उत्थाय रत्नपल्यङ्कान्महतीतूलिकान्वितात् । अहमिन्द्रो दिशोऽपश्यत् साश्चर्योऽतिमनोहराः ॥३॥
धर्ममूर्तिमिवातीव दीप्ताहमिन्द्रसंचयम् । विमानद्धर्यादिकं दृष्ट्वावधिज्ञानमवाप सः ॥४॥
समस्तं प्राग्भवं ज्ञात्वा स्ववृत्तजनितं फलम् । स्वस्य तत्रोद्भवं ज्ञानात्सचाभून्निश्चलो वृषे ॥५॥
ततोऽमा दिव्यसामग्र्या सर्वाभरणभूषितः । प्रत्यक्षदृष्टसद्धर्मफलोऽगाज्जिनमन्दिरम् ॥६॥
रत्नहेममये तत्र जिनागारे जिनेशिनाम् । प्रणनाम जिनार्चाः स भानुकोटयधिकप्रभाः ॥७॥
उत्थायानुमहाभूत्या चकारोच्चैर्महामहम् । विश्वाभ्युदयकर्तारं जिनेन्द्राणां स्वसिद्धये ॥८॥

षष्ठ सर्ग

अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी से युक्त, सब के स्वामी तथा जगत् के समस्त जीवों को आनन्द देने वाले श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र को मैं उनकी निकटता प्राप्त करने के लिये शिर से नमस्कार करता हूँ ॥१॥

तदनन्तर अमूल्य तथा अत्यन्त देदीप्यमान उपपाद शिलातल पर अन्तर्मुहूर्त में संपूर्ण यौवन को प्राप्त कर यह अहमिन्द्र बहुतभारी तूलिका—रुई से सहित रत्नमय पलंग से उठा और आश्चर्य से चकित हो अतिशय मनोहर दिशाओं को देखने लगा ॥२–३॥ धर्म की मूर्ति के समान अत्यन्त देदीप्यमान अहमिन्द्रों के समूह तथा विमानों की संपदा आदि को देखकर वह अवधिज्ञान को प्राप्त हुआ ॥४॥ उस अवधिज्ञान से अपने समस्त पूर्वभव, अपने चारित्र से उत्पन्न फल तथा अपनी वहां उत्पत्ति को जानकर वह धर्म में निश्चल स्थिर हो गया ॥५॥

तदनन्तर जो समस्त आभूषणों से विभूषित है और सद्धर्म का फल जिसने प्रत्यक्ष देख लिया है ऐसा वह अहमिन्द्र दिव्यसामग्री के साथ जिन मन्दिर गया ॥६॥ उसने रत्न तथा स्वर्णमय जिन मन्दिर में जिनेन्द्र भगवान् की करोड़ों सूर्य से अधिक प्रभा वाली जिन प्रतिमाओं को प्रणाम किया ॥७॥ फिर खड़े होकर बहुत भारी विभूति से आत्म सिद्धि के

---

१ स्फुरद्दीप्ते ख० ।

सुगन्धैर्निर्मलैस्तोयैर्हेमभृङ्गारनिर्गतैः । [1]विश्वाघौघहरैर्दिव्यैर्नानावर्णैर्विलेपनैः ॥९॥
मुक्ताफलमयैरक्षतपुञ्जैः कल्पशाखिजैः । कुसुमैश्च सुधापिण्डनैवेद्यैस्तृप्तिकारकैः ॥१०॥
रत्नदीपैर्महाधूपैः फलैः कल्पतरूद्भवैः । कुसुमाञ्जलिभिश्चूर्णैर्दिव्यैः पुण्यपितामहैः ॥११॥
मनोहरगिरा तेषां व्यधात्संस्तवनं परम् । तद्गुणौघैर्महापुण्यकरं धर्मरसाङ्कितः ॥१२॥
तस्मात्स्वस्थानमागत्यानेकर्द्धिमहिमाकुलम् । स्वीचकार विभूतिं स्वां स्वसद्धर्मोदयार्पिताम् ॥१३॥
त्रिलोकस्थजिनागारेषु भक्त्या नमत्यन्वहम् । समस्ता जिनमूर्तीः शिरसा तत्रस्थ एव सः ॥१४॥
कल्याणेषु नमस्कारं विनयेन व्यधात्सदा । उत्तमाङ्गेन[2] तीर्थेशां स्थानस्थोऽसौ मुदामरः ॥१५॥
केवलज्ञानिनां ज्ञाननिर्वाणसमयेऽनिशम् । प्रणामं सोऽमराधीशोऽकरोत्तद्गुणसिद्धये ॥१६॥
अनाहूतागतैर्गोष्ठीमहमिन्द्रैः समं क्वचित् । रत्नत्रयभवां धर्मकरां कुर्यात्स मुक्तये ॥१७॥
क्वचिज्जिनगुणोद्भूतां कथां च धर्मसंभवाम् । परस्परं प्रकुर्वन्ति तेऽहमिन्द्राः शुभाप्तये ॥१८॥

लिये समस्त अभ्युदयों को करने वाली जिनेन्द्र भगवान् की महामह नामकी उत्कृष्ट पूजा की ॥८॥ सुवर्ण की झारी से निकले हुए निर्मल तथा सुगन्धित जल से, समस्त पाप समूह को हरने वाले नाना प्रकार के दिव्य विलेपनों से, मोतियों के अक्षत समूह से, कल्पवृक्षों से उत्पन्न पुष्पों से, तृप्ति करने वाले अमृत पिण्ड के नैवेद्यों से, रत्नमय दीपों से महाधूप से, कल्पवृक्षों से उत्पन्न फलों से, पुष्पाञ्जलियो से तथा पुण्य के बाबा (पितामह) के समान दिव्य चूर्णों से पूजा की ॥९–११॥ धर्मरूपी रस से युक्त उस अहमिन्द्र ने मनोहर वाणी के द्वारा उन जिन प्रतिमाओं का उत्कृष्ट स्तवन किया। उनका वह स्तवन, भगवान् के गुण समूह से महान् पुण्य को उत्पन्न करने वाला है ॥१२॥

जिन मन्दिर से, अनेक ऋद्धियों की महिमा से युक्त अपने स्थान पर आकर उसने स्वकीय सद्धर्म के उदय से प्राप्त विभूति को स्वीकृत किया ॥१३॥ वह अपने स्थान पर स्थित रहता हुआ ही प्रतिदिन त्रिलोकवर्ती जिन मन्दिरों में विद्यमान समस्त जिन प्रतिमाओं को भक्ति पूर्वक शिर से नमस्कार करता था ॥१४॥ अपने स्थान पर स्थित रहने वाला वह अहमिन्द्र तीर्थंकरों के कल्याणकों में विनयपूर्वक बड़े हर्ष से उन्हें मस्तक झुका कर सदा नमस्कार करता था ॥१५॥ वह अहमिन्द्र केवलज्ञानियों के ज्ञान तथा निर्वाण के समय उनके गुणो की सिद्धि के लिये निरन्तर प्रणाम करता था ॥१६॥ वह कहीं विना बुलाये आये हुए अहमिन्द्रों के साथ रत्नत्रय से उत्पन्न तथा धर्म को करने वाली गोष्ठी तत्त्वचर्चा मुक्ति प्राप्ति के लिये करता था ॥१७॥ वे अहमिन्द्र कहीं शुभ की प्राप्ति के

१. सर्वपापसमूहापहारकैः २. शिरसा।

इत्यादि विविधं पुण्यं प्रत्यहं सोऽर्जयेन्महत् । सुपुण्याचरणैः पुण्यं तत्त्ववित्स स्वसिद्धये ॥१९॥
मणिज्योत्स्नाहतध्वान्ते विमाने रश्मिसकुले । उत्तुङ्गे भवने दीप्रे क्रीडाद्र्युपवनादिषु ॥२०॥
अहमिन्द्रैः समं क्रीडा वितनोति सुदुर्लभाम् । अपुण्यानां मुदा नित्यं विहारैर्जल्पनादिभिः ॥२१॥
स्वस्थानेऽनर्घ्यभूत्याढ्ये निसर्गसुखदायिनि । या रतिर्जायते तेषां न सा कुत्रापि शर्मदा ॥२२॥
ततः स्थान निज मुक्त्वा सर्वर्तुसौख्यदायनम् । विद्यते गमनं तेषां न जातु परधामनि ॥२३॥
अहमिन्द्रोऽस्म्यहं कोऽपि मत्त इन्द्रोऽपरोऽस्ति न । इति संकल्पयोगेन ते भजन्ते सुखं हृदि ॥२४॥
शुद्धस्फटिकवर्णानि विमानान्यत्र केवलम्[1] । योजनानामसख्येतरविस्तीर्णानि सन्त्यहो ॥२५॥
प्रासादा यत्र प्रोत्तुङ्गा रत्नरश्मिसमाकुलाः । विश्ववस्तुनिधाना वा ह्यहमिन्द्रैर्भृता बभुः ॥२६॥
शुद्धस्फाटिकभित्तीनां रश्मयः कुर्वते सदा । दिनश्रियं हृतध्वान्ता नेत्रशर्मकराः पराः ॥२७॥
जयनन्दादिशब्दौघैः स्तुतिस्तोत्ररवोत्करैः । जिनमूर्तिव्रजैर्दिव्यैर्गीतैर्वाद्यैश्च नर्तनैः ॥२८॥

लिये जिनेन्द्र भगवान् के गुणों से उत्पन्न धर्म कथा को करते थे ॥१८॥ इस प्रकार तत्त्वों को जानने वाला वह अहमिन्द्र, आत्म–सिद्धि के लिये श्रेष्ठ पुण्य के आचरण से पवित्र नाना प्रकार के बहुत भारी पुण्य का उपार्जन करता था ॥१९॥

मणियों की चांदनी से जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है, तथा जो किरणों से जगमगा रहा है ऐसे विमान में, देदीप्यमान ऊंचे भवन में, क्रीडागिरि तथा उपवन आदि में वह अहमिन्द्रों के साथ अत्यन्त दुर्लभ क्रीड़ा करता था। कभी अपने से अल्पपुण्य के धारक देवों के साथ हर्ष पूर्वक वार्तालाप आदि की क्रीडाओं से समय व्यतीत करता था ॥२०–२१॥ अमूल्य श्रेष्ठतम विभूति से युक्त तथा स्वभाव से सुखदायक अपने स्थान मे उन अहमिन्द्रों की जो सुख देने वाली प्रीति होती है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं होती। इस लिये समस्त ऋतुओं में सुखदायक अपने स्थान को छोड़कर उनका दूसरे स्थान पर कभी गमन नहीं होता है ॥२२–२३॥ मै स्वयं इन्द्र हूँ, मुझ से अतिरिक्त कोई भी इन्द्र नहीं है इस संकल्प के योग से वे हृदय में सुख को प्राप्त होते है ॥२४॥ यहां केवल शुद्ध स्फटिक के वर्ण वाले असंख्यात योजन विस्तृत विमान हैं ॥२५॥ जहां रत्नों की किरणों से व्याप्त तथा अहमिन्द्रो से भरे हुए ऊंचे ऊंचे महल, समस्त वस्तुओं के भाण्डार के समान सुशोभित हो रहे है ॥२६॥ जहां शुद्धस्फटिक की दीवालों की तिमिर विनाशक तथा नयन सुखकारी श्रेष्ठ किरणें सदा दिन की लक्ष्मी को प्रकट करती रहती हैं ॥२७॥ जहां के जिनालय, जय, नन्द आदि शब्दों के समूह से, स्तुति और स्तोत्रों के समूह से, जिन प्रतिमाओ के समूह से, दिव्य गीतों से वाद्यों से, नृत्यों से तथा श्रेष्ठ रत्नों के उपकरणों से ऐसे सुशोभित

१. भान्त्यहो क०।

रत्नोपकरणै: सारैर्विभ्राजन्ते जिनालया: । चैत्यवृक्षा महोत्तुङ्गा इव धर्माब्धय: परा: ॥२९॥
दिव्यभूषणदीप्ताङ्गा: सप्तधातुमलातिगा: । दिव्यस्रग्वस्त्रशोभाढ्याश्चारुलक्षणलक्षिता: ॥३०॥
सद्यभोगोपभोगा हि सादृश्यर्द्धिविराजिता: । समानविक्रियर्द्धिज्ञानविज्ञानकलान्विता: ॥३१॥
सर्वे समानचातुर्यविवेकादिगुणाङ्किता: । सर्वे [1]सन्निभदीप्तिश्रीधामशोभा महर्द्धिका: ॥३२॥
सर्वे समपदारूढा हीनाधिकपदातिगा: । समसन्मानदाना: सुसादृव्यसुखभोगित: ॥३३॥
अप्रियप्रियसंयोगवियोगादिविवर्जिता: । [2]समप्रथमसंस्थाना: समवीर्यबलान्विता: ॥३४॥
परस्परमहास्नेहा गतेर्ष्यावैरबन्धना: । मायाक्रोधमदातीता जिनपूजापरायणा: ॥३५॥
समानवृत्तपाकेन तेऽहमिन्द्रा: शुभाशया: । उत्पद्यन्तेऽत्र धर्माढ्या: सर्वाशर्मातिगा विद: ॥३६॥
कामदाहातिगास्तेऽहमिन्द्रा दिव्यं सुखं महत् । अप्रवीचारजं यद्धि स्त्रीसङ्गादिपराङ्मुखम् ॥३७॥
लभन्ते तदसंख्यातभागं च नाकिन: क्वचित् । न कामदाहसंतप्ता: स्त्रीसेवालिङ्गनादिभि: ॥३८॥
सप्तमावनिपर्यन्तं सोऽहमिन्द्रश्चराचरम् । मूर्तं द्रव्यं विजानाति सर्वं स्वावधियोगत: ॥३९॥

होते हैं मानों अत्यन्त ऊंचे चैत्यवृक्ष ही हों अथवा श्रेष्ठ धर्म के सागर ही हों ॥ २८–२९ ॥

वहां के सभी अहमिन्द्र दिव्यभूषणों से भूषित शरीरवाले हैं, सप्त धातुओं तथा मल से रहित हैं, दिव्य माला और वस्त्रों की शोभा से युक्त हैं, सुन्दर लक्षणों से सहित हैं, समान भोगोपभोगों से युक्त हैं, एक सदृश ऋद्धियों से सुशोभित हैं, एक समान विक्रिया ऋद्धि, ज्ञान, विज्ञान तथा कला से सहित हैं, सभी एक समान चातुर्य, तथा विवेक आदि गुणों से युक्त हैं, सभी एक समान दीप्ति, लक्ष्मी, तेज और शोभा से संपन्न हैं, सभी महान् ऋद्धियों के धारक हैं, समान पद पर आरूढ हैं, हीनाधिक पद से रहित हैं, समान सन्मान और दान से युक्त हैं, अत्यन्त समान सुख को भोगने वाले हैं, अप्रिय-संयोग और प्रिय-वियोग आदि से रहित हैं, सभी एक समान समचतुरस्र संस्थान से युक्त हैं, समान वीर्य और बल से सहित हैं, परस्पर महा स्नेह से युक्त हैं, ईर्ष्या, वैर और बन्धन से रहित हैं, माया, क्रोध और मद से परे हैं, तथा जिनपूजा में तत्पर हैं ॥३०–३५॥ समान चारित्र के फल स्वरूप वे ही अहमिन्द्र यहां उत्पन्न होते हैं जो शुभभाववाले हैं, धर्म से संपन्न हैं, सब दुःखों से दूर हैं तथा ज्ञानी हैं, ॥३६॥ काम की दाह से रहित वे अहमिन्द्र यहां प्रवीचार–मैथुन से रहित तथा स्त्री समागम आदि से विमुख जिस दिव्य महान् सुख को प्राप्त करते हैं, कामदाह से संतप्त देव स्त्री–सेवन तथा आलिङ्गन आदि के द्वारा उसका असंख्यातवां भाग भी नहीं प्राप्त करते हैं ॥३७–३८॥

वह अहमिन्द्र अपने अवधिज्ञान से सप्तम पृथिवी पर्यन्त के चर अचर सभी मूर्तिक

१ समान २ समानसमचतुरस्रसंस्थानयुक्ता ।

तत्समां विक्रियां कर्तुं समर्थो विक्रियर्द्धितः । गमनादिकजां सोऽधान्न ता निःकारणः क्वचित् ॥४०॥
द्विहस्तोत्तुङ्गदेहोऽसौ स्वाङ्गभूषणदीप्तिभिः । पुण्यमूर्तिरिव प्राभात्तेजः पुञ्जोऽथवा महान् ॥४१॥
सप्तविंशति—[1]वाराश्यायुः सर्वविघ्नदूरगः । रोगक्लेशविषादादिदुःखहीनो भजेत्सुखम्[2] ॥४२॥
गतैर्वर्षसहस्रैः स सप्तविंशतिसंख्यकैः । भुङ्क्ते तृप्तिकरं दिव्यं हृदाहारं[3] सुधामयम्[4] ॥४३॥
तावत्पक्षैर्गतैर्नूनमुच्छ्वासं लभते मनाक् । सुगन्धीकृतदिग्भागं सोऽखिलामयवर्जित.[5] ॥४४॥
शमानन्दभवं शर्म लभेत मुनिरुत्तमम् । निरौपम्यं यथा तद्वद्धीनरागश्च सोऽमरः ॥४५॥
परमानन्दजं सौख्यं कृत्स्नचिन्तातिगं महत् । भुञ्जानोऽसौ न जानाति गतं कालं शुभार्पितम् ॥४६॥
अथ भिल्लः स पापात्मानेकरोगार्तिपीडितः । रौद्रध्यानेन सत्यज्य प्राणान् भुक्त्वाऽसुखं महत् ॥४७॥
मुनिहत्याजपापौघ प्राग्भारेणातिभारितः । निमग्नोऽखिलदुःखाढ्ये सप्तमे श्वभ्रसागरे ॥४८॥
तत्रोपपाददेशे समस्ताशर्मनिधानके । अन्तर्मुहूर्तकालेनाप्य पूर्णं कुत्सितं वपुः ॥४९॥

द्रव्यों को जानता है ॥३९॥ विक्रिया ऋद्धि से उतनी ही दूर तक की विक्रिया करने में समर्थ है परन्तु कारण के बिना वह अहमिन्द्र कहीं भी गमनादिक से होने वाली विक्रिया को नहीं करता है । दो हाथ ऊंचे शरीर वाला वह देव अपने शरीर सम्बन्धी आभूषणों की दीप्ति से ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसे पुण्य की मूर्ति ही हो अथवा तेज का महान् समूह ही हो ॥४०–४१॥ सत्ताईस सागर की आयु से युक्त, समस्त विघ्नों से दूर और रोग, क्लेश तथा विषाद आदि के दुःखों से रहित वह अहमिन्द्र सदा सुख का उपभोग करता था ॥४२॥ सत्ताईस हजार वर्ष बीत जाने पर वह तृप्ति को करने वाला अमृतमय मानसिक आहार ग्रहण करता था ॥४३॥ तथा समस्त रोगों से रहित वह अहमिन्द्र सत्ताईस पक्ष बीत जाने पर दिग्विभागों को सुगन्धित करने वाला किञ्चित् श्वासोच्छ्वास लेता था ॥४४॥ जिस प्रकार मुनि शान्तिरूप आनन्द से उत्पन्न होने वाले उत्तम सुख को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार अल्प राग से युक्त वह अहमिन्द्र निरुपम सुख को प्राप्त हो रहा था ॥४५॥ परमानन्द से उत्पन्न तथा समस्त चिन्ताओं से रहित महान् सुख को भोगता हुआ वह अहमिन्द्र पुण्योपार्जित बीते हुए काल को नहीं जानता था। भावार्थ—सुख में निमग्न रहने से वह, यह नहीं जान सका कि मेरा कितना काल व्यतीत हो चुका है ॥४६॥

तदनन्तर वह पापी भील अनेक रोगों की पीडा से पीडित होता हुआ बहुत भारी दुःख भोग कर रौद्रध्यान से मरा और मुनि हत्या से उत्पन्न होने वाले पाप के भारी भार से निखिल दुःखों से युक्त सप्तम नरकरूपी सागर में निमग्न हो गया । भावार्थ–मुनि हत्या के पाप से सातवें नरक गया ॥४७–४८॥ वहां समस्त दुःखों के निधानभूत उपपादशय्या पर अन्तर्मुहूर्त में निन्दनीय पूर्ण शरीर प्राप्त कर वह एक हजार बिच्छुओं के स्पर्श से भी

१. सप्तविंशतिसागरप्रमितायुष्क २. भवेत् सुखम् ख० ३ मानसिकाहारं ४ अमृतमय ५ सोऽखिलामयवर्जितम् क० ।

पपाताधोधरापृष्ठ ऊर्ध्वपादोऽप्यधोमुखः । वृश्चिककैकसहस्रौघसस्पर्शाधिकवेदने ॥५०॥
वज्रकण्टकसंकीर्णां मही प्राप्यातिवेगतः । उत्पतेत्स रुदन् दीनः शतपञ्चकयोजनात् ॥५१॥
उत्पत्य स पतत्येव बहुधा कुधरातले । लुठेत्कुच्छिन्नभिन्नाङ्गो वृक्षात्पतितपत्रवत् ॥५२॥
असिपत्रवनाकीर्णां ह्यय- कण्टकदुर्गमाम् । अत्यन्तपूतिवीभत्सा वसासृक्कृमिकर्दमाम् ॥५३॥
अत्यन्तशीतसंव्याप्तां कृत्स्नदुःखैकमातरम् । श्वभ्रभूमि विलान्येव कारागाराधिकानि च ॥५४॥
प्रचण्डान्निर्दयान्पापपण्डितान् क्रूरमानसान् । भीमोग्रान् हुण्डसंस्थानान् रौद्रध्यानपरायिणः॥५५॥
सर्वामनोज्ञताधारान् स्फुलिङ्गसदृशेक्षणान् । नारकान् दुःखसंपूर्णान् परपीडाविधायिनः ॥५६॥
वैतरण्यादिकं चान्यादृष्टपूर्वं विलोक्य स. । भयकम्पिसर्वाङ्गो मानसेनातिचिन्तयेत्[1] ॥५७॥
दुःस्पर्शा पृथिवी केयं ह्येते के नारकाः खलाः । एते के गृध्रगोमायुसर्पशार्दूलमण्डलाः[2] ॥५८॥
कोऽहं कस्मादिहायात आनीतः केन कर्मणा । न कोऽपि स्वजनश्चात्रारीन्विना दृश्यते क्वचित्॥५९॥

अधिक वेदना वाले पृथिवी तल पर नीचे पड़ा। नीचे पड़ते समय उसके पैर ऊपर थे और मुख नीचे की ओर था ॥४९-५०॥ वज्रमय कांटो से युक्त भूमि को प्राप्त कर वह दीन हीन भील का जीव रोता हुआ पांच सौ योजन ऊपर उछला ॥५१॥ अनेकों बार उछल कर वह उसी निन्द्य पृथ्वी तल पर पड़ता था। पड़ते समय उसका शरीर छिन्न भिन्न हो जाता था तथा वृक्ष से पड़े हुए पत्र के समान उसी पृथिवी पर वह लोटने लगा था ॥५२॥

जो अत्यन्त दुर्गन्धित तथा ग्लानि से युक्त थी, जहां चर्बी, खून और कीड़ों की कीचड़ विद्यमान थी, जो अत्यन्त शीत की वाधा से व्याप्त थी और समस्त दुःखों की एक माता थी, ऐसी नरक भूमि को, कारागार से अधिक दुःख देने वाले विलों को, क्रोधी, निर्दय, पाप॰ निपुण, क्रूरचित्त, अत्यन्त भयंकर, हुण्डक संस्थान के धारक, रौद्रध्यान में तत्पर, सम्पूर्ण कुरूपता के आधार, अग्नि के तिलंगा के समान नेत्रोंवाले, दुःख से परिपूर्ण तथा दूसरों को दुःखी करने वाले नारकियों को, और दूसरे लोगों ने जिसे पहले कभी नहीं देखा था ऐसी वैतरणी आदि को देखकर जिसका समस्त शरीर भय से कांप रहा था ऐसा वह नारकी मन से विचार करने लगा ॥५३-५७॥

दुःखदायक स्पर्शवाली यह पृथिवी कौन है ? ये दुष्ट नारकी कौन हैं ? ये गीध, शृगाल, सांप, शार्दूल और कुक्कुर कौन हैं ? मै कौन हूँ ? और किस कर्म के द्वारा यहां आया हूँ, शत्रुओं के विना यहां कहीं कोई स्वजन दिखाई नहीं देता। इत्यादि विचार करने

१ मानसेऽतिविचिन्तयेत् ख॰ २ कुक्कुरा.।

इत्यादिचिन्तनात्तस्य विभङ्गावधिराशु हि । प्रादुर्बभूव तुच्छप्राग्भववैरादि सूचकः ॥६०॥
तेन स्व पतित ज्ञात्वा दुरन्ते श्वभ्रसागरे । पश्चात्तापाग्निना दग्धमना इति स चिन्तयेत् ॥६१॥
अहो हता मयानेकजीवराशिर्वनोद्भवा । निरपराधिनी मर्त्यमृगादिप्रमुखा मुदा ॥६२॥
अलीक वचनं निन्द्यं परपीडाकर वृथा । सपापं कटुकं क्रूरं भाषितं [1]शपनादिकृत् ॥६३॥
परवाहनवस्तूनि धान्यश्रयाभरणानि च । चौर्यातीवप्रपञ्चेन गृहीतानि बलान्मया ॥६४॥
सेविता परामा च वेश्या रागान्धचेतसा । महान् परिग्रहोऽत्यन्त लोभग्रस्तेन मेलितः ॥६५॥
मद्यमांसमधून्येव कन्दमूलानि संततम् । [2]अच्छानकानि जिह्वालम्पटेन भक्षितानि च ॥६६॥
खादितान्यत्यखाद्यानि बहुकीटफलानि च । सचित्तादीनि रात्रौ सकृत भोजनमेव हि ॥६७॥
ग्रामारण्यपुराण्येव मया दग्धानि पापिना । पीडितो बहुधा लोको वराको धनलोभत ॥६८॥
इत्यादिकुत्सितैर्निन्द्यैः कर्मभिः प्राग्भवे मया । यदर्जितं महत्पाप स्वस्य घातकर परम् ॥६९॥
तत्पाकेनात्र मे जात संभवं[3] श्वभ्रभूतले । प्रक्षिप्ता वेदना तीव्रा मम मूर्ध्नि दुरुत्तरा ॥७०॥
हतो वा वधबन्धार्द्यं मुनीन्द्रस्त्रिजगद्धितः । त्यक्तदोषोऽघहन्ता निरपराधो मया वने ॥७१॥

से उसे शीघ्र ही पूर्वभव सम्बन्धी तुच्छ वैर आदि को सूचित करने वाला विभङ्गावधि ज्ञान प्रकट हो गया ॥५८–६०॥ उस विभङ्गावधि ज्ञान के द्वारा अपने आपको दुःखदायक नरकरूपी सागर में पड़ा जानकर वह पश्चात्तापरूपी अग्नि से दग्धचित्त होता हुआ इस प्रकार विचार करने लगा ॥६१॥ अहो ! मैंने वनसें उत्पन्न हुए मनुष्य तथा मृग आदि अनेक निरपराध जीवों को हर्ष पूर्वक मारा था ॥६२॥ दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले निन्द्य, निरर्थक, पाप सहित, कटुक, कठोर और आक्रोश आदि को उत्पन्न करने वाले असत्य वचन कहे थे ॥६३॥ मैंने चौरी के अत्यधिक प्रपञ्च से दूसरों के वाहन, धान्य, लक्ष्मी तथा आभूषणादि को बलपूर्वक ग्रहण किया ॥६४॥ राग से अन्धचित्त होकर मैंने परस्त्री और वेश्या का सेवन किया था तथा अत्यधिक लोभ से ग्रस्त होकर बहुत भारी परिग्रह इकट्ठा किया था ॥६५॥ जिह्वा का लालची होकर मैंने निरन्तर मद्य; मांस, मधु, कन्दमूल तथा अचार, मुरब्बा आदि खाये थे ॥६६॥ न खाने योग्य बहुत कीड़ों से युक्त फल सचित्त आदि वस्तुएं तथा रात्रि में बना भोजन मैंने खाया था ॥६७॥ मुझ पापी ने ग्राम जङ्गल तथा नगरों को जलाया था तथा धन के लोभ से दीन हीन लोगों को बहुत प्रकार से पीडित किया था ॥६८॥ इत्यादि निन्दनीय खोटे कार्यों से मैंने पूर्वभव में अपने आपका घात करने वाला जो बहुत भारी पाप अर्जित किया था उसी के उदय से मेरा इस नरक भूमि में जन्म हुआ है । उसी पाप से मेरे मस्तक पर यह तीव्र वेदना आ पड़ी है जिसका उतारना कठिन है ॥६९–७०॥ अथवा तीनों जगत् का हित करने वाले, निर्दोष,

१ शापनादिकृत् ख० २ "अथाना" इति हिन्द्या प्रसिद्धानि ३. जन्म, सवल क, शवल ख ।

तद्धत्यार्जितपापौघोदयेनात्रभव[1] महत् । इद दु:खव्रज सर्वं मन्ये वाचामगोचरम् ।।७२।।
अहो ये मुनिनाथानां कुर्वन्त्युपद्रव शठा: । साक्रन्दं तेऽघभारेण पतन्ति नरकार्णवे ।।७३।।
शपन्ति ये मुनीन्मूढा निन्द्या स्युस्ते भवे भवे । मानिनो न नमन्त्यत्र ये मातङ्गा[2] भवन्ति ते ।।७४।।
अहो नीचकुलोत्पन्नदोषेण न कृतं मया । किञ्चित्पुण्यार्जनं जातु व्रतदानादिपूजनै: ।।७५।।
निरन्तरं कृत पाप कृत्स्नसावद्यकर्मणा । तत्पाकेनात्र मे जात जन्म दु खाब्धिमध्यगम् ।।७६।।
इत्यादिस्मर्यमाणानि प्राक्कर्मचरितान्यहो । कृन्तन्ति मेऽखिलाङ्गानि क्रकचानीव सन्ततम् ।।७७।।
अतोऽह क्व व्रजाम्यस्मात्किं करोमि वदामि किम् । कं प्रच्छामीह गच्छामि शरणं कस्य सम्प्रति ।।७८।।
कथं तरामि दु:खाब्धिमिम दुष्कर्मसंभवम् । क्षिप्तं मे मूर्ध्नि दैवेन यावन्नात्रायुष क्षय: ।।७९।।
इति चिन्ताग्निना दग्धसर्वाङ्गो दीनमानस: । अशरण्योऽतिभीतात्मा यावदास्ते स नारक: ।।८०।।
तावदागत्य निर्भर्त्स्य दुर्वाक्यै. कटुकै खला. । नारका नूतन तं नारक संपीडयन्त्यहो ।।८१।।

पाप प्रणाशक और निरपराध मुनि को मैंने वन में वध बन्धन आदि के द्वारा मारा था ।।७१।। उन्हीं की हत्या से उपार्जित पाप समूह के उदय से यहां होने वाला यह बहुतभारी वचनागोचर दु:ख का समूह मुझे प्राप्त हुआ है ऐसा मानता हूँ ।।७२।। अहो ! जो मूर्ख मुनिराजों को उपद्रव करते है वे पाप के भार से रोते हुए नरकरूपी सागर में पड़ते है ।।७३।। जो मूढ मुनियों को गाली देते हैं वे भव भव में निन्द्य होते है । जो मानी इस जगत् में उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं वे चाण्डाल होते है ।।७४।। अहो ! नीच कुल में उत्पन्न होने के दोष से मैंने कभी भी व्रत, दान तथा पूजन के द्वारा कुछ भी पुण्य का संचय नहीं किया ।।७५।। समस्त सावद्य–पाप सहित कार्यों के द्वारा मैंने निरन्तर पाप किया था उसी के उदय से मेरा यहां दु:खरूपी सागर के बीच में जन्म हुआ है ।।७६।। अहो ! पूर्व भव मे किये हुए अपने कार्यों का जब स्मरण होता है तब वे निरन्तर करोत के समान समस्त अङ्गों को छेदते हैं ।।७७।। अब मै यहां से कहां जाऊं ? क्या करूं ? क्या कहूँ ? किससे पूछूं और इस समय यहां किसकी शरण में जाऊं ? ।।७८।। जब तक आयु का क्षय नही होता है तब तक के लिये दैव के द्वारा अपने शिर पर गिराये हुए इस दुष्कर्मजन्य दु:खरूपी सागर को कैसे तरूं ? ।।७९।। इस प्रकार की चिन्तारूपी अग्नि से जिसका सर्व शरीर जल गया था, जिसका मन अत्यन्त दीन था, जो शरण रहित था, जिसकी आत्मा अत्यन्त भयभीत थी ऐसा वह नारकी ज्योंही वहां बैठा त्योंही दुष्ट नारकी आकर उस नवीन नारकी को तीक्ष्ण दुर्वचनों से डांटकर पीडित करने लगे ।।८०–८१।।

१ अत्रोत्पन्न २. चाण्डाला ।

केचिन्मुद्गरघातैश्च चूर्णयन्त्यास्थि सचयम् । उत्पाटयन्ति नेत्राणि केचिद्वैरोदयान्मुदा ।।८२।।
त्रोटयन्त्यपरे क्रूरा दन्तौघैरान्त्रमालिकाम् । निःपीडयन्ति यन्त्रेषु खण्डं खण्डं विधाय च ।।८३।।
केचित्तदङ्गखण्डानि दलन्ति विषमोपलैः । शाल्मलीषु निघर्षन्ति केचिद्धृत्वाङ्घ्रिणा द्रुतम् ।।८४।।
केचिद् दुष्टाः करैः पादैः कुम्भीषु क्वाथयन्ति च । द्विधा कुर्वन्ति तं केचिन्मस्तकान् क्रकचेन् हि ।।८५।।
मद्यपानाघपाकेन केचिद्विदार्य तन्मुखम् । संदंशैः प्रक्षिपन्ति प्रज्वलन्तं ताम्रजं रसम् ।।८६।।
मासभक्षणजाघेन[1] तदङ्गसंभवं पलम् । खादन्ति नारकाः कृत्वा खण्डं खण्ड तिलोपमम् ।८७।
परस्त्रीसङ्गपापेन तप्तलोहाङ्गनाव्रजैः । तस्यालिङ्गनमेवाहो कारयन्ति बलाच्च ते ।।८८।।
तस्मात्केचित्समागत्योत्थाप्य नीत्वाशु नारकाः । क्षिपन्ति दुःखतप्तं तं तप्ततैलकटाहके ।।८९।।
तेन दग्धाखिलाङ्गोऽसौ तीव्रदाहकरालितः । गत्वा शमाय समग्नो वैतरण्या जलेऽशुभे ।।९०।।
क्षारदुर्गन्धवीभत्स—शोणिताभसमेन स. । तन्नीरेणातितीव्रेण तरा संतापितोऽप्यगात् ।।९१।।
असिपत्रवने घोरे शीतवातभयाकुले । विश्रपाय स दीनात्मा विश्वद्रुखाकरेऽशुभे ।।९२।।

कोई मुद्गर के प्रहारों से हड्डियों के समूह को चूर चूर कर रहे थे, कोई बैर के कारण हर्ष पूर्वक नेत्र उपाड़ रहे थे ।।८२।। कोई दुष्ट दांतों के समूह से आंतों की पंक्ति को तोड़ रहे थे और कोई खण्ड खण्ड कर यन्त्रों में पेल रहे थे ।।८३।। कोई विषम पत्थरों से उसके शरीर सम्बन्धी टुकड़ों को खण्डित करते थे, कोई पैर पकड़ कर शीघ्र ही सेमर के वृक्षों पर घसीटते थे ।।८४।। कोई दुष्ट नारकी हाथों और पैरों के द्वारा उसे बड़े बड़े कलशों में खोलाते थे, कोई करोत के द्वारा उसके मस्तक से दो टूक करते थे अर्थात् शिर और धड़ को अलग अलग करते थे ।।८५।। कोई मदिरापान सम्बन्धी पाप के उदय से संडासियों से उसका मुख फाड़कर उसमें जलता हुआ ताम्बे का रस डालते थे ।।८६।। कोई नारकी मांसभक्षण से उत्पन्न पाप के कारण उसके शरीर सम्बन्धी मांस को तिल तिल के बराबर खण्ड खण्ड कर खाते थे ।।८७।। कोई परस्त्री के संगम से उत्पन्न पाप के कारण संतप्त लोहे की पुतलियों से उसका बलपूर्वक आलिङ्गन कराते थे ।।८८।। उसी पाप के कारण कोई नारकी आकर तथा शीघ्र ही उठा ले जाकर दुःखों से संतप्त उस नवीन नारकी को तपे हुए तैल के कड़ाहे में डाल देते थे ।।८९–९०।। उस गर्म तैल से जिसका समस्त शरीर दग्ध हो गया है तथा जो तीव्र दाह से चीख रहा है ऐसा वह नारकी शान्ति प्राप्त करने के लिये जाकर वैतरणी नदी के अशुभ जल में निमग्न होता है–डुबकी लगाता है ।।९१।। परन्तु खारे, दुर्गन्धित, घृणित और रक्त के समान आभावाले अत्यन्त तीक्ष्ण जल से वह अत्यधिक संतापित होकर वहां से भागता है ।।९२।। वह दीनात्मा, भयकर,

१ मासभक्षणसमुत्पन्नपापेन ।

खड्गधारासमैः पत्रैर्वायुना पतितैर्नगात्[1] । खण्डिताङ्गोऽतिबीभत्सोऽस्माद्गतो दुर्गमे गिरौ ।।९३।
तत्र व्याघ्रादिरूपेण पक्षिवेषेण नारकैः । आरब्धः खादितुं सोऽधाद्दन्तैरास्यैः[2] खरैर्नखैः ।।९४।
एवं स लभते दुःखं परस्परभवं महत् । यत्र कुत्र महीपृष्ठे तिष्ठन् घोरतरं सदा ।।९५।।
ये केचिद् दुःसहा रोगाः कृत्स्नाशर्मविधायिनः । ते भवन्ति स्वभावेन तद्गात्रेऽतिघृणास्पदे ।।९६।।
सर्वाब्धितोयतोऽसाध्या पिपासा तस्य जायते । बिन्दुमात्रं जलं पातुं श्रयेन्नासौ कदाचन ।।९७।।
सर्वान्नभक्षणैर्नि प्रतीकारैः क्षुत्कवेदनैः । पीडितोऽप्यशितुं नासौ लभतेऽन्ध[3]स्तिलोपमम् ।९८।
लक्षयोजनमानोऽय पिण्डः क्षिप्तो हि केनचित् । शीघ्रं विखण्डतां याति तत्रोग्रशीतपाततः ।।९९।।
इत्यादिक्षेत्रजं दुःखं मानसं कायसंभवम् । परस्परप्रभूतं चाघात् स भुङ्क्ते प्रतिक्षणम् ।।१००।।
चक्षुरुन्मेषमात्रं स सुखं जातु भजेन्न हि । केवलं सहते तीव्रवेदनां विविधां बलात् ।।१०१।।
उत्कृष्टरौद्रध्यानाधिष्ठितोह्यशुभदेहभाक् । कृष्णलेश्योऽतिभीतात्मा पूर्वपापोदयाद्धितः ।।१०२।।

शीत वायु के भय से युक्त तथा समस्त दुःखों की खान स्वरूप शुभ असिपत्र वन में विश्राम के लिये जाता है ।।९२।। परन्तु वायु के कारण वृक्ष से पड़े हुए तलवार की धार के समान पत्रों से उसका शरीर खण्ड खण्ड तथा वीभत्स हो जाता है । वहां से निकल कर वह दुर्गम पहाड़ पर जाता है ।।९३।। वहां भी नारकी व्याघ्रादि के रूप से अथवा पक्षियों के वेष से दांतों, मुखो तथा तीक्ष्ण नखों से उसे खाना प्रारम्भ कर देते है ।।९४।। इस प्रकार वह जहां कहीं पृथिवी पर स्थित होता था वहीं सदा परस्पर में उत्पन्न बहुत भारी भयंकर दुःख को प्राप्त होता था ।।९५।।

समस्त दुःखो को उत्पन्न करने वाले जो कुछ भी दुःसह—कठिन रोग है वे सब स्वभाव से ही उसके अत्यन्त घृणित शरीर में विद्यमान थे ।।९६।। उसे समस्त समुद्रों के जल से असाध्य प्यास लगती थी परन्तु वह पीने के लिये बिन्दुमात्र जल भी कभी नहीं प्राप्त करता था ।।९७।। समस्त अन्न के खाने से भी जिसका प्रतिकार नहीं हो सकता ऐसी क्षुधा की वेदना से वह यद्यपि पीडित था तो भी खाने के लिये वह तिल के बराबर भी अन्न नहीं प्राप्त करता था ।।९८।।

एक लाख योजन प्रमाण लोहे का पिण्ड यदि किसी के द्वारा डाला जाता है तो वह वहां तीक्ष्ण शीत के पडने से शीघ्र ही खण्ड खण्ड हो जाता था ।।९९।। इस प्रकार पापोदय से वह क्षेत्रजन्य, मानसिक, शारीरिक तथा परस्पर उत्पन्न हुए दुःख को प्रतिक्षण भोगता था ।।१००।। वह चक्षु के टिमकार मात्र समय के लिये भी कदाचित् सुख को प्राप्त नहीं होता था, केवल बलपूर्वक विविध प्रकार की तीव्र वेदना सहन करता था ।१०१।

[1] [illegible]

सप्तविंशतिवाराशिमध्यमायुः कुदुःखभाक् । सर्वासातमये तत्रास्ते मग्नः श्वभ्रवारिधौ[1] ॥१०३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एवं स्वाघविपाकतः प्रतिदिन भुंक्ते व्यतीतोपमं,
दुःख रौद्रतर प्रतिक्षणभव वाचातिग नारकः ।
मत्वेतीह बुधाः कुदुर्गतिकर प्राणात्ययेऽत्राशुभ,
मा कुर्वीध्वमनन्तदुःखजनक सकारणैः कोटिभिः ॥१०४॥
धर्मं स्वर्गगृहाङ्गणं व्यघहर[2] मुक्त्यङ्गनादायिनं,
ह्यन्तातीत सुखार्णवं सुविमल सवाञ्छितार्थप्रदम् ।
सर्वश्रीपितरं ह्यनन्तगुणद तीर्थेशभूतिप्रद,
चक्रेशेन्द्रपदादिद बुधजना यत्नाद्भजध्व सदा ॥१०५॥
धर्मः श्रीजिनभूतिदोऽसुखहरो धर्मं व्यधुर्धार्मिका-
धर्मेणैव किलाप्यतेऽखिलसुख धर्माय सिद्धयै नमः ।

वह पूर्व पाप के उदय से उत्कृष्ट रौद्रध्यान से युक्त था, अशुभ शरीर का धारक था, कृष्ण लेश्या वाला था तथा अत्यन्त भयभीत था ॥१०२॥ जिसकी सत्ताईस सागर की मध्यम आयु थी तथा जो खोटे दुःखों को प्राप्त था, ऐसा वह नारकी समस्त दुःखों से तन्मय नरक रूपी समुद्र में निमग्न था ॥१०३॥

इस प्रकार वह नारकी अपने पाप के उदय से प्रतिदिन अनुपम, अत्यन्त भयंकर, क्षण क्षण में होने वाले वचनागोचर दुःख को भोग रहा था। ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! प्राणविनाश का अवसर आने तथा करोड़ों कारण मिलने पर भी इस लोक में अत्यन्त दुर्गति के कारण स्वरूप और अनन्त दुःखों को उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोग को मत करो ॥१०४॥ जो स्वर्गरूपी घर का आंगन है, विविध प्रकार के पापों को हरने वाला है, मुक्तिरूपी स्त्री को देने वाला है, अनन्त सुख का सागर है, अत्यन्त निर्मल है, अभिलषित पदार्थों का दाता है, समस्त लक्ष्मियों का पिता है, अनन्तगुणो को देने वाला है, तीर्थंकर की विभूति का दायक है, और चक्रवर्ती तथा इन्द्र के पद आदि को प्रदान करने वाला है ऐसे धर्म का हे विद्वज्जन हो ! सदा यत्नपूर्वक सेवन करो ॥१०५॥ धर्म श्री जिनेन्द्र देव की विभूति—अष्ट प्रातिहार्य रूप ऐश्वर्य को देने वाला तथा दुःखों को हरने वाला है, धर्मात्मा जन धर्म को करते है, धर्म से ही समस्त सुख प्राप्त होता है, सिद्धि प्राप्त

---

१ नरकसमुद्रे २ विविधपापहरं ।

धर्मान्नास्त्यपर: पितातिहितकृद्धर्मस्य मूलं सुदृग्,
धर्मे चित्तमहं दधेऽघहतये हे धर्म ! रक्षेह माम् ।।१०६।।

पार्श्वो जन्मजराव्यथामृतिरुजाशान्त्यै जनानां महा-
नक्षेहार्तिशमाय वैद्य इव यः प्रादुर्बभूवाद्भुतः ।

दु:कामज्वरशान्तयेऽतिदुरितव्याधिक्षयायैव स
लोकेऽकारणबन्धुरेव मम भूयाज्जन्मव्युच्छित्तये ।।१०७।।

इति भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथ चरितेऽहमिन्द्रसुखभिल्लनारकदु:खवर्णनो नाम षष्ठ: सर्ग: ।।६।।

करने के लिये मै धर्म को नमस्कार करता हूँ, धर्म से बढ़कर अत्यन्त हितकारी दूसरा पिता नहीं है, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, मै पापों का नाश करने के लिये धर्म में अपना चित्त धारण करता हूँ, हे धर्म ! इस जगत् में मेरी रक्षा करो ।।१०६।।

जो मनुष्यों के जन्म-जरा सम्बन्धी कष्ट तथा मृत्युरूपी रोग को शान्त करने और इन्द्रियों की चेष्टा से उत्पन्न दु:खों का शमन करने के लिये आश्चर्यकारी महान् वैद्य के समान प्रकट हुए थे, जो दु:खदायक काम ज्वर की शान्ति तथा तीव्र पापजन्य व्याधियों का क्षय करने के लिये लोक में मानों अकारण बन्धु ही थे वे पार्श्वनाथ भगवान् हमारे संसार का विच्छेद करने के लिये हों। भावार्थ—उन पार्श्वनाथ भगवान् की कृपा से मै जन्म मरण के चक्र से बच जाऊँ ।।१०७।।

इस प्रकारक भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में अहमिन्द्र के सुख और भील के नरकगति सम्बन्धी दु:खों का वर्णन करने वाला छठवां सर्ग समाप्त हुआ ।।६।।



सप्तमः सर्गः

जगद्धितं जगन्नाथं जगद्वन्द्यं जगद्गुरुम् । जगदार्तिहर वन्दे श्रीपार्श्वं तद्गुणाप्तये ।।१।।
अथ जम्बूमति द्वीपे क्षेत्रे भारतनामनि । विषयः कोशलाख्योऽस्ति कौशल्यजनसंभृतः ।।२।।
संवाहनपुरग्रामखेटद्रोणमुखादयः । मटम्बपत्तना यत्र धनधान्यादिसकुलाः ।।३।।
जिनचैत्यालयैः सारैः सुधार्मिकजनोत्करैः । मुनिपण्डितसंघैश्च भान्ति धर्माकरा इव ।।४।।
मुनयश्च गणाधीशाः केवलज्ञानिनोऽमलाः । संघैश्चतुर्विधैः सार्द्धं सुरासुरनिषेविताः ।।५।।
विहरन्ति च भव्यानां मुक्तिमार्गप्रवृत्तये । धर्मोपदेशदातारो यत्रानुग्रहकारिणः ।।६।।
इत्यादिवर्णनोपेतदेशस्य गुणशालिनः मध्येऽयोध्यापुरीभात्यजय्यभूपभटव्रजैः ।।७।।
अनुल्लङ्घ्यमहातुङ्गप्राकारगोपुर—व्रजैः । अगाधखातिकाद्यैश्चायोध्येव[1] या व्यभात्तराम् ।।८।।

सप्तम सर्ग

जगत् हितकर्त्ता, जगत् के नाथ, जगद्वन्द्य, जगद् गुरु और जगत् की पीडा को हरने वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान् को मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिये वन्दना करता हूँ ।।१।।

अथानन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में कुशल मनुष्यों से परिपूर्ण कौशल नामका देश है ।।२।। जहां धन धान्यादि से परिपूर्ण संवाहन, पुर, ग्राम, खेट, द्रोणमुख आदि तथा मटम्ब और पत्तन विद्यमान है ।।३।। श्रेष्ठ जिन मन्दिरों, अत्यन्त धार्मिक मनुष्यों के समूहों और मुनि तथा विद्वज्जनों के सङ्घों से वे संवाहन, ग्राम, नगर आदि धर्म की खानों के समान सुशोभित हो रहे हैं ।।४।। जहां भव्य जीवों को धर्मोपदेश देने वाले परमोपकारी मुनि, गणधर और रागादिक मल से रहित तथा सुर–असुरों के द्वारा सेवित केवली भगवान् मोक्ष मार्ग को प्रवर्तानि के लिये चतुर्विध संघ के साथ विहार करते रहते है ।।५–६।।

इत्यादि वर्णनों से सहित उस गुणशाली कौशल देश के मध्य में एक अयोध्यापुरी है जो अजेय राजा तथा योद्धाओं के समूह से सुशोभित हो रही है ।।७।। जो उल्लङ्घन करने के अयोग्य, बहुत ऊंचे कोट, गोपुरों के समूह तथा अगाध परिखा आदि से सचमुच ही अयोध्या के समान अत्यधिक सुशोभित हो रही है । भावार्थ–जिसके साथ युद्ध न किया जा सके वह अयोध्या है । वह नगरी ऊंचे ऊंचे कोट तथा अगाध परिखा आदि के कारण सचमुच ही युद्ध करने के योग्य नहीं थी । इसलिये उसका अयोध्या नाम सार्थक था ।।८।।

१ योद्धुमशक्या ।

प्रासादशिखराग्रस्थकेतुहस्तैर्विराजते । याह्वयतीव नाकेशां[1] पुण्यभाजां विमुक्तये ॥९॥
उत्तुङ्गतोरणैं रत्नबिम्बौघैर्ध्वजपंक्तिभिः । धर्मोपकरणैर्दिव्यैर्यातायातनृयुग्मकैः ॥१०॥
गीतनर्तनवाद्यैश्च जयनन्दस्तवादिभिः । विभ्राजन्ते जिनागारा उत्तुङ्गा[2]वा वृषाब्धयः॥११॥
यत्रत्या सुजना केचित्तपसा यान्ति निर्वृतिम् । कल्पातीतास्पदं केचित्केचिन्नाकं शुभोदयात् ॥१२॥
पात्रदानार्जितायेन[3] केचिद्भोगान् श्रयन्ति च । भोगभूमौ सुराज्यादिभूति केचिज्जिनार्चया ॥१३॥
पश्यन्ति स्वगृहद्वार पात्रदानाय दानिनः । पात्रदानेन केचिच्च पञ्चाश्चर्यं भजन्त्यहो ॥१४॥
तद्विलोक्य जनाः केचित्पात्रदाने मति व्यधु । पात्रालाभेन केचिद्धि विषादं परमं व्यगुः[4] ॥१५॥
ज्ञानविज्ञानसंपन्ना व्रतशीलादिमण्डिताः । जिनभक्ताः सदाचारा गुरुसेवापरायणाः ॥१६॥
नीतिमार्गरता जैना धनधान्यादिसंकुलाः । रूपलावण्यभूषाढ्या नरानार्यो[5] विचक्षणाः ॥१७॥
यस्या वसन्ति पुण्येन सुभगाश्च[6] शुभाशयाः । धर्मार्जनपरा नित्यं दानपूजादितत्पराः ॥१८॥

भवन शिखरो के अग्रभाग पर स्थित पताका रूपी हाथों से जो नगरी ऐसी सुशोभित हो रही है मानो मुक्ति प्राप्त करने के लिये पुण्यशाली इन्द्रों को बुला ही रही है ॥९॥ जहां के ऊंचे ऊंचे जिन मन्दिर, उन्नत तोरणों, रत्नमय प्रतिमाओं के समूहों, ध्वजाओं की पंक्तियो, धर्म के दिव्य उपकरणों, आने जाने वाले मनुष्यों के युगलों, गीत नृत्य वादित्रों तथा जय, नन्द, स्तवन आदि के शब्दों से ऐसे सुशोभित हो रहे है मानों धर्म के सागर ही हों ॥१०-११॥ जहां पर उत्पन्न होने वाले कोई सत्पुरुष तप के द्वारा निर्वाण को प्राप्त होते हैं, कोई पुण्योदय से कल्पातीत विमानों में और कोई कल्पों-सोलह स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ पात्रदान से अर्जित पुण्य के द्वारा कोई भोगभूमि में भोगों को प्राप्त होते हैं और कोई जिन पूजा से उत्तम राज्यादि के वैभव को प्राप्त करते हैं ॥१३॥ अहो ! कोई दानी पुरुष पात्रदान के लिये अपने घर का द्वारा प्रेक्षण करते हैं और कोई पात्र दान के द्वारा पञ्चाश्चर्य को प्राप्त होते हैं ॥१४॥ पञ्चाश्चर्य को देखकर कोई लोग पात्रदान में बुद्धि लगाते हैं-पात्रदान की इच्छा करते हैं और कोई पात्र का लाभ न होने से परम विषाद को प्राप्त होते हैं ॥१५॥ जो ज्ञान और विज्ञान से संपन्न हैं, व्रत शील आदि से विभूषित हैं, जिनभक्त हैं, सदाचारी हैं, गुरु सेवा में तत्पर हैं, नीति मार्ग में रत हैं, जैन हैं, धन धान्य आदि से सहित हैं, रूप, लावण्य और आभूषणों से युक्त हैं, विवेकी हैं, सौभाग्यशाली हैं, शुभ अभिप्रायवाले हैं, धर्म के उपार्जन करने में तत्पर हैं तथा निरन्तर दान पूजा आदि में संलग्न रहते हैं ऐसे मनुष्य पुण्योदय से जिस नगरी मे निवास करते हैं ॥१६-१८॥

[illegible] ३ पात्रदानसमुत्पन्न-पुण्येन ४. प्रापु ५ नरनार्यो क० ६ सुन्दरा ।

इत्यादिगुणभूषाया नगर्याः श्रेयसां पतिः । वज्रबाहुनृपो नाम्ना बभूव बलवान्महान् ।।१६।।
काश्यपान्वयसंभूत इक्ष्वाकु[1]वंशरवांशुमान् । जैनधर्मरतो दानपूजाव्रतगुणान्वितः ।।२०।।
गुरुभक्तः सदाचारी न्यायमार्गप्रवर्तकः । भूषणैर्वसनै सर्वै सोऽभाच्चक्रीव पुण्यवान् ।।२१।।
प्रभङ्करी महादेवी तस्याभूत्प्राणवल्लभा । पुण्यलक्षणसपूर्णा दिव्यरूपोपलक्षिता ।।२२।।
आनन्दाख्यस्तयोः सूनुः पुण्यपाकेन रूपवान् । च्युत्वा ग्रैवेयकात्सोऽहमिन्द्रो दिव्यगुणोऽभवत् ।।२३।
तत्पिता स्वजनैः सार्द्धं जिनेन्द्राणां जिनालये । महापूजां मुदाभूत्या पुत्रजातमहोत्सवे ।।२४।।
चकार विश्वमाङ्गल्यवृद्धये शुभवर्द्धिनीम् । सर्वाभ्युदयकर्त्रीञ्च कृत्स्नानिष्टविघातिनीम् ।।२५।।
बालचन्द्र इवापासी वृद्धि स्वावयवैः समम् । तद्योग्यदुग्धपानाद्यैः पित्रोः संवर्द्धयन्मुदम् ।।२६।।
कौमारत्वं क्रमात्प्राप्य वस्त्राभरणकान्तिभिः । व्यञ्जनैर्लक्षणैः सोऽभाद्धीरोऽसुरकुमारवत् ।।२७।।
ततः कृत्वा जिनेन्द्रज्ञानगुरूणां प्रपूजनम् । कलाविज्ञानचातुर्यशास्त्रविद्यादिसिद्धये ।।२८।।

इत्यादि गुणरूपी आभूषणों से सहित उस अयोध्या नगरी का स्वामी वह वज्रबाहु राजा था जो कल्याणों का स्वामी था, बलवान् तथा महान् था ।।१६।। जो काश्यपवंश में उत्पन्न हुआ था, इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाश का सूर्य था, जैनधर्म में रत था, दान पूजा तथा व्रतरूप गुणों से सहित था, गुरुभक्त था, सदाचारी था, न्यायमार्ग को प्रवर्ताने वाला था, तथा पुण्यवान् था ऐसा वह वज्रबाहु राजा समस्त वस्त्राभूषणों से चक्रवर्ती के समान सुशोभित होता था ।।२०–२१।। राजा वज्रबाहु की प्राणबल्लभा पुण्य लक्षणों से परिपूर्ण तथा दिव्यरूप से सहित प्रभङ्करी महादेवी थी ।।२२।।

दिव्य गुणों को धारण करने वाला वह अहमिन्द्र ग्रैवेयक से च्युत होकर पुण्योदय से उन्हीं वज्रबाहु और प्रभकरी महादेवी के आनन्द नामका रूपवान् पुत्र हुआ ।।२३।। उसके पिता ने पुत्र जन्म के महोत्सव में समस्त मङ्गलों की वृद्धि के लिये अपने कुटुम्बी जनों के साथ जिन मन्दिर में हर्ष तथा वैभव से जिनेन्द्र भगवान् की महा पूजा की । वह महा पूजा शुभ को बढ़ाने वाली थी, सब अभ्युदयों को करने वाली थी तथा सम्पूर्ण अनिष्टों का विघात करने वाली थी ।।२४–२५।। माता पिता के हर्ष को बढ़ाता हुआ वह पुत्र उसके योग्य दुग्धपान आदि के द्वारा अपने अवयवों के साथ बालचन्द्र द्वितीया के चन्द्रमा के समान वृद्धि को प्राप्त होने लगा ।।२६।। वह धीर वीर बालक क्रम क्रम से कुमारावस्था को प्राप्त कर वस्त्र, आभूषण, कान्ति, व्यञ्जन तथा लक्षणों से असुर कुमार के समान सुशोभित हो रहा था ।।२७।।

तदनन्तर शुभलग्नादि के होने पर पिता ने उस बुद्धिमान् धर्मात्मा पुत्र को कला-विज्ञान सम्बन्धी चातुर्य तथा शास्त्र विद्या आदि की सिद्धि के लिये देव शास्त्र गुरु की पूजा

१ इक्ष्वाकुवंशनभोदिवाकर. ।

पित्रा समर्पितो जैनपाठकस्य सुधीः सुत. । महोत्सवेन धर्मात्मा शुभलग्नादिके सति ।।२९।।
महाप्रज्ञाप्रभावेन विनयेन शुभश्रिया । अगमत्सोऽचिरात्पारं सुशास्त्रार्थास्त्रविद्ययोः ।।३०।।
ततोऽभात्सोऽमरो वा समासाद्य यौवन नवम् । सर्वैः स्वाभरणैश्चारुलक्षणैः सुक्रियादिभिः ।।३१।।
ज्ञानविज्ञानचातुर्यकलादिगुणसंचयै । कान्त्या च तेजसा धर्मदानपूजादिकोद्यमैः ।।३२।।
अनु तादृग्विधं सूनु दृष्ट्वा यौवनभूषितम् । ज्ञानादिगुणसंपन्नं परिणेतुं ददौ पिता ।।३३।।
विवाहविधिना तस्मै बह्वी राजसुता मुदा । सुखसन्तानवृद्धयर्थं रूपादिगुणशालिनी ।।३४।।
ततः पितुः पद प्राप्य बहुराज्यादिमाकुलम् । महोत्सवेन पुण्येन चाभिषेकपुरस्सरम् ।।३५।।
स्ववशे स्वीचकारोच्चैः पौरुषेण नृपाधिपः । लक्ष्मी बह्वी महामण्डलीकास्पदकरा वराम् ।।३६।।
भुंक्ते भोगान्स्वरामाभि· सार्द्धं [1]स्वायोदयार्पितान् । स्वकीयपरिवारेण धर्मकार्यकरोऽपि सन् ।।३७।।
तस्य स्वामिहिताख्योऽस्ति महान्मन्त्री सुधर्मधी· । व्रतशीलगुणोपेतो जिनपूजादितत्परः ।।३८।।
एकदा स बभाषे सद्वचो भूपं प्रति स्वयम् । तवेयं चञ्चला [2]राजंल्लक्ष्मी राज्यादिगोचरा ।३९।।

कर बहुत भारी उत्सव के साथ जैन गुरु को सौंपा ।।२८–२९।। तीव्र बुद्धि के प्रभाव से, विनय से तथा पुण्य लक्ष्मी से वह शीघ्र ही शास्त्र विद्या तथा शस्त्रविद्या के पार को प्राप्त हो गया ।।३०।। तदनन्तर नव यौवन को प्राप्त कर वह अपने समस्त आभरणों, सुन्दर लक्षणों, उत्तम क्रियादिकों, ज्ञान विज्ञान सम्बन्धी चातुर्य तथा कला आदि गुणों के समूहों, कान्ति, तेज और धर्म, दान, पूजा आदि के उद्यमों से देव के समान सुशोभित होने लगा ।। ३१–३२ ।।

पश्चात् पिता ने उस पुत्र को यौवन से विभूषित तथा ज्ञानादि गुणों से संपन्न देख कर सुख और सन्तति की वृद्धि के हेतु विवाह की विधि पूर्वक विवाहने के लिये उसे रूपादि गुणों से सुशोभित बहुत सी राजपुत्रियां हर्ष पूर्वक दीं ।।३३–३४।। तदनन्तर बहुतभारी उत्सव के साथ पुण्योदय से अभिषेक पूर्वक पिता का पद और विस्तृत राज्य को प्राप्त कर राजाधिराज आनन्द ने उत्कृष्ट पुरुषार्थ से महामण्डलेश्वर की प्रतिष्ठा प्राप्त कराने वाली बहुत भारी उत्कृष्ट लक्ष्मी अपने वश कर ली ।।३५–३६।। वह अपने परिवार के साथ धर्म कार्य करता हुआ भी अपनी स्त्रियों के साथ स्वकीय पुण्योदय से प्राप्त भोगों का उपभोग करता था ।।३७।। महामण्डलेश्वर आनन्द का एक स्वामिहित नामका महामंत्री था जो धार्मिक बुद्धि का था, व्रत शीलरूप गुणों से सहित था तथा जिन पूजा आदि में तत्पर रहता था ।।३८।।

एक दिन वह स्वय राजा से निम्नाङ्कित प्रशस्त वचन बोला–हे राजन् ! आपकी

१ आत्मपुण्योदयप्रदत्तान् २ राजलक्ष्मी म० ब० ।

शम्येव विद्यते नूनं बहुचिन्ताघकारिणी । महामोहकरानेकानर्थखानिः शुभाद्दते ॥४०॥
एक सुदानपूजाजिनार्चाचैत्यालयादिकम् । मुक्त्वा श्रियोऽस्ति किञ्चिन्न सारं वा शुभकारणम्४१
अतो राजसुतैः प्राप्य श्रियं सावद्यकारिणीम् । कर्तव्यं दानपूजाजिनालयार्चादिकं सदा ॥४२॥
महापूजा विधेहि[1] त्वं महीप श्रीजिनेशिनाम् । जिनागारे स्वधर्माय नन्दीश्वरदिनाष्टके ॥४३॥
मन्त्र्युपदेशमादाय विभूत्या परया मुदा । करोति विविधा पूजां फाल्गुने मासि भूपतिः ॥४४॥
जिनधामनि तीर्थेशां महाश्चर्यकरां पराम् । उपदेशं शुभं दक्षाः किं न कुर्वन्त्यहो सताम् ॥४५॥
एतस्मिन्नेव प्रस्तावे पूजां द्रष्टुं मुदा गतः । विपुलादिमतिर्नाम्ना गणाधीशो गुणाकरः ॥४६॥
स्वाञ्जलिं कुड्मलीकृत्य नत्वा तच्चरणाम्बुजम् । त्रिःपरीत्य विधायार्चां भूपोऽस्थात्तत्पदान्तिकम् ॥४७॥
दिव्यवाण्या गणाधीशोऽवदद्धर्मं सुखार्णवम् । सर्वसत्त्वहितं दानपूजादिजं नृपं प्रति ॥४८॥
राजन् धर्मोऽत्र कर्तव्यो दृग्व्रताचरणैः परैः । गुणशिक्षाव्रतैः सर्वैः पात्रदानैर्जिनार्चनैः ॥४९॥
गृहस्था येन यान्त्याशु नाकं षोडशकं[2] भुवि । निर्वाणं च क्रमाद् दृष्टिभूषिताः शर्मवारिधिम् ॥५०॥

यह राज्यादि विषयक लक्ष्मी निश्चय से बिजली के समान चञ्चल है, अत्यधिक चिन्ता और पाप को करने वाली है, शुभ कार्यों के बिना महान् मोह को उत्पन्न करने वाले अनेक अनर्थों की खान है ॥३९–४०॥ मात्र पात्रदान, पूजा, जिन प्रतिमा और चैत्यालय आदि को छोड़कर लक्ष्मी का ऐसा कुछ भी सारभूत कार्य नहीं है जो शुभ का कारण हो ॥४१॥ इसलिये राजपुत्रों के साथ सावद्य कार्य कराने वाली लक्ष्मी को पाकर सदा दान पूजा जिनालय और प्रतिमाओं का निर्माण करना चाहिये ॥४२॥ हे राजन् ! तुम नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में जिन मन्दिर में श्री जिनेन्द्र भगवान् की महापूजा करो ॥४३॥

मन्त्री का उपदेश पाकर राजा ने फाल्गुन मास के आने पर जिन मन्दिर में उत्कृष्ट विभूति के साथ हर्ष पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की महान् आश्चर्य उत्पन्न करने वाली नाना प्रकार की उत्कृष्ट पूजा की सो ठीक ही है क्योंकि समर्थ मनुष्य सत्पुरुषों के शुभ उपदेश को पाकर क्या नहीं करते है ? अर्थात् सब कुछ करते है ॥४४–४५॥ इसी अवसर पर पूजा देखने के लिये गुणों की खान स्वरूप विपुलमति नामक गणधर भी वहां हर्षपूर्वक पधारे ॥४६॥ राजा ने हाथ जोड़कर उनके चरण कमलों को नमस्कार किया, तीन प्रदक्षिणाएं दीं, पूजा की और पश्चात् उनके चरणों के समीप खड़ा हो गया ॥४७॥ गणधर ने राजा के प्रति मधुर वाणी से सर्वसत्त्वहितकारी, दान पूजा आदि से उत्पन्न तथा सुख के सागर स्वरूप धर्म का उपदेश दिया ॥४८॥

हे राजन् ! इस जगत् में श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन, व्रताचरण, समस्त गुणव्रत शिक्षाव्रत, पात्रदान और जिन पूजन के द्वारा धर्म करना चाहिये ॥४९॥ जिस धर्म के द्वारा सम्यग्दृष्टि

१ विधेहि भो महिमा ख० ग० २ षोडशम क० ख० ग० ।

इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा भूपोऽवदत् सुधी. । भगवन्किञ्चिदिच्छामि प्रष्टुं मे संशयास्पदम् ॥५१॥
अचेतने कृता पूजा निग्रहानुग्रहच्युते । जिनविम्बे जनाराध्ये शिल्पिनिर्मापिते शुभे ॥५२॥
भक्तिर्वा महतां पुण्यं कथं फलति वा दिवम् । तत्सर्वं कृपया नाथ ! संशयं मे निराकुरु ॥५३॥
यथा सूर्याहते जातु तमो नैश्यं[1] न नश्यति । तथा मे संशयध्वान्तं भवद्वाक्यांशुभिर्विना ॥५४॥
श्रुत्वा तद्वचनं वाग्मी समीहंस्तदनुग्रहम् । स आह शृणु हे राजन् वक्ष्ये विम्वादिकारणम्॥५५॥
पुण्यकारणसभूतं चैत्य चैत्यालयादि च । जिनेन्द्राणां भवत्येव भव्यानां नात्र संशयः ॥५६॥
जिनेन्द्राणा सुविम्वादि पश्यतां धर्मकांक्षिणाम् । परिणामं शुभं सारं तत्क्षणं जायतेतराम् ॥५७॥
श्रीजिनस्मरणं साक्षाज्जिनध्यानमनारतम् । तत्साहश्यमहाविम्बदर्शनाच्चाघरोधनम् ॥५८॥
शस्त्राभरणवस्त्राणि विकाराकृतयः क्वचित् । रागादयो महादोषा. क्रूरताद्यगुणव्रजाः[2] ॥५९॥
जिनेन्द्रप्रतिमानाञ्च यथा सन्ति न भूतले । तथा श्रीजिनदेवानां धर्मतीर्थप्रवर्तिनाम् ॥६०॥

गृहस्थ शीघ्र ही इस जगत् में सोलह स्वर्ग प्राप्त करते हैं और क्रम से सुख के सागर स्वरूप निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥५०॥

इत्यादि धर्म का सद्भाव सुनकर बुद्धिमान् राजा ने कहा कि हे भगवन् ! मैं कुछ संशयास्पद बात को पूछना चाहता हूँ ॥५१॥ निग्रह और अनुग्रह–अपकार और उपकार की सामर्थ्य से रहित, मनुष्यों के द्वारा आराधनीय तथा शिल्पकार के द्वारा बनाई हुई अचेतन शुभ जिन प्रतिमा के विषय में की हुई पूजा एवं भक्ति महापुरुषों को पुण्य का कारण कैसे होती है और स्वर्गरूप फल को कैसे फलती है ? हे नाथ ! दया कर मेरे इस सर्व संशय को दूर कीजिये ॥५२–५३॥ जिस प्रकार सूर्य के बिना रात्रि का अन्धकार नष्ट नहीं होता है उसी प्रकार आपके वचनरूप किरणों के बिना मेरा संशयरूपी अन्धकार नष्ट नहीं हो सकता है ॥५४॥

राजा के वचन सुनकर प्रशस्त वचन बोलने वाले मुनिराज उसका उपकार करने की इच्छा करते हुए बोले–हे राजन् ! सुनो मैं बिम्ब आदि का कारण कहता हूँ ॥५५॥ जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा तथा मन्दिर आदि भव्य जीवों के पुण्य का कारण नियम से हैं इसमें संशय नहीं है ॥५६॥ जिनेन्द्र भगवान् के उत्तम बिम्ब आदि का दर्शन करने वाले धर्माभिलाषी भव्य जीवों के परिणाम तत्काल शुभ श्रेष्ठ होते ही हैं ॥५७॥ जिनेन्द्र भगवान् का सादृश्य रखने वाली महा प्रतिमाओं के दर्शन से साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण होता है, निरन्तर उनका साक्षात् ध्यान होता है और उसके फल स्वरूप पापों का निरोध होता है ॥५८॥ शस्त्र, आभरण, वस्त्रादि, विकार पूर्ण आकार, रागादिक महान्

१. रात्रिभव २ क्रूरतादि–अगुणव्रजा' इतिच्छेद ।

साम्यतादिगुणाः कीर्तिकान्तिशान्त्यादयोऽखिला । दृश्यन्ते जिनबिम्बे च तथा श्रीजिनपुङ्गवे ॥६१॥
स्थिरं वज्रासनं यद्वन्नासाग्रदृष्टिरेव च । मुक्तिसाधनमर्चानां तथा धर्मविधायिनाम् ॥६२॥
इत्येवं [1]तीर्थकृत् प्रतिमालक्षणदर्शनात् । निश्चयः परमो भूयाज्जिने तद्भक्तिकारिणाम् ॥६३॥
अतस्तत्परिणामेन तद्ध्यानस्मरणादिभिः । तन्निश्चयेन जायेत महापुण्यं सुधर्मिणाम् ॥६४॥
पुण्यपाकेन लोकेऽस्मिन् विश्वाभीष्टार्थसिद्धयः । संपद्यन्ते सुपुण्याना चात्रामुत्र जगत्त्रये ॥६५॥
अतस्तीर्थेशबिम्बादौ भक्त्यार्चाकरणात्सताम् । मनोऽभीष्टफल सर्वं जायते दिवि भूतले ॥६६॥
संकल्पितान्महाभोगान् दद्युः कल्पद्रुमा यथा । दशधा दानिना तद्वज्जिनबिम्बाश्च पूजिताः ॥६७॥
मनसा चिन्तितं दत्ते यथा चिन्तामणि सताम् । अचेतना जिनार्चा च तथा तद्भक्तिकारिणाम् ॥६८॥
विषरोगादिकान् घ्नन्ति मणिमन्त्रौषधादयः । अचेतनास्तथा पाप चैत्याद्यास्तद्विधायिनाम् ॥६९॥

दोष और क्रूरता आदि अवगुणों का समूह जिस प्रकार पृथिवी तल पर जिनप्रतिमाओं में नहीं है उसी प्रकार धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करने वाले श्री जिनेन्द्र देव में नहीं है ॥५९–६०॥ साम्यता आदि गुण तथा कीर्ति, कान्ति और शान्ति आदि सब विशेषताएं जिस प्रकार जिन बिम्ब में दिखाई देती है उसी प्रकार श्री जिनेन्द्र देव में विद्यमान है ॥६१॥ जिस प्रकार जिन प्रतिमाओं में मुक्ति का साधन भूत स्थिर वज्रासन और नासाग्रदृष्टि देखी जाती है उसी प्रकार धर्म के प्रवर्तक जिनेन्द्र भगवान् में वे सब विद्यमान हैं ॥६२॥ इस प्रकार तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के लक्षण देखने से उनकी भक्ति करने वाले पुरुषों को तीर्थंकर भगवान् का परम निश्चय होता है। भावार्थ—वस्त्राभूषण तथा राग द्वेष सूचक अन्य चिह्नों से रहित जिन प्रतिमाओं के दर्शन से वीतराग सर्वज्ञ देव के यथार्थ स्वरूप का अवबोध होता है ॥६३॥ इसलिये उन जैसे परिणाम होने से, तथा उनका ध्यान और स्मरण आने से तथा उनका निश्चय होने से धर्मात्मा जनों को महान् पुण्य होता है ॥६४॥ पुण्योदय से इस लोक में पुण्यशाली जनों की इस भव तथा परभव में त्रिलोक सम्बन्धी सभी अभिलषित पदार्थों की सिद्धियां संपन्न होती है ॥६५॥ अतः तीर्थंकर प्रतिमाओं की भक्ति पूर्वक पूजा करने से सत्पुरुषों के समस्त मनोवाञ्छित फल पृथिवी तल पर तथा स्वर्गलोक में प्राप्त होते है ॥६६॥ जिस प्रकार दशाङ्ग कल्पवृक्ष दान देने वाले पुरुषों को संकल्पित महान् भोग देते है उसी प्रकार पूजी हुई जिन प्रतिमाएं पूजा करने वाले पुरुषों को महान् भोग देती हैं ॥६७॥ जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न सत्पुरुषों को मन से चिन्तित पदार्थ देता है उसी प्रकार अचेतन प्रतिमा भी भक्ति करने वालों को मन से चिन्तित पदार्थ देती है ॥६८॥ जिस प्रकार अचेतन मणि, मन्त्र, औषध आदि विष तथा रोगादिक को नष्ट

---

१ तीर्थकृत्‌णा प्रतिमा क० ।

इत्यादिहेतुदृष्टान्तैरुत्पाद्य निश्चयं शुभम् । भूपतेः श्रीजिनार्चादौ धर्मे पूजादिके तथा ।।७०।।
तत्कथावसरे लोकत्रयचैत्यालयाकृतीः । सम्यग्वर्णयितुं वाञ्छन् विस्तरेण महाद्भुताः ।७१।
प्रागादित्यविमानस्थजिनेन्द्रभवनं महत् । स्वर्णरत्नमयं दिव्यं महाभूत्युपलक्षितम् ।।७२।।
भानुकोटयधिकातीवतेजो—विम्बौघसंभृतम् । मुनीशो वर्णयामास सूर्यदेवनमस्कृतम् ।।७३।।
तदसाधारणां भूतिं महतो जिनधामजाम् । श्रुत्वा वहन् परां श्रद्धामानन्दोऽतिमुदान्वितः ।।७४।।
दिनादौ च दिनान्ते च जिनेशां रविमण्डले । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य करोति स्तवनं परम् ।।७५।।
आनम्रमुकुटो धीमास्तद्गुणग्रामरञ्जितः । धर्ममुक्त्यादिसिद्धयर्थं ज्ञानादिगुणसंचयैः ।।७६।।
पुनरर्कविमानं स शिल्पिभिर्मणिकाञ्चनैः । जिनेन्द्रभवनोपेतं कारयामास चाद्भुतम् ।।७७।।
तत्र चैत्यालये भक्त्या महापूजां जिनेशिनाम् । आष्टाह्निकीं महाभूत्या व्यधाद्भूपोऽघशान्तये ।७८।
चतुर्मुखं रथावर्तं सर्वतोभद्रमूर्जितम् । कल्पवृक्षं च दीनेभ्यो ददद्दानमवारितम् ।।७९।।

करते हैं उसी प्रकार अचेतन प्रतिमाएं भी पूजा भक्ति करने वाले पुरुषों के विष तथा रोगादिक को नष्ट करती है ।।६९।। इत्यादि हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा राजा को जिन प्रतिमादिक तथा पूजादिक धर्म के विषय में शुभ निश्चय उत्पन्न कराया । पश्चात् उसी कथा के प्रसङ्ग में त्रिलोकवर्ती चैत्यालयों की महान आश्चर्यकारी आकृतियों का विस्तार से सम्यक् वर्णन करने की इच्छा करते हुए गणधर देव ने सब से पहले सूर्यविमान में स्थित विशाल जिन मन्दिर का वर्णन किया । वह मन्दिर स्वर्ण तथा रत्नमय था, दिव्य था, महाविभूति से सहित था, करोड़ों सूर्य से भी अधिक तेज वाली प्रतिमाओं के समूह से युक्त था, और सूर्य देव के द्वारा नमस्कृत था ।।७०–७३।।

सूर्यविम्ब में स्थित जिन मन्दिर की असाधारण महाविभूति को सुनकर परम श्रद्धा को धारण करता हुआ राजा आनन्द अत्यधिक हर्ष से युक्त हो गया । वह दिन के प्रारम्भ और दिन के अन्त समय अपने दोनों हाथों को कुण्डलाकार कर सूर्यमण्डल में स्थित जिन प्रतिमाओं की उत्कृष्ट स्तुति करने लगा ।।७४–७५।। जिसका मुकुट भक्ति से नम्रीभूत रहता था तथा जो उन प्रतिमाओं के गुण समूह से अनुरक्त था ऐसे उस बुद्धिमान् राजा आनन्द ने ज्ञानादि गुणों के संचय से धर्म और मुक्ति आदि की सिद्धि के लिये कारीगरों द्वारा मणि और सुवर्ण से सूर्य के एक ऐसे अद्भुत विमान का निर्माण कराया जो जिन मन्दिर से युक्त था ।।७६–७७।। उस मन्दिर में राजा आनन्द ने पापों की शान्ति के लिये जिनेन्द्र भगवान् को आष्टाह्निक महा पूजा भक्ति पूर्वक बड़े वैभव के साथ की ।।७८।। इसी प्रकार चतुर्मुख, रथावर्त, सर्वतोभद्र और अतिशय श्रेष्ठ कल्पवृक्ष पूजा भी उसने की। पूजा के समय वह दीनों के लिये मन चाहा दान देता था ।।७९।। यह देख, उसकी प्रामा-

तद्विलोक्य जनाः सर्वे तत्प्रामाण्यात्स्वयं च तत् । स्तोतुमारेभिरे भक्त्या पुण्याय रविमण्डलम् ॥८०॥
अहो लोकाः प्रवर्तन्ते नृपाचारेण भूतले । सद्विचारं न जानन्ति कार्याकार्यं शुभाशुभम् ॥८१॥
तदा प्रभृति लोकेऽस्मिन् बभूवार्कोपसेवनम् । मिथ्याकारं च मूढाना विवेकविकलात्मनाम् ॥८२॥
अतो राजा जिनेन्द्राणां करोति विविधार्चनाम् । भक्त्या सिद्धचै जिनागारे विश्वाभ्युदयकारिणीम् ८३।
दानं ददाति पात्रेभ्यश्चतुर्धानेकशर्मकृत् । भक्त्या च विधिना नित्य पापहान्यैर्महीपति ॥८४॥
स्वर्गमुक्तिकरां वाणी सारा श्रीजिनभाषिताम् । त्रैलोक्यदीपिका नित्यं वैराग्याय शृणोति स ॥८५॥
अणुव्रतानि सर्वाणि गुणशिक्षाव्रतानि च । अतीचारान्विना भूपः पालयेन्मुक्तये सदा ॥८६॥
सम्यग्दर्शनसंशुद्धि विधत्ते प्रत्यहं नृप. । मदशङ्काविमूढादिदोषास्त्यक्त्वाखिलान् हृदि ॥८७॥
धर्मोपदेशना दत्ते सभान्त स्थो हिताय सः । बन्धुभृत्यजनादीना भूपाना भूमिपैर्नुत. ॥८८॥
जिनेन्द्राणां मुनीना केवलिना धर्मोपदेशिनाम् । विभूत्या परिवारेण कुर्याद्यात्रा ससिद्धये[1] ॥८९॥

रिणकता से सब लोग पुण्य प्राप्ति के लिये भक्तिपूर्वक सूर्यमण्डल की स्तुति-करने लगे ।८०। अहो ! पृथिवी तल पर लोग राजा के आचारानुसार प्रवृत्ति करते हैं अर्थात् जैसा राजा करता है वैसा करने लगते है कार्य, अकार्य, शुभ, अशुभ आदि के समीचीन विचार को नहीं जानते है ॥८१॥ उसी समय से इस लोक में विवेक रहित मूढ जीवों के बीच सूर्य की उपासना तथा उसके मिथ्या आकार की परम्परा चल पड़ी है ॥८२॥

तदनन्तर राजा आनन्द, जिन मन्दिर में सिद्धि प्राप्त करने के लिये भक्ति पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की विविध प्रकार की पूजा करने लगा । वह पूजा समस्त अभ्युदयों को करने वाली थी ॥८३॥ वह पापों की हानि के अर्थ नित्य ही पात्रों के लिये भक्ति पूर्वक यथा विधि अनेक सुखों का करने वाला चतुर्विध दान देता था ॥८४॥ जो स्वर्ग और मोक्ष को करने वाली है, सारभूत है तथा तीनों लोकों को प्रकाशित करने के लिये दीपिका स्वरूप है ऐसी श्री जिनेन्द्र प्रतिपादित वाणी को वैराग्य प्राप्ति के लिये नित्य ही सुनता था ॥८५॥ वह राजा मुक्ति के लिये सदा अतिचार रहित समस्त अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का पालन करता था ॥८६॥ वह आनन्द राजा, मद, शङ्का तथा विमूढता आदि समस्त दोषों को छोड़कर प्रतिदिन हृदय में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को धारण करता था ॥८७॥ कभी वह सभा के बीच बैठकर राजाओं के द्वारा स्तुत होता हुआ बन्धु, सेवक, साधारण जन तथा राजाओं के हित के लिये धर्मोपदेश देता था ॥८८॥ वह सिद्धि प्राप्त करने के लिये वैभव पूर्वक परिवार के साथ श्री जिनेन्द्र भगवान्, मुनि तथा धर्मोपदेश देने वाले केवलियों की यात्रा करता था । अर्थात् उनके दर्शन के लिये जाता था ॥८९॥ वह

१ सुसिद्धये क० ।

मुनिकेवलितीर्थेशां ह्यनन्तगुणशालिनाम् । तद्गुणाय विधत्तेऽसौ सदा मूर्ध्ना नमस्क्रियाम् ।९०।
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां भजते प्रोषधं[1] सुधीः । त्यक्त्वा राज्यादिकारम्भान् सोऽनिशं कर्महानये।९१।
कालत्रये सदा दध्यान्मुक्त्यै सामायिकं मुदा । मुनीन्द्र सदृशो भूत्वा त्यक्तदोषं सुखार्णवम् ।।९२।।
इत्याद्याचरणैः सारैर्नानाभेदैः शुभाकरैः । अणुव्रतैर्गुणाख्यैश्च सर्वैः शिक्षाव्रतैः सदा ।।९३।।
दानपूजोपवासाद्यैर्जिनभक्त्याक्षनिग्रहैः । गुर्वादि सेवया शुद्धमनोवाक्कायकर्मभिः ।।९४।।
करोति विविधं[2] धर्मं स्वर्गमुक्तिगृहाङ्गणम् । प्रत्यहं मुक्तये भूपो विश्वसौख्याकरं परम् ।।९५।।
धर्मादर्थस्ततः कामः क्रमान्मोक्षश्च जायते । इति मत्वा नराधीशो व्यधाद्धर्मं स सर्वदा ।।९६।।
सामन्तैर्भूमिपैः सेव्यमानो मन्त्र्यादिभिः सदा । निमग्नः शर्मवार्धौ स गतं कालं न वेत्ति च ।।९७।।

मालिनी

इति सुकृतविपाकाद्दिव्यसौख्यं स भुंक्ते, क्षणभवमतिरम्यं राज्यभूत्यादिजातम् ।
इति विबुधजना ज्ञात्वा वृषैकं कुरुध्वं, सकलसुखसमुद्रं यत्नतो योगशुद्ध्या ।।९८।।

सदा अनन्तगुणों से सुशोभित मुनि, केवली तथा तीर्थंकरों को उनके गुण प्राप्त करने के लिये शिर से नमस्कार करता था ।।९०।। वह बुद्धिमान्, कर्मक्षय के लिये निरन्तर अष्टमी और चतुर्दशी के दिन राज्यादि का आरम्भ छोड़कर प्रोषध करता था ।।९१।। वह सदा मुक्ति प्राप्त करने के लिये तीनो काल मुनिराज के समान होकर निर्दोष तथा सुख के सागरभूत सामायिक को हर्ष पूर्वक करता था ।।९२।। इत्यादि शुभ की खान स्वरूप नाना प्रकार के श्रेष्ठ आचरणों, समस्त अणुव्रतों, गुणव्रतों, शिक्षाव्रतों, दान, पूजा, उपवास आदि, जिनभक्ति, इन्द्रिय-निग्रह, गुरु आदि की सेवा तथा मन, वचन, काय की शुद्ध क्रियाओं से वह राजा प्रतिदिन मुक्ति प्राप्त के उद्देश्य से विविध प्रकार उत्तम धर्म करता था । उसका वह धर्म स्वर्ग तथा मुक्ति के घर का आंगन तथा समस्त सुखों की खान था ।।९३-९५।। धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और क्रम से मोक्ष होता है ऐसा मानकर वह राजा सदा धर्म किया करता था ।।९६।। सामन्त राजा तथा मन्त्री आदि जिसकी सेवा करते थे ऐसा वह राजा आनन्द से सदा सुखरूपी सागर में निमग्न रहता हुआ व्यतीत हुए काल को नहीं जानता था ।।९७।। इस प्रकार वह राजा पुण्योदय के कारण राज्य वैभव आदि से उत्पन्न क्षणिक तथा अत्यन्त रमणीय दिव्यसुख का उपभोग करता था । हे विद्वज्जन हो ! ऐसा जानकर यत्न पूर्वक त्रियोग की शुद्धि द्वारा समस्त सुखों के सागर स्वरूप एक धर्म को करो ।।९८।।

---

१ [illegible] २ ... और 'विविध धर्मं इत्याद्याचारणम् । स्वर्गमुक्त्यै भूपो विश्वसौख्याकरं परम् ।। ९०

विश्वार्च्यं विश्ववन्द्यं निखिलसुखनिधिं नाकसोपानभूतं,
पापघ्नं शर्मवार्धिं शिवगतिजनकं सारपाथेयमुच्चैः ।
प्रातर्ध्येयं श्रीजिनोक्तं कुगतिपथहरं विश्वभूत्येकहेतुं,
सेवध्वं सौख्यकामा अनुदिनममलं सर्वधर्मं त्रिशुद्धया ॥९९॥

उपजातिः

भवे भवे यः क्षमया सहित्वा घोरोपसर्गं कमठाङ्गिजातम् ।
व्यक्तं स्ववीर्यं प्रविधाय लोके[1] शर्मापि सारं सुगतौ समीडे[2] ॥१००॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्ति-विरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे आनन्दाख्यमहामण्डलीकभवर्द्धिवर्णनो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

अहो सुख के इच्छुक जन हो ! जो सब के द्वारा पूज्य है, सब के द्वारा वन्दनीय है, समस्त गुणों का भण्डार है, स्वर्ग का सोपान स्वरूप है, पापों को नष्ट करने वाला है, सुख का सागर है, सिद्धगति का जनक है, श्रेष्ठ संबल स्वरूप है, प्रातः काल ध्यान करने योग्य है, कुगतियों के मार्ग को हरन करने वाला है समस्त संपदाओं का अद्वितीय हेतु है तथा निर्मल है ऐसे श्री जिनोक्त सर्व धर्म की प्रतिदिन त्रियोग की शुद्धि पूर्वक उपासना करो ॥९९॥

जिन्होंने भव भव में कमठ के जीव द्वारा किये हुए घोर उपसर्ग को क्षमाभाव से सहन कर आत्मवीर्य को प्रकट किया तथा उसके फल स्वरूप लोक में शुभगति सम्बन्धी सुख को प्राप्त किया उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ ॥१००॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में आनन्द नामक महामण्डलेश्वर की सांसारिक विभूति का वर्णन करने वाला सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥७॥



---

१. शर्म सुखम् आप प्राप २. तं स्तौमि ।

अष्टमः सर्गः

सिद्धान्ततीर्थकर्तारं धर्मसाम्राज्यनायकम् । वृषोपदेशिनं पार्श्वनाथं तद्गतये स्तुवे ॥१॥
अथान्यदा किलानन्दमहीट् शिरसि पुण्यतः । विलोक्य पलितं केश काललब्ध्येति चिन्तयेत् ॥२॥
अहो मे ग्रसितुं चागता जरा राक्षसी बलात् । पलितच्छद्मना नूनं यथा निन्द्या जगत्त्रये ॥३॥
तथा गमिष्यति प्राणान् हिंसितु मे यमोऽधमः । निर्दयो हि जराकान्तो विश्वलोकक्षयंकरः ॥४॥
असौ यावत्समायाति तावत्कार्यो महान् बुधैः । अप्रमत्तेन यत्नस्तद्रोधको वा तदन्तकृत् ॥५॥
अहो निवार्यतेऽप्यत्र यमः सिद्धैर्नचापरैः । अतस्तत्पदसिद्धयर्थं क्रियते प्रोद्यमो महान् ॥६॥
विना रत्नत्रयेणैव जातु सिद्धिरदं सताम् । जायते क्वापि काले न ह्यनन्तसुखपूरितम् ॥७॥
राज्यभाराब्धिमग्नानां बहुचिन्तार्तिवर्तिनाम् । गृहिणां जातुभूयान्न सारं रत्नत्रयं दृढम् ॥८॥

अष्टम सर्ग

मैं आगम और धर्माम्नाय के कर्ता, धर्मरूपी साम्राज्य के नायक, तथा धर्म का उपदेश देने वाले श्री पार्श्वनाथ भगवान् को उनकी–सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥

अथानन्तर एक समय आनन्दभूपति शिर पर सफेद वाल देख कर पुण्योदय से काललब्धि के अनुसार इस प्रकार विचार करने लगा ॥२॥ अहो ! जान पड़ता है कि तीनों लोकों मे निन्दनीय राक्षसी के समान यह वृद्धावस्था मुझे बलपूर्वक ग्रसने के लिये सफेद बाल के बहाने आ पहुँची है ॥३॥ जिस प्रकार यह वृद्धावस्था आयी है उसी प्रकार वृद्धावस्था का पति, निर्दय और तीन लोक का क्षय करने वाला नीच यमराज भी मेरे प्राणों को नष्ट करने के लिये आ पहुंचेगा ॥४॥ अतएव जब तक वह आता है तब तक विद्वानों को प्रमाद रहित होकर उसे रोकने वाला अथवा उसका अन्त करने वाला महान् प्रयत्न कर लेना चाहिये ॥५॥ अहो ! इस जगत में वह यमराज, सिद्ध भगवान के द्वारा ही रोका जा सकता है अन्य के द्वारा नहीं, इसलिये उनके पद की प्राप्ति हेतु बहुत भारी उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥ अनन्त सुख से परिपूर्ण सिद्धि पद सत्पुरुषों को रत्नत्रय के बिना कहीं भी किसी भी काल में नहीं प्राप्त हो सकता है ॥७॥ जो राज्य के भार रूपी समुद्र में डूबे हुये हैं तथा अनेक चिन्ताओं की पीड़ा में वर्तमान हैं ऐसे गृहस्थों को श्रेष्ठ

अतस्तत्प्राप्तये शीघ्रं त्याज्यं राज्यसुखादि च । हन्तव्योऽत्र महामोहमल्लः कामारिणा समम् ।।९।।
तद्घाताय ग्रहीतव्यः संयमो मुनिगोचरः । रामाश्रीराज्यगेहादीन् हित्वा मुक्तिनिबन्धकान् ।।१०।।
यावत्स्वस्थमिदं देहं रोगसर्पैर्न पीडितम् । तावद्धितं प्रकर्तव्यं पश्चात्कर्तुं न शक्यते ।।११।।
यावन्न दह्यते कायकुटीरकं जराग्निना । तावत्कार्यो वृषः पश्चात् स विधातुं न शक्यते।।१२।।
इन्द्रियाणि समर्थानि यावत्स्वस्वार्थबोधने । तावद्दीक्षा ग्रहीतव्या मन्दाक्षाणां[1] हि सा कुतः।।१३।।
यावद्बुद्धिः प्रणश्येन्न तावत्कार्या मतिर्बुधैः । साधने परलोकस्य धीहीनानां कुतोऽस्ति तत् ।।१४।।
यावद्वपुः क्षमं कार्यसाधने यौवनान्वितम् । तावत्कार्यं तपो घोरं वृद्धत्वे तत्कथं महत् ।।१५।।
यावन्न क्षीयते स्वायुर्दुर्लभं यत्नकोटिभिः । तावद्धर्मो विधातव्यस्तत्क्षये नास्ति जातु सः ।।१६।।
यौवनं जरया ग्रस्तं स्वायुः [2]कालास्यमध्यगम् । भोगा रोगोपमा जीवितव्यं दर्भाग्रबिन्दुवत् ।।१७।।
राज्यं रजोनिभं कालकूटाभं स्वाक्षजं सुखम् । लक्ष्मी पाशोपमा सर्वे बान्धवा बन्धनोपमाः ।।१८।।

तथा दृढ रत्नत्रय कभी प्राप्त नहीं हो सकता है ।।८।। इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये शीघ्र ही राज्यसुख आदि का त्याग करना चाहिए और कामरूपी शत्रु के साथ मोहरूपी महा-मल्ल को नष्ट करना चाहिये ।।९।। उसका घात करने के लिये मुक्ति को रोकने वाले स्त्री, लक्ष्मी, राज्य तथा घर आदि को छोड़कर मुनि सम्बन्धी सकल संयम ग्रहण करना चाहिये ।।१०।। जब तक यह शरीर रोगरूपी सर्पों के द्वारा पीडित नहीं हुआ है तब तक हित कर लेना चाहिए पश्चात् नहीं किया जा सकता है ।।११।। जब तक यह शरीररूपी कुटी वृद्धा-वस्था रूपी अग्नि के द्वारा नहीं जलती है तब तक धर्म करने के योग्य है; क्योंकि वह पीछे नहीं किया जा सकता है ।।१२।। जब तक इन्द्रियां अपना अपना विषय ग्रहण करने में समर्थ है तब तक दीक्षा ग्रहण करने योग्य है; क्योंकि जिनकी इन्द्रियां शिथिल हो गई हैं उन्हें वह दीक्षा कैसे प्राप्त हो सकती है ? ।।१३।। जब तक बुद्धि नष्ट नहीं हो जाती है तब तक विद्वानों को परलोक के सिद्ध करने का विचार कर लेना चाहिये; क्योंकि बुद्धिहीन मनुष्यों को वह विचार कैसे हो सकता है ? ।।१४।। जब तक यौवन से सहित शरीर कार्य सिद्ध करने में समर्थ है तब तक घोर तप करने योग्य है; क्योंकि वृद्धावस्था में वह महान् तप कैसे किया जा सकता है ? ।।१५।। जब तक दुर्लभ आयु नष्ट नहीं हो जाती है तब तक करोड़ों यत्नों द्वारा धर्म कर लेना चाहिये; क्योंकि आयु का क्षय होने पर वह कभी नहीं किया जा सकता है ।।१६।।

यौवन वृद्धावस्था से ग्रस्त है, अपनी आयु यमराज के मुख में स्थित है, भोग रोगों के समान है, जीवन डाभ के अग्रभाग पर स्थित पानी की बून्द के समान है ।।१७।। राज्य

१. शिथिलेन्द्रियाणां २. यमराजमुखमध्यस्थितम् :

शत्रुतुल्यं कुटुम्ब च भार्या पापखनी खला । किंचिन्न शाश्वतं लोके गेहसैन्यधनादिकम् ॥१६॥
यत्किञ्चिद् दृश्यते रूपि वस्तु लोकत्रये महत् । कालानलेन तत्सर्वं भस्मीभावं प्रयात्यहो ॥२०॥
अतो नश्येदलं यावत्सामग्री मेऽखिलात्र न । आयुर्दृढाङ्गखाद्या महोद्यमादिभवा परा ॥२१॥
तावदक्षकषायारीन्मोहरागादिशात्रवान् । समतातीक्ष्णखड्गेन हत्वा गृह्णामि संयमम् ॥२२॥
इत्यादिविविधालापैः प्राप्य संवेगमञ्जसा । देहभोगभवश्रीराज्यवस्त्वाद्यखिलेषु सः ॥२३॥
काललब्ध्या चकाराशु प्रोद्यमं परमं नृपः । त्यक्तुं राज्यमहाभारं ग्रहीतुं संयमं परम् ॥२४॥
ततो दत्त्वाखिलं राज्यं सतां त्याज्यं श्रिया समम् । स्वज्येष्ठसूनवे भूत्याभिषेकादि पुरस्सरम् ॥२५॥
तृणवद्राज्यधामश्रीकुटुम्बादि विहाय सः । यतेः समुद्रदत्तस्य जगाम सन्निधिं नृपः[1] ॥२६॥
जगद्धितं मुनीन्द्रं तं मुक्तिकान्तं गुणार्णवम् । त्रिःपरीत्य महाभक्त्या नत्वा मूर्ध्ना मुदा नृपः ॥२७॥
हित्वा बाह्यान्तरं सङ्गं सर्वं जग्राह संयमम् । भूमिपैर्बहुभिः सार्द्धं त्रिशुद्धया रागदूरगैः ॥२८॥

रज के समान है, इन्द्रिय जन्य सुख कालकूट के तुल्य है, लक्ष्मी पाश के सदृश है, सब बन्धु जन बन्धन के समान है ॥१८॥ कुटुम्ब शत्रु के तुल्य है और दुष्ट भार्या पाप की खान है। जगत् में घर, सेना तथा धन आदिक कुछ भी शाश्वत नहीं है ॥१६॥ अहो ! तीनों लोकों में जो कुछ भी महान् रूपी वस्तु दिखाई देती है वह सब कालरूपी अग्नि के द्वारा भस्म भाव को प्राप्त हो जाती है ॥२०॥ इसलिये आयु, दृढ शरीर, उपभोग योग्य पदार्थ तथा महोद्यम आदि से उत्पन्न होने वाली मेरी सब उत्कृष्ट सामग्री जब तक यहां सम्पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो जाती है तब तक मैं समतारूपी पैनी तलवार के द्वारा इन्द्रिय, कषाय, मिथ्यात्व तथा रागादि शत्रुओं को नष्ट कर संयम ग्रहण करता हूँ ॥२२।

इत्यादि विविध प्रकार के वचनों से शरीर, भोग, सांसारिक लक्ष्मी तथा राज्य आदि समस्त वस्तुओं में वास्तविक वैराग्य को प्राप्त कर राजा ने काललब्धि से राज्यरूपी महाभार को छोड़ने और उत्कृष्ट संयम को ग्रहण करने का शीघ्र ही उत्कृष्ट प्रयत्न किया ॥२३-२४॥ तदनन्तर वैभव पूर्वक अभिषेकादि कर अपने बड़े पुत्र के लिये सत्पुरुषों के छोड़ने योग्य समस्त राज्य, लक्ष्मी के साथ प्रदान किया और राज्य, घर, लक्ष्मी तथा कुटुम्ब आदि को तृण के समान छोड़कर राजा आनन्द, समुद्रदत्त मुनिराज के समीप गया ॥२५-२६॥ जगत् हितकारी, मुक्ति के स्वामी तथा गुणों के सागर स्वरूप उन मुनिराज को तीन प्रदक्षिणाएं देकर राजा ने बहुत भारी भक्ति से हर्ष विभोर हो उन्हें शिर से नमस्कार किया ॥२७॥ पश्चात् बाह्याभ्यन्तर समस्त परिग्रह का त्याग कर राग से दूर रहने वाले अनेक राजाओं के साथ त्रिशुद्धि पूर्वक संयम ग्रहण कर लिया-मुनि दीक्षा ले ली ॥२८॥

१ तृपं क० ।

[1]हत्वा ऽयशुभलेश्या त्रिशुभलेश्यां समाददौ	मन.शुद्धयाघहन्त्री स महाशुभविधायिनीम् ॥२९॥
अप्रशस्तं द्विधा ध्यान प्रहत्य शुद्धचेतसा	विश्वशर्माकर दक्षः प्रशस्त ध्यानमाददे ॥३०॥
संतताभ्यासपोतेन[2] ह्येकादशाङ्गवारिधेः	पारं जगाम वेगेन महाप्राज्ञो मुनीश्वरः ॥३१॥
अतीचार विनिर्मुक्ताश्चतुर्धाराधना मुनिः	त्रिशुद्धयाराधयामास सखीर्मुक्तिश्रिय पराः ॥३२॥
दृग्ज्ञानवृत्तरत्नादिदाहक क्रोधपावकम्	विध्याप्य क्षान्तिनीरेण स्वीचकारोत्तमां क्षमाम्॥३३॥
मनःकोमलत्वयवज्रेण काठिन्याद्रिं प्रचूर्य सः	मार्दवं स्वर्गसोपानमाददे धर्मसिद्धये ॥३४॥
छित्वा मायामहावल्लीमृजुचित्तायुधेन स.	जग्राह् प्रार्जव सारं चेतसा धर्मलक्षणम् ॥३५॥
वमित्वाऽसत्यवाग्हालाहलं विश्वासनाशनम्	सूनृतौषधयोगेन वृषाय[3] सद्वचोऽवदत् ॥३६॥
संतोषवारिणा लोभमल प्रक्षाल्य संयमी	अभ्यन्तरे व्यधाच्छौचं सद्धर्मसाधन परम् ॥३७॥
बद्ध्वा वैराग्यपाशेन पञ्चेन्द्रियमृगान्मुनिः	सर्वाङ्गिषु दया दत्त्वा विधत्ते संयम परम् ॥३८॥

तीन अशुभ लेश्याओं को नष्टकर मन की शुद्धि द्वारा पापों को नष्ट करने वाली तथा महान् पुण्य को उत्पन्न करने वाली तीन शुभ लेश्याएं ग्रहण की ॥२९॥ अत्यन्त कुशल आनन्द मुनिराज ने दो प्रकार के अप्रशस्त ध्यान को नष्ट कर शुद्ध चित्त से समस्त सुखों की खान स्वरूप प्रशस्त ध्यान को ग्रहण किया ॥३०॥ महा बुद्धिमान् मुनिराज निरन्तर अभ्यासरूपी जहाज के द्वारा ग्यारह अङ्गरूपी समुद्र के पार को वेग से प्राप्त हो गये ।३१। जो अतिचार से रहित थीं तथा मुक्तिरूपी लक्ष्मी की उत्कृष्ट सखी थीं ऐसी चार आराधनाओं का वे मुनि त्रिशुद्धि मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक आराधना करते थे ॥३२॥ दर्शन ज्ञानचारित्ररूप रत्नादि को भस्म करने वाली क्रोधरूपी अग्नि को क्षान्तिरूपी जल से बुझाकर उन्होंने उत्तम क्षमा को स्वीकृत किया था ॥३३॥ मन की कोमलता-रूपी वज्र के द्वारा कठोरता रूपी पर्वत को चूर कर उन्होंने धर्म की सिद्धि के लिये उस मार्दव धर्म को ग्रहण किया था जो स्वर्ग की सीढी के समान था ॥३४॥ उन्होंने कोमल चित्तरूपी शस्त्र के द्वारा मायारूपी बड़ी लता को छेद कर हृदय से आर्जवरूपी श्रेष्ठ धर्म के लक्षण को ग्रहण किया था ॥३५॥ वे सत्य और प्रिय वचन रूपी औषध के योग से विश्वास को नष्ट करने वाले असत्य वचनरूपी हालाहल को उगल कर धर्म के लिये सत्य वचन बोलते थे ॥३६॥ उन मुनिराज ने संतोष रूपी जल के द्वारा लोभरूपी मैल को धोकर अन्तरङ्ग में समीचीन धर्म के साधन स्वरूप शौच धर्म को धारण किया था ॥३७॥ वैराग्यरूपी पाश के द्वारा पञ्चेन्द्रिय रूपी मृगों को बांधकर तथा समस्त जीवों को दया प्रदान कर वे मुनि उत्कृष्ट संयम को धारण करते थे। भावार्थ—वे मुनि इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम के भेद से दोनों प्रकार के सयमों का अच्छी तरह पालन

१. एष श्लोक ख० प्रतौ नास्ति २ निरन्तराभ्यासनौकया ३. धर्माय ।

द्विषड्भेदं तप. कुर्यात्स्वशक्त्या सोऽनघं महत् । धर्मसिद्धिकर सारं वृषायाधर्मनाशकृत्[1] ।।३९।।
द्विधा[2]सङ्गपरित्यागं विद्यादानमद्भुतम् । स्वर्गमोक्षविधातारं विधत्तेऽसौ वृषाप्तये ।।४०।।
कायादौ ममतां त्यक्त्वा कायोत्सर्गं दधात्यसौ । आकिञ्चन्यवृषाप्त्यै संत्यक्तदेहोऽतिनिःस्पृहः ।।४१।।
मातृपुत्र्यादिकं वासौ रूपिणं स्त्रीकदम्बकम् । पश्येच्च शीलसंपूर्णो नवधा[3] ब्रह्मसिद्धये ।।४२।।
दशैव लक्षणान्यत्रेमानि धर्माकराण्यसौ । क्षमादीन्यनिशं योगी व्यधाद्धर्मान् सुधर्मवित् ।।४३।।
रत्नत्रयात्मक धर्मं सम्यक्त्वज्ञानवृत्तजम् । विश्वशर्माकरीभूत सर्वत्रासौ भजेन्मुनि. ।।४४।।
आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयान्सदा । धर्मध्यानान्सुमोक्षाय शुक्लायातिशुभान् व्यधात् ।।४५।।
गिरिकन्दरजीर्णोद्यानादौ व्याघ्रादिसंकुले । नृत्यत्प्रेतादिसताने श्मशानेऽतिभयकरे ।।४६।।
प्रदेशे निर्जने क्लीबस्त्रीपश्वादिविवर्जिते । शून्यागारगुहावृक्षकोटरादिवनाश्रिते ।।४७।।
सर्वत्राप्रतिबद्धोऽस्मावेकाकी सिंहवत्सदा । ध्यानाध्ययनसिद्धयर्थं निर्भयोऽस्थाद्वरासनम् ।।४८।।

करते थे ।।३८।। अधर्म का नाश करने वाले वे मुनि अपनी शक्ति के अनुसार धर्म के लिये धर्म की सिद्धि करने वाला बारह प्रकार का निर्दोष श्रेष्ठ महान् तप करते थे ।।३९।। जिसमें जीव दयारूपी दान दिया जाता है, जो स्वयं आश्चर्यकारी है तथा स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है ऐसे द्विविध परिग्रह के त्यागरूपी त्यागधर्म को वे मुनिराज धर्म प्राप्ति के लिये करते थे ।।४०।। जिन्होंने शरीर का त्याग कर दिया था—जो शरीर से निर्ममत्व थे तथा अत्यन्त निःस्पृह थे ऐसे वे मुनिराज आकिञ्चन्य धर्म की प्राप्ति के लिये शरीर आदि में ममता का त्याग कर कायोत्सर्ग करते थे ।।४१।। संपूर्ण शीलव्रत को धारण करने वाले वे मुनि नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य की सिद्धि के लिये सुन्दर स्त्री समूह को माता तथा पुत्री आदि के समान देखते थे ।। ४२ ।। उत्तमधर्म के ज्ञाता वे योगी—मुनिराज धर्म की खान स्वरूप इन क्षमा आदि दश लक्षण धर्मों को निरन्तर धारण करते थे ।।४३।। समस्त सुखों की खान स्वरूप सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र से होने वाले रत्नत्रय रूप धर्म को वे मुनि सब जगह धारण करते थे ।।४४।।

वे उत्तम मोक्ष के लिये शुक्लध्यान के साधन स्वरूप आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थानविचय नामक चार शुभ धर्मध्यानों को धारण करते थे ।।४५।। व्याघ्र आदि जीवों से परिपूर्ण पर्वत की गुफा तथा जीर्ण उद्यानादि में नृत्य करते हुए प्रेतादि के समूह से सहित अत्यन्त भयंकर श्मशान में, नपुंसक, स्त्री तथा पशु आदि से रहित निर्जन स्थान में, और शून्यागार, गिरिगुहा, वृक्ष, कोटर और निर्जन वन आदि शून्य स्थानों में सिंह के समान निर्भय सर्वत्र प्रतिबन्ध से रहित तथा एकाकी निवास करने वाले

१ प्रधर्मनाशकृत् इतिच्छेद , विपयाधर्मनाशकृत् क० २. बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधपरिग्रहत्यागं ३. नवकोटिभि. ।

आतापनद्रुमूलाभ्रावकाशयोगधारणैः । कायक्लेशं परं कुर्यान्नित्यं सोऽङ्गसुखातिगः ।।४९।।
पुरग्रामाटवीदेशान् वायुवद्विहरेन्मुनिः । मुक्तिमार्गोपदेशाय भव्यानां सोऽतिनिर्ममः ।।५०।।
रविरस्तं ह्ययाद्यत्र तत्रास्थात् स दयार्द्रधीः । व्युत्सर्गेण[1] च हित्वाङ्गं रक्षायै निखिलाङ्गिनाम् ।५१।
भावयत्यनिशं योगी भावनाः पञ्चविंशतिम्[2] । महाव्रतविशुद्धचर्थं वाग्गुप्त्याद्या व्रतप्रदाः ।।५२।।
निरन्तरमनुप्रेक्षाश्चिन्तयत्येवमानसे । वैराग्याम्बाः समस्ताः स निर्वेदत्रिकवृद्धये ।।५३।।
सर्वान्मूलगुणान्धीमानतीचारातिगान् सदा । पालयत्येव सर्वेषां गुणानां मूलकारणात् ।।५४।।
द्विषड्भेदतपोभिश्च प्रसोढव्यपरीषहैः । उत्तराख्यगुणान्विश्वान्पालयेद् गुणसिद्धये ।।५५।।
अष्टादशसहस्रप्रमैः शीलाभरणैर्मुनिः । भूषितश्चतुरशीतिलक्षसद्गुणवर्म्मितः ।।५६।।
तपःशस्त्रैश्च दिग्वस्त्रैर्मण्डितो यमसैन्यकैः । [3]शमतावाहनारूढो गुप्त्यङ्गरक्षकैर्वृतः ।।५७।।
हन्तुं दुःकर्मशत्रूंश्च सच्चारित्ररणावनौ । मुक्तिराज्याय भातीव मुनीशोऽत्र महाभटः ।।५८।।

वे मुनिराज ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये उत्कृष्ट आसन जमाते थे। भावार्थ–विविक्त शय्यासन तप की साधना करते थे ।।४६–४८।। शरीर सम्बन्धी सुख से दूर रहने वाले वे मुनिराज आतापन, वृक्षमूल तथा अभ्रावकाश योगों को धारण कर निरन्तर काय-क्लेश नामका उत्कृष्ट तप करते थे ।।४६।।

अत्यन्त ममता से रहित वे मुनि भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिए पुर ग्राम तथा अटवी आदि स्थानों में वायु के समान विहार करते थे ।।५०।। विहार करते करते जहां सूर्य अस्त हो जाता था वे दयार्द्र बुद्धि मुनि समस्त जीवों की रक्षा के लिये व्युत्सर्ग तप के द्वारा शरीर को छोड़कर अर्थात् प्रतिमा योग धारण कर वहीं स्थित हो जाते थे ।।५१।। वे योगिराज महाव्रतों की विशुद्धि के लिये व्रतों को देने वाली वचन गुप्ति आदि पच्चीस भावनाओं की निरन्तर भावना करते थे ।।५२।। वे तीनों प्रकार के वैराग्य की वृद्धि के लिये वैराग्य की माताओं के समान समस्त अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर मन में चिन्तवन करते थे ।।५३।। वे बुद्धिमान मुनिराज समस्त गुणों के मूलकारण होने से अति-चार रहित समस्त मूलगुणों का सदा पालन करते थे ।।५४।। वे गुणों की सिद्धि के लिये बारह तप तथा बाईस परिषह जय के द्वारा समस्त उत्तर गुणों का पालन करते थे ।।५५।। जो शील के अठारह हजार भेद रूपी आभरणों से विभूषित हैं, चौरासी लाख उत्तर गुण रूपी कवच से युक्त हैं, तपरूपी शस्त्र, दिशारूपी वस्त्र और संयमरूपी सैनिकों से युक्त है, शान्ति परिणति रूपी वाहन पर सवार है तथा गुप्तिरूपी अङ्ग रक्षकों से घिरे हुए है ऐसे वे मुनिराज सम्यक् चारित्ररूपी रणभूमि में दुष्कर्म रूपी शत्रुओं को नष्ट करने और मुक्तिरूपी राज्य को प्राप्त करने के लिये महाभट–महान् योद्धा के समान सुशोभित होते थे ।५६–५८।

१ व्युत्सर्गेणाहित त्वाङ्ग क० २. पञ्चव्रतानां पञ्च पञ्च भेदेन पञ्चविंशतिर्भावना भवन्ति ३ शमवाहनमारूढो ख०

ततोऽसौ भावयेन्नित्यं कारणान्यपि षोडश । बन्धकारणभूतानि तीर्थंकृन्नामकर्मणः ॥५९॥
देवलोकाख्यमूढत्वं समयाख्यमिति[1] त्रिधा । मूढत्वं मूढलोकानां महापापास्रवाकरम् ॥६०॥
सज्जातिसत्कुलैश्वर्यरूपज्ञानतपोबलाः । शिल्पश्चेति मदा अष्टौ त्याज्या [2]दृग्घातिनोऽशुभाः६१
मिथ्यादृग्ज्ञानचारित्राणि तत्ससेविनो जनाः । इत्यनायतनं हेयं षड्विधं श्वभ्रकारणम् ॥६२॥
श्रीजिने गुरुसिद्धान्ते सूक्ष्मतत्त्वविचारणे । हत्वा शङ्कां विधत्तेऽसौ निःशङ्कां मुक्तिमातरम् ।६३।
त्यक्त्वा कांक्षां सुभोगादौ स्वर्गराज्यादिगोचरे । तपसारातिघाते वाऽधान्निःकांक्षां स मोक्षदाम् ।६४।
मलजल्लादिलिप्ताङ्गे स्वाङ्गसंस्कारवर्जिते । सन्मुनौ विचिकित्सां हत्वाधान्निर्विचिकित्सताम्।६५।
धर्मे तत्त्वे गुरौ दाने देवे शास्त्रेऽशुभादिके । मूढभाव प्रहत्यासौ ह्यमूढत्वं[3] दधेऽनिशम् ।।६६।।
जिनेन्द्रशासनस्याशु बालाशक्तजनाश्रयात् । आगतं दोषमाच्छाद्य ह्युपगूहनमाचरेत् ॥६७॥
दृग्व्रतादेः परिज्ञाय चलतो धर्मदेशनैः । तद्धर्मादौ स्थिरीकृत्य संस्थितीकरणं भजेत् ।।६८।

तदनन्तर वे निरन्तर तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध में कारणभूत सोलहकारण भावनाओं की भावना करने लगे ॥५९॥ देव मूढता, लोक मूढता और धर्म मूढता (गुरुमूढता) ये तीन मूढताएं हैं जो मूढ मनुष्यों के महान् पापास्रव की खान हैं ।।६०।। सत् जाति, सत्कुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और शिल्प ये सम्यग्दर्शन को घातने वाले आठ अशुभ मद छोड़ने के योग्य हैं ।।६१।। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और इनके सेवक ये नरक के कारणभूत छह अनायतन छोड़ने के योग्य हैं ।।६२।। वे मुनिराज, श्री जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनसिद्धान्त और सूक्ष्म तत्त्वों की विचारणा में शङ्का को नष्ट कर मुक्ति की मातारूप निःशङ्क श्रद्धा को धारण करते थे अर्थात् वे सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित अङ्ग का अच्छी तरह पालन करते थे ।।६३।। वे स्वर्ग तथा राज्यादि विषयक उत्तम भोगादिक में अथवा तप के द्वारा शत्रुओं का घात करने में कांक्षा का त्याग कर मोक्ष को देने वाली निःकांक्ष श्रद्धा को धारण करते थे अर्थात् वे सम्यग्दर्शन के निःकांक्षित अङ्ग की अच्छी तरह रक्षा करते थे ।। ६४ ।। जिनका शरीर मल तथा जल्ल आदि से लिप्त है और जो अपने शरीर के संस्कार से रहित हैं ऐसे उत्तम मुनि में ग्लानि को नष्ट कर वे निर्विचिकित्सा अङ्ग को धारण करते थे ।।६५।। वे अशुभ धर्म, अशुभ तत्त्व, अशुभ गुरु, अशुभ दान, अशुभ देव और अशुभ शास्त्र में मूढता का त्याग कर निरन्तर अमूढ दृष्टि अंग को धारण करते थे ।।६६।। वे बालक अथवा शक्तिहीन मनुष्यों के आश्रय से होने वाले जिन शासन के दोष को शीघ्र ही छिपा कर उपगूहन अङ्ग का आचरण करते थे ।।६७।। वे सम्यग्दर्शन तथा व्रतादिक से विचलित होते हुए लोगों को जान कर धर्मोपदेश के द्वारा उन सद्धर्म आदि में स्थित करते थे। इस प्रकार वे स्थितीकरण अङ्ग की

१. [illegible] २. सम्यग्दर्शन घातका. ३. अमूढताम्‌ढाङ्गं ।

कायादौ त्यक्तमोहोऽपि सद्यः प्रसूतधेनुवत् । कृत्वा साधर्मिके स्नेहं कुर्याद्वात्सल्यमद्भुतम् ॥६९॥
प्रकटीकृत्य तीर्थेशशासनं मुक्तिकारणम् । ज्ञानेन तपसा दध्यात्सखी मुक्तेः प्रभावनाम् ॥७०॥
एवं सोऽष्टविधैरङ्गैर्दृढीभूतं सुदर्शनम् । चकार मुक्तिसोपानमाद्यं कर्मारिहानये ॥७१॥
तद्विपक्षा हि दृग्दोषा अष्टौ शङ्कादयोऽशुभाः । ये सन्ति तांश्च सद्दृष्टिर्जातु स्वप्नेऽपि न स्पृशेत्॥७२
एवं सर्वान् [1]मलांस्त्यक्त्वा पञ्चविंशतिसङ्ख्यकान् । मूढत्वदुर्मदादींश्च सम्यक्त्वमलदायिनः ॥७३॥
दर्शनस्य विशुद्धिं स्वमनोवाक्कायचेष्टितैः । चकार महतीं मुक्त्यै तीर्थराजविभूतिदाम् ॥७४॥
ज्ञानदर्शनचारित्रतपस्सु तद्व्रतात्मसु । सोऽकरोद्विनयं नित्यं विद्यादिगुणसागरम् ॥७५॥
अष्टादशमहाशीलसहस्राणां गुणात्मनाम् । तपोऽखिलव्रतादीनां नातीचारं व्यधात्क्वचित्॥७६॥
अङ्गपूर्वाणि धीमान्सोऽभीक्ष्णमज्ञानहानये । केवलाय पठत्येव सतां पाठयति स्फुटम् ॥७७॥
देहभोगभवादौ स सर्वत्रानिशमादधे । वैराग्यं रागमाहत्य [2]स्वर्गमोक्षाध्वदर्शकम् ॥७८॥

आराधना करते थे ॥६८॥ यद्यपि वे शरीरादि में मोह का त्याग कर चुके थे तथापि समान धर्मी बन्धु में तत्काल प्रसूता गाय के समान स्नेह करते हुए अद्भुत वात्सल्य अङ्ग का पालन करते थे ॥६९॥ वे मुक्ति के कारणभूत जिनशासन को ज्ञान और तप के द्वारा प्रकट कर मुक्ति की सखी स्वरूप प्रभावना को धारण करते थे ॥७०॥ इस प्रकार वे कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करने के लिये मुक्ति की प्रथम सीढ़ी स्वरूप सम्यग्दर्शन को दृढ करते थे ॥७१॥ सम्यग्दर्शन के विरोधी जो शङ्का आदिक आठ दोष हैं सम्यग्दृष्टि मुनिराज स्वप्न में भी उनका स्पर्श नहीं करते थे ॥७२॥ इस प्रकार वे सम्यग्दर्शन में मल उत्पन्न करने वाले मूढता तथा दुष्टमद आदि समस्त पच्चीस दोषों का त्याग कर अपने मन वचन काय की चेष्टाओं द्वारा तीर्थंकर की महान् विभूति को देने वाली दर्शन विशुद्धि नामक महाभावना की मुक्ति प्राप्त करने के लिये सदा भावना करते थे ॥७३–७४॥ वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप और इनके धारक जीवों में विद्या आदि गुणों के सागर स्वरूप विनय को नित्य करते थे ॥७५॥ वे शील के अठारह हजार भेदों तथा समस्त व्रतादिक गुणों में कहीं भी अतिचार नहीं लगाते थे। अर्थात् शीलव्रतेष्वनतिचार नामक भावना का चिन्तवन करते थे ॥७६॥ वे बुद्धिमान् मुनिराज मात्र अज्ञान की हानि के लिये निरन्तर अङ्ग और पूर्वों का स्वयं पाठ करते थे और दूसरों को स्पष्ट रूप से पाठ कराते थे। भावार्थ–वे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग भावना का चिन्तवन करते थे ॥७७॥ वे सर्वत्र राग को नष्ट कर शरीर भोग तथा संसार आदि के विषय में निरन्तर स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग दिखाने वाला वैराग्यभाव धारण करते थे अर्थात् संवेग भावना का चिन्तवन करते थे ॥७८॥ वे बुद्धिमान् मुनिराज

१ दोषान् २. स्वर्गमोक्षपथप्रदर्शकम् ।

ज्ञानाभयादिसद्दानं दत्ते धीमान्निरन्तरम् । मुनीनां च सुपात्राणां स्वान्ययोर्हितकारणम् ॥७९॥
स्ववीर्यं प्रकटं कृत्वा द्वादशैव तपांसि सः । कर्मेन्धनेऽग्निसादृश्यान्यधाद्घोराणि सिद्धये ॥८०॥
असमाधिमतां साधूनां च प्रत्यूहसंस्थितैः । शुश्रूषागमदेशैः साधुसमाधिं सदाभजत् ॥८१॥
यतीनां त्यक्तसङ्गानां रोगादिपीडितात्मनाम् । करोति दशधा[1] वैयावृत्यं योगेन शर्मदम् ॥८२॥
अर्हतां तीर्थनाथानां ध्यानपूजास्तवादिभिः । अनन्यशरणोभूत्वा विदध्याद्भक्तिमूर्जिताम् ॥८३॥
पञ्चाचारवतां शिष्याणामाचारोपदेशिनाम् । आचार्याणां त्रिशुद्धयासौ धत्ते भक्तिं गुणावनिम् ।८४।
बहुश्रुतवतां योगिनां ज्ञानाब्ध्यवगाहिनाम् । भक्तिं दृढतरां सोऽधाद्विश्वपूर्वाङ्गदर्शिनीम् ॥८५॥
स्वर्गमुक्तिपथोद्योतिन्यज्ञानध्वान्तनाशिनि[2] । भक्तिं प्रवचने सोऽधान्नि:शेषतत्त्वदर्शिनि[3] ॥८६॥
निन्दास्तुतौ दृषत्स्वर्णे श्मशाने दिव्यधामनि । पल्यङ्के कण्टकाग्रे च जीर्णाङ्गे दिव्ययोषिति ।८७।

निरन्तर मुनि आदि सुपात्रो के लिये स्वपर हित कारक ज्ञान तथा अभय आदि समीचीन दान देते थे अर्थात् शक्तितस्त्याग भावना का चिन्तवन करते थे ॥७९॥ वे सिद्धि प्राप्त करने के लिये आत्मशक्ति को प्रकट कर कर्मरूपी ईंधन को जलाने के हेतु अग्नि की समानता रखने वाले बारह तप करते थे, अर्थात् शक्तितस्तप भावना का चिन्तवन करते थे ॥८०॥ वे विघ्न उपस्थित होने पर असमाधि युक्त साधुओं की सेवा तथा आगम के उपदेश के द्वारा सदा साधु समाधि को प्राप्त होते थे अर्थात् साधुओं की अच्छी तरह सेवा करते हुए साधु समाधि भावना का पालन करते थे ॥८१॥ वे रोगादि से पीडित निर्ग्रन्थ साधुओं की सुखदायक दश प्रकार की वैयावृत्य मन वचन काय रूप योगों से किया करते थे अर्थात् वैयावृत्य भावना का चिन्तन करते थे ॥८२॥ वे अनन्यशरण होकर ध्यान पूजा तथा स्तवन आदि के द्वारा तीर्थ के नायक अरहन्त भगवान् की अत्यधिक भक्ति करते थे अर्थात् अर्हद्भक्ति भावना का चिन्तवन करते थे ।८३। जो स्वयं पञ्चाचार का पालन करते थे तथा शिष्यो को उनका उपदेश देते थे ऐसे आचार्यो की वे त्रिशुद्धि पूर्वक गुणों की भूमिस्वरूप भक्ति करते थे अर्थात् आचार्य भक्ति भावना का पालन करते थे ।८४। वे ज्ञानरूपी सागर में अवगाहन करने वाले बहुश्रुतवन्त साधुओं की समस्त पूर्व और अङ्गों को दिखलाने वाली अत्यन्त दृढ भक्ति करते थे अर्थात् बहुश्रुत भक्ति की भावना करते थे ॥८५॥ जो स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करने वाला है, अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला है तथा समस्त तत्त्वों को दिखलाने वाला है ऐसे प्रवचन में भक्ति धारण करते थे अर्थात् प्रवचन भक्ति भावना की साधना करते थे ॥८६॥ आवश्यकापरिहाणि भावना के अन्तर्गत शान्त चित्त का

---

१ 'आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानाम्' इति दशविधमुनीनां भेदेन वैयावृत्यं दशधा जायते।
२ नाशिनीम् म० ३ दर्शिनीम् म० ।

चर्मचीनांशुके मित्रे रिपौ शर्मेतरेऽखिले । मरणे जीवितादौ समता सोऽधाच्छमी हृदि ।।८८।।
चतुर्विंशति तीर्थेशामनन्तगुणशालिनाम् । तद्गुणौघैः स्तवं कुर्यात्तद्गुणार्थी स प्रत्यहम् ।।८९।।
एकतीर्थकृतः पञ्चसत्परमेष्ठियोगिनाम् । त्रिकालवन्दनां दक्षोऽवश्यं स कुरुते त्रिधा ।।९०।।
कृतातीचारशुद्धयर्थं प्रतिक्रमणमन्वहम् । निन्दागर्हणाभ्यां [1]स विधत्ते दोषनाशकृत् ।।९१।।
अयोग्यद्रव्यक्षेत्रादीनां योग्यानां स वानिशम् । तपःसिद्धयै स्वसामर्थ्यात्प्रत्याख्यानं भजेन्महत् ।९२।
[2]पूर्वकृत्यापहान्यर्थं पक्षमासादिगोचरम् । व्युत्सर्गं भजते नित्यं त्यक्तदेहोऽघघातकम् ।।९३।।
इत्यतीचारनिर्मुक्तं षडावश्यकमञ्जसा । प्रमादेन विना कुर्यात्काले काले स यत्नतः ।।९४।।
मार्गप्रभावना सोऽधाज्जैने धर्मे सुखार्णवे । लोके भक्त्या तपोज्ञानाद्याचारैर्दुष्करैः सदा ।।९५।।
तपोऽधिकमुनीन्द्राणां पारगाणां श्रुताम्बुधेः । धत्ते प्रवचनस्यासौ वात्सल्यं विनयादिभिः ।।९६।।
इमाः स भावयामास भावनाः षोडश निशम् । अनन्तशर्मदाः कर्त्रीस्तीर्थकृन्नामकर्मणः ।।९७।।

धारण करने वाले वे भगवान् निन्दा और स्तुति, पाषाण और सुवर्ण, श्मशान और सुन्दर महल, पलंग और कांटों का अग्रभाग, जीर्ण शरीर और दिव्य स्त्री, चर्म और चीनवस्त्र, मित्र और शत्रु, समस्त सुख और दुःख, तथा मरण और जीवन के विषय में सदा हृदय मे समता भाव धारण करते थे ।।८७–८८।। वे प्रतिदिन उनके गुणों के इच्छुक होते हुए अनन्त गुणों से सुशोभित चौबीस तीर्थकरों का स्तवन उनके गुण समूह का उच्चारण करते हुए करते थे ।।८९।। अतिशय कुशल मुनिराज एक तीर्थंकर और पांच परमेष्ठियों की त्रिकाल वन्दना मन वचन काय से अवश्य ही करते थे ।।९०।। दोषों का नाश करने वाले वे मुनिराज किये हुए अतिचारों की शुद्धि के लिये निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते थे ।।९१।। वे तप की सिद्धि के लिये अपनी सामर्थ्य की अनुसार अयोग्य अथवा योग्य द्रव्य क्षेत्र आदि का बहुत भारी प्रत्याख्यान करते थे अर्थात् अयोग्य द्रव्य क्षेत्र आदि का त्याग तो करते ही थे किन्तु यातायात सम्बन्धी विकल्प को कम करने के लिये योग्य द्रव्य क्षेत्रादि में भी आने जाने का परिमाण करते थे ।।९२।। पूर्वकृत पापों को नष्ट करने के लिये वे शरीर से ममताभाव छोड़ कर निरन्तर पक्ष माह आदि विषयक, पापघातक व्युत्सर्ग कायोत्सर्ग करते थे ।।९३।। इस प्रकार वे प्रमाद रहित होकर समय समय पर यत्नपूर्वक सम्यक् प्रकार से निरतिचार षडावश्यकों का पालन करते थे ।।९४।। वे लोक में सदा भक्तिपूर्वक अतिशय कठिन तप तथा ज्ञान आदि आचारों के द्वारा सुख के सागर स्वरूप जैनधर्म मे मार्ग प्रभावना करते थे ।।९५।। वे शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी तपस्वी मुनियों की विनय आदि के द्वारा प्रवचन वात्सल्य को धारण करते थे ।।९६।। इस प्रकार वे निरन्तर अनन्त सुख को

१ सविधत्ते ख० २. पूर्वकृत्यापहारार्थं ख० ।

तत्फलेन बबन्धाशु दृग्विशुद्धिविभूषितः । तीर्थकृन्नामकर्मासौ त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥९८॥
अनन्तमहिमोपेतं नृसुराधिपवन्दितम् । जगत्त्रयहितं पूज्य मुक्तिकान्ता विवाहकृत् ॥९९॥
एकदा विहरन् देशानटव्यादीन्महातपाः । धीरः क्षीरवने [1]सोऽगादेकाक्यतिभयङ्करे ॥१००॥
प्रायोपगमनाख्यं संप्राप्य संन्यासमद्भुतम् । प्रतिमायोगदामाय त्यक्त्वा कायादिकोपधिम् ॥१०१॥
अभीप्सु. सिद्धिकान्तां स निर्ममत्वो जितेन्द्रियः । कायोत्सर्गेण तत्रास्थात्स्थिरोऽचलनिभो महान् ॥१०२॥
अथ स प्राक्तनः पापी कमठोऽघविपाकतः । प्रच्युत्य नरकात्तत्र रौद्रः [2]कण्ठीरवोऽभवत् ॥१०३॥
नि:स्पृह ध्यानसंलीनं त्यक्तकायं शुभाशयम् । जिनपादाब्जसंसक्तं स्थिरं पर्वतराजवत् ॥१०४॥
कषायाक्षारिजेतारं कर्मणो जेतुमुद्यतम् । भ्रमन् सिंहो वनं यायात्तं ददर्श मुनीश्वरम् ॥१०५॥
ततः प्राग्भववैरेण प्राप्य कोपं हि दारुणम् । अग्रहीत्स मुनेः कण्ठ तीक्ष्णदंष्ट्रैः क्षुधातुरः ॥१०६॥

देने वाली तथा तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कराने वाली इन षोडश कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तवन करते थे ॥९७॥ दर्शन विशुद्धि से विभूषित उन मुनिराज ने शीघ्र ही पूर्वोक्त भावनाओं के फलस्वरूप तीन लोक के क्षोभ का कारण तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। वह तीर्थंकर पद अनन्त महिमा से सहित है, मनुजेन्द्र तथा देवेन्द्रों के द्वारा वन्दित है, तीनों जगत् का हितकारी है, पूज्य है और मुक्तिरूपी कान्ता के विवाह को करने वाला है ॥९८-९९॥

नानादेश तथा अटवी आदि में विहार करते हुए वे महातपस्वी धीर वीर मुनि एक समय अकेले ही अत्यन्त भयंकर क्षीर वन में पहुंचे ॥१००॥ वहां उन्होंने आश्चर्यकारी प्रायोपगमन नामक संन्यास प्राप्त किया और शरीरादिक उपाधि का त्याग कर प्रतिमायोग धारण किया ॥१०१॥ जो मुक्तिरूपी वधू के इच्छुक थे, सब प्रकार की ममता से रहित थे तथा जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया था ऐसे मुनिराज कायोत्सर्ग द्वारा पर्वत के समान अत्यन्त स्थिर हो गये ॥१०२॥

अथानन्तर वह पहले का पापी कमठ पापोदय के कारण नरक से निकल कर उसी वन मे क्रूर सिंह हुआ था ॥१०३॥ वन में भ्रमण करते हुए सिंह ने उन मुनिराज को देखा जो निःस्पृह थे, ध्यान में लीन थे, शरीर की ममता को छोड़ चुके थे, शुभपरिणामों से युक्त थे, जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों में संलग्न थे, पर्वतराज के समान स्थिर थे, कषाय और इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जीतने वाले थे, तथा कर्मों को जीतने के लिये उद्यत थे ॥१०४-१०५॥ तदनन्तर पूर्वभव के वैर से उस क्षुधातुर-भूख से पीडित सिंह ने तीव्र

१. सोऽगादेकाकी ब० २. सिंह ।

दन्तैर्नखैर्महातीक्ष्णैर्मुखेनातिकदर्थनैः । कृत्स्नदुःखाकरं नानाविधं कातरभीतिदम् ॥१०७॥
स पापी दुःसहं घोरं चोपसर्गं व्यधान्मुनेः । भक्षणैस्ताडनैः छेदनभेदनादिकर्मभिः ॥१०८॥
एतस्मिन्नन्तरे दत्तं स्वचित्तं क्लेशदूरगम् । जिनपादाम्बुजे तेन निश्चलं मुनिना द्रुतम् ॥१०९॥
मनोजयेन सिंहेन पीड्यमानोऽपि धीरधीः । न वेत्ति तत्कृता बाधा बह्वी ध्यानस्थमानसः ।११०।
अतोऽसौ निर्भयो धीमान् जित्वाखिलपरीषहान् । मेरुशृङ्गनिभः सोऽस्थादामृत्यन्तं शुभाशयः ॥१११॥
कायान्मनः पृथक् कृत्वा संवेगादिगुणाङ्कितम् । सहित्वा तद्भवां बाधां स्वाराध्याराधनाः शुभाः।११२
विधिनोत्कृष्टधर्म्यध्यानेन स्वैकाग्रचेतसा । समस्तातिप्रयत्नेन त्यक्त्वा प्राणान् शुभोदयात् ११३।
इन्द्रो महर्द्धिकः सोऽभूत्कल्पे ह्यानतनामनि । विमाने प्राणताख्येऽतिशर्मदे मुनिनायकः ॥११४॥
मुनिहत्याजपापौघभारेणातिप्रपीडितः । रौद्रध्यानेन मृत्वा पपात सिंहोऽतिदुःकरे ॥११५॥
धूमप्रभाभिधे श्वभ्रे दुस्सहे विषमेऽशुभे । सर्वदुःखाकरीभूते पापिसत्त्वकुलगृहे [कुलास्पदे] ॥११६।

क्रोध प्राप्त कर तीक्ष्ण दाढ़ों से उन मुनि का कण्ठ पकड़ लिया ॥१०६॥ उस पापी ने अत्यन्त तीक्ष्ण तथा अत्यधिक दुःख देने वाले दांतों से, नखों से, भक्षण से, ताडन से तथा छेदन भेदन आदि कार्यों से उन मुनिराज पर ऐसा घोर उपसर्ग किया जो समस्त दुःखों की खान था, नाना प्रकार का था, कायर मनुष्यों को भय देने वाला था, तथा दुःसह दुःख से सहन करने योग्य था ॥१०७–१०८॥ इस बीच में मुनिराज ने क्लेशों से दूर रहने वाला अपना निश्चल चित्त शीघ्र ही जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों में संलग्न कर लिया ॥१०९॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त धीर थी तथा जिनका मन ध्यान में स्थिर था ऐसे वे मुनि मन को जीत लेने से सिंह के द्वारा पीडित होते हुए भी उसके द्वारा की हुई बहुत भारी बाधा का वेदन नहीं करते थे ॥११०॥ यही कारण है कि निर्भय, बुद्धिमान् तथा शुभ अभिप्राय वाले वे मुनिराज समस्त परिषहों को जीत कर मरणपर्यन्त के लिये मेरु शिखर के समान निश्चल विराजमान हो गये ॥१११॥ संवेगादि गुणों से अङ्कित मन को शरीर से पृथक् कर वे मुनिराज सिंह कृत बाधा को सहते रहे तथा शुभ आराधनाओं की आराधना कर अपने एकाग्रचित्त से विधि पूर्वक उत्कृष्ट धर्म्यध्यान के द्वारा समस्त प्रयत्नों से प्राणो का त्याग कर पुण्योदय से आनत नामक स्वर्ग के अतिशय सुखदायक प्राणत विमान में महान् ऋद्धियो के धारक इन्द्र हुए ॥११२–११३–११४॥

मुनिहत्या से उत्पन्न पाप समूह के भार से अत्यन्त पीडित हुआ वह सिंह रौद्रध्यान से मर कर धूमप्रभा नामक पांचवें नरक में जा पड़ा। वह नरक अत्यन्त दुष्कर, दुःसह, विषम, अशुभ, समस्त दुःखों की खान तथा पापी जीवो का कुलगृह था ॥११५–११६॥

तत्र भुक्तं चिरं घोर दुःखं वाचामगोचरम् । तीव्रं प्राग्वर्णनोपेत छेदनादिभवं परम् ॥११७॥
कृष्णलेश्योऽतिरौद्रार्त्तध्यानध्याता सुखातिगः । सर्वाङ्गपीडित. सप्तदशसागरजीवितः ॥११८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एव ¹सत्क्षमयामराखिलनुत भोगोपभोगाकरं,
प्राप्तः शक्रपदं मुनिश्च विमलं कोपाच्च वैराशुभात् ।
सिंहः श्वभ्रमतीव दु.खकलितं ज्ञात्वेति हे धीघना,
हत्वा क्रोधमसारवैरमशुभ यत्नाद्भजध्वं क्षमाम् ॥११९॥
सर्वानर्थपरम्पर.पंणपर दु.खार्णवे मज्जकं,
धर्मारण्यहुताशनं कुरतिदं बाधाकरं स्वान्ययोः ।
कृत्स्नाघाकरमात्मनाशजनक शर्माद्रिवज्रोपमं,
कोपारिं सुबुधा हनन्तु ? (जयन्तु) कुरिपुं यत्नेन क्षान्त्यायुधैः ॥१२०॥

वहां वह चिरकाल तक पूर्व वर्णना से सहित, छेदन भेदन आदि से उत्पन्न होने वाले वचनागोचर अत्यधिक तीव्र घोर दुःख भोगने लगा ॥११७॥ वह नारकी कृष्णलेश्या का धारक था, तीव्र रौद्र और आर्त्तध्यान से सहित था, सुख से शून्य था, सर्वाङ्ग से पीडित था और सत्तरह सागर की आयु वाला था ॥११८॥

इस प्रकार उत्तम क्षमा से मुनि समस्त देवों के द्वारा स्तुत तथा भोगोपभोगों की स्थान स्वरूप निर्मल इन्द्र पद को प्राप्त हुए और सिंह वैर के कारण अशुभ क्रोध से अत्यधिक दु:ख युक्त नरक को प्राप्त हुआ—ऐसा जान कर हे विद्वज्जन हो ! असार वैर से युक्त क्रोध को नष्ट कर यत्न पूर्वक क्षमा की आराधना करो ॥११९॥ जो समस्त अनर्थों की परम्परा को प्रदान करने मे तत्पर है, दुःखरूपी सागर में डुबाने वाला है, धर्मरूपी वन की अग्नि है, खोटी रति को देने वाला है, निज पर को बाधा करने वाला है, समस्त पापों की खान है, आत्मनाश का जनक है, तथा सुखरूपी पर्वत को वज्र तुल्य है ऐसे क्रोधरूपी दुष्ट शत्रु को हे विद्वज्जन हो ! क्षमारूपी शस्त्रों के द्वारा यत्न पूर्वक नष्ट करो ॥१२०॥ जो पाप को नष्ट करने वाली है, धर्म की खान है, शिवसुख की जननी है, स्वर्ग की सीढी स्वरूप है, सबके द्वारा पूज्य है, विश्ववन्द्य है, समस्त गुणों की भण्डार है, क्लेश और संताप से दूर है, नरक रूपी घर की अर्गला है, समस्त श्रुत ज्ञान को प्रकट करने वाली है

---

१ [illegible]

स्रग्धरा

पापघ्ना धर्मखानि शिवसुखजननी स्वर्गसोपानमाला.
विश्वार्च्या विश्ववन्द्यां निखिलगुणनिधिं क्लेशसंतापदूराम् ।
श्वभ्रागारार्गला सच्छ्रुतसकलकरां कोपशत्रुं प्रहत्य,
क्षान्ति त्यक्तोपमां नित्यमपि सुकृतिनो यत्नतः संभजध्वम् ॥१२१॥

मालिनी

इह निरुपमदेवो विश्वविघ्नाद्रिवज्रः, प्रकटितनिजवीर्यः शत्रुघोरोपसर्गात् ।
अमलगुणनिधानः पार्श्वनाथो ममास्तु, दुरितचयविहान्यै सस्तुतस्तद्गुणाय ॥१२२॥

इति भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे आनन्दमुनिवैराग्योत्पत्तितपोवर्णनो नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

तथा निरुपम है ऐसी क्षमा की हे पुण्यशाली जन हो ! क्रोधरूपी शत्रु को नष्ट कर यत्नपूर्वक उपासना करो ॥१२१॥

जो समस्त विघ्नरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिये वज्र के समान है, शत्रुकृत घोर उपसर्ग से जिन्होंने आत्मबल को प्रकट किया है, तथा जो निर्मल गुणों के भण्डार है ऐसे अनुपम देव श्री पार्श्वनाथ भगवान् मेरे द्वारा संस्तुत होते हुए मेरे पाप समूह को नष्ट करने तथा अपने उन गुणों को प्रदान करने के लिये हों ॥१२२॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित पार्श्वनाथ चरित में आनन्द मुनि के वैराग्य की उत्पत्ति तथा तप का वर्णन करने वाला अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥८॥



नवमः सर्गः

श्रीमते विश्वनाथाय विश्वदुःखाग्निवार्मुचे[1] । त्रिजगत्स्वामिने मूर्ध्ना श्रीपार्श्वाय नमः सदा ॥१॥
अथासौ प्राप्य संपूर्णयौवनं घटिकाद्वयात् । उपपादशिलागर्भे रत्नरश्मिसमाकुले ॥२॥
उत्थाय दिव्यशय्यायाः सर्वाभरणमण्डितः । वीक्षते स्म दिशः सर्वा बह्वाश्चर्यसुमानसः ॥३॥
कोऽहं कस्मादिहायातः कोऽयं देशः सुखाकरः । केन वा कर्मणा नीतः स्वप्नो वायं ममोर्जितः ॥४॥
अथवा त्रिजगन्नाथसेव्यो देशो महानयम् । सर्वशर्माकरीभूतो विश्वविश्वर्द्धिसागरः ॥५॥
इमानि स्वर्विमानानि पुरधामभृतान्यपि । सर्वश्रीसंकुलान्येव सन्ति दृश्यानि भूतले ॥६॥
स्वर्णरत्नमयास्तुङ्गा इमाः प्रासादपंक्तयः । मनोहराः प्रदृश्यन्ते दिव्यस्त्रीवृन्दसंकुलाः ॥७॥
उत्तुङ्गोऽयं महान् दिव्यसभामण्डप एव हि । मणितेजोहतध्वान्तो देवानीकादिदुर्गमः ॥८॥
इदं सिंहासनं रम्यं मेरुशृङ्गमिवाद्भुतम् । इदं च नर्तनं प्रेक्ष्यं [2]भव्यगीतचयं महत् ॥९॥

नवम सर्ग

जो अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सहित हैं, सब के नाथ हैं, समस्त दुःखरूपी अग्नि को बुझाने के लिये मेघ हैं, और तीनों जगत् के स्वामी हैं उन श्री पार्श्वनाथ को मैं शिर से सदा नमस्कार करता हूं ॥१॥

तदनन्तर वह इन्द्र रत्नों की किरणों से व्याप्त उपपाद शिला के मध्य में दो घड़ी के भीतर संपूर्ण यौवन प्राप्त कर दिव्य शय्या से उठा, और समस्त आभूषणों से सुशोभित तथा समस्त आश्चर्यों से परिपूर्ण चित्त होता हुआ सब दिशाओं की ओर देखने लगा ॥२-३॥ मैं कौन हूं ? यहां कहां से आया हूं ? सुख की खान स्वरूप यह देश कौन है ? किस कर्म से यहां लाया गया हूं ? अथवा यह क्या मेरा प्रबल स्वप्न है ? अथवा यह त्रिजगत् के स्वामियों के द्वारा सेवनीय, समस्त सुखों की खान और संसार की समस्त ऋद्धियों का सागर महान् देश है ? ॥४-५॥ नगर और महलों से परिपूर्ण तथा समस्त लक्ष्मी से युक्त ये स्वर्ग के विमान पृथिवी तल पर दिखाई दे रहे हैं ॥६॥ ये देवाङ्गनाओं के समूह से युक्त, सुवर्ण रत्नमय ऊंची ऊंची मनोहर महलों की पंक्तियां दिखाई दे रही हैं ॥७॥ मणियों के तेज से अन्धकार को नष्ट करने वाला तथा देवों की सेना आदि से दुर्गम यह ऊंचा बहुत भारी सभा मण्डप ही है ॥८॥ यह मेरु शिखर के समान अद्भुत सुन्दर सिंहासन है, यह सुन्दर गीत समूहों से युक्त, देखने योग्य बहुतभारी

1 [illegible] २. भव्य गीतचय म० ।

लावण्यजलधेर्वेला: शृङ्गाररसखानय: । एता दिव्यस्त्रिय: सेव्या: कलाविज्ञानभूषिता: ।।१०।
इदं मत्तगजानीकमतोऽश्वीय[1] मनोजवम् । एते हेमरथास्तुङ्गा बलान्येते पदातय: ।।११।।
नमन्ति मे पदद्वन्द्वं सर्वकार्यंकराण्यहो । एतानि सप्तसैन्यानि भक्त्या विज्ञप्तिपूर्वकम् ।।१२।।
अमी क्रीडाद्रयो रम्या एते विजयकेतव: । चैत्यवृक्षा इमे तुङ्गा जिनचैत्यचयाङ्किता: ।।१३।।
अयं चैत्यालयो रम्यस्तेजपुञ्जनिभो व्यभात् । बिम्बैरनर्घ्यमाणिक्यमयै रत्नव्रजाङ्कित: ।।१४।।
मामुद्दिश्य समस्तोऽयं जन आनन्दनिर्भर: । विनीत: सुन्दर: केन कारणेनात्र वर्तते ।।१५।।
इत्यादि चिन्तमानस्य तस्येन्द्रस्य विनिश्चय: । साश्चर्यमनसो यावन्नायात्प्राग्जन्मसूचक: ।।१६।।
तदाकूतं परिज्ञाय सचिवा ज्ञानचक्षुष: । तावदागत्य वर्तन्ते नत्वा वक्तुं तदीहितम् ।।१७।।
प्रसाद: क्रियतां नाथ नतानां नो दृशेच्छया । श्रूयतां नो वच: सत्यं सर्वसन्देहनाशकम् ।।१८।।
अद्य स्वामिन्वयं धन्या: सफलं नोऽद्य जीवितम् । यत: पवित्रिता: स्वर्गसंभवेन त्वयाधुना ।।१९।।
प्रसीद जय जीव त्वं नन्द वर्द्धस्व भूतले । प्रभुर्भव समग्रस्य देवलोकस्य सम्प्रति ।।२०।।

नृत्य हो रहा है ।।९।। ये सौन्दर्य सागर की वेला, शृङ्गाररस की खान, और कलाविज्ञान से विभूषित, सेवन करने के योग्य देवाङ्गनाएं है ।।१०।। यह मदमाते हाथियों की सेना है, यह मन के समान वेग वाला घोड़ों का समूह है, ये ऊंचे सुवर्ण रथ है और ये पैदल सैनिक है ।।११।। अहो ! समस्त कार्यों को करने वाली ये सात प्रकार की सेनाएं भक्ति से प्रार्थना करती हुई मेरे चरण युगल को नमस्कार करती हैं ।।१२।। ये मनोहर क्रीडा गिरि है, ये विजय पताकाएं हैं, ये जिन प्रतिमाओं के समूह से युक्त ऊंचे ऊंचे चैत्य वृक्ष है ।।१३।। तेजपुञ्ज के समान रमणीय तथा रत्नों के समूह से युक्त यह चैत्यालय अमूल्य मणिमय प्रतिमाओं से सुशोभित हो रहा है ।।१४।। यहां आनन्द से भरा हुआ यह समस्त सुन्दर जन समूह मुझे लक्ष्य कर किस कारण विनीत हो रहा है ? ।।१५।। इत्यादि विचार करने वाले साश्चर्यचित्त से युक्त उस इन्द्र के जब तक पूर्वजन्म को सूचित करने वाला निश्चय नहीं होता है ।।१६।। तब तक उसकी चेष्टा जानकर ज्ञाननेत्र के धारक मन्त्री आये और नमस्कार कर उसकी इष्ट बात को कहने लगे ।।१७।।

हे नाथ ! हम नम्रीभूत लोगों पर स्वेच्छा से दृष्टिपात कर प्रसन्नता कीजिये तथा समस्त सन्देह को नष्ट करने वाले हमारे सत्य वचन सुनिये ।।१८।। हे स्वामिन् ! आज हम धन्य हुए, आज हमारा जीवन सफल हो गया, क्योंकि इस समय स्वर्ग में जन्म लेकर आपने हम सब को पवित्र किया है ।।१९।। आप इस लोक में प्रसन्न रहो, जयवन्त प्रवर्तो, जीवित रहो, समृद्धिमान् होओ, वृद्धि को प्राप्त होते रहो, और अब समस्त स्वर्ग के

१. अश्व समूह ।

देव पूर्वभवे पुण्यं यत्किञ्चिद्धि त्वयार्जितम् । महद्येनात्र ते जातमिन्द्रत्व विश्ववन्दितम् ।।२१।।
आनताख्योऽप्ययं कल्पः संकल्पितसुखप्रदः । देवीदेवर्द्धिसंपूर्णः कृत्स्नकल्याणसागरः ।।२२।।
प्रतीन्द्रप्रमुखा देवा दशधा दिव्यमूर्तयः । इहोत्पन्नस्य शक्रस्य प्रीत्या सेवा प्रकुर्वते ।।२३।।
अत्र संकल्पिताः कामा यौवनं शाश्वतं महत् । नित्यात्र महती लक्ष्मीः सुख वाचामगोचरम् ।।२४।।
एता अत्र महादेव्य इमा हि वल्लभाङ्गनाः । परिवारस्त्रियो ह्येता रूपलावण्यखानयः ।।२५।।
अतीव सुकुमाराङ्गास्ते[1] स्नेहासक्तबुद्धयः । स्वेच्छया वेषधारिण्यस्तव नाथ समर्पिताः ।।२६।।
गावः कामदुधाः सर्वे पादपाः कल्पशाखिनः । स्वभावेनात्र रत्नानि चिन्तामणय एव हि ।।२७।।
रात्रिर्नात्रिदिन नैव केवल स्फाटिकोपलैः । शुक्लरत्नविमानैश्च दिनश्रीः क्रियतेऽनिशम् ।।२८।।
प्रावृट्शीतोष्णकालाद्या ऋतव सन्ति जातु न । अत्रैकः साम्यकालोऽस्ति सर्वोपद्रवदूरगः ।।२९।।
न चात्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गतप्रभ । विकलाङ्गो मदान्धोऽतिशोकक्लेशादिपीडित ।।३०।।

स्वामी होओ ।।२०।। हे देव ! पूर्वभव में आपने जो कुछ महान् प्रबल पुण्य का संचय किया था उसीसे आपको यह विश्ववन्दित इन्द्र पद प्राप्त हुआ है ।।२१।। यह संकलिपत सुखों को देने वाला, देवी देव तथा ऋद्धियों से परिपूर्ण समस्त सुखों का सागर आनत नाम का स्वर्ग है ।।२२।। सुन्दर वैक्रियिक शरीर को धारण करने वाले ये प्रतीन्द्र आदि दश प्रकार के देव यहां उत्पन्न हुए इन्द्र की प्रीतिपूर्वक सेवा करते है ।।२३।। यहां संकल्पित मनोरथ पूर्ण होते है, निरन्तर स्थिर रहने वाला बहुतभारी यौवन प्राप्त रहता है, नित्य स्थित रहने वाली बहुत बड़ी लक्ष्मी और वचनागोचर सुख यहां उपलब्ध रहता है ।।२४।।

ये यहां महादेवियां हैं, ये वल्लभाङ्गनाएं है और ये रूपलावण्य की खान परिवार स्त्रियां हैं ।।२५।। ये अतीव सुकुमाराङ्गी है, और स्नेह से आसक्त बुद्धिवाली है, हे नाथ ! ये स्वेच्छा से वेषधारिणी आपको समर्पित है ।।२६।। यहां की सब गाएं कामदुधा है और सारे वृक्ष कल्पशाखी है और यहां के सारे रत्न स्वभाव से ही चिन्तामणि है अर्थात् यहां की गाएं, वृक्ष और रत्न स्वभाव से ही इच्छित पदार्थो के देने वाले है ।।२७।। यहां न रात्रि होती है और न दिन होता है, केवल स्फटिकमणियों एवं शुक्ल रत्न वाले विमानो की आभा से सदा ही दिन के समान प्रकाश रहता है ।।२८।। यहां वर्षा, शीत एवं उष्णकाल आदि ऋतुएं किञ्चित् भी नहीं है, यहां तो सम्पूर्ण उपद्रवों से रहित एक साम्यकाल ही वर्तता है ।।२९।। यहां कोई दुखी, दीन, वृद्ध, रोगी, प्रभाहीन, विकलाङ्ग, मदान्ध, अतिशोक, क्लेश आदि से पीड़ित, कुरूप, निर्गुण, अन्यायमार्गगामी, अविनयी,

[1] सुकुमालाङ्गा क० ख० ।

कुरूपी निर्गुणोऽन्यायमार्गगो विनयच्युतः। उन्मत्तो विह्वलो जातु दृश्यते नैव निर्धनः ॥३१॥
[1]विमानपुरसद्धामानीकदेवर्द्धिसकुलम्। [2]अप्सरश्चयसंपूर्णं विश्वगीर्वाणवन्दितम् ॥३२॥
सरोवनसभागेहच्छत्रचामरशोभितम्। अनेकमहिमोपेत विश्वर्द्धिकुलमन्दिरम् ॥३३॥
गृहाण स्वर्गसाम्राज्यमिद त्व देव सम्प्रति। अद्य ते सन्मुखीभूतं प्रार्गजित-शुभोदयात् ॥३४॥
आकर्ण्य तद्वच. प्राप्यावधिज्ञानं विसशयम्। ज्ञात्वा प्राक्स्वभवं धर्मफलं सोऽत्रैति [3]चिन्तयेत् ।३५।
अहो तपः पुरा चीर्णं मया घोरतरं महत्। निर्दग्धं विषयारण्यं त्रिधानिर्वेदवह्निना ॥३६॥
मदनारिमहामल्लो हतो ब्रह्मासिना खलः। कषायरिपवो दुष्टाः क्षान्तिशस्त्रेण मारिताः ॥३७॥
वितीर्णं ह्यभयं दान भीताना सर्वदेहिनाम्। महाव्रतानि सर्वाणि पालितान्यपराणि च ॥३८॥
आर्त्तरौद्रादिदुर्ध्यानं वै हित्वानन्तशर्मकृत्। स्वात्मनश्च कृत ध्यान त्रिशुद्धया परमेष्ठिनाम् ।३९।
[4]दशलक्षणको धर्मो मुक्तिस्त्रीचित्तरञ्जकः। अनन्तगुणरत्नाब्धिर्मया संचरितो महान् ॥४०॥
दृक्चिद्वृत्ततपास्याराधितानि प्राग्भवे मया। सर्वशक्त्या प्रयत्नेन मनोवाक्कायकर्मभिः ॥४१॥

उन्मत्त, विह्वल, एवं निर्धन दिखाई ही नहीं देता ॥३०–३१॥ हे देव, विमान, पुर, सद्धाम, अनीक देव आदि की ऋद्धि से संकुलित, अप्सराओं के समूह से पूर्ण, समस्त देवों द्वारा वन्दित, तालाब, बन, सभाघर, छत्र चामर से सुशोभित, अनेक महिमाओ का स्थान, सम्पूर्ण ऋद्धियों के कुलमदिर स्वरूप इस स्वर्ग के साम्राज्य को आप अब ग्रहण करें जो पूर्वोपार्जित शुभ कर्मो के उदय से आपके सामने उपस्थित है ॥३२–३४॥ उनके ये वचन सुनकर, सशय रहित अवधिज्ञान को प्राप्त करके तथा अपने पूर्वभव को एवं धर्म के फल को जानकर वह इस प्रकार विचार करने लगा ॥ ३५ ॥ अहो ! मैने पहले महान् घोर दारुण तपस्या की थी, तीन प्रकार की निर्वेदरूपी आग से विषयरूपी वन को जलाया था, दुष्ट कामदेवरूपी महान् योद्धा को ब्रह्मरूपी तलवार से मारा था, दुष्ट कषायरूपी शत्रुओं का क्षान्ति के शस्त्र से वध किया था, भयभीत समस्त देहधारियों को अभयदान का वितरण किया था, समस्त महाव्रत और समिति आदि अन्य व्रतों का पालन किया था, आर्तरौद्र आदि दुर्ध्यानों को छोड़कर त्रिशुद्धि पूर्वक अपने आत्मा तथा परमेष्ठियों का अनन्तसुखदायक ध्यान किया था, मुक्तिरूपी स्त्री के चित्त को प्रसन्न करने वाला दशलक्षणिक धर्म धारण किया था, अनन्तगुणरूपी रत्नों के महासागर में संचार किया था, पूर्वभव में मैंने मन वचन काय से सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा प्रयत्न पूर्वक दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप की आराधना की थी ॥३६–४१॥ जो जगत् में सारभूत है, समस्त पापरूपी अन्धकार को नष्ट

१. विमानपुरसद्धामदेवर्द्धिकुलमन्दिरम् क० २ इमास्तिस्र पङ्क्तय क० प्रतौ न सन्ति, लेखकप्रमादेन त्रुटिता प्रतीयन्ते ३ देवराट् क० ४. दशलाक्षणिको धर्मो ख० ।

रत्नत्रयं जगत्सारं [1]सर्वैनोध्वान्तभास्करम् । आराधितं मनःशुद्धया केवलज्ञानकारकम् ॥४२॥
कालत्रयभवा योगाः शीतातापादिसंकुला । दुःकरा मोक्षदातारः कृता ध्यानादिगर्भिताः ॥४३॥
रागद्वेषमहामोहमदादिशत्रवोऽखिलाः । हता निर्वेदखड्गेन दुराचारादिभिः समम् ॥४४॥
दुस्सहाः सहिताः सर्वे क्षुत्तृषादिपरीषहाः । भाविता भावनाः सर्वास्तरित्वागमवारिधिम् ॥४५॥
[2]खारण्यभ्रमणासक्तो मनोदन्ती नियन्त्रितः । ज्ञानश्रृङ्खलया वैराग्यस्तम्भे स्ववशीकृतः ॥४६॥
व्युत्सर्गासनयोगाद्यैः कृतः कायः स्थिरो महान् । [3]दृषन्मूर्तिरिवात्यंतं वचो मौने प्रतिष्ठितम् ॥४७॥
आराधितो जगन्नाथोऽत्रार्हद्देवः सतां गुरुः । अनन्यशरणीभूय विश्वकल्याणकारकः ॥४८॥
तीर्थंकृद्वृद्धिकर्तृणि कारणान्यपि षोडश । भावितानि मया कल्याणादिशर्माकराण्यपि ॥४९॥
इत्याद्याचरणैः प्राग्भ्य कृतो धर्मो मयानघः । शक्रराज्यादिकं नूनं तस्येदं प्रवरं फलम् ॥५०॥
अहो धर्मस्य माहात्म्यं पश्येदं ह्यनुपमाच्युतम् । येनाहं स्थापितोऽप्यत्र नाकराज्ये सुखार्णवे ॥५१॥
उद्धृत्य दुर्गतेर्नूनं धर्मो धारयति स्वयम् । प्राणिनो नाकलोकेऽस्मिन् मोक्षे वा विश्ववन्दिते ॥५२॥

करने के लिये सूर्य है तथा केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाला है ऐसे रत्नत्रय की मैंने मन की शुद्धि द्वारा आराधना की थी ॥४२॥ शीत तथा आताप आदि की बाधा से युक्त अतिशय कठिन, मोक्ष को देने वाले तथा ध्यान आदि से सहित तीन काल सम्बन्धी योगों को मैंने धारण किया था ॥४३॥ वैराग्यरूपी खड्ग के द्वारा दुराचार आदि के साथ राग द्वेष महामोह तथा मद आदि समस्त शत्रुओं को नष्ट किया था ॥४४॥ अत्यन्त कठिन क्षुधा तृषा आदि सब परिषह सहन किये थे, आगमरूपी समुद्र को तैर कर समस्त भावनाओं का चिन्तवन किया था ॥४५॥ इन्द्रियरूपी वन में भ्रमण करने वाले मनरूपी हाथी को ज्ञानरूपी सांकल से वैराग्यरूपी खम्भे में बांधकर अपने अधीन किया था ॥४६॥ कायोत्सर्ग, आसन तथा योग आदि के द्वारा अपने महान् शरीर को पाषाण की मूर्ति के समान अत्यन्त स्थिर किया था और वचन को मौनरूप में प्रतिष्ठित किया था ॥४७॥ अनन्यशरण होकर जगत् के स्वामी, सत्पुरुषों के गुरु तथा सब का कल्याण करने वाले अरहन्त देव की आराधना की थी ॥४८॥ तीर्थंकर नाम कर्म की वृद्धि करने वाली, तथा कल्याणक आदि सुखों की खान स्वरूप सोलह कारण भावनाओं का भी मैंने चिन्तवन किया था ॥४९॥ इत्यादि आचरणों के द्वारा पूर्वभव में मैंने जो निर्दोष धर्म किया था, जान पड़ता है यह इन्द्र का राज्यादिक उसी का उत्कृष्ट फल है ॥५०॥

अहो ! धर्म का यह अनुपम उत्कृष्ट माहात्म्य देखो, जिसने मुझे सुख के सागर स्वरूप इस स्वर्ग के राज्य पर स्थापित किया है—लाकर बैठा दिया है ॥५१॥ निश्चित ही

१. निखिलपापतिमिरसूर्यम् २ इन्द्रियवनभ्रमणासक्त ३ पाषाणमूर्तिरिव ।

उद्धर्तुं श्वभ्रपातालात्क्षमो धर्मोऽखिलाङ्गिनाम् । दातुं त्रैलोक्यसाम्राज्यं सुखं सर्वं च विश्वजम् ।।५३।।
धर्मो हन्तुं समर्थोऽत्र समस्तैनोऽतिविद्विषः । कषायारिपुभिः सार्धं धर्मोऽनन्तगुणप्रदः ।।५४।।
धर्मः कल्पद्रुमोऽनेक संकल्पितसुखप्रदः । धर्मश्चिन्तामणिः सर्वचिन्तितार्थविधायकः ।।५५।।
अतो धर्मः पिता माता धर्मो बन्धुर्हितङ्करः । धर्मः स्वामी जगत्पूज्यो धर्मः पापक्षयंकरः ।।५६।।
अत्रामुत्र महामित्रं धर्मो दुःखान्तकृत्सताम् । विश्वशर्मविधाता च सहगामी गुणाम्बुधिः ।।५७।।
न धर्मसदृशो जातु प्राणिनां हितकारकः । पापशत्रुर्जिनेन्द्रोक्तः सत्त्वघातादिदूरगः ।।५८।।
दृङ्मूलो भव्यलोकौघैराराध्योऽनन्तशर्मकृत् । त्यक्तसङ्गैर्मुनीन्द्रैश्च सारै रत्नत्रयैर्महान् ।।५९।।
उत्पद्यतेऽखिलोधर्मो वृत्तेन मुक्तिदायकः । तपसा वात्र देवाना जातु तत्सुलभ न हि ।।६०।।
तथा रागाग्नयो नैव शाम्यन्ते [1]वृत्तवारिणा । विना जन्मशतैरत्र किं कुर्मस्तदभावतः ।।६१।।
अतस्तत्त्वार्थश्रद्धा मे श्रेयसी स्वहितप्रदा । शङ्कादिदोषनिर्मुक्ता गुणाष्टकविभूषिता ।।६२।।

धर्म प्राणियों को दुर्गति से निकाल कर स्वयं इस स्वर्गलोक में अथवा सर्वजन वन्दित मोक्ष में धारण करता है–पहुँचा देता है ।।५२।। धर्म, समस्त प्राणियों को नरकरूपी पाताल से निकालने तथा तीन लोक का राज्य और संसार का समस्त सुख देने के लिये समर्थ है ।।५३।। इस जगत् में धर्म, कषायरूपी शत्रुओं के साथ समस्त पापरूपी शत्रुओं को नष्ट करने के लिये समर्थ है ।।५४।। धर्म अनेक सकल्पित सुखों को देने वाला कल्पवृक्ष है, तथा धर्म ही समस्त चिन्तित पदार्थों को देने वाला चिन्तामणि रत्न है ।।५५।। इसलिये धर्म पिता है, माता है, धर्म हितकारी बन्धु है, धर्म जगत्पूज्य स्वामी है, धर्म पाप का क्षय करने वाला है ।।५६।। धर्म इस लोक तथा परलोक में महामित्र है, धर्म सत्पुरुषों के दुःख का अन्त करने वाला है, समस्त सुखों का कर्ता है, साथ जाने वाला है और गुणों का सागर है ।।५७।। जो पाप का शत्रु है, जिनेन्द्र देव के द्वारा कहा हुआ है तथा जीव हिंसा आदि से दूरगामी है ऐसे धर्म के समान जीवों का हित कारक दूसरा कोई नहीं है ।५८। सम्यग्-दर्शन जिसका मूल है, जो भव्य जीवों के समूह द्वारा आराधना करने के योग्य है, अनन्त सुख को करने वाला है, सारभूत रत्नत्रय से महान् है, तथा सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप के द्वारा मुक्ति को देने वाला है ऐसा सम्पूर्ण धर्म निर्ग्रन्थ मुनिराजों के द्वारा उत्पन्न किया जाता हैं । वह देवों को कभी सुलभ नहीं है ।।५९–६०।। सम्यक् चारित्ररूपी जल के बिना रागरूपी अग्नियां सैकड़ों जन्म में भी शान्त नही की जा सकती हैं परन्तु यहां उसका अभाव होने से हम क्या कर सकते है ? ।।६१।। इसलिये शङ्कादि दोषों से रहित तथा आठ गुणों से विभूषित श्रेष्ठ तत्त्वार्थ श्रद्धा ही मेरे लिये हितकारी है ।।६२।। त्रिलो-

---

१ चारित्रजलेन ।

आराध्यो जगता नाथो देवः श्रीजिनपुङ्गव । मुनीन्द्रा गुरवो वन्द्यास्त्रिशुद्धया पूजनादिभिः।।६३।।
पूजनीया मया सर्वे त्रैलोक्यस्थजिनालयाः । अत्रजैः पूजनद्रव्यैर्भक्त्या तीर्थेशमूर्तयः ।।६४।।
कर्तव्यानि जिनेन्द्राणा कल्याणान्यखिलान्यपि । कृत्स्नकल्याणसिद्धयर्थ विभूत्या परया मया ।।६५।।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मो जिनैर्मतः । तेषा सर्वपदार्थानां निष्पत्तेर्मूलकारणः ।।६६।।
अतः पूर्वं विधायोच्चैर्धर्मकार्यं सुखाकरम् । पश्चाद्राज्यं ग्रहीष्यामि महापुण्योदयार्पितम् ।।६७।।
इति मत्वा जगामासौ वापिकां स्नानहेतवे । स्वर्णनीरजसंछन्नां जिनध्यानात्तमानसः ।।६८।।
तत्र स्नान विधायोच्चैः सोऽगाच्चैत्यालये मुदा । [1]वेष्टितोऽमरसंघातैः स्वर्णरत्नमये शुभे ।।६९।।
त्रिपरीत्य जिनागारं मूर्ध्ना श्रीजिननायकम् । जयनन्दादिशब्दौघैर्ननाम भक्तिनिर्भरः ।।७०।।
चकारोच्चैस्ततस्तत्र जिनार्चाणां[2] महामहम् । सर्वाभ्युदयसिद्धयर्थं विश्वाभ्युदयकारणम् ।।७१।।
नीरधाराचयैः स्वच्छहेमभृङ्गारनालजैः । चन्दनैः स्वर्णवर्णाभैः सुगन्धीकृतदिग्मुखैः ।।७२।।
मुक्ताफलमयैर्दिव्याक्षतैरक्षयसौख्यदैः । पुष्पैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः सुधापिण्डचरूत्कटैः ।।७३।।

कीनाथ श्री जिनेन्द्र देव मेरे लिये आराध्य हैं, सद्गुरु मुनिराज, पूजन आदि के द्वारा मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक वन्दनीय हैं तीन लोक में स्थित समस्त जिनालय और उनमें स्थित तीर्थङ्करों की प्रतिमाएं यहां उत्पन्न होने वाले पूजा के द्रव्यो द्वारा भक्ति पूर्वक मेरे पूजनीय है ।।६३–६४।। समस्त कल्याणों की सिद्धि के लिये मुझे जिनेन्द्र भगवान् के सभी कल्याणक उत्कृष्ट विभूति के द्वारा करना चाहिये ।।६५।। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारो मे धर्म को ही जिनेन्द्र भगवान् ने आदि सर्व प्रथम माना है क्योंकि वह समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का मूल कारण है ।।६६।। इसलिये सबसे पहले सुख की खानस्वरूप उत्कृष्ट धर्म को करके पीछे महापुण्योदय से प्राप्त राज्य को ग्रहण करूंगा ।।६७।। ऐसा विचार कर वह इन्द्र जिनेन्द्र भगवान् के ध्यान में चित्त लगाता हुआ स्नान के हेतु स्वर्णकमलों से आच्छादित वापिका में गया ।।६८।। वहां स्नान कर वह देव समूहों के द्वारा परिवृत होता हुआ बड़े हर्ष से स्वर्ण रत्नमय शुभ चैत्यालय में गया ।।६९।।

वहां जिन मन्दिर की तीन प्रदक्षिणाएं देकर भक्ति से परिपूर्ण उस इन्द्र ने जय नन्द आदि शब्द समूह के द्वारा मस्तक से श्री जिनेन्द्र देव को नमस्कार किया ।।७०।। तदनन्तर वहां समस्त अभ्युदयों की सिद्धि के लिये समस्त अभ्युदयों का कारणभूत, जिन प्रतिमाओं का महामह नामक पूजन किया ।।७१।। स्वर्णमय झारी की नाल से निकली हुई स्वच्छजल की धाराओं से, दिशाओं के अग्रभाग को सुगन्धित करने वाले स्वर्ण वर्ण पीले रङ्ग के चन्दन से, अविनाशी सुख को देने वाले मुक्तामय दिव्य अक्षतों से, कल्पवृक्षों से

[1] निविष्टामरसंघातैः क० [2] जिनप्रतिमाना ।

रत्नदीपैर्महाधूपैः फलैःकल्पतरूद्भवैः । कुसुमाञ्जलिसंघातैर्गीतै[1]र्नृत्तैर्मनोहरैः ।।७४।।
वादित्रैर्जयशब्दाद्यैः स्तुतिस्तोत्रैरनेकधा । पुण्यकारणभूतैश्च स्वानन्देन महोत्सवैः ।।७५।।
अनु चैत्यनगस्थाना बिम्बानामर्चनं परम् । स व्यधात्परया भक्त्या सिद्धयेऽष्टविधं मुदा ।।७६।।
ततोऽमरगणैः साकमभिषेकपुरस्सरम् । विभूत्या परया शक्रः स्वराज्यं स्वीचकार सः ।।७७।।
करोति तीर्थकर्तृणां पञ्चकल्याणकेऽर्चनाम् । सार्द्धं स्वपरिवारेण गत्वा सिद्धयै महोत्सवै. ।।७८।।
ज्ञाननिर्वाणकालेऽसौ केवलज्ञानिनां सदा । महामहं विधत्तेऽतिभक्त्या[2]भूत्याघहानये ।।७९।।
संवेगजननी सारा दिव्या विश्वहितंकराम् । स्वकोष्ठे ह्युपविष्टोऽसौ जिनवाणी शृणोत्यपि।८०।।
त्रैलोक्यवर्तिनी सर्वा जिनार्चा [3]सोऽर्चयेन्मुदा । मेरुनन्दीश्वरादौ च निरन्त कृत्रिमेतराम् ।।८१।।
[4]हरिविष्टरमारूढः सभायां [5]नाकिना सदा । हिताय कुरुते दक्षः सम्यक्त्वगुणवर्णनम् ।।८२।।
अनेकान्तात्मकं मार्गं जिननाथमुखोद्भवम् । तत्त्वसंगर्भित दृष्टिविशुद्धयै दिशति स्फुटम् ।।८३।।
दृग्विहीनाः सुरास्तत्रोत्पद्यन्ते ये तपोबलात् । तेषां धर्मोपदेशाद्यैर्ग्राहयत्याशु दर्शनम् ।।८४।।

समुत्पन्न पुष्पों से, अमृतमय पिण्ड द्वारा निर्मित उत्कृष्ट नैवेद्य से, रत्नमय दीप से, महाधूप से, कल्पवृक्षों से उत्पन्न फलो से, पुष्पाञ्जलियों के समूह से, मनोहर गीत नृत्य वादित्र जय जय आदि शब्द, अनेक प्रकार के स्तुति–स्तोत्रों तथा पुण्य के कारणभूत अनेक महोत्सवों से निजानन्द पूर्वक महामह पूजा की ।।७२–७५।। चैत्यालयस्थ जिनप्रतिमाओं की पूजा के अनन्तर उसने सिद्धि के लिये चैत्यवृक्षों के नीचे स्थित जिनप्रतिमाओं की उत्कृष्ट अष्टविध पूजा परम भक्ति से हर्षपूर्वक की ।।७६।।

तदनन्तर उस इन्द्र ने देव समूह के साथ अभिषेक पूर्वक परमविभूति से अपना राज्य स्वीकृत किया ।।७७।। वह तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणको में अपने परिवार के साथ जाकर सिद्धि के लिये महोत्सव पूर्वक पूजन करता था ।।७८।। वह केवलज्ञानियों के ज्ञान और निर्वाण के समय सदा पापों की हानि के लिए अत्यन्त भक्ति से वैभव पूर्वक महामह पूजा करता था ।।७९।। अपने कोठा में बैठा हुआ वह इन्द्र वैराग्य को उत्पन्न करने वाली, सारभूत, दिव्य तथा सकल जन हितकारी जिनवाणी को भी सुनता था ।८०। वह मेरु तथा नन्दीश्वर आदि में विद्यमान त्रिलोकवर्ती समस्त कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओं की हर्षपूर्वक पूजा करता था।८१। सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ वह चतुर इन्द्र देवों के हित के लिये सम्यक्त्व के गुणों का वर्णन करता था ।।८२।। सम्यग्दर्शन की विशुद्धता के लिये जिनेन्द्र भगवान् के मुख से उत्पन्न, तत्त्वगर्भित, अनेकान्तात्मक मार्ग का स्पष्ट उपदेश देता था ।।८३।। वहां तप के बल से जो मिथ्यादृष्टि देव उत्पन्न होते थे उन्हें धर्मोपदेश आदि के द्वारा शीघ्र ही

१ नृत्यै ख० २ ऐश्वर्येण ३. सोऽर्चयन् क० ४. सिंहासन ५ देवानाम् ।

तत्रत्यश्रीजिनार्चाना चैत्यवृक्षे जिनालये । सर्वासां विविधां पूजा करोति प्रत्यहं मुदा ॥८५॥
इत्यादिविविधाचारैर्महापुण्यनिबन्धनै । विधत्ते परमं धर्मं दृग्ज्ञानाभ्यां स देवराट् ॥८६॥
स्वचित्ते वृषमाधाय भुंक्ते पुण्योदयार्पितम् । महत्सुखं स्वदेवीभिः कृत्स्नदुःखातिगं समम् ॥८७॥
क्वचिन्मनोहरं गीतं शृण्वन् कर्णसुखावहम् । पश्यन्नृत्यं क्वचिन्नेत्रप्रियं दिव्याङ्गनोद्भवम् ॥८८॥
क्रोडाद्रिवनसौधादावसंख्यद्वीपवार्धिषु । कुर्वन् क्रीडां स्वरामाभिः क्वचिद्गोष्ठी सुरैःसमम्॥८९॥
क्वचिद्विमानमारुह्य मही भ्रमन्निजेच्छया । क्वचिद्विलोकयन् दिव्यं शृङ्गारं दिव्ययोषिताम्॥९०॥
विलासं च क्वचित्सार मुखाद्यङ्गमनोहरम् । मज्जन् शर्माम्बुधौ शक्रो गतकालं न वेत्ति सः ॥९१॥
सार्द्धहस्तत्रयोन्मेषदिव्यदेहधरो महान् । नेत्रस्पन्दमलस्वेदनखकेशातिगाङ्गभाक् ॥९२॥
सहजाम्बरस्रग्भूषाकान्त्युद्योतितदिक्चयः । विशत्यब्धिप्रमाणायु शुक्ललेश्यः शुभाशयः ॥९३॥
दशमासान्तनिःश्वाससुगन्धीकृतदिग्मुख । [1]खचतुष्कद्विवर्षान्ते मनसाहारमाहरन् ॥९४॥

सम्यग्दर्शन धारण कराता था ॥८४॥ वहां जितने चैत्यवृक्ष तथा जिनालय थे उनमें स्थित समस्त प्रतिमाओ की वह प्रतिदिन हर्षपूर्वक विविध पूजा करता था ॥८५॥ महापुण्य के कारणभूत इत्यादि विविध कार्यों से वह इन्द्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा परम धर्म करता था ॥८६॥ अपने हृदय में धर्म धारण कर वह अपनी देवियों के साथ पुण्योदय से प्राप्त समस्त दुःखों से दूरवर्ती महान् सुख का उपभोग करता था ॥८७॥

वह कहीं तो कानों को सुख देने वाला मनोहर गीत सुनता था, कहीं नेत्रों को प्रिय लगने वाला देवाङ्गनाओं का नृत्य देखता था। कहीं असंख्यात द्वीप समुद्रों के क्रीडा चल तथा वन भवन आदि स्थानों में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीडा करता था, कभी देवों के साथ गोष्ठी करता था ॥८८–८९॥ कहीं विमान में बैठ कर अपनी इच्छानुसार पृथिवी पर भ्रमण करता था। कहीं देवाङ्गनाओ के दिव्य शृङ्गार को देखता था, और कहीं देवाङ्गनाओं के मुख आदि अङ्गों के मनोहर हावभाव को देखता था। इस प्रकार सुखरूपी सागर मे निमग्न हुआ वह इन्द्र बीते हुए काल को नहीं जानता था ॥९०–९१॥

वह श्रेष्ठ इन्द्र साढ़े तीन हाथ ऊंचे दिव्य शरीर को धारण करता था, नेत्रों की टिमकार, मल, स्वेद, नख तथा केश आदि की वृद्धि से रहित शरीर से युक्त था, सहज जन्मजात वस्त्र माला तथा आभूषण आदि की कान्ति से दिशाओं के समूह को प्रकाशित करता था, बीस सागर प्रमाण आयु वाला था, शुक्ल लेश्या और शुभ आशय से सहित था, दश माह के अन्त मे श्वासोच्छ्वास से दिशाओं के अग्रभाग को सुगन्धित करता था, बीस हजार वर्ष बाद दिव्य अमृतमय तथा अपनी समस्त इन्द्रियों को आह्लाद उत्पन्न करने

[1] विंशतिसहस्राब्दे ।

दिव्यं सुधामयं सर्वस्वेन्द्रियाह्लादनक्षमम् । प्राप्तकामसुखश्चित्ते न स्वस्त्रीस्मरणात् स्वयम्॥९५॥
आपञ्चमक्षितिव्याप्ततृतीयावगमेक्षणः[1] । स्वावधिक्षेत्रपर्यन्तविक्रियर्द्धिबलान्वितः ॥९६॥
सामानिकादिदेवौघैर्भक्त्या नुतक्रमाम्बुजः । देवीनिकरमध्यस्थोऽतिशर्माम्बुधिजीवितः ॥९७॥
मनोऽभिलषितैर्भोगैः परिपूर्णमनोरथः । असंख्यसुरसंघातसेव्यमानोऽप्यहोऽनिशम् ॥९८॥
अङ्गदीप्त्या सुनेपथ्यरश्मिजालैः सुराधिपः । तेजः पुञ्ज इवाभाति सभामध्ये यशोऽथवा ॥९९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एवं धर्मविपाकतोऽमरनुतो[2] भूतिञ्च शक्रोद्भवां
लब्ध्वा दिव्यसुराङ्गना स विविध सौख्यं सुवाक्यातिगम्[3] ।
भुङ्क्ते दिव्यमनारतं सुविबुधा ज्ञात्वेति यत्नं परं
कुर्वीध्वं जिनदेशितेऽति विमले धर्मे व्रताद्यैर्वरैः ॥१००॥
धर्मो नाकनरेश्वरादिसुखदो धर्मं श्रिता धर्मिणो
धर्मेणाशु समाप्यते शिवगतिर्धर्माय मुक्त्यै नमः ।

में समर्थ मानसिक आहार ग्रहण करता था, हृदय में अपनी देवाङ्गनाओं के स्मरण मात्र से उसे स्वयं कामसुख प्राप्त हो जाता था, उसका अवधिज्ञानरूपी नेत्र पञ्चम पृथिवी तक व्याप्त था अर्थात् वहां तक के पदार्थों को जानता था, अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र पर्यन्त ही वह विक्रिया ऋद्धि की शक्ति से युक्त था ॥९२–९६॥ सामानिक आदि देवों के समूह भक्ति पूर्वक जिसके चरण कमलों की स्तुति करते थे, जो देवी समूह के मध्य में स्थित था, जिसका जीवन अत्यधिक सुख का सागर था, मनोभिलषित भोगों के द्वारा जिसका मनोरथ पूर्ण था, और असंख्य देवों के समूह जिसकी निरन्तर सेवा करते थे ऐसा वह इन्द्र, शरीर की कान्ति तथा वेषभूषा की किरणावली से सभा के मध्य में तेजः पुञ्ज के समान अथवा यश के समान सुशोभित होता था ॥९७–९९॥

इस प्रकार देवों के द्वारा स्तुत वह इन्द्र, धर्म के फल से इन्द्र की विभूति और सुन्दर देवाङ्गनाओ को प्राप्त कर निरन्तर विविध प्रकार के वचनागोचर दिव्य सुख का उपभोग करता है ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट अतिशय निर्मल धर्म के विषय में उत्कृष्ट व्रतादिक के द्वारा परम प्रयत्न करो ॥१००॥ धर्म, स्वर्ग तथा चक्रवर्ती आदि के सुख को देने वाला है, धर्मात्मा जन धर्म का आश्रय लेते हैं, धर्म के द्वारा शीघ्र ही मोक्षरूपी गति प्राप्त होती है, मुक्ति के हेतु धर्म के लिये नमस्कार है, धर्म

---

१ अवधिज्ञानलोचन: २ मरनुते क० ३. वचनागोचरम् ।

धर्मान्नास्त्यपरो जगत्सुहितकृद्धर्मस्य वीजं सुदृग्
धर्मे चित्तमनारतं विदधतां धर्मोऽस्तु नो मुक्तये ॥१०१॥

यो विश्वैकपितामहो हितकरो विघ्नौघहन्ता भुवि
धर्मं धर्मविधायिनां निरुपमो विख्यातकीर्तिर्महान् ।
अन्तातीतगुणार्णवस्त्रिभुवने [1]प्राच्यों नृदेवाधिपै-
र्मान्यो भक्तिभरेण सोऽस्तु च मया मे विघ्नशान्त्यै शिवः ॥१०२॥

इति भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे आनतेन्द्रविभूतिसुखवर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥९॥

से बढ़कर दूसरा जगत् का उत्तम हित करने वाला नहीं है, धर्म का बीज सम्यग्दर्शन है, धर्म में निरन्तर चित्त लगाओ, हे धर्म ! तुम हमारी मुक्ति के लिये होओ ॥१०१॥

जो विश्व के अद्वितीय पितामह हैं, हितकारी है, पृथिवी पर धर्म करने वाले मनुष्यों के धर्म में आने वाले विघ्न समूह का घात करने वाले है, अनन्तगुणों के सागर हैं, तीनों लोकों में मनुष्य और इन्द्रों के द्वारा परम पूज्य हैं तथा मेरे द्वारा भक्ति के भार से मान्य हैं वे भगवान् वृषभ देव रूपी महादेव मेरे विघ्नों की शान्ति के लिये हों ॥१०२॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित्र में आनतेन्द्र की विभूति तथा सुख का वर्णन करने वाला नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥९॥



---

१. प्रपूज्य ।

दशमः सर्गः

जगद्धितो जगन्नाथो जगद्वन्द्यो जगद्गुरुः । वन्दितो यो मया सोऽस्तु पार्श्वो मे स्वगुणाप्तये ।।१।।
द्वीपेऽस्मिन्नथ विख्याते प्रथमे भरताभिधे । क्षेत्रेऽस्ति काशिदेशोऽनेकधार्मिकबुधाकुलः ।।२।।
ग्रामखेटमटम्बद्रोणमुखाः पुरवाहनाः । यत्र धान्यादिसंपूर्णा विभान्ति पत्तनादयः ।।३।।
धर्मवद्भिर्जनैर्दक्षैः सद्वनोपवनादिभिः । तुङ्गकूटैर्जिनागारैर्दिव्या धर्माकरा इव ।।४।।
रतिं कुर्वन्ति यत्रोच्चैः सच्छाये सफले बने । ध्यानाध्ययनसंसिद्धयै मुनीन्द्रा निर्जने शुभे ।।५।।
व्युत्सर्गस्थमुनीशौघतटभूषाङ्किताः शुभाः । वहन्ति तृड्विनाशिन्यो यत्र नद्यो मनोहराः ।।६।।
वापीकूपसरांस्यत्र खतृष्णास्फेटकानि च । महास्वच्छानि शोभन्ते यतेर्वा हृदयान्यपि ।।७।।
तुङ्गानि सफलान्युच्चैस्तर्पकाणि सतां सदा । शालिक्षेत्राणि भान्त्यत्र मुनेराचरणानि वा[1] ।।८।।
केवलज्ञानिनो यत्र त्रिजगज्जनवेष्टिताः । [2]विहरन्ति महाभूत्या मुक्तिमार्गप्रवृत्तये ।।९।।

दशम सर्ग

जगत् हितकारी, जगन्नाथ, जगद्वन्द्य और जगद्गुरु जो पार्श्वनाथ मेरे द्वारा वन्दित हुए हैं वे मुझे अपने गुणों की प्राप्ति के लिये हों ।।१।।

अथानन्तर इस विख्यात प्रथम जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में एक काशी नामका देश है जो अनेक धर्मात्मा विद्वज्जनों से व्याप्त है ।।२।। जिस देश में धन धान्यादि से परिपूर्ण ग्राम, खेट, मटम्ब, द्रोणमुख, पुर, वाहन तथा पत्तन आदि सुशोभित हो रहे है ।।३।। चतुर धार्मिक जनों से, उत्तम वन उपवन आदि से तथा ऊंचे ऊंचे शिखरों वाले जिन मन्दिरों से मनोहर वे पत्तन आदि धर्म की खानों के समान सुशोभित हैं ।।४।। जहां पर मुनिराज ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये ऊंचे, उत्तम छाया से युक्त, फलों से सहित शुभ और निर्जन वन में प्रीति करते है ।।५।। जहां कायोत्सर्ग में स्थित मुनिराजों के समूह से उपलक्षित तटरूपी आभूषणों से सहित, प्यास को नष्ट करने वाली शुभ तथा मनोहर नदियां बहती है ।।६।। जहां इन्द्रियों की तृष्णा को नष्ट करने वाले, अतिशय स्वच्छ, वापी कूप और सरोवर, मुनि के हृदय के समान सुशोभित होते हैं ।।७।। जहां पर ऊंचे, फलों से युक्त तथा सत्पुरुषों को सदा संतुष्ट करने वाले धान के खेत मुनि के आचरण के समान अत्यधिक सुशोभित हो रहे है ।।८।। जहां पर तीनों लोकों के प्राणियों से घिरे हुए केवली

---

१ च ख० २ विहरन्ति निरन्तर भूत्या मुक्तिप्रवृत्तये क० ।

आचार्याश्च गणाधीशाश्चतु:सङ्घविराजिता. । भ्रमन्ति यत्र भव्याना धर्मोपदेशहेतवे ।।१०।।
मुनिकेवलियात्रायै वर्तते प्रत्यहं महान् । यत्रात्यन्तोत्सवो धर्मकरणो धार्मिकैर्बु धैः ।।११।।
तत्रत्या धार्मिका. केचिदत्यङ्गा यान्ति निर्वृतिम् । तपोरत्नत्रयाचारैः केचिच्छेषशुभोदयात् ।।१२।।
सारां सर्वार्थसिद्धि च केचिद् ग्रैवेयकं दिवम् । अन्ये स्वाचरणायोग्यं गृहिधर्मादिना परे ।।१३।।
जिनपूजादिमाहात्म्यादिन्द्रभूर्ति भजन्त्यहो । केचिच्च पात्रदानेन भोगभूमौ सुखं महत् ।।१४।।
[1]सुधाभुजोऽपि यत्रोच्चैर्जन्मने स्युः स्पृहालवः । मुक्तिस्त्रीवशहेत्वर्थं तत्र का वर्णनापरा ।।१५।।
इत्यादिवर्णनोपेतदेशस्य धर्मकारिणः । मध्ये वाराणसी भाति [2]स्वःपुरीव परा[3]पुरी ।।१६।।
तुङ्गशालप्रतोलीभिर्दीर्घखातिकया भृशम् । अयोध्या वा परा याभाद्भटै राजसुतादिभिः ।।१७।।
उत्तुङ्गधामशृङ्गस्थध्वजव्रातैर्बभौतराम् । आह्वयतीव नाकेशं या धर्मशिवसिद्धये ।।१८।।
स्वर्णरत्नादिबिम्बौघैर्धर्मोपकरणैर्वरैः । तत्कूटशिखरोपान्तकेतुमालाभिरन्वहम् ।।१९।।

भगवान मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिये महान् विभूति के साथ विहार करते है ।।९।। जहां गणों के स्वामी तथा चार संघों से सुशोभित आचार्य, भव्यजीवों को धर्मोपदेश देने के लिए भ्रमण करते रहते है ।।१०।। जहां मुनियों तथा केवलज्ञानियों की यात्रा के लिये धार्मिक ज्ञानी जनों के द्वारा किया हुआ धर्म प्रवर्तक बहुत भारी उत्सव प्रतिदिन होता रहता है ।।११।। वहां वे कोई धर्मात्मा तो तप तथा रत्नत्रय के आचरण से शरीर रहित होते हुए निर्वाण को प्राप्त होते हैं और कोई शेष पुण्योदय से श्रेष्ठ सर्वार्थसिद्धि को, कोई ग्रैवेयक को तथा कोई गृहस्थ धर्म आदि के द्वारा अपने अपने आचरण के योग्य स्वर्ग को प्राप्त होते हैं ।।१२-१३।। कोई जिनपूजा आदि के माहात्म्य से इन्द्र की विभूति को प्राप्त होते हैं और कोई पात्रदान से भोगभूमि में महान् सुख का उपभोग करते है ।।१४।। मुक्तिरूपी स्त्री को वश करने के लिये देव भी जहां उत्पन्न होने के हेतु इच्छुक रहते है वहां अन्य-वर्णना क्या है ? ।।१५।। इत्यादि वर्णना से सहित उस धर्म प्रवर्तक देश के मध्य में स्वर्ग-पुरी के समान उत्कृष्ट वाराणसी नगरी सुशोभित है ।।१६।। उन्नत प्राकार ऊंचे ऊंचे गोपुरों तथा विस्तृत परिखा से युक्त जो नगरी योद्धाओं तथा राजपुत्र आदि से ऐसी सुशोभित होती थी मानों दूसरी अयोध्या ही हो ।। १७ ।। ऊंचे ऊंचे महलों के शिखरों पर स्थित ध्वजाओं के समूह से जो नगरी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों धर्म के द्वारा मोक्ष की सिद्धि के लिये इन्द्र को बुला ही रही हो ।।१८।। जहां स्वर्ण तथा रत्न आदि से निर्मित प्रतिमाओं के समूह से, धर्म के उत्कृष्ट उपकरणों से, शिखरों के समीप फहराती हुई पताकाओं की पंक्ति से गीत नृत्य तथा वादित्र आदि से, जयकार तथा स्तवन आदि की कोटियों

१. देवा अपि २. स्वर्गपुरीव ३. पुरा पुरी क० ।

गीतवर्तनवाद्याद्यंजयस्तवादिकोटिभिः । पूजोपलक्षितैर्युग्मैर्यातायातैर्नृयोषिताम् ॥२०॥
यत्र चैत्यालयास्तुङ्गा विभ्राजन्ते मनोहराः । परा धर्माब्धयो वातिगर्जन्तो जनसंकुलाः ॥२१॥
दिव्यनेपथ्यधारिण्यो गच्छन्त्यो जिनधामनि । काश्चिद्बभुस्तरां नार्यो रूपाद्यैर्वामिराङ्गनाः[1]॥२२॥
जिनाभिषेकसंभूतमहापूजोद्भवः क्वचित् । क्वचिन्मुनीन्द्रयात्रोत्थो व्रतोद्यापनकारमकः ॥२३॥
क्वचिद्देवागमोत्पन्नः कल्याणेषु जिनेशिनाम् । धर्मप्रभावनोद्भूतः संयमादानजः क्वचित् ॥२४॥
क्वचित्सुपात्रदानेन रत्नवृष्ट्यादिजो महान् । क्वचिज्जिनेन्द्रबिम्बौघप्रतिष्ठादिकरोऽद्भुतः ।२५॥
इत्यादिकोऽपरो नित्यं धर्मकार्यसमुद्भवः । महोत्सवोऽतिवाद्याद्यैर्वर्तते यत्र मङ्गलैः ॥२६॥
पुत्रादिजातकर्मोत्थो विवाहादिविधिप्रजः । गीतनर्तनतूर्याद्यैरुत्सवो जायतेतराम् ॥२७॥
जना विचक्षणा यस्यां विवाहादिमहोत्सवे । महापूजां जिनागारे कुर्युर्माङ्गल्यवृद्धये ॥२८॥
क्वचिच्छोके समुत्पन्ने [2]प्राक्तनासातपाकतः । तन्नाशाय व्यधुर्दक्षाश्चैत्यागारे महामहम् ॥२९॥
इत्यादिविविधाचारैः कुर्वन्ति प्रत्यह प्रजाः । अहिंसालक्षणं धर्मं विचारज्ञाः[3] सुखार्णवम् ॥३०॥

से पूजा की सामग्री से सहित आते जाते हुए स्त्री पुरुषों के युगलों से मनोहर तथा मनुष्यों से परिपूर्ण उन्नत जिन मन्दिर ऐसे सुशोभित होते है मानों तीव्र गर्जना करते हुए धर्म के उत्कृष्ट सागर ही हों ॥१९–२१॥

जहां सुन्दर वेषभूषा को धारण कर जिन मन्दिर को जाती हुई कितनी ही स्त्रियां रूप आदि से देवाङ्गनाओ के समान अत्यधिक सुशोभित होती है ॥२२॥ जहां कहीं तो जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक के साथ होने वाली महापूजाओं से उत्पन्न, कहीं मुनिराजों की यात्रा से उत्पन्न व्रतोद्यापन आदि रूप, कहीं तीर्थङ्करों के कल्याणकों में देवो के आगमन से उद्भूत, कहीं उत्तम पात्र दान के द्वारा होने वाली रत्नवृष्टि आदि से उत्पन्न, कही जिन प्रतिमाओं के समूह की प्रतिष्ठा आदि को करने वाला, कहीं प्रतिदिन होने वाले धर्म कार्यों से उत्पन्न और कहीं माङ्गलिक अत्यधिक बाजों आदि से उद्भूत आश्चर्यकारक बहुत भारी महोत्सव होता रहता है ॥२३–२६॥ जहां पुत्र आदि के जातकर्म तथा विवाह आदि के समय होने वाला उत्सव गीत नृत्य और वादित्र आदि के द्वारा अत्यधिक मात्रा मे होता रहता है ॥२७॥ जहां विवेकीजन विवाह आदि महोत्सवों के समय मङ्गल वृद्धि के लिये जिन मन्दिरों में महापूजा करते है ॥२८॥ कहीं पूर्वभव सम्बन्धी पापकर्म के उदय से यदि शोक उत्पन्न होता था तो उसका नाश करने के लिये चतुर मनुष्य जिनमन्दिर में महामह पूजा करते थे ॥२९॥ इत्यादि विविध आचारों के द्वारा जहां के ज्ञानीजन प्रतिदिन सुख के सागर स्वरूप अहिंसामय धर्म को करते है ॥३०॥ व्रत शील उपवासादिक दान पूजना-

१. देव्य इव २ पूर्वासद्वेद्योदयात् ३ विचारज्ञ क० ।

व्रतशीलोपवासाद्यैर्दानपूजनकर्मभिः । दृष्टिज्ञानक्षमाद्यैश्च वैराग्यभावनादिभिः ॥३१॥
भोगोपभोगसपूर्णा नीतिमार्गरताः शुभाः । रूपलावण्यनेपथ्यचीनांशुकविमण्डिताः ॥३२॥
दानिनोऽतिसदाचारास्तीर्थेशगुरुसेवनाः । ज्ञानविज्ञानसंपन्ना धनधान्यादिसंकुलाः ॥३३॥
धर्मकार्यकरा यस्यां सुखिनः पुण्यपाकतः । नरास्तादृग्विधा नार्यो वसन्ति तुङ्गधामसु ॥३४॥
तस्या मध्ये विभात्युच्चैर्नरेन्द्रभवनं महत् । गिरीन्द्रशिखराकारं तुङ्गप्राकारकेतुभिः ॥३५॥
तत्पतिर्विश्वसेनाख्योऽप्यभूद्विश्वगुणैकभूः । काश्यपाख्यसुगोत्रस्थ इक्ष्वाकुवंशखांशुमान् ॥३६॥
स शशीवकलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव । प्रभुरिन्द्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥३७॥
जिनेन्द्रपादससक्तो गुरुसेवापरायणः । धर्माधार. सदाचारी रूपेण जितमन्मथः ॥३८॥
दाता भोक्ता विचारज्ञो नीतिमार्गप्रवर्तकः । गुणी प्रजाप्रियो दक्षो ज्ञानत्रयविभूपितः ॥३९॥
दिव्याम्वरसुभूषाद्यैर्वेष्टित स्वजनादिभिः । शक्रो वा यशसा सोऽभाद्विश्वभूपशिरोमणिः ॥४०॥
निरौपम्या महारूपा वभूव प्राणवल्लभा । तस्य व्राह्मी जगत्ख्याता परव्रह्मोद्भवक्षितिः ॥४१॥

दिक, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान क्षमादिक, और वैराग्यभावना आदि के द्वारा जहां मनुष्य धर्म किया करते है ॥३०॥ जो भोगोपभोग से परिपूर्ण हैं, नीति मार्ग में रत है, शुभ हैं, रूप लावण्य वेषभूषा तथा क्षौम वस्त्रों से विभूषित है, दानी हैं, सदाचारी हैं, तीर्थंकर तथा गुरुओं के सेवक है, ज्ञान-विज्ञान से संपन्न है, धन धान्यादि से युक्त हैं, धर्म कार्य करने वाले है, तथा पुण्योदय से सुखी है ऐसे मनुष्य जहां उत्तुङ्ग भवनों में निवास करते हैं तथा ऐसी ही स्त्रियां जहाँ ऊंचे ऊंचे महलों में निवास करती हैं ॥३२-३४॥

उस वाराणसी के मध्य में गिरिराज के शिखराकार ऊंचा विशाल राजभवन है जो उन्नत कोट तथा पताकाओं से सुशोभित है ॥३५॥ उस नगरी का राजा विश्वसेन था जो समस्त गुणों की अद्वितीय भूमि था, काश्यप गोत्र में स्थित था तथा इक्ष्वाकुवंशरूपी आकाश का सूर्य था ॥३६॥ वह राजा विश्वसेन चन्द्रमा के समान कलाओं का आधार था, सूर्य के समान तेजस्वी था, इन्द्र के समान प्रभु था और कल्पवृक्ष के समान अभीष्टफल को देने वाला था ॥३७॥ वह जिनेन्द्र भगवान् के चरणों में संलग्न था, गुरुओं की सेवा मे तत्पर रहता था, धर्म का आधार था, सदाचारी था, रूप से काम को जीतने वाला था, दानी था, भोक्ता था, विचारज्ञ था, नीति मार्ग का प्रवर्तक था, गुणी था, प्रजा को प्रिय था, चतुर था, तीन ज्ञानों से विभूषित था, दिव्य वस्त्र तथा उत्तमोत्तम आभूषणों से विभूषित था, आत्मीय जनों से सदा परिवृत रहता था, समस्त राजाओं का शिरोमणि था और यश से इन्द्र के समान सुशोभित था ॥३८-४०॥

राजा विश्वसेन की प्राणवल्लभा ब्राह्मी थी, जो निरुपम थी, महारूपवती थी, जगत् प्रसिद्ध थी, और परब्रह्म-तीर्थंकर की जन्मभूमि थी ॥४१॥ वह कान्ति से चन्द्रमा

सा कलेवैन्दवी[1] कान्त्या जगदानन्ददायिनी । स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमादायेव विनिर्मिता ।।४२।।
तन्वङ्गी सुकुमाराङ्गा विश्वनेपथ्यधारिणी । सुस्वरा मधुरालापा भारतीव व्यभात्तराम् ।।४३।।
सुरेभगमनौ तस्या नखचन्द्रैर्मनोहरौ । जितपद्मौ प्रगच्छन्तौ धर्मकार्ये सुलक्षणौ ।।४४।।
मणिनूपुरझङ्कारैर्बधिरीकृतदिग्मुखौ । रणद्भृङ्गयुतौ भातः पङ्कजाविव सत्क्रमौ[2] ।।४५।।
शोभा जङ्घाद्वये यास्याः क्वाप्यन्यत्र न सास्त्यतः । कदल्यादिभवे गर्भे तस्मात्किं वर्ण्यतेतराम् ।।४६।।
ऊरुद्वयं सुकान्त्याढ्यं स्निग्धं स्थूलं सुखावहम् । स्पर्द्धयेवामरस्त्रीभिरतिरम्यं बभार सा ।।४७।।
कलत्रस्थानमेतस्याः स्थानीकृत्य मनोभुवा । विनिर्जितं जगत्सर्वमनूनपरिमण्डलम् ।।४८।।
कटीमण्डलमस्याः सुकाञ्चीशालपरिष्कृतम् । दुर्गं वाभादनङ्गस्य लसदंशुकसंवृतम् ।।४९।।
तनु मध्यं बभारासौ कृतं हि निम्ननाभिकम् । शरन्नदीव सावर्तं भर्तृक्रीडागृहोपमम् ।।५०।।
हृदयं कुचकुम्भाभ्यां बभौ तस्या मनोहरम् । सुहारनिर्झरण्या स्वभूपक्रीडाचलोपमम् ।।५१।।

की कला के समान जगत् को आनन्द देने वाली थी तथा ऐसी जान पड़ती थी मानों देवाङ्गना के रूप सर्वस्व को लेकर ही बनायी गई हो ।।४२।। जो तन्वङ्गी थी, जिसका शरीर अत्यन्त सुकुमार था, जो समस्त वेषभूषा को धारण करती थी, सुन्दर स्वर और मधुर आलाप से सहित थी ऐसी वह ब्राह्मी सरस्वती के समान अत्यधिक सुशोभित होती थी ।४३। ऐरावत हाथी के समान गमन करने वाले नखरूपी चन्द्रमाओं से मनोहर, कमलों को जीतने वाले, धर्म कार्य में प्रगतिशील, उत्तम लक्षणों से युक्त और मणिमय नूपुरों की झङ्कार से दिशाओं के अग्रभाग को बहिरा करने वाले उसके सुन्दर चरण गुञ्जार करने वाले भ्रमरों से युक्त कमलों के समान सुशोभित हो रहे थे ।।४४-४५।। इसकी दोनों पिण्डरियों में जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी इसलिये कदली आदि के गर्भ में उसका क्या वर्णन किया जाय ? ।।४६।। वह देवाङ्गनाओं के साथ स्पर्धा से ही मानों ऐसे ऊरु युगल को धारण करती थी जो उत्तम कान्ति से युक्त था, स्निग्ध था, स्थूल था, सुख को धारण करने वाला था और अत्यन्त रमणीय था ।।४७।। इसके नितम्ब स्थल को अपना स्थान बनाकर कामदेव ने अतिशय विस्तृत समस्त जगत् को जीत लिया था ।।४८।। उत्तम मेखलारूपी कोट से परिष्कृत तथा सुन्दर वस्त्र से आच्छादित उसका कटीमण्डल—कमर का घेरा कामदेव के दुर्ग के समान सुशोभित था ।।४९।। जिस प्रकार शरद् ऋतु की नदी भँवर सहित कृशमध्यभाग को धारण करती है उसी प्रकार वह ब्राह्मी पति के क्रीडागृह के समान गहरी नाभि से युक्त कृशमध्यभाग को धारण करती थी ।।५०।। उसका मनोहर वक्षस्थल स्तनरूप कलशों से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों हाररूपी उत्तम निर्झरिणी

१. इन्दुसम्बन्धिनी २ सच्चरणौ ।

नखेन्दुरश्मिभिर्बाहू मृदू तस्या विरेजतुः । [1]भूषाकल्पागशाखे वा मणिनेपथ्यदीप्तिभिः ॥५२॥
सुस्वरं कोमलं कण्ठं सा दधे रत्नभूषितम् । पुत्रगीतादिसंसक्तं सरस्वत्या गृहोपमम् ॥५३॥
कान्तितेजोभिराभाति मुखमस्या मनोहरम् । दन्तादिज्योत्स्नया दीप्तं[2] पूर्णं वा शशिमण्डलम् ॥५४॥
[3]कपोलावलकानस्या दधतुः प्रतिबिम्बितान् । स्वकान्तिसंचये यद्वद्दर्पणौ[4] च मुखादिककान् ॥५५॥
तस्या नासाग्रमव्यग्रं तन्मुखाग्रे स्थितं बभौ । [5]आस्यामोदमिवाघ्रातुं सन्निःश्वसितमुत्थितम् ॥५६॥
तस्या नेत्रोत्पले भातः पुत्ररूपविलोकने । लोलुपे तारके वा सविभ्रमेऽनङ्गदीपके ॥५७॥
कर्णाभरणविन्यासैः कर्णौ तस्या रराजतुः । सरस्वत्या इवास्थानौ जिनवाक्श्रवणोत्सुकौ ॥५८॥
अष्टमीचन्द्रसादृश्यमस्या भालं तरां व्यधात् । मण्डनाङ्गादिरश्म्योघैर्दर्पणश्रीविडम्बकम् ॥५९॥
उत्तमाङ्गं[6] बभौ तस्याः कचभारेण सुन्दरम् । पुष्पस्रग्भूषणाद्यैश्च जिनादौ नमनोत्सुकम् ॥६०॥

से सहित अपने राजा का क्रीडाचल ही हो ॥५१॥ उसकी कोमल भुजाएं नखरूपी चन्द्रमा की किरणों से ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों मणिमय आभूषणों की कान्ति से युक्त भूषणाङ्ग कल्पवृक्ष की शाखाएं ही हों ॥५२॥ वह सुन्दर स्वर और रत्नों से विभूषित जिस कोमल कण्ठ को धारण करती थी वह पुत्रों के गीतादि से सहित सरस्वती के गृह के समान जान पड़ता था ॥५३॥ दन्त आदि की किरणों से देदीप्यमान उसका मनोहर मुख, कान्ति और तेज से पूर्ण चन्द्र बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा था ॥५४॥ जिस प्रकार दर्पण अपने कान्तिकलाप में प्रतिबिम्बित मुख आदि को धारण करते हैं उसी प्रकार उसके कपोल अपने कान्तिकलाप में प्रतिबिम्बित अलकों-केशों के अग्रभाग को धारण करते थे ॥५५॥ उसके मुखाग्रभाग में स्थित उसका निराकुल नासिका का अग्रभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उत्तम श्वासोच्छ्वास से सहित मुख की सुगन्ध को सूंघने के लिये ही उद्यत हुआ हो ॥५६॥ हाव भाव से सहित तथा काम को उत्तेजित करने वाले उसके नेत्रोत्पल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों पुत्र का रूप देखने के लिये सतृष्ण नेत्रों की कनीनिकाएं पुतलियां ही हों ॥५७॥ कर्णालंकारों के विन्यास से उसके कान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनेन्द्र भगवान् के वचन सुनने के लिये उत्सुक सरस्वती के आस्थान–सभामण्डप ही हो ॥५८॥ आभूषण तथा शरीर आदि की किरणों के समूह से दर्पण की शोभा को तिरस्कृत करने वाला उसका ललाट अष्टमी के चन्द्रमा की समानता को अच्छी तरह धारण कर रहा था ॥५९॥ केशों के भार से सुन्दर तथा पुष्पमाला और आभूषणों आदि से मनोहर उसका शिर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिनेन्द्र देव आदि को नमस्कार

१. भूषणाङ्गकल्पवृक्षशाखा सदृशे भूषाकल्पाङ्ग क० ख० २ दीप्त क० ३ कपोलौ अलकान् अस्या इतिच्छेदः ४ दर्पणौ च क० ५ मुखलग्नं ६ शिरः।

समसुप्रविभक्ताङ्गमित्यस्या वपुरद्भुतम् । स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छन्दभावेनेव व्यधाद्विधिः ॥६१॥
सा[1] खनी नररत्नानां गुणानामाकरा परा । पावनी श्रुतदेवी वा संपदां वा महानिधिः ॥६२॥
सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्योत्तमाकरा । सौहार्दस्य महाप्रीतिः सौजन्यस्य परा स्थितिः ।६३॥
कलाविज्ञानचातुर्यविवेकानां च भारती । राशिर्वा यशसां सासीत्सतीत्वस्य परा धृतिः ॥६४॥
रूपलावण्यसंपत्त्या जनानन्दविधायिनी । सा बभौ नितरां लोके परा लक्ष्मीरिवोर्ज्जिता ॥६५।
किमत्र बहुनोक्तेन स्युर्यानि लक्षणान्यपि । स्त्रीणा तानि समस्तानि श्रेष्ठान्यस्या भवन्त्यहो ६६
पुंसा संजायते रागः शृङ्गाररसवर्णनै । ततोऽतिवर्णितोऽस्माभिर्न सवैराग्यमानसैः ॥६७॥
प्रेयसी साभवद्भर्तुः प्राणेभ्योऽतिगरीयसी । इन्द्राणीव सुरेशस्य परप्रणयभूमिका ॥६८॥
सुखसन्तानवृद्धयर्थं दम्पती तौ मनोहरौ । भोगक्रीडां प्रकुर्वन्तौ मग्नौ स्तः शर्मवारिधौ ॥६९॥
अथ संक्रन्दनः[2] प्राह धनदं प्रति धर्मधीः । आनतेन्द्रस्य विज्ञाय शेषषण्मासजीवितम् ॥७०॥

करने के लिये उत्सुक ही हो ॥६०॥ जिसके समस्त अङ्ग समानरूप से अच्छी तरह विभक्त हैं ऐसा उसका आश्चर्यकारक शरीर ऐसा जान पड़ता था मानों विधाता ने स्त्रीसृष्टि का प्रतिबिम्ब रखने के अभिप्राय से ही उसकी रचना की थी ॥६१॥

यह नररूपी रत्नों की खान थी, गुणों की उत्कृष्ट खदान थी, सरस्वती देवी के समान पवित्र करने वाली थी अथवा संपदाओं की बड़ी भारी निधि थी ॥६२॥ सौभाग्य की चरम अवधि थी, सौन्दर्य की उत्तम खान थी, सौहार्द की महाप्रीति थी, सौजन्य की उत्कृष्ट स्थिति थी, कला विज्ञान चातुर्य और विवेक की सरस्वती थी, यश की राशि थी और सतीत्व की उत्कृष्ट आधार थी ॥६३–६४॥ रूप तथा सौन्दर्यरूपी सम्पत्ति के द्वारा मनुष्यों के आनन्द को उत्पन्न करने वाली वह ब्राह्मी लोक में उत्कृष्ट तथा प्रबल लक्ष्मी के समान अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥६५॥ अहो ! यहां बहुत कहने से क्या लाभ है ? स्त्रियों के जो भी श्रेष्ठ लक्षण हैं वे सभी इसके विद्यमान थे ॥६६॥ क्योंकि शृङ्गार रस के वर्णन से पुरुषों को राग उत्पन्न होता है इसलिये वैराग्य सहित चित्त को धारण करने वाले हमने उसका अधिक वर्णन नहीं किया है ॥६७॥ उत्कृष्ट स्नेह की भूमि स्वरूप वह रानी इन्द्र को इन्द्राणी के समान पति के लिये प्राणों से भी अधिक प्रिय थी ॥६८॥ सुख सन्तति की वृद्धि के लिये भोग क्रीडा करते हुए वे मनोहर दम्पति सुखसागर में निमग्न रहते थे ॥६९॥

अथानन्तर धर्म में बुद्धि रखने वाले इन्द्र ने, 'आनतेन्द्र की आयु छह माह शेष रही है' ऐसा जानकर कुबेर से कहा ॥७०॥ हे धनद ! त्रिलोकीनाथ पार्श्वनाथ तीर्थंकर मुक्ति

१. सा खनीव सुरत्नाना क० २ इन्द्र ।

रैद[1] पार्श्वतीर्थेशो विश्वसेननृपालये । ब्राह्मीगर्भे जगन्नाथोऽवतरिष्यति मुक्तये ॥७१॥
ततो गत्वा विधेहि त्वं देवैः सार्द्धं शुभाप्तये । रत्नवृष्टयादिभिः सारं पञ्चाश्चर्यं सुखावहम् ॥७२॥
तदाज्ञा शिरसादायाथामरैः सह भूतलम् । तस्मात्स पातयामास रत्नवृष्टिं नृपालये ॥७३॥
रैधारैरावतस्थूलमहायातकराकृतिः । धर्मकल्पद्रुमस्येव बभौ प्ररोहसंततिः ॥७४॥
रुद्ध्वाकाशं पतन्ती सा तेजसोऽभात्तरां दिशि । स्वर्गलक्ष्मीरिवायान्ती सेवितुं जिनमातरम् ॥७५॥
खात्पतन्ती मणीनां सा धारा सम्प्रेक्षिता क्षणम् । ज्योतिर्मालेव तत्पित्रोरागच्छन्त्यत्र सेवया ॥७६॥
खाङ्गणे[2] गणनातीता रत्नहेममयी व्यभात् । सा धारा कुर्वती चात्र जगत्तेजोमयं महत् ॥७७॥
अनर्घ्यैं रत्नसंघातैं रुद्धं दृष्ट्वा नृपाङ्गणम् । संकुलं मणितेजोभिर्ज्योतिश्चक्रमिवाद्भुतम् ॥७८॥
परस्परं जगुर्दक्षा इति धर्मविदो जनाः । अहो पश्येदमत्यर्थं धर्ममाहात्म्यमीदृशम् ॥७९॥
यद्गीर्वाणैर्नृपागारं साङ्गणं पूरितं मुदा । जिनोत्पत्तिप्रभावेन स्वर्णमाणिक्यराशिभिः ॥८०॥
परे प्राहुः कियन्मात्रमिदं श्रीधर्मपाकतः । पित्रोः सेवां करिष्यन्ति सुरेशाः किङ्करा इव ॥८१॥

के लिये विश्वसेन राजा के घर ब्राह्मी के गर्भ में अवतार लेंगे ॥७१॥ इसलिये तुम देवों के साथ जाकर कल्याण की प्राप्ति के लिये रत्नवृष्टि आदि के द्वारा सुखदायक श्रेष्ठ पञ्चाश्चर्य करो ॥७२॥ तदनन्तर इन्द्र की आज्ञा को शिर से स्वीकृत कर कुबेर देवों के साथ पृथिवी तल पर आया और राजभवन में रत्नवृष्टि गिराने लगा ॥७३॥ ऐरावत हाथी के स्थूल तथा बहुत लम्बे शुण्डादण्ड के समान आकृति को धारण करने वाली रत्नों की वह धारा धर्मरूपी कल्पवृक्ष के अंकुरों की संतति के समान सुशोभित हो रही थी ॥७४॥ आकाश को घेर कर पड़ती हुई वह रत्नधारा अपने तेज से दिशाओं में ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों जिनमाता की सेवा करने के लिये स्वर्ग की लक्ष्मी ही आ रही हो ॥७५॥ आकाश से पड़ती हुई वह रत्नों की धारा क्षणभर के लिये ऐसी दिख रही थी मानों जिनेन्द्र भगवान् के माता पिता की सेवा करने के लिये ज्योतिष्क देवों की पंक्ति ही यहां आ रही हो ॥७६॥ आकाशाङ्गण से पड़ती हुई वह असंख्य रत्नों तथा सुवर्ण की धारा ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों इस महान् जगत् को तेजोमय ही कर रही हो ॥७७॥ अमूल्य रत्नों के समूह से व्याप्त तथा रत्नों के तेज से परिपूर्ण राजा के अङ्गण को आश्चर्यकारक ज्योतिश्चक्र के समान देखकर धर्म के ज्ञाता कुशल मनुष्य परस्पर ऐसा कहने लगे कि अहो ! यह धर्म की ऐसी सातिशय महिमा देखो ॥७८–७९॥ देवों ने जिनेन्द्रजन्म के प्रभाव से आङ्गण सहित राजमहल को हर्षपूर्वक स्वर्ण और मणियों की राशि से पूर्ण कर दिया है ॥८०॥ अन्य मनुष्य कहने लगे कि यह कितनी सी बात है ? श्री धर्म के परिपाक

१. कुबेर २ नभोऽङ्गणे ।

अन्ये प्राहुरहो तत्कि यन्न संप्राप्यतेऽद्भुतम् । दूरं वा दुर्लभं सर्वं धार्मिकैश्च जगत्त्रये ॥८२॥
केचिन्मणिसुवर्णौघं तद्विलोक्य सुरोद्भवम् । आकर्ण्य तद्वचो दक्षा मतिं धर्मे व्यधुर्दृढाम् ॥८३॥
कल्पद्रुमसुपुष्पाणां वृष्टिर्देवकृता बभौ । कुर्वन्त्यत्र विभोर्गानं पतन्ती[1] वालिझाङ्कृतैः ॥८४॥
गन्धोदकमयी वृष्टिरागच्छन्ती व्यभात्तराम् । पोषयन्तीव लोकेऽस्मिन् दिव्यमुक्ताफलश्रियम् ॥८५॥
देवानकैः सुराः कुर्युर्दुन्दुभ्याख्यं स्वरोर्जितम् । अब्धिनिर्घोषसंकाशं बधिरीकृतदिग्मुखम् ॥८६॥
जयनन्देशवर्धस्व कल्याणशतभाग्भव । भूप स्वरामया सार्द्धं विश्वराजशिरोमणिः ॥८७॥
धन्यस्त्वं जगतां मान्यो धन्या वेयं जगत्पतिः । जिनो जगत्त्रयीनाथो यद्गर्भेऽवतरिष्यति ॥८८॥
इत्यादिशब्दसंघातैः सुराः कोलाहलं व्यधुः । खाङ्गणे तुष्टिमापन्ना जयादिरवसंकुलम् ॥८९॥
एवं षण्मासपर्यन्तं पञ्चाश्चर्यं महाद्भुतम् । जगदाश्चर्यकर्तारं व्यधुर्देवा दिनं प्रति ॥९०॥
अथैकदा महासौधे मनोज्ञे मृदुतल्पके । कृत्वा स्नानं चतुर्थं सुसुप्ता देवी सुशर्मणा ॥९१॥

से इन्द्र किङ्करों के समान माता पिता की सेवा करेंगे ॥८१॥ दूसरे पुरुष कहने लगे कि अहो ! तीनों लोकों में वह कौन अद्भुत, दूरवर्ती अथवा दुर्लभ पदार्थ है जो धार्मिक जनों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता हो ?॥८२॥ कितने ही चतुर मनुष्यों ने देवों से उत्पन्न हुई उस मणि और सुवर्ण की राशि को देखकर तथा उनके वचन सुनकर धर्म में बुद्धि को दृढ किया ॥८३॥ देवकृत, कल्पवृक्ष के सुन्दर पुष्पों की वृष्टि यहां पड़ती हुई ऐसी जान पड़ती थी मानों भ्रमरों की झाङ्कार से प्रभु का गुणगान ही कर रही हो ॥८४॥ आती हुई गन्धोदक की वृष्टि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों इस लोक में दिव्य मोतियों की लक्ष्मी को ही पुष्ट कर रही हो ॥८५॥ देव, देवों के नगाड़ों से जिस दुन्दुभिनामक सबल स्वर को कर रहे थे वह समुद्र की गर्जना के समान था तथा दिशाओं के अग्रभाग को बहरा कर रहा था ॥८६॥ हे ईश ! तुम अपनी प्राणवल्लभा के साथ जयवंत होओ, समृद्धिमान् होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ और सैकडों कल्याणों के भाजन होओ । हे राजन् ! तुम समस्त राजाओं में शिरोमणि हो, तुम धन्य हो, जगन्मान्य हो, और यह आपकी प्राणवल्लभा भी धन्य है कि जिसके गर्भ में जगत्पति त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र भगवान् अवतीर्ण होंगे ॥८७-८८॥ इत्यादि शब्दों के समूह से सतोष को प्राप्त हुए देव गगनाङ्गण में जय जय आदि की ध्वनि से परिपूर्ण कोलाहल करने लगे ॥८९॥ इस प्रकार छह माह पर्यन्त देव प्रतिदिन जगत् को आश्चर्य उत्पन्न करने वाले अतिशय अद्भुत पञ्चाश्चर्य करते थे ॥९०॥

अथानन्तर एक समय ब्राह्मी देवी चतुर्थ स्नान करके मनोहर महाभवन में कोमल शय्या पर सुख से शयन कर रही थी ॥९१॥ शयन करते समय उसने रात्रि के पिछले

१ पतन्ती इव अलिझाङ्कृतैः इतिच्छेद ।

सापश्यत्षोडश स्वप्नानिमान् पुत्रफलाङ्कितान् । निशायाः पश्चिमे यामे जिनजन्मानुशसिनः ॥९२॥
सुरेभं पर्वताकारमुत्तुङ्गं मन्द्रबृंहितम् । त्रिमदस्रुतमद्राक्षीद्ध्वनन्तं वा शरद्घनम् ॥९३॥
गवेन्द्रं दुन्दुभिस्कन्धं कुन्दमुक्ताफलद्युतिम् । पीयूषपुञ्जनीकाशं सापश्यन्मदनिःस्वनम् ॥९४॥
मृगेन्द्रं चन्द्रसच्छायशरीरं रक्तकन्धरम् । प्रतापं वा स्वपुत्रस्य सा ददर्श महोर्जितम् ॥९५॥
लक्ष्मीं रत्नमयोत्तुङ्गविष्टरे देवदन्तिभिः[१] । स्नाप्यां हिरण्मयैः कुम्भैरपश्यत्स्वामिव श्रियम् ॥९६॥
दामनी[२] कुसुमामोदाकृष्टलग्नमदालिनी । तज्झंकृतैरिवारब्धगाने जिनस्य सैक्षत[३] ॥९७॥
सम्पूर्णबिम्बमुज्ज्योत्स्नं ताराधीशं[४] सतारकम् । कान्तिव्रजं स्वसूनोर्वा सा सानन्दमलोकयत् ॥९८॥
निर्धूततध्वान्तमुद्यन्तं भास्वन्तमुदयाचलात् । मूर्तीभूतमिव ज्ञानं साद्राक्षीत्स्वात्मजस्य वै ॥९९॥
कुम्भौ स्वर्णमयौ पद्मपिहितास्यौ ददर्श सा । स्वकीयस्नानकुम्भौ वा मुखलग्नकराम्बुजौ ॥१००॥
झषौ सरोवरे फुल्लकुमुदाब्जचये सती । दर्शयन्ताविवापश्यत्स्वनेत्रायाममद्भुतम् ॥१०१॥

प्रहर में पुत्र रूप फल से सहित, जिनेन्द्रजन्म को सूचित करने वाले ये सोलह स्वप्न देखे ॥९२॥ सर्व प्रथम जिसका आकार पर्वत के समान था, जो ऊंचा था, गम्भीर गर्जना कर रहा था, तीन स्थानों से मद झरा रहा था और गर्जते हुए शरद् ऋतु के मेघ के समान था ऐसे ऐरावत हाथी को देखा ॥९३॥ तदनन्तर दुन्दुभि के समान कांधोल से युक्त, कुन्द और मुक्ताफल के समान कान्ति से सहित अमृत पुञ्ज के समान तथा मद से जोरदार शब्द करने वाले उत्तम बैल को देखा ॥९४॥ पश्चात् जिसका शरीर चन्द्रमा के समान कान्ति वाला था, जिसकी ग्रीवा लाल थी और जो अपने पुत्र के प्रताप के समान जान पड़ता था ऐसा महा बलवान् सिंह देखा ॥९५॥ तदनन्तर जो रत्नमय ऊंचे सिंहासन पर आरूढ है देवगज सुवर्ण कलशों से जिसका अभिषेक कर रहे हैं और जो अपनी ही लक्ष्मी के समान जान पड़ती है ऐसी लक्ष्मी को देखा ॥९६॥ पश्चात् फूलों की सुगन्ध से आकृष्ट होकर जिन पर भ्रमर लग रहे हैं और उन भ्रमरों की झांकार से जो जिनेन्द्र देव के गुणगान करती हुई सी जान पड़ती हैं ऐसी दो मालाओं को उसने देखा ॥९७॥ तदनन्तर जो संपूर्ण मण्डल से सहित है, उत्कृष्ट चांदनी से युक्त है, ताराओं से परिवृत है और अपने पुत्र के कान्ति समूह के समान जान पड़ता है ऐसे चन्द्रमा को उसने बड़े हर्ष के साथ देखा ॥९८॥ पश्चात् जिसने अन्धकार को नष्ट कर दिया है, जो उदयाचल से उदित हो रहा है और अपने पुत्र के साकार ज्ञान के समान जान पड़ता है ऐसे सूर्य को उसने देखा ॥९९॥ तदनन्तर जिनका मुख कमलों से आच्छादित है, तथा जो मुख पर संलग्न कर कमलों से युक्त अपने स्नान कलशों के समान जान पड़ते हैं ऐसे स्वर्णमय दो कलश देखे ॥१००॥ पश्चात् जिसमें कुमुद और कमलों का समूह खिल रहा है ऐसे सरोवर में विद्यमान उन दो

१ सुरगजैः २ माले ३ सा+ऐक्षत ४. चन्द्रमसम् ।

तरत्सरोजकिञ्जल्कपिञ्जरोदकसञ्चयम् । विद्यार्णवं स्वसूनोर्वैक्षत दिव्यं सरोवरम् ।।१०२।।
क्षुभ्यन्तमब्धिमुद्वेलं सादर्शन्मणिसंकुलम् । दृग्ज्ञानवृत्तरत्नानां स्वस्य पुत्रस्य वाकरम् ।।१०३।।
सिंहविष्टरमुत्तुङ्गं मणिरश्मिचयाकुलम् । सापश्यन्मेरुशृङ्गे वा स्थितं सिंहासनं परम् ।।१०४।।
स्वर्विमानं व्यलोकिष्ट परार्द्ध्यरत्नभास्वरम् । भाण्डागारं स्वसूनोर्वा दृगादिमणितेजसाम् ।।१०५।।
नागेन्द्रभवनं पृथ्वीमुद्भिद्योद्गतमैक्षत । स्वसूनोः प्रसवागारमिव देवार्पितं महत् ।।१०६।।
रत्नराशिं महोत्सर्पदंशुपल्लविताम्बरम् । सा ददर्श स्वपुत्राङ्गभामण्डलमिवोत्थितम् ।।१०७।।
ज्वलन्निर्धूममद्राक्षीत्सा दीप्तं विषमार्चिषम् । स्वात्मजस्य ज्वलन्तं वा ध्यानात्कर्मेन्धनोत्करम् ।१०८।
स्वप्नान्ते सा व्यलोकिष्ट गजमैरावताभिधम् । प्रविशन्तं स्ववक्त्राब्जं जिनेशतुर्विधायिनम् ।।१०९।।

मालिनी

इति सुकृतविपाकाद्दिव्यस्वप्नान् ददर्श जिनवरसुतजन्मासूचकान्सा जिनाम्बा ।
विविधविभवकीर्त्याद्यादिसंपादनाद्धि त्रिभुवनपतिमोदाकारकान् सद्गजादीन् ।।११०।।

मछलियों को देखा जो अपने नेत्रों की अद्भुत लम्बाई को ही मानों दिखला रही थी, ।।१०१।। तदनन्तर तैरते हुए कमलों की केशर से जिसके जल का समूह पीला पीला हो रहा है तथा जो अपने पुत्र के विद्यारूप सागर के समान जान पड़ता था ऐसा सुन्दर सरोवर देखा ।।१०२।। पश्चात् जो तट का उल्लङ्घन कर रहा है, मणियों से व्याप्त है और अपने पुत्र के दर्शन ज्ञान चारित्ररूपी रत्नों की खान के समान प्रतीत हो रहा है ऐसे लहराते हुए समुद्र को देखा ।।१०३।। तदनन्तर उसने मणियों के किरण कलाप से व्याप्त उस ऊंचे सिंहासन को देखा जो मेरु के शिखर पर स्थित दूसरे सिंहासन के समान जान पड़ता था ।।१०४।। पश्चात् उत्कृष्ट रत्नों से देदीप्यमान वह स्वर्गविमान देखा जो अपने पुत्र के सम्यग्दर्शनादि मणियों के तेज का मानों भाण्डार ही था ।१०५। पश्चात् पृथिवी को भेद कर प्रकट हुए नागेन्द्र के उस भवन को देखा जो अपने पुत्र के देव प्रदत्त महान् प्रसूतिगृह के समान था ।।१०६।। तदनन्तर ऊपर की ओर उठती हुई अपनी बड़ी बड़ी किरणों से जिसने आकाश को पल्लवित कर दिया है ऐसी रत्नराशि को देखा। वह रत्नराशि ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने पुत्र के शरीर का भामण्डल ही उठकर खड़ा हुआ हो ।।१०७।। पश्चात् उसने देदीप्यमान जलती हुई निर्धूम अग्नि देखी। वह अग्नि ऐसी जान पड़ती थी मानों ध्यान से अपने पुत्र के कर्मरूपी इन्धन के समूह को ही जला रही हो ।।१०८।। स्वप्नों के अन्त में उसने अपने मुखकमल में प्रवेश करता हुआ ऐरावत नामका हाथी देखा। वह ऐरावत हाथी यह सूचना दे रहा था कि तेरे तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न होगा ।।१०९।।

इस प्रकार पुण्योदय से जिन माता ने तीर्थंकर पुत्र के जन्म को सूचित करने वाले वे उत्तम गज आदि दिव्य स्वप्न देखे जो विविध प्रकार के वैभव और कीर्तिसमूह आदि के

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्माद्विश्व[1]समर्चितोऽतिविमलः सूनुस्तयोस्तीर्थकृद्
विश्वानन्दकरो महान्निरुपमः पार्श्वो भविष्यत्यहो ।
ज्ञात्वेतीह बुधाः कुरुध्वमनिशं स्वर्मोक्षसंपादकं
धर्मं विश्वसुखाकरं सुचरणैः सर्वार्थसिद्ध्यै परम् ॥१११॥
पार्श्वो दुःखविनाशकः सुखकरः पार्श्वं श्रिता धर्मिणः
पार्श्वेणात्र विलभ्यते गुणचयः पार्श्वाय तस्मै नमः ।
पार्श्वान्नास्त्यपरः स्वपार्श्वजनकः पार्श्वस्य मुक्तिः प्रिया
पार्श्वे चित्तमहं दधे जिनप मा पार्श्व स्वपार्श्वे नय ॥११२॥

इति भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे रत्नवृष्टिषोडशस्वप्नवर्णनो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

सम्पादन से त्रिलोकीनाथ के हर्ष को प्रकट करने वाले थे ॥११०॥ धर्म से उन दोनों के सर्वपूजित, अत्यन्त निर्मल, सबके आनन्द को करने वाला, महान्, निरुपम, पार्श्व नामक तीर्थंकर पुत्र होगा ऐसा जानकर अहो विद्वज्जन हो ! सर्व मनोरथों की सिद्धि के लिये उत्तम आचरणों से स्वर्ग मोक्ष को प्राप्त कराने वाला समस्त सुखों की खान उत्कृष्ट धर्म निरन्तर करो ॥१११॥

पार्श्व जिनेन्द्र दुःख के विनाशक तथा सुख को करने वाले हैं, धर्मात्मा जनों ने पार्श्व जिनेन्द्र का आश्रय लिया है, पार्श्व जिनेन्द्र के द्वारा गुणों का समूह प्राप्त किया जाता है, उन पार्श्व जिनेन्द्र के लिये नमस्कार है, पार्श्व जिनेन्द्र से बढ़कर दूसरा अपनी निकटता को प्राप्त कराने वाला नहीं है, पार्श्व जिनेन्द्र को मुक्ति प्रिय है, मैं पार्श्व जिनेन्द्र में अपना चित्त लगाता हूँ, हे पार्श्व जिनेन्द्र मुझे अपने पास ले चलो ॥११२॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित पार्श्वनाथ चरित में रत्न-वृष्टि और सोलह स्वप्नों का वर्णन करने वाला दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥१०॥



१। समन्वितो क० ।

एकादशः सर्गः

येनोत्पाद्याशु कैवल्यं जित्वारिजपरीषहान् । बोधितास्तापसाः सर्वे नमस्तस्मै चिदात्मने ।।१।।
अथातो मङ्गलोद्गीतीः शृण्वती वन्दिनां सती । तूर्यैः प्राबोधिकैः शीघ्रं ध्वनद्भिः प्रत्यबुद्ध सा ।।२।।
एतस्याः सुप्रबोधाय दिव्यवाण्या सुपाठकाः । तदा प्रपेठुरित्युच्चैर्मङ्गलानि शुभान्यपि ।।३।।
प्रबोधसमयोऽयं ते देवि सन्मुखमागतः । वर्तते धर्मयोग्योऽयं कालः प्राभातिको महान् ।।४।।
उत्थाय शयनात्केचिच्चक्रु: सामायिकं महत् । समभावं समालम्ब्य धर्मसिद्धयै सुखावहम् ।।५।।
केचिद्ध्यानं प्रकुर्वन्ति स्वैकचित्तेन चार्हताम् । [1]एनः शान्त्यै [2]सुव्युत्सर्गं केचिद्धीरा दृढव्रताः ।।६।।
गुरूणां पञ्चनामोत्थं [3]मन्त्रराजं जगद्धितम् । परे जपन्ति पापघ्नं स्वर्गमुक्तिवशीकरम् ।।७।।
इत्येवं स्तवनाद्यैः सुदक्षो लोकः प्रवर्तते । धर्मध्याने प्रभातेऽत्र सिद्धयै विश्वसुखार्णवे ।।८।।
[4]जिनवाक्यांशुभिर्यद्वदगान्मोहतमः क्षयम् । तद्वत्सूर्यांशुभिर्भिन्नं तमो नैश्यं सुदृष्टिहृत् ।।९।।

एकादश सर्ग

जिन्होंने शत्रुकृत परिषहों को जीतकर तथा शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न कर समस्त तापसों को संबोधित किया उन चैतन्यस्वरूप पार्श्वनाथ को नमस्कार हो ।।१।।

अथानन्तर वन्दीजनों के मङ्गलमय गीतों को सुनती हुई वह जिनमाता जागरण के लिये बजते हुए बाजों से शीघ्र ही जाग गई ।।२।। उत्तम पाठ पढ़ने वाले मागधजन इसे जगाने के लिये उस समय सुन्दरवाणी से इस प्रकार शुभमङ्गल उच्चस्वर से पढ़ रहे थे ।।३।। हे देवि ! यह जागने का समय तुम्हारे सन्मुख आया है । यह प्रातःकाल का महान् समय धर्म के योग्य है ।।४।। कितने ही लोग शय्या से उठकर तथा साम्यभाव का आलम्बन लेकर धर्म की सिद्धि के लिए सुखदायक महान् सामायिक करते है ।।५।। कोई अपने एक चित्त से अर्हन्तों का ध्यान करते हैं और दृढता से व्रतों का पालन करने वाले कोई पापों की शान्ति के लिये कायोत्सर्ग कर रहे है ।।६।। कोई गुरुओं के पांच नामो से उत्पन्न, जगत् हितकारी, पाप विनाशक तथा स्वर्ग और मोक्ष को वश करने वाले मन्त्रराज का जप करते है ।।७।। इस प्रकार चतुर मनुष्य इस प्रभातकाल में सिद्धि के लिये स्तवन आदि के द्वारा समस्त सुखों के सागर स्वरूप धर्म्यध्यान में प्रवृत्त होते हैं ।।८।। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के वचनरूपी किरणों से सुदृष्टि–सम्यग्दर्शन को हरने वाला मोह-

१. पापशमनाय २. कायोत्सर्ग ३ नमस्कारमन्त्र ४ एष श्लोक. ख० प्रतौ नास्ति ।

जिनभानूद्‌गमे यद्वद् भ्रमन्ति साधवो भुवि । कुलिङ्गितस्करा नष्टास्तथा चौरा [१]इनोद्‌गमे ।।१०।
जिनवाग्रश्मिभिर्यद्वत्सन्मार्गा नाकमोक्षयोः । दृश्यन्ते च सुधर्मादीनां लोके भानुरश्मिभिः ।।११।।
भवन्ति निःप्रभा यद्वज्जिनोदये कुलिङ्गिनः । तथा सूर्योदयेऽकिञ्चित्करा ज्योतिर्गणा भुवि ।।१२।।
विकसन्ति यथा भव्यमनोऽब्जानि जिनेशिनः । वचोंऽशुभिस्तथाब्जानि [२]सरसीनकरोत्करैः ।।१३।।
रूयते कलमामन्द्रमितः सरसि सारसैः । कृकवाकैरितो रम्यं रथाङ्गमिथुनैरितः ।।१४।।
इत्यादिविविधानन्दैर्वर्तते मोदनिर्भरः । प्रभातेऽत्र जगल्लोको धर्म्यध्यानादिकर्मभिः ।।१५।।
अतो देवि विमुञ्च त्वं तल्पं कुरु वृषाप्तये । धर्म्यध्यानं स्तवाद्यैश्च कल्याणशतभाग्भव ।।१६।।
[३]सुस्वप्नदर्शनाद्देवी प्रवुद्धा प्राक्तरां पुनः । प्रबोधितेति साऽपश्यत्प्रमोदकलितं[४] जगत् ।।१७।।
ततस्तद्दर्शनोद्भूततोषनिर्भरमानसा । उत्थाय शयनाच्छीघ्रं धर्म्यध्यानं चकार सा ।।१८।।

रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सूर्य की किरणों से सुदृष्टि उत्तमदृष्टि को हरने वाला रात्रि का अन्धकार नष्ट हो गया है ।।९।। जिस प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य का उदय होने पर साधु, पृथिवी पर भ्रमण करने लगते हैं और कुलिङ्गी तथा चोर नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्योदय होने पर साधुजन पृथ्वी पर विचरण करते हैं और चौर नष्ट हो गये हैं ।।१०।। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के वचनरूपी किरणों से स्वर्ग और मोक्ष के समीचीन-मार्ग दिखाई देने लगते हैं उसी प्रकार लोक में सूर्य की किरणों से उत्तम धर्म आदि के मार्ग दिखाई दे रहे हैं ।।११।। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् का उदय होने पर कुलिङ्गी-मिथ्या तापस आदि निष्प्रभ हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्य का उदय होने पर ज्योतिषी देवों के समूह पृथ्वी पर अकिञ्चित्कर हो गये है अर्थात् पृथिवी पर उनका कुछ भी प्रकाश नहीं प्रसरित हो रहा है ।।१२।। जिस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के वचनरूपी किरणों से भव्यजीवों के हृदयकमल खिल जाते है उसी प्रकार सूर्य किरणों के समूह से तालाब मे कमल खिल रहे हैं ।।१३।। इधर सरोवर मे सारस पक्षी अव्यक्त मधुर शब्द कर रहे है तो इधर मुर्गे मनोहर शब्द कर रहे हैं तो इधर चकवा चकवियो के युगल सुन्दर शब्द कर रहे है ।।१४।। इस प्रकार इस प्रभातकाल में हर्ष से परिपूर्ण जगत् के जीव धर्म्य ध्यान आदि करते हुए विविध प्रकार के आनन्द का अनुभव कर रहे हैं ।।१५।। इसलिये हे देवि ! तुम शय्या छोड़ो और धर्म की प्राप्ति के लिये स्तवन आदि के द्वारा धर्म्यध्यान करो तथा सैकड़ों कल्याणों को प्राप्त होओ ।।१६।।

उत्तम स्वप्नो के देखने से वह देवी यद्यपि बहुत पहले जाग गयी थी तथापि वन्दीजनों के द्वारा पुनः जगायी गयी । जागने पर उसने हर्ष से परिपूर्ण जगत् को देखा ।।१७।। तदनन्तर हर्षपूर्ण जगत् के देखने से उत्पन्न संतोष से जिसका हृदय भरा हुआ है ऐसी उस

१. [illegible] २० सरसि-इनकरोत्करैः इतिच्छेदः ३ स्वस्वप्न क० ४ प्रमोदकलित क० ।

जिनेन्द्रस्मरणाद्यै श्च सामायिकस्तवादिभिः । सर्वमाङ्गल्यसिद्धयर्थं कृत्स्नाभ्युदयकारणम् ॥१९॥
ततः सुस्नाननेपथ्याद्यै: कृत्वा स्वाङ्गमण्डनम् । दिव्याम्बरधरा दक्षा कियत्स्वजनवेष्टिता ॥२०॥
सिहासनाधिरूढस्य भर्तु रन्तं जगाम सा । सभाया सर्वस्वप्नानां फलार्थनिश्चयाप्तये ॥२१॥
भूपोऽप्युचितसन्मानैर्दृष्ट्वा संभाष्य संददौ । तस्या अर्द्धासनात्मीयं प्रीत्या प्रीतिकरं द्रुतम् ॥२२॥
स्मेरमास्यं विधायोच्चैः सुखासीना व्यजिज्ञपत् । तस्मै नृपासनस्थाय भर्त्रे दिव्यगिरा सती ॥२३॥
देवाद्य यामिनोयामे[1] पश्चिमे[2] सुखनिद्रिता । स्वपुण्येनाहमद्राक्षमिमान्स्वप्नांश्च षोडश ॥२४॥
गजेन्द्राद्यनलान्तान्सुमहाभ्युदयकारणान् । विधाय मद्दया नाथ तेषां फलं ममादिश ॥२५॥
अथावोचन्नृपो दिव्यावधिज्ञानबलान्मुदा । शृणु देवि प्रवक्ष्येऽहं स्वप्नाना फलमूर्जितम् ॥२६॥
गजेन्द्रदर्शनात्तेऽद्य महान्पुत्रो जगद्धितः । भविता विबुधाराध्यो विश्वराजशिरोमणिः ॥२७॥
समस्तभुवने ज्येष्ठो महावृषभदर्शनात् । जगत्यस्मिन्महाधर्मरथधौर्यप्रवर्तकः ॥२८॥
सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ स्वकर्मगजघातक. । दाम्ना सद्धर्मसज्ज्ञानतीर्थकर्ता सुखाकरः ॥२९॥

देवी ने शीघ्र ही शय्या से उठकर धर्म्यध्यान किया ॥१८॥ समस्त मङ्गलों की सिद्धि के लिये उसने जिनेन्द्र भगवान् के स्मरण आदि तथा सामायिक स्तवन आदि के द्वारा सर्व अभ्युदय का कारणभूत धर्म्यध्यान किया था ॥१९॥ तत्पश्चात् उत्तम स्नान और वेष-भूषा आदि के द्वारा अपने शरीर अलंकृत कर जिसने सुन्दर वस्त्र धारण किये हैं ऐसी वह रानी कितने ही आत्मीयजनों से परिवृत हो समस्त स्वप्नों के फल का निश्चय करने के लिये सभा में सिंहासन पर आरूढ पति के समीप गयी ॥२०-२१॥ राजा ने भी उसे देख कर योग्य सन्मान के साथ उससे संभाषण किया तथा शीघ्र ही प्रीतिपूर्वक प्रीति को उत्पन्न करने वाला अपना अर्धासन दिया ॥२२॥ उत्तम सुख से बैठी हुई पतिव्रता रानी ने मुखको मन्दहास्य से युक्त कर राजसिंहासन पर स्थित अपने पति के लिये मनोहर वाणी द्वारा निवेदन किया ॥२३॥ हे देव ! आज सुख से सोयी हुई मैने रात्रि के पिछले प्रहर में अपने पुण्योदय से गजराज को आदि लेकर अग्नि पर्यन्त महान् अभ्युदय के कारण ये सोलह स्वप्न देखे है । हे नाथ ! मुझ पर दया कर मेरे लिये उनका फल कहिये ॥२४-२५॥

तदनन्तर दिव्य अवधिज्ञान के बल से जानकर राजा ने हर्षपूर्वक कहा कि हे देवि ! सुनो, मै स्वप्नों का उत्तम फल कहता हूँ ॥२८॥ आज गजराज के देखने से तेरे जगत् हितकारी, देवों के द्वारा आराधनीय और समस्त राजाओं का शिरोमणि महान् पुत्र होगा ॥२७॥ महावृषभ के देखने से वह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा और इस जगत् में धर्मरूपी महान् रथ को प्रवर्त्ताने वाला होगा ॥२८॥ सिंह के देखने से वह अपने कर्मरूपी हाथियों

---

१ रात्रिप्रहरे २. अन्ते ।

लक्ष्म्याभिषेकमाप्तासौ मेर्वग्रहरिविष्टरे । क्षीरोदतोयकुम्भौघै[1] सर्वशक्रै सुवर्णजै ॥३०॥
पूर्णेन्दुना जनाह्लादी सद्धर्मामृतवृष्टिभि. । भास्वताऽचित्तमोहन्ता स्वाङ्गभाद्योतिताविपत् ।३१।
कुम्भाभ्या सोऽत्र भोक्ता नवनिधीना जिनेश्वर. । मत्स्ययुग्मेक्षणात्स स्यात् सुखी भोगैर्नृदेवजै ॥३२॥
सरसा लक्षणै: पूर्ण: सोऽष्टोत्तरसहस्रकै. । दृक्कैवल्यादिरत्नाना रत्नाकरोऽत्र सोऽब्धिना ।३३॥
सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगत्त्रये । स्वर्विमानेन तीर्थेश: स्वर्गादवतरिष्यति ॥३४॥
नागेन्द्रभवनालोकात्सोऽवधिज्ञाननेत्रभाक् । दृग्ज्ञानादिगुणाना स आकरो रत्नपुञ्जत ॥३५॥
कृत्स्नकर्मेन्धनानां स भस्मराशि करिष्यति । शुक्लध्यानाग्निना नून निर्धूमज्वलनेक्षणात् ।।३६।
सुरेभाकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे पार्श्वतीर्थेश स्वमाधास्यति निर्मले ॥३७॥
इति तेषा फलं श्रुत्वा दधे रोमाञ्चितं वपु । हर्षाङ्कुरैरिवाकीर्ण प्राप्तपुत्रेव सा तदा ॥३८॥

का घात करने वाला अनन्त बलशाली होगा। मालाओं के देखने से सम्यग्धर्म और सम्यग्ज्ञान की आम्नाय को करने वाला तथा सुख की खान होगा ॥२९॥ लक्ष्मी के देखने से वह मेरु के अग्रभाग में स्थित सिंहासन पर समस्त इन्द्रों द्वारा क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण सुवर्ण कलशों के समूह से अभिषेक को प्राप्त होगा ॥३०॥ पूर्णचन्द्रमा के देखने से वह सद्धर्मरूपी अमृत की वृष्टि से समस्त जीवों को आह्लादित करने वाला होगा। सूर्य के देखने से अज्ञानान्धकार को नष्ट करने वाला तथा अपने शरीर की कान्ति से आकाश को प्रकाशित करने वाला होगा ॥३१॥ कलशयुगल के देखने से वह नौ निधियों का भोक्ता तीर्थंकर होगा और मीनयुगल के देखने से वह मनुष्य तथा देवों के भोगों से सुखी होगा ॥३२॥ सरोवर के देखने से वह एक हजार आठ लक्षणों से पूर्ण होगा तथा समुद्र के देखने से सम्यग्दर्शन तथा केवलज्ञान आदि रत्नों का सागर होगा ॥३३॥ सिंहासन के देखने से वह तीनों जगत् के साम्राज्य को प्राप्त होगा और स्वर्ग का विमान देखने से वह तीर्थंकर, स्वर्ग से अवतीर्ण होगा ॥३४॥ नागेन्द्र का भवन देखने से वह अवधिज्ञानरूपी नेत्र का धारक होगा और रत्नराशि के देखने से वह दर्शन ज्ञान आदि गुणों की खान होगा ॥३५॥ निर्धूम अग्नि के देखने से वह निश्चित ही शुक्लध्यानरूपी अग्नि के द्वारा समस्त कर्मरूपी ईंधन को भस्मराशि कर देगा ॥३६॥ देव गज का आकार लेकर मुख में प्रवेश करने से सूचित होता है कि तुम्हारे निर्मल गर्भमें पार्श्वनाथ तीर्थंकर अपने आपको धारण करेंगे ॥३७॥

इस प्रकार स्वप्नों का फल सुनकर उसने रोमाञ्चित शरीर को धारण किया। उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी मानों उसने पुत्र को प्राप्त कर ही लिया था और हर्ष के अंकुरों से उसका शरीर व्याप्त हो गया था ॥३८॥

१. कुम्भाद्यै: म० ।

अथ सौधर्मनाथः प्राह श्र्यादिदेवताः प्रति । जिनगर्भावतारं स ज्ञात्वा धर्माय धर्मधीः ।।३९।।
विश्वसेनपतेर्ब्राह्म्याः सद्गर्भेऽवतरिष्यति । श्रीपार्श्वनाथ एवाद्य[1] तीर्थकर्ता जगद्गुरुः ।।४०।।
तस्या गत्वा शुचिद्रव्यैर्भवन्त्यो गर्भशोधनम् । कुरुध्वं भक्तितः सेवा स्वं स्वं नियोगमाशु च ।।४१।।
मूर्ध्नादाय तदाज्ञा ताः कृत्वा तद्गर्भशोधनम् । स्वर्जैः[2] शुचिमहाद्रव्यैस्तस्याः सेवां व्यधुस्तराम् ।४२
श्रीह्रीधृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्मीरिमाः स्त्रियः । श्रियं लज्जां सुधैर्यं च स्तुतिं बोधिं सुवैभवम् ।।४३।।
तस्या अभ्यर्णवर्तिन्य आदधुः स्वान्गुणानिमान् । स्वभक्त्या परिचारिण्यो धर्महृष्टा वृषाप्तये ।।४४।।
निसर्गनिर्मला राज्ञी ताभिः संस्कारिता पुनः । तत्र राजति दिव्याङ्गा संस्कृतेवाग्निना मणिः ।४५।
वैशाखकृष्णपक्षस्य द्वितीयाया निशात्यये । विशाखर्क्षे सुलग्नादौ सुमुहूर्ते सुरेश्वरः ।।४६।।
अवतीर्णो दिवश्च्युत्वा भुक्त्वा भोगान् सुनिर्मले । राज्ञ्या गर्भे निरौपम्ये शुद्धस्फाटिकसन्निभे ।।४७।।
तद्गर्भागमनं ज्ञात्वा स्वचिह्नावधिभिर्द्रुतम् । स्वस्ववाहनमारूढाः सकलत्रा सनिर्जराः ।।४८।।

तदनन्तर धर्मबुद्धि सौधर्मेन्द्र ने यह जानकर कि धर्म के लिए तीर्थंकर का गर्भावतरण होने वाला है, श्री आदि देवियों से कहा ।।३९।। राजा विश्वसेन की ब्राह्मी देवी के प्रशस्त गर्भ में आज ही जगद्गुरु श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर अवतीर्ण होंगे इसलिये आप लोग जाकर पवित्र द्रव्यों द्वारा उनका गर्भशोधन करो, भक्ति से उनकी सेवा करो और शीघ्र ही अपना अपना नियोग पूरा करो ।।४०–४१।। श्री आदि देवियां शिर से सौधर्मेन्द्र की आज्ञा को स्वीकृत कर तथा स्वर्ग में उत्पन्न होने वाले पवित्र महाद्रव्यों से गर्भशोधन कर माता की सेवा करने लगीं ।।४२।। श्री देवी ने श्री को, ह्री देवी ने लज्जा को, धृति देवी ने उत्तम धैर्य को, कीर्तिदेवी ने स्तुति को, बुद्धि देवी ने बुद्धि को और लक्ष्मी देवी ने उत्तम वैभव को उत्पन्न किया था । इस प्रकार जिनमाता के समीप रहने वाली तथा अपनी भक्ति से उनकी परिचर्या करने वालीं इन देवाङ्गनाओं ने धर्म से प्रसन्न हो धर्म की प्राप्ति के लिये जिनमाता में अपने इन गुणों को अच्छी तरह धारण किया था ।।४३–४४।। रानी स्वभाव से ही निर्मल थी फिर उन देवियों के द्वारा संस्कारित की गयी थी अतः सुन्दर शरीर को धारण करने वाली वह रानी अग्नि के द्वारा संस्कारित मणि के समान अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ।।४५।।

वैशाख मास के कृष्णपक्ष सम्बन्धी–द्वितीया तिथि में विशाखा नक्षत्र, उत्तमलग्न आदि तथा शुभमुहूर्त के रहते हुए प्रातःकाल के समय वह इन्द्र भोग भोग कर स्वर्ग से च्युत हुआ तथा रानी के अत्यन्त निर्मल, निरुपम और शुद्ध स्फटिक के सदृश गर्भ में अवतीर्ण हुआ ।।४६–४७।। अपने चिह्नों से उत्पन्न अवधिज्ञान के द्वारा पार्श्व जिनेन्द्र का गर्भावत-

---

१ एवाथ २ स्वर्गोत्पन्नै ।

स्वाङ्गभूषादिदीप्त्यौघैर्द्योतयन्तो नभोऽङ्गणम् । गीतवाद्यजयध्वानैः पूरयन्तो दिशोऽखिला ॥४९॥
चतुर्णिकायदेवेशा आजग्मुर्भूपमन्दिरे । गर्भकल्याणनिष्पत्त्यै सोत्सवा धर्मसिद्धये ॥५०॥
नृपाङ्गणं पुरी खं च सुवीथीश्च तदाभराः । रुद्ध्वा तस्थुः परीवारैर्योषितः सुरसैन्यकाः ॥५१॥
जिनपित्रोर्मुदा चक्रुः कल्याणाभिषवोत्सवम् । हेमकुम्भैर्महाभूत्या सुरेशा जिनभक्तिकाः ॥५२॥
त्रिःपरीत्य ततो नत्वा गर्भस्थं तीर्थनायकम् । जिनेन्द्रपितरौ भक्त्या प्रपूज्यामरनायकाः ॥५३॥
दिव्यभूषणवस्त्राद्यैर्दिक्कुमारीर्नियोज्य ते । शुश्रूषायां जिनाम्बायाः प्रययुः स्वं स्वमाश्रयम् ।५४।
काश्चिन्मङ्गलधारिण्य. काश्चित्ताम्बूलदायिका. । काश्चिन्मज्जनपालिन्यस्तस्याश्चासन् सुराङ्गनाः.५५
काश्चिन्महानसे[1] युक्ताः पादसंवाहने पराः । शय्याविरचने काश्चिच्चास्या आसनसंस्थितौ ॥५६॥
प्रसाधनविधौ काचित्स्पृशन्ती तन्मुखाम्बुजम् । सुगन्धद्रव्यपाणिस्था धाविकेव बभौ मुदा ॥५७॥
काचिदाभरणान्यस्मै ददती मृदुपाणिना । विरेजे कल्पवल्लीव शाखाग्रोद्भिन्नभूषणा ॥५८॥

रण जानकर, जो शीघ्र ही अपने अपने वाहनों पर आरूढ़ हैं, स्त्रियों से सहित है, देवों से परिवृत हैं, अपने शरीर तथा आभूषण आदि की कान्ति के समूह से गगनाङ्गण को प्रकाशित कर रहे है तथा गीत, वादित्र तथा जय जय की ध्वनि से समस्त दिशाओं को पूर्ण कर रहे है ऐसे, उत्सवो से युक्त चारों निकायों के इन्द्र धर्मसिद्धि के लिये राजमहल में आ पहुंचे ॥४८–५०॥ उस समय देव, देवाङ्गनाएं और देवों के सैनिक अपने घरों से राजाङ्गण, नगरी, आकाश और गलियों को रोककर स्थित थे अर्थात् सब स्थानों पर देव ही देव दृष्टिगोचर होते थे ॥५१॥ जिनभक्त इन्द्रों ने हर्षपूर्वक बड़े वैभव से जिनेन्द्र भगवान् के माता पिता का सुवर्ण–कलशों के द्वारा गर्भकल्याणक सम्बन्धी अभिषेकोत्सव किया ॥५२॥ तदनन्तर इन्द्रों ने गर्भस्थित तीर्थंकर की तीन प्रदक्षिणाएं देकर उन्हें नमस्कार किया । दिव्य आभूषण तथा वस्त्र आदि से उनके माता पिता की भक्तिपूर्वक पूजा की तथा जिनमाता की सेवा में दिक्कुमारी देवियों को नियुक्त किया । पश्चात् यह सब कर चुकने के बाद वे अपने अपने स्थान पर चले गये ॥५३–५४॥

कोई देवाङ्गनाएं जिनमाता के आगे दर्पण आदि माङ्गलिक द्रव्य धारण करती थीं, कोई पान देतीं थीं और कोई स्नान कराती थीं ।५५। कोई रसोई घर में नियुक्त रहती थीं, कोई पैर दाबने में तत्पर थीं, कोई शय्या बिछाने में मग्न थीं और कोई आसनों को अच्छी तरह रखने में लीन रहती थीं ॥५६॥ प्रसाधन–सजावट के समय उसके मुखकमल का स्पर्श करती तथा सुगन्धित द्रव्य को हाथ में लिए हुए कोई देवी हर्ष से धुलाने वाली के समान सुशोभित हो रही थी ॥५७॥ कोमल हाथ से माता के लिये आभूषण देती हुई

१. भोजनशालायाम् ।

वास. क्षौम स्रजो रम्या बहुधा भोगसपदः। तस्मै समर्पयामासु. काश्चित्कल्पलता इव ।।५६।।
अङ्गरक्षाविधौ काश्चिदुत्खातासिकराम्बुजाः। तदभ्यर्णे बभुर्देव्यः शम्या[1] वा खेऽतिनिर्मले।।६०।।
पुष्परेणुभिराकीर्णं सम्ममार्जुनृ पाङ्गणम्। काश्चिदन्या. प्रकुर्वन्ति चन्दनच्छटयोक्षितम्।।६१।।
महीमार्द्रांशुकैः काश्चिन्निर्ममार्जु मुंदा पराः। कुर्वते वलिविन्यास रत्नचूर्णैर्मनोहरम् ।।६२।।
कल्पवृक्षजपुष्पौघैरन्या उपहरन्ति तम्। काश्चित्खे निशि सौधाग्रे कुर्वंति मणिदीपकान् ६३।
नभोभागे स्थिताः काश्चिदनालक्षितमूर्तयः। रक्ष्यता यत्नतो राज्ञीत्युच्चैर्गिरमुदाहरन् ।।६४।।
जलक्रीडादिभिस्ताश्च कदाचिद्वाद्यवादनैः। कथागोष्ठीभिरन्येद्युर्गीतगानैर्मनोहरैः ।।६५।।
अन्यदा नर्तनै रम्यैर्विलासहास्यजल्पनैः। विचित्रवेषधारिण्यो देव्यस्तस्मै धृतिं दधु ।।६६।।
गमने वासने तस्याः शयने यत्र कुत्रचित्। कुर्वन्ति विविधा सेवां सर्वत्र ताः सुराङ्गना. ।।६७।।
इति तत्कृतया रेजे जिनाम्बा परिचर्यया। उपनीता जगल्लक्ष्मीरिवैकध्यं कथञ्चन ।।६८।।

कोई देवी उस कल्पलता के समान सुशोभित हो रही थी जिसकी शाखा के अग्रभाग में आभूषण प्रकट हुए है ।।५८।। कोई देवियां कल्पलताओं के समान उसके लिये रेशमी वस्त्र मनोहर मालाएं और अनेक प्रकार की भोग सम्पदाएं समर्पित कर रही थीं ।।५९।। अङ्ग-रक्षा के कार्य में जिन्होंने अपने करकमलों से तलवार उठा रक्खी थी ऐसी कितनी ही देवियां उसके निकट ऐसी सुशोभित हो रही थीं जैसी अत्यन्त निर्मल आकाश में विज-लियां सुशोभित होती हैं ।।६०।। कोई देवियां फूलों की पराग से व्याप्त राजाङ्गण को अच्छी तरह झाड़ती थीं और कोई उसे चन्दन से सींचती थीं ।।६१।। कोई हर्षपूर्वक गीले कपड़ों से पृथिवी को अच्छी तरह साफ करती थीं और कोई रत्नों के चूर्ण से उस पर मनोहर वेलबूटे बनाती थीं ।।६२।। कोई कल्पवृक्ष से उत्पन्न फूलों के समूह से उन वेल-बूटों पर उपहार चढ़ाती थीं और कोई रात के समय आकाश तथा महल के अग्रभाग पर मणिमय दीपक प्रज्वलित करती थीं ।।६३।। जिनका शरीर नहीं दिख रहा था ऐसी कितनी ही देवियां आकाश मे स्थित होकर उच्चस्वर से यह शब्द कह रही थीं कि रानी की यत्न से रक्षा की जाय ।।६४।। विचित्र वेषों को धारण करने वाली वे देवियां कभी जलक्रीडा आदि के द्वारा, कभी बाजों के बजाने से, कभी कथा की गोष्ठियों से, कभी मनोहर गीतों के गाने से, कभी रमणीय नृत्यों से और कभी विलासपूर्ण हास्य विनोद से उसे संतोष प्रदान कर रही थीं ।।६५–६६।। वे देवियां उसके जहां कहीं जाने, ठहरने और सोने आदि के समय उसकी सब जगह विविध प्रकार की सेवा करती थीं ।।६७।। इस प्रकार उन देवियों के द्वारा की हुई सेवा से जिनमाता ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो

---

१ विद्युत इव ।

मादरं दिक्कुमारीभिः सा धन्या पर्युपासिता । तत्प्रभावैरिवाविष्टैः संबभार परां श्रियम् ॥६९॥
अन्तर्वत्नीमवाप्यर्णे[1] नवमे मासि संभ्रमम् । दिव्यार्थकाव्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तामित्यरञ्जयन् ।७०।
निगूढार्थक्रियापादैर्बिन्दुमात्राक्षरच्युतैः । श्लोकैरन्यैश्च तां देव्यो रमयामासुरद्भुतैः ॥७१॥
का भवत्या समा नारी जगत्त्रयसुरार्चिता । या सूते तीर्थकर्तारं सा गरिष्ठा न चापरा ॥७२॥
के शूरा ये जयन्त्यत्र कषायारीश्च दुर्जयान् । पञ्चाक्षसुभटान् घोरान् परीषहान्नचापरे ॥७३॥
के कातरा जगत्यस्मिन् नश्यन्ति वृत्तसङ्गरे । परीषहकषायाक्षैर्जिता ये ते परे न च ॥७४॥
केऽत्र सत्पुरुषा ये सत्तपोवृत्तयमादिकान् । स्वीकृत्य नैव मुञ्चन्ति जातु प्राणात्ययेऽपि ते ।७५।
केऽत्र कापुरुषा धृत्वा तपो वा चरणादि ये । परीषहभयान्मुञ्चन्ति तेऽन्ये न भवन्ति च ॥७६॥

किसी तरह एकरूपता को प्राप्त जगत् की लक्ष्मी ही हो ॥६८॥ दिक्कुमारी देवियों के द्वारा आदरपूर्वक जिसकी सेवा की जा रही थी ऐसी वह भाग्यशालिनी माता अपने आप में प्रविष्ट हुए के समान दिखने वाले उन देवियों के प्रभाव से अत्यधिक शोभा को धारण कर रही थी ॥६९॥

अथानन्तर नवम मास के निकट आने पर वे देवियां गर्भिणी जिनमाता को दिव्य अर्थ से युक्त काव्यगोष्ठियों के द्वारा हर्षपूर्वक इस प्रकार प्रसन्न करती थीं ॥७०॥ वे देवियां निगूढार्थ, निगूढक्रिया, निगूढपाद, बिन्दुच्युत, मात्राच्युत, अक्षरच्युत, तथा अन्य आश्चर्यकारक श्लोकों के द्वारा उसे आनन्दित करती थीं ॥७१॥ कभी प्रश्नोत्तरावली के रूप में वे देवियां जिनमाता से प्रश्न करती थी कि तीनों जगत् के देवों से पूजित आपके समान दूसरी स्त्री कौन है ? इस प्रश्न का माता उत्तर देती थी कि जो स्त्री तीर्थंकर को उत्पन्न करती है वही श्रेष्ठ स्त्री मेरे समान है अन्य नहीं ॥७२॥ कभी देवियां पूछती थीं कि शूरवीर कौन है ? माता उत्तर देती थी कि जो इस जगत् मे दुर्जेय कषायरूपी शत्रुओं को, पञ्चेन्द्रिय रूप सुभटों को तथा घोर परिषहों को जीतते हैं वे ही शूरवीर हैं, अन्य नहीं ॥७३॥ कभी देवियां पूछती थीं कि इस जगत् में कायर कौन है ? माता उत्तर देती थी कि जो चारित्ररूपी युद्ध में परिषह, कषाय और इन्द्रियों के द्वारा पराजित होकर नष्ट हो जाते हैं वे ही कायर हैं । अन्य लोग नहीं ॥७४॥ कभी देवियां प्रश्न करती थीं कि इस लोक में सत्पुरुष कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो उत्तम तप, चारित्र तथा यम, इन्द्रिय-दमन आदि को स्वीकृत कर प्राणघात होने पर भी कभी उन्हें छोड़ते नहीं है वे ही सत्पुरुष हैं ॥७५॥ कभी देवियां पूछती थीं कि इस जगत् में कापुरुष कौन हैं ? माता उत्तर

---

१ [illegible]

के विद्वासोऽत्र ये ज्ञात्वागमं पाप चरन्ति न। दुराचार च दुर्मार्ग ते विद. स्युः शठा. परे ।।७७।।
के मूर्खा ये परिज्ञाय ज्ञान मुञ्चन्ति जातु न। विषयासक्तिमेनश्च ते जडाः स्यु परे न च ।।७८।।
के धन्या यौवनस्था ये प्राप्य चक्र्यादिजा श्रियम्। त्यजन्ति तृणवद्धन्यास्त एवान्ये न सन्त्यहो ।।७९।।
केऽधमा विषयासक्ति हन्तुं जातु क्षमा न ये। दारिद्र्योपहतास्तेऽत्राधमा ज्ञेया न चापरे ।।८०।।
केऽत्र निन्द्या. सता मध्ये कुर्वन्तो निन्द्यकर्म ये। परश्रीस्त्र्यादिज श्वभ्रकारण ते जगत्त्रये ।।८१।।
स्तुत्याः केऽत्र गृहस्था ये सिद्धयै वा मुनयोऽनिशम्। सत्कर्माण्याचरन्त्येव स्वयोग्यानि त एव हि ।।८२।।
कस्माद्भयोऽत्र कर्त्तव्य. श्रेयान्पापिजनाश्रयात्। व्रतभङ्गादुराचारान्मिथ्यात्वादेर्नचान्यत: ।।८३।।
विद्भि. किं त्वरित कार्यं छेद संसारसन्तते.। पापवृक्षस्य धर्मादि हितं पथ्यं न चापरम् ।।८४।।

देती थीं कि जो तपश्चरण तथा चारित्र को स्वीकृत कर परिषह के भय से छोड़ देते है वे ही कापुरुष है अन्य नहीं हैं ।।७६।। कभी देवियां पूछतीं कि इस जगत् में विद्वान् कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो आगम को जानकर पाप का आचरण नहीं करते है, दुराचार और दुर्मार्ग का सेवन नहीं करते है वे ही विद्वान् हैं अन्य लोग मूर्ख है ।।७७।। कभी देवियां पूछती थीं कि मूर्ख कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो ज्ञान को जानकर भी कभी विषयासक्ति और पाप को नहीं छोड़ते है वे मूर्ख है अन्य नहीं ।।७८।। कभी देवियां पूछती थीं कि धन्य कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो युवावस्था में स्थित होकर भी चक्रवर्ती आदि की लक्ष्मी पाकर उसे तृण के समान छोड़ देते है वे ही धन्य है अन्य नहीं ।।७९।। कभी देवियां पूछती थीं कि नीच कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो विषयासक्ति को नष्ट करने के लिये कभी समर्थ नहीं है दरिद्रता से पीडित रहने वाले वे ही मनुष्य नीच जानने के योग्य है अन्य नहीं ।।८०।। कभी देवियां पूछती थीं इस जगत् में निन्दनीय कौन हैं ? माता उत्तर देती थीं कि जो सज्जनों के बीच परलक्ष्मीहरण तथा परस्त्री-सेवन आदि नरक के कारणभूत निन्द्य कर्म करते है वे ही तीनों जगत में निन्दनीय है ।।८१।। कभी देवियां पूछती थीं कि इस जगत् में स्तुत्य, स्तुति के योग्य कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो गृहस्थ अथवा मुनि निरन्तर अपने योग्य सत्कर्मों का आचरण करते है वे ही स्तुत्य है ।।८२।। कभी देवियां पूछती थीं कि इस लोक में किससे भय करना श्रेष्ठ है ? माता उत्तर देती थीं कि पापी जनों के आश्रय से, व्रतभङ्ग से, दुराचार से और मिथ्यात्व आदि से भय करना श्रेष्ठ है, अन्य से नहीं ।।८३।।

कभी देवियां पूछती थीं कि विद्वानों को शीघ्र ही क्या करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि संसार की सन्तति और पापरूपी वृक्ष का छेदन शीघ्र ही करना चाहिये। इसी प्रकार धर्म आदि हितकारक कार्य शीघ्र करना चाहिये अन्य नहीं ।।८४।। कभी

उद्वेग. क्वात्र कर्तव्य प्राक्तने निन्द्यकर्मणि । अयोग्याचरणे पापे कुसङ्गे ससृतौ विधौ ।।८५।।
रति· क्वात्र विधेया सद्ध्यानाध्ययनकर्मसु । धर्मे रत्नत्रये मुक्तिनार्यां गुर्वादिसेवने ।।८६।।
कर्तव्या क्वारतिर्दक्षैरिन्द्रियार्थादिसेवने । कुमार्गे कुत्सिताचारे कुसङ्गे च भवादिषु ।।८७।।
क्वात्र क्रोधोऽप्यनुष्ठेयो दु.कर्मारातिनिर्जये । हनने मदनाक्षाणा मोहरागादिशत्रुषु ।।८८।।
आदेय क्वात्र लोभो हि तपोध्यानश्रुतादिषु । मोक्षसौख्ये सुधर्मादौ नचान्यत्राक्षशर्मणि ।।८९।।
संतोष: क्व वुधै· कार्यो भोजने शयने शुभे । विषयादिकसेवाया न च दानवृषादिषु ।।९०।।
किं श्लाध्य तुच्छद्रव्येऽपि पात्रदानमनेकश: । नि:पापाचरण यच्च तपो बाल्येऽतिदु.करम् ।।९१।।
किमनर्घ्यं सता लोके रत्नत्रितयसेवनम् । जिनधर्मं सदाचारं सद्गुरो: पर्युपासनम् ।।९२।।
का श्रेष्ठा गतिरत्रैव यामीहन्ते मुनीश्वरा: । इन्द्रादयो निरौपम्या नित्या सा भुवनत्रये ।।९३।।

देवियां पूछती थीं कि इस जगत् में उद्वेग किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि पहले किये हुए निन्द्यकार्य में, अयोग्याचरण में, पाप में, कुसङ्गति में, संसार में तथा कर्म मे उद्वेग करना चाहिये ।।८५।। कभी देवियां पूछती थीं कि यहां प्रीति किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि प्रशस्त ध्यान और अध्ययन में, रत्नत्रयरूप धर्म में, मुक्तिरूपी स्त्री में तथा गुरु आदि की सेवा में प्रीति करना चाहिये ।।८६।। कभी देवियां प्रश्न करती थीं कि चतुर मनुष्यों को अप्रीति किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि इन्द्रियों के विषय आदि के सेवन में, कुमार्ग में, खोटे आचरण में, कुसंगति में और शरीर आदि में अप्रीति करना चाहिये ।।८७।। कभी देवियां पूछती थीं कि यहां क्रोध भी किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि दुष्कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने में, काम तथा इन्द्रियो के घात करने में तथा मोह और रागादि शत्रुओं में क्रोध भी करना चाहिए ।।८८।। कभी देवियां पूछती थीं कि यहां लोभ किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि तप, ध्यान, और शास्त्र आदि में, मोक्ष सुख में और उत्तम धर्म आदि में लोभ करना चाहिये अन्य इन्द्रिय सुख में नहीं ।।८९।। कभी देवियां पूछती थी कि विद्वानों को संतोष किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि भोजन में, शयन में, शुभ कार्य में, और विषयादिक के सेवन में संतोष करना चाहिये, दान धर्म आदि में नहीं ।।९०।।

कभी देवियां पूछती थीं कि प्रशंसनीय क्या है ? माता उत्तर देती थीं कि द्रव्य के अल्प होने पर भी अनेक वार पात्रदान देना, निष्पाप आचरण करना और बाल्य अवस्था मे भी अत्यन्त कठिन तप करना प्रशंसनीय है ।।९१।। कभी देवियां पूछती थीं कि लोक में सत्पुरुषों का श्रेष्ठ कार्य क्या है ? माता उत्तर देती थीं कि रत्नत्रय का सेवन, जैनधर्म, सदाचार और सद्गुरु की उपासना श्रेष्ठ कार्य है ।।९२।। कभी देवियां पूछती थीं कि इस

कि कृत्यं सुजनैरत्र धर्मदानादिपूजनम् । स्वकुलाचारनि:पापाचरणं हितमात्मन: ॥६४॥
किमकृत्य सतां लोके येनाकीर्त्यंघसचयम् । महद्दु:खमिहामुत्र जायतेऽकृत्यमेव तत् ॥६५॥
क्वात्र मत्री विधेया च सर्वसत्त्वेषु सज्जनै: । एकेन्द्रियाद्यवस्थाप्राप्तेषु नित्यं दयाप्तये ॥६६॥
क्व कर्तव्य: प्रमोदोऽत्र दृक्चिद्वृत्तादिशालिषु । मुमुक्षुषु सदा कार्यो गुणवत्सु तपस्विषु ॥६७॥
करुणा क्वात्र कर्तव्या रोगक्लेशाद्यशर्मभि: । पीडितेषु महादु:खाब्धिमग्नेषु च जन्तुषु ॥६८॥
माध्यस्थ क्वाप्यनुष्ठेयं विपरीतेषु पापिषु । तीव्रमिथ्यात्वकोपादिग्रस्तेषु दुर्जनेषु च ॥६६॥
क: शत्रुर्विषयो लोके धर्मं दान तपो हितम् । दीक्षादिग्रहणं पुंसां निषेधयति चैव स: ॥१००॥
को बन्धु: परमो नृणां तपो दान हित वृषम् । बलाद्य: कारयत्यत्र वृत्तादिग्रहणं च स: ॥१०१॥

जगत् में श्रेष्ठ गति क्या है ? माता उत्तर देती थीं कि मुनिराज और इन्द्रादिक जिसकी इच्छा करते है, जो निरुपम है तथा नित्य है वही सिद्धगति तीनों लोकों में श्रेष्ठ है ॥६३॥ कभी देवियां पूछती थीं यहां सज्जनों को क्या करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि धर्मदानादिक, पूजन, अपने कुलाचार का निर्दोष आचरण और आत्मा का हित करना चाहिये ॥६४॥ कभी देवियां पूछती थीं कि लोक में सत्पुरुषों को न करने योग्य क्या है ? माता उत्तर देती थीं कि जिससे अकीर्ति और पाप का संचय होता है, तथा इस लोक और परलोक में बहुत भारी दु:ख होता है वही कार्य नहीं करने योग्य है ॥६५॥ कभी देवियां पूछती थीं यहां मित्रता किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि सज्जनों को दया की प्राप्ति के लिये एकेन्द्रियादि अवस्था को प्राप्त हुए सभी जीवों पर निरन्तर मित्रता करना चाहिये ॥६६॥ कभी देवियां पूछती थीं कि यहां प्रमोदभाव किस पर करना चाहिये? माता उत्तर देती थीं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि से सुशोभित मोक्षाभिलाषी जीवों पर तथा गुणवान् तपस्विजनों पर सदा प्रमोद भाव करना चाहिये ॥६७॥ कभी देवियां प्रश्न करती थीं कि यहां करुणा किस पर करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि रोग क्लेश आदि दु:खों से पीडित तथा महादु:ख रूपी सागर में निमग्न जीवों पर करुणा करना चाहिये ॥६८॥ कभी देवियां पूछती थीं कि माध्यस्थ्यभाव किसमें करना चाहिये ? माता उत्तर देती थीं कि विपरीत, पापी, तीव्र मिथ्यात्व तथा क्रोधादि से ग्रस्त दुर्जनों में माध्यस्थ्यभाव करना चाहिये ॥६६॥ कभी देवियां पूछती थीं कि लोक में शत्रु कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो पुरुषों के लिये धर्म, दान, तप, हित, तथा दीक्षा आदि ग्रहण करने का निषेध करता है वही शत्रु है ॥१००॥ कभी देवियां पूछती थीं कि मनुष्यों का उत्कृष्ट बन्धु कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो बलपूर्वक तप, दान, हित, धर्म और चारित्र आदि को ग्रहण कराता है वही उत्कृष्ट बन्धु है ॥१०१॥ कभी

किं संबलं परत्रात्र तपोवृत्तयमादिभि.। यत्कृतं दानपूजाद्यैर्धर्म्मपुण्यादिकं च तत् ।।१०२।।
को विवेकी महाल्लोके विचार वेत्ति योऽनिशम्। देवादेवेऽघधर्मादौ पात्रापात्रे श्रुताश्रुते ।।१०३।।
एकभाषाप्यनेकाह्यक्षराप्यनक्षरा शुभा। निगूढार्था विविक्ता या सा कस्येह जगद्धिता ।१०४।
प्रहेलिका

नित्यनार्या सुरक्तोऽपि कामुकोऽकामुको महान्। सकामोऽप्यतिनि कामो योऽसौ कोऽत्र नुतोनुत १०५
प्रहेलिका

चित्तं हर हरीणां च त्वद्गर्भेण जगत्सताम्। फणाफणीन्द्रभूस्वर्गेऽर्च्यता देवि गुणात्मिके ।१०६।
क्रियागोपितम्

देवियां पूछती थीं कि इस भव तथा परभव में संबल क्या है ? माता उत्तर देती थीं कि तप चारित्र इन्द्रियदमन तथा दान पूजा आदि के द्वारा जो धर्म पुण्य आदिक किया जाता है वही संबल है ।।१०२।। कभी देवियां पूछतो थीं कि लोक में महान् विवेकी कौन है ? माता उत्तर देती थीं कि जो निरन्तर देव अदेव, पाप पुण्य, पात्र अपात्र और शास्त्र अशास्त्र का विचार जानता है वही महान् विवेकी है ।।१०३।।

प्रहेलिका पूछने वाली किसी देवी ने पूछा कि जो एक होकर भी अनेक है, अक्षर रूप होकर भी अनक्षर है, शुभ है, निगूढार्थ है, पवित्र है और जगत् हितकारी है ऐसी भाषा इस जगत् में किसकी है ? माता ने उत्तर दिया–'कस्य'–क अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की ।।१०४।
प्रहेलिका

किसी अन्य देवी ने पूछा कि जो नित्य नारी मुक्तिरूपी स्त्री में सुरक्त तथा कामुक होकर भी महान् अकामुक है, सकाम होकर भी अत्यन्त निष्काम है और नुत स्तुत होकर भी अनुत अस्तुत है ऐसा इस जगत् में कौन है ? माता ने उत्तर दिया कः अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् ।।१०५।।
प्रहेलिका

क्रियागुप्ति का प्रश्न करने वाली किसी देवी ने कहा कि–हे गुणों से तन्मय रहने वाली देवि ! तुम अपने गर्भ से हर हरि तथा जगत् के सत्पुरुषों का चित्त (?) यहां 'हर' क्रिया गुप्त है अतः उसे लेकर श्लोक का अर्थ होता है–हे गुणात्मिके देवि, तुम अपने गर्भ के द्वारा हरि–इन्द्र तथा जगत् के अन्य सत्पुरुषों के चित्त को हर–हरण करो। तथा फणों से सहित फणीन्द्र–नागेन्द्र की भूमि–अधोलोक और स्वर्ग मे तुम अर्च्यता–पूज्यता को (?) यहां 'फण' क्रिया गुप्त है अतः उसे लेकर श्लोक का अर्थ होता है कि तुम आफणीन्द्र भू स्वर्गे–अधोलोक से लेकर स्वर्ग तक अर्च्यता–पूज्यता को फण प्राप्त होओ।१०६।
(क्रियागुप्ति)

जगद्धितो जगन्नाथ: सुराधीशो गुणाकरः। त्रिजगज्जनताराध्यः कुर्यान्नस्ते हित सुतः ॥१०७॥
निरोष्ठ्यम्

तीर्थकर्ताघसहर्ता दाता दानं जगत्सताम्। ईहाढ्योऽत्र निरीहो यो जिनो जयतु सोऽसकृत् १०८
निरोष्ठ्यम्

इत्यादिप्रश्नमालानां दुःकराणां सुखाप्तये। प्रयुक्ताना सुरस्त्रीभि: सा[१] प्रोत्तर ददौ सती।१०९।
जानाना सकलार्थ देवी जगत्त्रयपण्डिता। त्रिबोधाधीशगर्भस्थमाहात्म्यात्सविशेषतः ॥११०॥
धृतिस्तस्या निसर्गेण परिज्ञानेऽभवत्तराम्। प्रज्ञामयं सुचिन्मूर्तिमुद्वहन्त्या निजोदरे ॥१११॥
सा[२] स्वकीये मुगर्भेऽन्तर्गतं तेजोमयं सुतम्। दधानार्काशुगर्भेव प्राची रेजेऽतिरूपिणी ॥११२॥
नररत्नेन तेनासौ गर्भस्थेन परां द्युतिम्। बभार च श्रियं श्रेष्ठा रत्नगर्भेव भूमिका ॥११३॥
स जनन्युदरस्थोऽपि नास्याः पीडामजीजनत्। दर्पणे प्रतिबिम्बोऽत्र याति कि विक्रिया क्वचित् ११

निरोष्ठ्य काव्य की रचना करती हुई किसी देवी ने कहा कि जो जगत् का हितकारी है, जगन्नाथ है, देवों का स्वामी है, गुणों की खान है और तीनों जगत् की जनता के द्वारा आराधनीय है ऐसा तुम्हारा पुत्र हमारा हित करे ॥१०७॥ निरोष्ठ्य

पुनः निरोष्ठ्य कविता की रचना करती हुई किसी देवी ने कहा कि जो तीर्थकर्ता है, पाप संहर्ता है, जगत् के सत्पुरुषों को दान का दाता है, और ईहा—उद्यम-पुरुषार्थ से सहित होकर भी निरीह—उद्यम से रहित है (पक्ष में इच्छा से रहित है) वह जिनेन्द्र अनेकवार जयवंत हो ॥१०८॥ निरोष्ठ्य

इस प्रकार सुख प्राप्ति के लिये देवाङ्गनाओं के द्वारा पूछे गये अतिशय कठिन प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर वह शीलवती माता देती थी ॥१०९॥ तीनों जगत् में निपुण देवी पहले ही समस्त पदार्थों को जानती थी परन्तु उस समय गर्भ में स्थित तीन ज्ञान के स्वामी जिन बालक की महिमा के कारण विशेष रूप से जानने लगी थी ॥११०॥ बुद्धि से तन्मय, चैतन्य मूर्ति जिन बालक को अपने उदर में धारण करने वाली उस जिन माता को अनेक पदार्थों के जानने में स्वभाव से ही संतोष होता था ॥१११॥ अपने उत्कृष्ट गर्भ में अन्तर्गत तेजोमय पुत्र को धारण करती हुई अतिशय रूपवती जिनमाता सूर्यरश्मियों को गर्भ मे धारण करने वाली पूर्व दिशा के समान सुशोभित हो रही थी ॥११२॥ गर्भ स्थित उस नररत्न से वह माता रत्नगर्भा भूमि के समान उत्कृष्ट कान्ति तथा श्रेष्ठ शोभा को धारण कर रही थी ॥११३॥ माता के उदर में स्थित होने पर भी वह जिन बालक माता को पीडित नहीं कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि यहां दर्पण में पड़ा प्रतिबिम्ब

१ सा युक्त्या प्रोत्तर ददौ ख० २. सा स्वकीयगर्भान्तगतं तेजोमय सुतम् क०

त्रिवलीभङ्गुरं तस्यास्तथैवास्थात्तनूदरम् । तथापि ववृधे गर्भः प्रभावं तज्जिनेशिनः ।।११५।।
शक्रेण प्रहितेन्द्राणी सिषेवे ता परां सतीम् । अप्सरोभिः समं भक्त्या निगूढं जिनभक्तये ।।११६।।
किमत्र वहुनोक्तेन सैका श्लाघ्या जगत्त्रये । या पत्युर्जगतां सष्ट्री वभूव भुवनाम्बिका ।।११७।।
पुनश्चकार रैदोऽत्र नवमासान्नृपालये । रत्नस्वर्णमयं पञ्चाश्चर्यं भूत्या शुभाप्तये ।।११८।।
नवमे मासि संपूर्णे पौषे मासि वृषोदयात् । कृष्णपक्षेऽनिले योगे शुभे ह्येकादशीतिथौ ।।११९।।
शुभलग्नमुहूर्त्तादौ सुषुवेऽतिसुखेन सा । सती देवकुमारीभिः सेव्या तीर्थंकरं सुतम् ।।१२०।।
ज्ञानत्रयधरं धीरं जगन्नाथं जगद्गुरुम् । धर्मतीर्थस्य कर्तारं जगदाश्चर्यकारकम् ।।१२१।।

मालिनी

इति सुकृतविपाकाद्विश्वतत्त्वैकदीपो । नृसुरपतिभिरुच्चैरर्चितो वन्दितश्च ।
शिवसुखमिह भोक्तुं कर्म हन्तुं सुगर्भा—दसमगुणनिधानः प्रादुरासीज्जिनेन्द्रः ।।१२२।।

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्माद्दिव्यसुखामृतं निरुपमं भुक्त्वा नृदेवोद्भवं,
जातस्तीर्थंकरो जगत्त्रयगुरुर्विश्वैकचूडामणिः ।

क्या कहीं विकार को प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं ।।११४।। त्रिवलियों से सुन्दर उसका उदर यद्यपि पहले के ही समान कृश था तथापि गर्भ बढ़ रहा था । वास्तव में यह जिनेन्द्र का ही प्रभाव था ।।११५।। इन्द्र के द्वारा भेजी हुई इन्द्राणी अप्सराओं के साथ गुप्तरूप से जिनभक्ति के लिये भक्तिपूर्वक उस उत्कृष्ट सती की सेवा करती थी ।।११६।। इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है ? जो त्रिलोकीनाथ की जन्मदात्री होने से जगन्माता थी ऐसी वही एक तीनों जगत् में श्लाघनीय थी ।।११७।।

कुवेर ने पुनः नौ माह तक कल्याण की प्राप्ति के लिये वैभव पूर्वक राजभवन में रत्न और स्वर्णमय पञ्चाश्चर्य किये ।।११८।। नवम मास के पूर्ण होने पर देवकुमारियों के द्वारा सेवनीय उस सती ने पुण्योदय से पौष कृष्ण एकादशी के दिन अनिल नामक शुभयोग के रहते हुए शुभलग्न और शुभ मुहूर्त में सुख से तीर्थंकर पुत्र को उत्पन्न किया ।।११९-१२०।। वह तीर्थंकर पुत्र तीन ज्ञान का धारक था, जगत् का स्वामी था, जगद्गुरु था, धर्मतीर्थ का कर्ता था और जगत् में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला था ।।१२१।।

इस प्रकार पुण्योदय से जो समस्त तत्त्वों को प्रकाशित करने के लिये अद्वितीय दीपक थे, मनुजेन्द्र और देवेन्द्रों के द्वारा पूजित तथा नमस्कृत थे ऐसे अनुपम गुणों के भाण्डार जिनेन्द्र, मोक्षसुख का उपभोग करने तथा कर्मों को नष्ट करने के लिये उत्तम गर्भ से प्रकट हुए ।।१२२।। पार्श्वनाथ का जीव, धर्म के प्रभाव से मनुष्य और देवगति में होने

भोक्तुं मुक्तिवराङ्गनां बुधजना मत्वेति यत्नात्परं,

कुर्वीध्वं सुखसिद्धयेऽप्यनुदिनं धर्मं जिनेन्द्रोदितम् ।।१२३।।

स्रग्धरा

पार्श्वो विघ्नौघहन्ता सकलगुणनिधिर्विश्वलोकैकभर्ता,

हन्ता दुःकर्मशत्रोः शिवसुखजनकः सर्वधर्मैकहेतुः ।

लोकाग्रज्ञः शरण्यो भवरिपुकुभयाल्लोकनाथैः स्तुतोऽर्च्यो,

वन्द्यः पूज्यो मया संहरतु स चरणे विघ्नजालं सतां मे ।।१२४।।

इति भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचिते श्री पार्श्वनाथचरित्रे तीर्थंकरगर्भजन्मवर्णनो नामैकादशः सर्गः ।।११।।

वाले अनुपम दिव्यसुख रूपी अमृत का भोग कर तीर्थङ्कर, जगत्त्रय का गुरु तथा मुक्तिरूपी उत्कृष्ट स्त्री का उपभोग करने के लिये त्रिलोक का अद्वितीय चूडामणि हुआ, ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! सुख की प्राप्ति के लिये प्रतिदिन जिनेन्द्रोक्त उत्कृष्ट धर्म को धारण करो ।।१२३।।

जो विघ्न समूह को नष्ट करने वाले हैं, समस्त गुणों के भाण्डार हैं, अखिल विश्व के अद्वितीय स्वामी हैं, दुष्कर्म रूपी शत्रु को नष्ट करने वाले है, मोक्षसुख के जनक है, संपूर्ण धर्म के एक कारण है, लोकाग्र के ज्ञाता है, संसाररूपी शत्रु के खोटे भय से रक्षा करने वाले है, त्रिलोकपतियों के द्वारा स्तुत और पूजित हैं तथा मेरे द्वारा वन्दनीय और पूजनीय है ऐसे श्री पार्श्वनाथ भगवान् मेरे सदाचरण में आने वाले विघ्न समूह को नष्ट करें १२४

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में तीर्थङ्कर के गर्भ और जन्म का वर्णन करने वाला ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।११।।



द्वादशः सर्गः

नमः श्रीमुक्तिकान्ताय काममल्लविनाशिने । श्रीपार्श्वस्वामिने सिद्धयै जगद्भर्त्रे चिदात्मने ।।१।।
दिग्भि. सार्धं नभोऽथासीन्निर्मलं जिनजन्मतः । अम्लानकुसुमैश्चक्रुः पुष्पवृष्टिं [1]सुरद्रुमाः ।।२।।
अनाहता महाध्वाना दध्वनुर्दिविजानका:[2] । ववौ तदा मरुन्मन्दं सुगन्धि. शिशिरः स्वयम् ।।३।।
अभूद् घण्टारवोऽतीवगम्भीरो निर्जरान्प्रति । वदन्निव जिनेन्द्रस्य जन्म नाकालये[3] स्वयम् ।।४।।
आसनानि सुरेशानामकस्मात्प्रचकम्पिरे । देवानुच्चासनेभ्योऽध. पातयन्तीव भक्तये ।।५।।
शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः । कुर्वन्तीव नमस्कारं भक्त्या तीर्थेशपादयोः ।।६।।
दृष्ट्वेत्यादि महाश्चर्यं ज्ञात्वा तीर्थेशजन्म ते । कल्पेशा अवधिज्ञानाज्जन्मस्नाने मतिं व्यधुः ।।७।।
कण्ठीरवमहाध्वानो[4] ज्योतिषामालयेष्वभूत् । स्वयं तथा परं सर्वं बह्वाश्चर्यं च नाकवत् ।।८।।

द्वादश सर्ग

जो अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से युक्त मुक्ति के कान्त हैं, काम सुभट को विनष्ट करने वाले है, जगत् के स्वामी है तथा चैतन्यरूप है उन पार्श्वनाथ भगवान् को मै सिद्धि के लिये नमस्कार करता हूं ।।१।।

अथानन्तर जिनेन्द्र भगवान् के जन्म से आकाश दिशाओं के साथ निर्मल हो गया और कल्पवृक्ष ताजे फूलों से पुष्पवृष्टि करने लगे ।।२।। उस समय महान् शब्द करने वाले देवदुन्दुभि विना बजाये ही शब्द करने लगे तथा सुगन्धित और शीतल वायु धीरे धीरे स्वयं बहने लगी ।।३।। स्वर्ग में अपने आप अत्यन्त गम्भीर घण्टा का शब्द होने लगा । वह घण्टा का शब्द ऐसा जान पड़ता था मानों देवो को जिनेन्द्र जन्म की सूचना ही दे रहा हो ।।४।। इन्द्रों के आसन अकस्मात् कम्पित हो उठे उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों भक्ति के लिये देवो को उच्चासनों से नीचे ही गिरा रहे हों ।।५।। चञ्चल मुकुटमणियों से युक्त इन्द्रो के शिर अपने आप नम्रीभूत हो गये उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों भक्तिपूर्वक तीर्थङ्कर के चरणकमलों में नमस्कार ही कर रहे हों ।।६।। इत्यादि महान् आश्चर्य को देखकर तथा अवधिज्ञान से तीर्थंकर का जन्म जानकर उन इन्द्रों ने जन्माभिषेक में बुद्धि लगायी अर्थात् जन्माभिषेक करने का विचार किया ।।७।। ज्योतिषी देवों के विमानों में अपने सिंहों का महान् शब्द हुआ । इसी प्रकार स्वर्ग के समान अन्य सब अनेक आश्चर्य

१. कल्पवृक्षा', २. देवदुन्दुभय , ३. स्वर्गे ४. सिंहध्वनि , ।

भेरीनादो महानासीद्व्यन्तराणां सुधामसु । आसनादिप्रकम्प[1] वा तथा सर्वं सुरेशिनाम् ।।९।।
शङ्खशब्दोऽप्यभूद्दिव्यसौधेषु भवनेशिनाम् । जिनेन्द्रजन्ममाहात्म्याच्छेषाश्चर्यं तथा महत् ।।१०।।
इत्यादिविविधाश्चर्यान् सविलोक्य सुरेशिनः । ज्ञात्वावधिबलात्कुर्युर्बुद्धि तज्जन्मकर्मणि ।।११।।
तत्र . शक्राज्ञया . देवपृतना निर्ययुर्दिवः । सध्वानास्तारतम्येन महाब्धेरिव वीचय ।।१२।।
हस्तिनोऽश्वा रथा गन्धर्वा नर्तक्यः पदातयः । वृषा इति सुरेशानां सप्तानीकानि निर्ययु ।।१३।।
अथसौधर्मकल्पेश इभमैरावताभिधम् । आरुह्य सममिन्द्राण्या प्रतस्थे निर्जरैर्वृत ।।१४।।
ततः सामानिकास्त्रायस्त्रिंशपारिषदामराः । आत्मरक्षा द्रुतं लोकपालास्त परिवव्रिरे ।।१५।।
तथैशानादिकल्पेशाः स्वं स्वं वाहनमाश्रिता । सार्द्धं स्वपरिवारेण महाभूत्या विनिर्ययु ।।१६।।
तदाभवन्महाध्वानो देवाना जयघोषणैः । दुन्दुभीनाञ्च शब्दौघैर्देवानीकेषु[2] विस्फुरन् ।।१७।।
केचिद्धसन्ति गायन्ति वल्गन्त्यास्फोटयन्ति च । पुरो धावन्ति नृत्यन्त्यमरास्तत्र प्रमोदिन. ।।१८।।
ततो नभोऽङ्गणं कृत्स्नमारुध्य स्वस्ववाहनै । विमानैश्च सृजन्तो वात्रान्यस्वर्गान्तरं दिव. ।।१९।।

हुए ।।८।। व्यन्तर देवों के निवास गृहों में बहुत भारी भेरी का शब्द हुआ और इन्द्रों के आसन आदि का कम्पन सब कुछ हुआ ।।९।। भवनवासी देवों के सुन्दर भवनों में शङ्खनाद भी हुआ और जिनेन्द्र जन्म के माहात्म्य से अन्य महान् आश्चर्य भी हुए ।।१०।। इत्यादि अनेक आश्चर्यों को देखकर तथा अवधिज्ञान से उनका कारण जान कर इन्द्रों ने जिनेन्द्र जन्म सम्बन्धी अभिषेकादि कार्यों के करने में बुद्धि लगाई ।।११।।

वहां इन्द्र की आज्ञा से शब्द करती हुई देव सेनाएं क्रमशः स्वर्ग से ऐसी निकलीं जैसे किसी महासागर से तरङ्गें निकलती है ।।१२।। हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पदाति, और वृषभ, इस प्रकार इन्द्रों की ये सात सेनाएं बाहर निकलीं ।।१३।। तदनन्तर सौधर्मेन्द्र, इन्द्राणी के साथ ऐरावत हाथी पर सवार होकर देवों से परिवृत होता हुआ चला ।।१४।। तत्पश्चात् सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष और लोकपाल देवों ने उस सौधर्मेन्द्र को घेर लिया अर्थात् ये सब इन्द्र के साथ चलने लगे ।।१५।। इसी प्रकार ऐशान आदि कल्पों के इन्द्र भी अपने परिवार के साथ अपने अपने वाहनों पर आरूढ होकर बड़े वैभव से बाहर निकले ।।१६।। उस समय देवों की जय घोषणा और दुन्दुभियो के शब्द समूहों से देव सेनाओं में बहुत भारी कोलाहल प्रकट हो रहा था ।।१७।।

वहां हर्ष से भरे हुए कोई देव हंस रहे थे, कोई गा रहे थे, कोई इधर उधर टहल रहे थे, कोई जोरदार शब्द कर रहे थे, कोई आगे दौड़ रहे थे और कोई नृत्य कर रहे थे ।।१८।। तदनन्तर अपने अपने वाहनों और विमानों से समस्त गगनाङ्गण को रोककर

१. प्रकम्प च २. सुरसेनासु ।

द्योतयन्तो दिशः स्वाङ्गदीप्तिभूषणरश्मिभिः। अवतीर्याम्बराद्भूमिं पुरीं प्रापुर्दिवौकसः ॥२०॥
ज्योतिष्काः पञ्चधा सर्वे दशधा भवनामराः। व्यन्तरा अष्टधा सेन्द्राः सकलत्राः सवाहनाः ॥२१॥
विभूत्या परयाजग्मुस्तत्र धर्मरसाङ्किता। देवाः पुण्याप्तये तीर्थेशजन्माभिषवोत्सवे ॥२२॥
तां पुरीं तद्वनं वीथीर्विश्वगावेष्टय सर्वतः। सार्द्धं स्वस्वपरीवारैस्तदास्थुर्देवसैन्यकाः ॥२३॥
इन्द्राणीनिकरैरिन्द्रसमूहैः समहोत्सवैः। राजाङ्गणमभूद्रुद्धं देवाङ्गणमिवापरम् ॥२४॥
शचीभिर्वासवैर्देवैः सुरानीकैस्तदा श्रिया। विमानैरप्सरोभि स्व.पुरीव सा पुरी बभौ ॥२५॥
ततः शची प्रविश्याशु प्रसवागारमूर्जितम्। कुमारेण सहापश्यज्जितलक्ष्मी जिनाम्बिकाम् ॥२६॥
त्रि परीत्य प्रणम्योच्चैः शिरसा त जगद्गुरुम्। जिनमातुः पुरः स्थित्वेन्द्राणी तां श्लाघते स्थिति २७
मातस्त्व जगता माता कल्याणकोटिभागिनी। सुमङ्गला सपुण्यासि त्वं सती च यशस्विनी ॥२८॥
महादेवप्रसूतेस्त्वं महादेवी जगद्धिता। स्तुत्यात्र त्रिजगन्नाथैरर्च्या वन्द्येव भारती ॥२९॥

जो आकाश मे अन्य स्वर्ग की रचना करते हुए से जान पड़ते थे, तथा जो अपने शरीर की दीप्ति और आभूषणों की किरणों से दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे ऐसे देव आकाश से पृथिवी पर उतर कर नगरी को प्राप्त हुए ॥१९–२०॥ पांच प्रकार के ज्योतिष्क, दश प्रकार के भवनवासी और आठ प्रकार के व्यन्तर देव अपनी अपनी स्त्रियों और वाहनों के साथ बड़ी विभूति से धर्मस्नेह से युक्त होते हुए पुण्य प्राप्ति के लिये तीर्थंकर के उस जन्माभिषेक महोत्सव में आये थे ॥२१–२२॥ उस समय देवों के सैनिक सब ओर से उस पुरी को, उस वन को और उन गलियो को घेर कर अपने अपने परिवारों के साथ बैठे हुए थे ॥२३॥ महोत्सवो से सहित इन्द्र इन्द्राणियों के समूह से रुका हुआ राजाङ्गण ऐसा जान पड़ता था मानो दूसरा देवाङ्गण ही हो ॥२४॥ उस समय वह नगरी, इन्द्राणियों, इन्द्रों, देवों, देव सेनाओं, लक्ष्मी, विमानों और अप्सराओं से स्वर्गपुरी के समान सुशोभित हो रही थी ॥२५॥

तदनन्तर इन्द्राणी ने शीघ्र ही सुदृढ प्रसूतिका गृह में प्रवेश कर कुमार के साथ, लक्ष्मी को जीतने वाली जिनमाता को देखा ॥२६॥ उन जगद्गुरु की तीन प्रदक्षिणाएं देकर तथा शिर से अच्छी तरह प्रणाम कर इन्द्राणी जिनमाता के आगे खड़ी हो गयी और उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगी ॥२७॥ हे माता ! तुम जगत् की माता हो, कल्याणों की कोटी को प्राप्त हो, उत्तम मङ्गल से सहित हो, पुण्यवती हो, पतिव्रता हो और यशस्विनी हो ॥२८॥ महादेव जिनेन्द्र देव को उत्पन्न करने के कारण तुम महादेवी हो, जगत् का हित करने वाली हो, तीन जगत् के स्वामियों के द्वारा स्तुत्य हो, पूज्य हो, और सरस्वती के समान वन्दनीय हो ॥२९॥ इस प्रकार स्तुति कर तिरोहित शरीर से

इत्यभिष्टुत्य गूढाङ्गी ता मायानिद्रया युजत् । तस्याः पुरो निधायासौ मायाशिशुमथापरम् ॥३०॥
आदाय त जगन्नाथं पाणिभ्या सागमन्मुदम् । चूडामणिमिवोत्सर्पत्तेजसा व्याप्तदिक्चयम् ॥३१॥
सुदुर्लभं तदासाद्य तद्गात्रस्पर्शमाशु सा । मुहुस्तन्मुखमालोक्य भेजे प्रीतिं परा मुदा ॥३२॥
ततो बभौ व्रजन्ती सा कुमारेण समं भृशम् । तदङ्गदीप्तिरश्म्योघैः प्राचीव भानुनोर्जिता ॥३३॥
भृङ्गारं कलश छत्रं चामरं सुप्रतिष्ठकम् । ध्वज च दर्पण तालमित्यादाय तदा मुदा ॥३४॥
मङ्गलाष्टकमत्यन्तभूत्या भर्तुः पुरो ययुः । दिव्या मङ्गलधारिण्यो दिक्कुमार्यो महोत्सवे[1] ।३५
आनीय देवराजस्याधात्त[2] करतले शची । प्राचीव ह्युदयाद्रेः शिखरे बालार्कमूर्जितम् ॥३६॥
सौधर्मेन्द्रस्तदेन्द्राण्या हस्तादादाय सभ्रमम् । मुहुस्तन्मुखमालोक्येच्छन् स्तव कर्तुमुद्ययौ ॥३७॥
त्व देव त्रिजगत्स्वामी त्व नाथ महता गुरुः । अज्ञानध्वान्तहन्ता त्व दीपो विश्वार्थदर्शने ॥३८॥
केवलज्ञानभानोस्त्वमुदयाद्रिर्भविष्यसि । अकारणजगद्बन्धुस्त्व च विश्वहितङ्करः ॥३९॥

युक्त इन्द्राणी ने माता को मायामयी निद्रा से युक्त कर दिया तथा उसके आगे मायानिर्मित दूसरा पुत्र रख कर चूडामणि के समान श्रेष्ठ तथा बढ़ते हुए तेज से दिक्समूह को व्याप्त करने वाले जगत्प्रति जिनबालक को हाथों से उठा लिया। यह सब करती हुई वह परम आनन्द को प्राप्त हुई ॥३०--३१॥ उस समय शीघ्र ही अत्यन्त दुर्लभ उनके शरीर का स्पर्श पाकर तथा बार २ उनका मुख देख कर इन्द्राणी हर्ष से परम प्रीति को प्राप्त हो रही थी ॥३२॥

तदनन्तर जिन बालक के साथ जाती हुई श्रेष्ठ इन्द्राणी उनके शरीर की कान्ति तथा किरणों के समूह से सूर्य सहित पूर्व दिशा के समान अत्यन्त सुशोभित होने लगी ॥३३॥ उस समय झारी, कलश, छत्र, चामर, ठौना, ध्वजा, दर्पण और पङ्खा इन आठ मङ्गल द्रव्यों को हर्षपूर्वक लेकर मङ्गल द्रव्यों को धारण करने वाली सुन्दर दिक्कुमारी देवियां उस महोत्सव में बहुत भारी वैभव से जिनबालक के आगे आगे चल रही थीं ॥३४–३५॥ इन्द्राणी ने जिनबालक को लाकर इन्द्र के करतल पर उस प्रकार रख दिया जिस प्रकार कि पूर्व दिशा देदीप्यमान प्रातःकाल के सूर्य को उदयाचल के शिखर पर रख देती है ॥३६॥ उस समय सौधर्मेन्द्र, इन्द्राणी के हाथ से हर्षपूर्वक जिनबालक को लेकर तथा बार बार उनका मुख देखकर स्तवन करने की इच्छा करता हुआ उद्यत हुआ ॥३७॥

हे देव ! तुम तीन जगत् के स्वामी हो । हे नाथ ! तुम महान् पुरुषों के गुरु हो। तुम समस्त पदार्थों को देखने के लिये अज्ञान तिमिर के नाशक दीपक हो ॥३८॥ तुम

१ महोत्सवं क० २ इन्द्रस्य।

त्वत्तः प्रबोधमासाद्य भव्या यास्यन्ति निर्वृतिम्[1] । हनिष्यन्ति [2]व्यधारातिं मोहशत्रुं च केचन ॥४०॥
उद्गतस्त्वं जिनेशात्र प्रमोदं कर्तुमद्भुतम् । हन्तुं मोहतमो दर्शयितुं सन्मार्गमञ्जसा ॥४१॥
त्वयि प्रणयमाधत्ते मुक्तिश्रीः स्वयमुत्सुका । स्वविवाहाय यास्यन्त्युत्कृष्टतां निखिला गुणाः ४२
नमस्तुभ्यं जिनेन्द्राय नमस्ते गुणसिन्धवे । नमस्तेऽचिन्त्यमाहात्म्याय ते भव्याब्जभानवे ।४३।
[3]इति स्तुत्वा तमारोप्य स स्वाङ्कं देवनायकः । करमुच्चालयामास मेरुप्रस्थानसंभ्रमी ॥४४॥
आदिकल्पेशिनोऽप्यङ्कमध्यासीनं जगद्गुरुम् । भेजे सितातपत्रेणैशानेन्द्रोऽपि तदा स्वयम् ॥४५॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रस्वामिनौ जिनपुङ्गवम् । चामरैस्तं व्यधुन्वातां क्षीराब्धिवीचिसन्निभैः ।४६।
जयेश नन्द वर्द्धस्व भव लोकत्रयाधिपः । इत्युच्चैः सद्गिरो देवाश्चक्रुः कोलाहलं तदा ।४७।
खमुत्पेतुस्ततः शक्राः प्रोच्चरज्जयघोषणाः । तन्वन्तः सुरचापानि स्ववपुर्भूषणांशुभिः ॥४८॥

केवलज्ञान रूपी सूर्य के लिये उदयाचल होओगे । तुम अकारण जगत् के बन्धु हो तथा सबका हित करने वाले हो ॥३६॥ आपसे प्रबोध को पाकर भव्यजीव निर्वाण को प्राप्त होंगे और कितने ही भव्यजीव नाना प्रकार के पापरूपी शत्रु तथा मोहरूपी वैरी को नष्ट करेंगे ॥४०॥ हे जिनेन्द्र ! तुम यहां अद्भुत हर्ष को करने, मोह तिमिर को हरने और सन्मार्ग को अच्छी तरह दिखाने के लिये उत्पन्न हुए हो ॥४१॥ मुक्तिरूपी लक्ष्मी अपने विवाह के लिये स्वयं उत्कण्ठित होकर आप में स्नेह को धारण कर रही है तथा समस्त गुण आपमें उत्कृष्टता को प्राप्त होंगे ॥४२॥ आप जिनेन्द्र के लिये नमस्कार हो । गुणों के सागरस्वरूप आपके लिये नमस्कार हो । अचिन्त्य महिमा से युक्त आपके लिये नमस्कार हो और भव्यजीव रूप कमलों को विकसित करने के लिये सूर्यस्वरूप आपके लिये नमस्कार हो ॥४३॥

इस प्रकार स्तुति कर इन्द्र ने जिनबालक को अपनी गोद में लिया और मेरु पर्वत के लिये प्रस्थान करने की शीघ्रता करते हुए उसने अपना हाथ ऊपर की ओर चलाया ॥४४॥ उस समय सौधर्मेन्द्र की गोद में स्थित जगद्गुरु जिनबालक के ऊपर सफेद छत्र लगा कर ऐशानेन्द्र भी स्वयं उनकी सेवा कर रहा था ।४५। सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र क्षीरसागर की लहरों के समान चामरों के द्वारा जिनेन्द्र बालक को कम्पित कर रहे थे अर्थात् उन पर सफेद चामर ढोर रहे थे ॥४६॥ हे ईश ! जयवंत होओ, समृद्धिमान् होओ, वृद्धि को प्राप्त होओ, और तीनलोक के स्वामी होओ–इस प्रकार उच्चस्वर से उत्तम वचन कहने वाले देव उस समय कोलाहल कर रहे थे ॥ ४७ ॥ तदनन्तर जो उच्चस्वर से जयजयकार कर रहे थे, तथा अपने शरीर और आभूषणों की किरणों

---

1 मोक्षम् २ विविधपापशत्रुम् ३. एष श्लोक. स० प्रतौ नास्ति ।

पुरोऽस्याप्सरसो नेटुर्गीतैर्गन्धर्वजैः समम् । भ्रूपताकां समुत्क्षिप्य हावैर्भावैर्मनोहरैः ॥४९॥
जिनेन्द्रगुणहृब्धानि दिव्यगीतानि सादराः । तदा गायन्ति किन्नर्यो वीणाभिः सुस्वरैर्मुदा ॥५०॥
देवदुन्दभयोऽम्भोधिध्वानाः सुरकराहताः । ध्वनन्ति घोषयन्तो वा यशः शुभ्रं जिनेशिनः ।५१।
दिव्यं जिनाङ्गसौन्दर्यं पश्यन्तोऽनिमिषेक्षणाः[1] । निर्निनिमेषसुनेत्राणां फलं प्रापुस्तदा सुराः ॥५२॥
दृष्ट्वा तदातनी शोभा भूतिं केचित्कुदृष्टयः । स्वीकुर्युर्दर्शनं देवाः शक्रप्रामाण्यमाश्रिताः ॥५३॥
केचित्तन्महिमा[2] दृष्ट्वा जैनधर्मे मतिं व्यधुः । केचित्संवेगवैराग्यादीनगुर्धर्मवासिताः ॥५४॥
ज्योतिष्पटलमुल्लङ्घ्य प्रययुः [3]कल्पनायकाः । द्योतयन्तो दिशः खं च स्वाङ्गभूषांशुभिस्तराम् ।५५।
ततः [4]कल्पाधिपाः प्रापुस्तं गिरीन्द्रं सपुच्छ्रितम् । योजनानां सहस्राणि नवतिं हि नवाधिकम् ॥५६॥
सहस्रकन्दहेमाद्रेरस्य मूर्ध्नि सुचूलिका । मुकुटश्रीरिवाभाच्चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रिता ।५७॥
चूडारत्नमिवाभाति तस्या उपरि शाश्वतम् । नरक्षेत्रमितं दिव्यं विमानमृजुसंज्ञकम् ॥५८॥

से इन्द्र धनुषों को विस्तृत कर रहे थे ऐसे इन्द्र आकाश में ऊपर की ओर गये ॥४८॥ जिन-बालक के आगे अप्सराएं मनोहर हावभावों से भौंहरूपी पताका को ऊपर उठकार गन्धर्वों के गान के साथ नृत्य कर रहीं थी अर्थात् गन्धर्व गीत गा रहे थे और अप्सराएं लय के साथ नृत्य कर रही थीं ॥४९॥ उस समय आदर से भरी किन्नरियां जिनेन्द्र देव के गुणों से रचित दिव्य गीत वीणाओं द्वारा मनोहर स्वर से हर्षपूर्वक गा रही थीं ॥५०॥ समुद्र के समान शब्दों वाली तथा देवों के हाथों से ताडित देवदुन्दुभियां शब्द कर रही थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानों जिनेन्द्र देव के शुक्ल यश को ही घोषणा कर रही हों ॥५१॥

उस समय जिनेन्द्र भगवान् के शरीर सम्बन्धी दिव्य सौन्दर्य को देखते हुए देवों ने अपने टिमकार रहित नेत्रों का फल प्राप्त कर लिया था ॥५२॥ उस समय की शोभा और विभूति को देखकर कितने ही मिथ्यादृष्टि देवों ने इन्द्र की प्रामाणिकता को प्राप्त हो सम्यग्दर्शन स्वीकृत किया था अर्थात् इन्द्र को प्रामाणिक पुरुष समझ सम्यग्दर्शन धारण किया था ॥५३॥ कितने ही देवों ने उनकी महिमा देख जैनधर्म में बुद्धि लगाई थी और धर्म की वासना से युक्त कितने ही देव संवेग और वैराग्य को प्राप्त हुए थे ॥५४॥ अपने शरीर और आभूषणों की किरणों से दिशाओं तथा आकाश को अत्यधिक प्रकाशित करते हुए वे इन्द्र ज्योतिष्पटल को लांघकर आगे निकल गये ॥५५॥ तदनन्तर इन्द्र उस मेरु पर्वत पर जा पहुंचे जो निन्यानवे हजार योजन ऊंचा है ॥५६॥ एक हजार योजन प्रमाण जिसकी जड़ है ऐसे उस सुमेरु पर्वत के शिखर पर चालीस योजन ऊंची चूलिका मुकुट के समान सुशोभित हो रही थी ॥५७॥ उस चूलिका के ऊपर चूडारत्न के समान शाश्वत

१. देवा २ आकारान्त स्त्रीलिङ्गमहिमा शब्दस्य प्रयोगो महाकविना असगेनापि 'वर्द्धमानचरिते' कृत
३ सौधर्मेन्द्रादय. ४ सौधर्मेन्द्रादय. ।

स्वाधोभागे विधत्ते यो भद्रशालाभिधं वनम् । परिधानमिव स्वस्य जिनमन्दिरभूषितम् ॥५९॥
मेखलायामथाद्यायां नन्दनं बिभृते वनम् । यः कटीसूत्रदामेव तीर्थेशागारमण्डितम् ॥६०॥
ततः सौमनसोद्यानं यो बिभर्ति शुकच्छवि । चतुश्चैत्यालयोपेत[1]पर्णसंख्यानमूर्जितम् ॥६१॥
यस्यालङ्कुरुते मूर्ध्नि वनं पाण्डुकसंज्ञकम् । चैत्यगेहशिलाचूलिकाद्रुमाद्यैरलंकृतम् ॥६२॥
यत्रायान्ति च पूजायै जिनार्चाना सुरासुराः । खगेशाश्चारणा नित्य तत्र का वर्णना परा ॥६३॥
तत्र हीशानदिग्भागे पाण्डुकाख्या शिला परा । अर्द्धेन्दुसन्निभा शुद्धस्फाटिकोपलसंमया ॥६४॥
योजनानां शतायामा तदर्द्धविस्तरामला । अष्टोत्सेधा जिनस्नानैर्धौतेवाभात्यष्टमी[2] ॥६५॥
भरतोत्पन्नतीर्थेशजन्मस्नानमहोत्सवे । बहुश क्षालिता शक्रैः क्षीरोदशुचिवारिभिः ॥६६॥
क्रोशपादोच्छ्रित तत्प्रमाण भूमौ च विस्तरम् । तदर्द्धं मूर्ध्नि तस्या उपरि सिंहासनं महत् ॥६७॥
हैमं मणिमयं दिव्यं तेजसा व्याप्त दिक्तटम् । मध्यस्थमस्ति तीर्थेशजन्मस्नानपवित्रितम् ॥६८॥

पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाला ऋजु नामक दिव्य विमान है ॥५८॥ जो मेरु पर्वत अपने अधोभाग मे जिनमन्दिरों से विभूषित भद्रशाल नामक वन को धारण कर रहा है। वह भद्रशाल वन ऐसा जान पड़ता है मानों मेरु पर्वत का अधोवस्त्र ही हो ॥५९॥ तदनन्तर जो प्रथम मेखला पर जिनमन्दिरों से विभूषित कटीसूत्र की माला के समान नन्दन वन को धारण करता है ॥६०॥ उसके ऊपर जो चार चैत्यालयों से सहित, शुक के समान कान्ति वाले, पत्रों से सुशोभित बहुत बड़े सौमनस वन को धारण करता है ॥६१॥ जिस सुमेरु पर्वत के मस्तक पर चैत्यालय पाण्डुक शिला, चूलिका और वृक्ष आदि से अलंकृत पाण्डुक वन सुशोभित हो रहा है ॥६२॥ जहां जिन प्रतिमाओं की पूजा के लिये सुर असुर विद्याधर तथा चारणऋद्धिधारी मुनिराज निरन्तर आया करते हैं वहां अन्य क्या वर्णन किया जाय ? अर्थात् कुछ नहीं ॥६३॥

उस पर्वत पर ऐशान दिशा में अर्धचन्द्र के समान आकार वाली शुद्धस्फटिकमणिमय उत्कृष्ट पाण्डुक शिला है ॥६४॥ वह पाण्डुक शिला सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी तथा आठ योजन ऊंची है और जिनेन्द्र भगवान् के अभिषेक से पवित्र होने के कारण अष्टम भूमि—ईषत्प्राग्भार भूमि के समान सुशोभित हो रही है ॥६५॥ भरतक्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों के जन्माभिषेक महोत्सव में वह शिला अनेकों बार इन्द्रों द्वारा क्षीरसागर के उज्ज्वल जल से पखारी गई है ॥६६॥ उस पाण्डुक शिला पर एक विशाल सिंहासन है जो पाव कोश ऊंचा है तथा जिसकी चौड़ाई भूमि पर पाव कोश और ऊपर उससे आधी है ॥६७॥ वह सिंहासन सुवर्ण और मणियों से तन्मय है, सुन्दर है, तेज से दिशाओं के

१ चोपसंख्यात ख० २. ईषत्प्राग्भारनाम्ना अष्टमभूमिरिव ।

स्तो द्विसिंहासने तत्पार्श्वयोर्हैमे निरौपमे । सौधर्मैशानकल्पेशयोः स्थित्यै तन्महोत्सवे ।।६९।।
कलशध्वजभृङ्गारसुप्रतिष्ठकदर्पणान् । छत्रचामरतालानि मङ्गलानि बिभर्त्ति या ।।७०।।
ततः परीत्य त मेरुं देवराजः सुरैः समम् । न्यधात्तं प्राङ्मुख देव मध्यस्थे सिंहविष्टरे ।।७१।।
तामावेष्ट्यामरास्तस्थुर्यथायोग्यमनुक्रमात् । दिक्षु द्रष्टुं जिनाधीशजन्मस्नानमहोत्सवम् ।।७२।।
यथास्व दिग्विदिग्भागेषु दिक्पालाः स्थितिं व्यधुः । सार्द्धं स्वैः स्वैर्निकायैर्जिनकल्याणदिदृक्षया ।।७३।।
कल्पनाथैस्तदा चाभूत्सरुद्ध पाण्डुक वनम् । शचीभिरखिल खं ह्यप्सरोभि सुरसैन्यकैः ।।७४।।
तत्र मण्डपविन्यासो महाश्चक्रे मुदामरैः । सर्वं त्रिभुवन यत्र सुखेनास्ते मिथोऽव्यथम्[१] ।।७५।।
कल्पानोकहसजाताः स्रजस्तत्रावलम्बिताः । रेजुर्भ्रमरझाङ्कारैर्गातुकामा इव प्रभुम् ।।७६।।
किं स्वर्गश्चलितः स्वस्थानाद्वा किं प्राप स्वर्गताम् । मेरुस्तदुत्सव दृष्ट्वात्रेतिशङ्का व्यधुः खगाः ।।७७।।
ततोऽभिषेचन कर्तुं सौधर्मेश प्रचक्रमे । [२]हर्यासनस्थतीर्थेशोऽशेषकल्पाधिपैः समम् ।।७८।।

तट को व्याप्त करने वाला है, मध्य में स्थित है तथा तीर्थंकरों के जन्माभिषेक से पवित्र है ।।६८।। उस सिंहासन के दोनों ओर उस महोत्सव के समय सौधर्मेन्द्र और ऐशानेन्द्र के खड़े होने के लिये सुवर्णमय दो अनुपम सिंहासन और थे ।।६९।। जो पाण्डुक शिला कलश, ध्वजा, झारी, ठौना, दर्पण, छत्र, चामर और व्यजन इन आठ मङ्गल द्रव्यों को धारण करती है ।।७०।।

तदनन्तर इन्द्र ने देवों के साथ उस मेरु पर्वत की प्रदक्षिणाएं देकर बीच के सिंहासन पर उन जिनबालक को पूर्वाभिमुख विराजमान कर दिया ।।७१।। जिनेन्द्र भगवान् के जन्माभिषेक सम्बन्धी महोत्सव को देखने के लिये देव लोग उस पाण्डुक शिला को घेर कर यथायोग्य अनुक्रम से सब दिशाओं में स्थित हो गये ।।७२।। जिन कल्याणक के देखने की इच्छा से दिक्पाल, अपने अपने निकायों के साथ यथायोग्य दिशाओं और विदिशाओं में स्थित हो गये ।।७३।। उस समय पाण्डुक वन और संपूर्ण आकाश स्वर्ग के इन्द्रों, इन्द्राणियों, अप्सराओ और देव सैनिकों से व्याप्त हो गया ।।७४।। वहां देवों ने हर्षपूर्वक इतना बड़ा मण्डप बनाया कि जिसमें तीनों लोक परस्पर पीड़ा पहुंचाये विना सुख से बैठ सकते थे ।।७५।। उस मण्डप में जहां तहां कल्पवृक्षों से उत्पन्न मालाएं लटकाई गई थी जो भ्रमरों की झाङ्कार से ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो प्रभु का गुणगान ही करना चाहती हों ।।७६।। यहां वह उत्सव देखकर विद्याधर ऐसी शङ्का कर रहे थे कि क्या स्वर्ग अपने स्थान से विचलित हो गया है ? या मेरु ही स्वर्गरूपता को प्राप्त हो गया है ।।७७।।

तदनन्तर सौधर्मेन्द्र, सिंहासन पर स्थित तीर्थङ्कर का स्वर्ग के समस्त इन्द्रों के

१. पीडारहित यथा स्यात्तथा २ सिंहासनस्थतीर्थंकरस्य ।

तदापूर्य नभोऽशेष देवदुन्दुभयोऽध्वनन् । समन्तादप्सरोभिः प्रारेभे नृत्यं मनोहरम् ॥७९॥
कालागुर्वादिसद्धूपैर्महान् धूमस्तदोदगात् । पुण्यार्थां वहवः क्षिप्ताः शान्तिपुष्ट्याद्यकाङ्क्षिभिः।
सोधर्मोऽथादिकल्पेशो विभोः प्रथममज्जने । प्रस्तावनाविधिंकृत्वा कलशोद्धारमादधे ॥८१॥
आददे कलशं हैममैशानेन्द्रोऽपि धर्मधीः । चर्चितं चन्दनाद्यैः सत्कलशोद्धारमन्त्रवित् ॥८२॥
शेपैं कल्पाधिपैर्भेजे परिचारकता मुदा । जयनन्दादिघोषौघैर्यथोक्तपरिचर्यया ॥८३॥
देव्य. साप्सरसः सर्वाः शच्यादिकाः परिचारिकाः । वभूवुः परिचारिण्यो मङ्गलद्रव्यपाणयः ॥८४॥
पूत स्वायभुवं देहं स्प्रष्टुं दुग्धाच्छशोणितम् । योग्यं नान्यज्जलं ह्यस्ति विना क्षीराब्धिवारिणा ।
मत्वेति स्नानसंसिद्धयै प्रभोर्नाकाधिपैर्मुदा । स्नानीयं कल्पितं नूनमम्भः [1]पञ्चमवारिधेः ।८६।
,तत. श्रेणीकृता देवा आनेतुं प्रसृताः पयः । [2]शातकुम्भमयै. कुम्भै. शुचि-क्षीराम्बुधेर्मुदा ।८७
[3]तदा तेषा किलान्योन्यकराग्रस्थैर्जलाभृतैः[4] । कलशैर्व्यानिशे व्योम दिव्यैः, सान्ध्यैरिवाम्बुदैः।८८

साथ अभिषेक करने के लिये उद्यत हुआ ॥७८॥ उस समय देवों के नगाड़े समस्त आकाश को व्याप्त कर शब्द कर रहे थे और अप्सराओं द्वारा सब ओर मनोहर नृत्य प्रारम्भ किया गया ॥७९॥ उस समय कृष्णागुरु आदि की उत्तम धूप से बहुत भारी धुवां उठ रहा था उससे ऐसा जान पड़ता था मानों शान्ति तथा पुष्टि आदि की इच्छा करने वाले देवों ने पुण्य के लिये बहुत सी पताकाएं ही फहराई हों ॥८०॥ तदनन्तर भगवान् के प्रथम अभिषेक में तत्पर सौधर्मेन्द्र ने प्रारम्भिक विधि कर कलश उठाया ॥८१॥ धर्मबुद्धि और कलश उठाने के उत्तम मन्त्रों को जानने वाले ऐशानेन्द्र ने भी चन्दनादि से चर्चित सुवर्णकलश उठाया ॥८२॥ शेष इन्द्रों ने जय नन्द आदि घोषणाओं के समूहों तथा यथोक्त परिचर्या के द्वारा हर्षपूर्वक परिचारकपना प्राप्त किया अर्थात् शेष इन्द्र, सौधर्म और ऐशानेन्द्र की आज्ञानुसार कार्य सम्पन्न कर रहे थे ॥८३॥ जो चारों ओर घूम रही थीं तथा हाथों में मङ्गल द्रव्य लिये हुए थीं ऐसी अप्सराओं सहित इन्द्राणी आदि समस्त देवियां परिचारिकाएं बन गई थीं अर्थात् अभिषेक के कार्य में सहायता कर रही थीं ॥८४॥

दूध के समान शुक्ल रुधिर से युक्त भगवान् के पवित्र शरीर को छूने के लिये क्षीरसागर के जल के बिना अन्य जल योग्य नहीं है ऐसा मान कर इन्द्रों ने भगवान् के अभिषेक के लिये पञ्चमसागर—क्षीरसागर का जल ही स्नान के योग्य निश्चित किया ॥८५—८६॥ तदनन्तर पंक्तिबद्ध देव, सुवर्णमय कलशों द्वारा क्षीरसागर का पवित्र जल लाने के लिये हर्षपूर्वक चल पड़े ॥८७॥ उस समय उनके परस्पर हाथों के अग्रभाग में स्थित जल से भरे हुए दिव्य कलशों से आकाश ऐसा व्याप्त हो गया जैसे सन्ध्या के बादलों से ही

१ क्षीरसमुद्रस्य २ सुवर्णमयै ३. एष श्लोक ख० प्रतौ नास्ति ४. जलेन आभृता तै।

स्वान्निर्ममे बहून् बाहून् स्तानादित्सु.[1] शताध्वर:[2] । स तैः साभरणैर्भेजेभूषाङ्गकल्पशाखिवत् ।।८९।।
[3]दो:सहस्रोद्धृतैः कुम्भैर्मुक्ताफलस्रगर्चितैः । भेजे सौधर्म कल्पेशो भाजनाङ्गद्रुमोपमाम् ।।९०।।
वारत्रय जयेत्युक्त्वात्राद्या धारां न्यपातयत् । सौधर्मेन्द्रः प्रभोर्मूर्ध्नि [4]छिन्नद्युनिम्नगोपमाम् ।९१
तत. समन्तत. शक्रैः सर्वैर्धारा निपातिताः । सौवर्णैर्नीरसंपूर्णैः कुम्भैर्वर्षाम्बुदैरिव ।।९२।।
तदा कलकलो भूयानसंख्यसुरकोटिभिः । प्रमोदनिर्भरैश्चक्रे वधिरीकृतखाङ्गणः ।।९३।।
महानद्य इवापप्तन् वार्धारास्तस्य मूर्धनि । हेलया स्वमहिम्ना स ता प्रतीच्छेद्गिरीन्द्रवत् ९४
पतन्ति यद्गिरेर्मूर्ध्नि या धारा वेगवत्तराः । गङ्गाप्रवाहसादृश्या यात्यसौ शतखण्डताम् ।९५।
अप्रमाणमहावीर्यो मन्यते ता जिनाधिपः । पुष्पाणीव स्ववीर्येण सिंहविष्टरमाश्रितः ।।९६।।
उच्छलन्त्यो नभोभागे विरेजुर्दूरमुच्छलाः । जिनाङ्गस्पर्शमात्रेण पापान्मुक्ता इवोर्द्ध्वगाः।९७
स्नानाम्भ:शीकरा: केचिद्वभुस्तिर्यग्विसारिणः । कर्णपूरश्रियं प्राप्ता इव [5]दिक्स्त्र्यास्यमण्डने ।९८।

व्याप्त हो गया हो ।।८८।। उन कलशों को ग्रहण करने के इच्छुक इन्द्र ने अपनी बहुत सी भुजाएं बना लीं और आभरणों से सुसज्जित उन कलशों से वह भूषणाङ्ग जाति के कल्पवृक्ष के समान सुशोभित होने लगा ।।८९।। एक हजार भुजाओं से उठाये तथा मोतियों की मालाओं से सुशोभित उन कलशों से सौधर्मेन्द्र भाजनाङ्ग जाति के कल्पवृक्ष की उपमा को प्राप्त हो रहा था ।।९०।। तीन बार जय जय शब्द का उच्चारण कर सौधर्मेन्द्र ने प्रभु के मस्तक पर प्रथम धारा छोड़ी। वह धारा आकाशगङ्गा की उपमा को छिन्न भिन्न कर रही थी अर्थात् आकाशगङ्गा की धारा से भी अधिक स्थूल थी ।।९१।। तदनन्तर समस्त इन्द्रों ने वर्षाऋतु के मेघों के समान जल से भरे हुए सुवर्ण कलशों के द्वारा सब ओर से धाराएं छोड़ीं ।।९२।। उस समय हर्ष से भरे हुए असंख्य देवों की कोटियों द्वारा गगनाङ्गण को बहरा करने वाला बहुत भारी कोलाहल किया जा रहा था ।।९३।। महानदियों के समान जल की धाराएं प्रभु के मस्तक पर पड़ रही थीं और वे उन्हें अपनी महिमा से गिरिराज सुमेरु के समान अनायास ही झेल रहे थे ।।९४।। गङ्गा प्रवाह के समान अतिशय वेग से युक्त जो धाराएं यदि पर्वत के शिखर पर पड़ें तो वह पर्वत शतखण्डपने को प्राप्त हो जाय अर्थात् जिन धाराओं के पड़ने से पर्वत भी चूर चूर हो जाते है उन धाराओं को अपरिमित महान् वीर्य से युक्त सिंहासनारूढ जिनेन्द्र अपने वीर्य से फूलों के समान मानते थे ।।९५-९६।। आकाश में दूर तक उछलती हुई जल धाराए ऐसी जान पड़ती थीं मानों जिनेन्द्र शरीर के स्पर्श मात्र से वे पाप से मुक्त होकर ऊर्ध्वलोक की ओर जा रही थीं ।।९७।। तिर्यग् दिशा में फैले हुए स्नान जल के कितने ही छींटे दिशा

१ तान् कलशान्, आदित्सु ग्रहीतुमिच्छु २ इन्द्र ३ भुज सहस्रोत्थापितैः ४ छिन्ना द्युनिम्नगाया आकाशगङ्गाया उपमा यया ताम् ५ दिगङ्गानामुखमण्डने ।

नानारत्नमयीभूतकुम्भास्य[1] पतिताम्बुजैः । अनेकवर्णसंकीर्णा बभुस्तज्जलराशयः ॥९९॥
मेर्वग्रात् स पतन् स्नानजलपूरोऽप्यधस्तराम् । प्लावयित्वाखिलं मेरुं निर्झरिण्या निभो व्यभात् ॥
बभूव तद्वनं तस्मिन्काले क्षीराम्बुसंभृतम् । निमग्नपादपं शुक्लं क्षीरार्णवमिवापरम् ॥१०१॥
नर्तनैर्विविधैः प्रेक्ष्यैरप्सरःसंभवैः समम् । जन्माभिषेकसम्बधिगीतैर्गन्धर्वदेवजैः ॥१०२॥
सुरदुन्दुभिनादौघैर्जयजीवादिघोषणैः । इत्याद्यन्यैर्निरौपम्यैर्महोत्सवशतैश्च ते ॥१०३॥
कल्पनाथा जगन्नाथस्याभिषेकं वृषाप्तये । परिपूर्णं मुदा चक्रुः शुद्धाम्बुस्नपनेऽद्भुतम् ।१०४।
पुन सौधर्मकल्पेशोऽभिषेक्तुं श्रीजिनाधिपम् । सुगन्धिद्रव्यसन्मिश्रैर्गन्धोदकैः प्रचक्रमे ॥१०५॥
अभ्यषिञ्चद्विधानज्ञो भक्त्या भूत्यादिदेवराट्[3] । दिव्यामोदैर्विभुं श्रीमच्छिशुं गन्धोदकाम्बुभिः ।१०६।
मणिभृङ्गारनालाद्धारा पतन्ती व्यभात्तराम् । दिव्यगन्धे जिनाङ्गे सा पुण्यधारेव पिञ्जरा ।१०७।
पूरयन्त्यखिला आशा जगदानन्दवर्द्धिनी । पुनातु नोऽत्र धारासौ जिनवाणीव मानसम् ।१०८।

रूपी स्त्रियों के मुख को अलंकृत करने लिये कर्णाभरण की शोभा को प्राप्त हुए के समान जान पड़ते थे ॥९८॥ नानारत्नमय कलशों के अग्रभाग पर पतित रङ्ग विरङ्गे कमलों से वे जल की धाराएं अनेक वर्ण की हो गयी थीं ॥९९॥ मेरु के अग्रभाग से बहुत नीचे पड़ता हुआ वह स्नानजल का प्रवाह समस्त मेरु को डुबाकर निर्झरिणी के समान सुशोभित हो रहा था ॥१००॥ उस समय वह वन क्षीरसागर के जल से भर गया तथा उसके वृक्ष उस जल में डूब गये, सब ओर से शुक्ल ही शुक्ल दिखने लगा इससे जान पड़ता था मानों दूसरा क्षीरसागर ही है ॥१०१॥

अप्सराओं से होने वाले नाना प्रकार के दर्शनीय नृत्यों, गन्धर्व देवों से होने वाले जन्माभिषेक सम्बन्धी गीतों, देवदुन्दुभियों के शब्दसमूहों 'जय जीव' आदि की घोषणाओं तथा इसी प्रकार के अन्य अनुपम सैकड़ों महोत्सवों के साथ इन्द्रों ने धर्म की प्राप्ति के लिये हर्षपूर्वक जिनेन्द्र देव का शुद्ध जल से आश्चर्यकारक अभिषेक पूर्ण किया ॥१०२–१०४॥ तदनन्तर सौधर्मेन्द्र सुगन्धित द्रव्यों से मिले हुए गन्धोदक के द्वारा श्री जिनेन्द्र का अभिषेक करने के लिये उद्यत हुआ ॥१०५॥ विधि विधान को जानने वाले सौधर्मेन्द्र ने भक्तिपूर्वक बड़े वैभव के साथ दिव्य सुगन्धि से युक्त सुगन्धित जल के द्वारा जिन बालक का अभिषेक किया ॥१०६॥ मणिमय झारी के नाल से भगवान् के सुगंधित शरीर पर पड़ती हुई वह पीली पीली धारा पुण्य की धारा के समान अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ॥२०७॥ जो समस्त दिशाओं अथवा आशाओं को पूर्ण कर रही थी तथा जो जगत्

१ नानारत्नमयीभूनि क० नानारत्नमयीभूमि ख० २ कलशमुख ३ सौधर्मेन्द्रः ।

या पुण्यास्रवधारेव सूते लक्ष्मी परां सताम्। [1]साश्वस्माकं करोत्वत्र धारा लोकाग्रजां श्रियम्।
धर्मविघ्नव्रजं हन्ति यासिधारेव धर्मिणाम्। सा नो [2]रत्नत्रयायानां हन्तु प्रत्यूहमञ्जसा।११०
जिनाङ्गस्पर्शमासाद्य या पवित्रा व्यभूद्भृशम्। पवित्रयतु सास्माकं मनोवाक्कायमञ्जसा।१११।
इत्थं गन्धोदकैः कृत्वाभिषेकं सुरनायकाः। शान्तिं ते घोषयामासुरुच्चैर्भवाघशान्तये[3] ।।११२।।
चक्रुः शिरसि भाले च नेत्रे सर्वाङ्गपुद्गले। स्वर्गस्योपायनं पूतं तद्गन्धाम्बु सुराः स्त्रियः ११३
गन्धाम्बुस्नपनस्यान्ते जयनन्दादिसत्स्वरैः। [4]व्यातुक्षीममराश्चक्रुः सचूर्णैर्गन्धवारिभिः।११४।
निर्वृत्तावभिषेकस्य जिनस्नानविधायिनः। आनर्चुः परया भक्त्या श्रीजिनं भुवनार्चितम् ११५
श्रीखण्डाक्षतपुष्पौघैश्चरुभिर्दीपकैर्वरैः। धूपैः फलैश्च स्वर्लोकभवैर्दिव्यैर्मनोहरैः ।।११६।।
[5]कृतेष्टयो हतानिष्टव्रजा विहितपौष्टिकाः। जन्माभिषेकमित्युच्चैः सुरेन्द्रा निरतिष्ठपन्।११७।

के आनन्द को बढ़ाने वाली थी ऐसी वह धारा जिनवाणी के समान हमारे मन को पवित्र करे ।।१०८।। जो पुण्यास्रव की धारा के समान सत्पुरुषों को उत्कृष्ट लक्ष्मी उत्पन्न करती है वह धारा इस जगत् में शीघ्र ही हम लोगों को मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करे ।।१०९।। जो तलवार की धारा के समान धर्मात्मा जीवों के धर्म में आने वाले विघ्न समूह को नष्ट करती है वह धारा हमारे रत्नत्रय रूप पुण्य कार्यों में आने वाले विघ्नों को अच्छी तरह नष्ट करे ।।११०।। जो जिनेन्द्र भगवान् के शरीर का स्पर्श पाकर अत्यन्त पवित्र हो गई थी वह धारा हमारे मन वचन काय को अच्छी तरह पवित्र करे ।।१११।। इस प्रकार उन इन्द्रों ने गन्धोदक से अभिषेक कर संसार सम्बन्धी पापों की शान्ति के लिये उच्चस्वर से शान्ति की घोषणा की ।।११२।।

देव और देवाङ्गनाओं ने स्वर्ग के उपहारस्वरूप उस पवित्र गन्धोदक को शिर पर, ललाट पर, नेत्रों पर तथा समस्त शरीर रूप पुद्गल पर लगाया था ।।११३।। गन्धोदक का अभिषेक समाप्त होने पर देवों ने जय नन्द आदि प्रशस्त शब्दों के उच्चारण के साथ चूर्ण सहित सुगन्धित जल से परस्पर फाग की अर्थात् एक दूसरे पर गन्धोदक को उछाला ।।११४।। जिनाभिषेक करने वाले देवों ने अभिषेक की समाप्ति होने पर बड़ी भक्ति से लोकपूजित जिनेन्द्रदेव की पूजा की ।।११५।। स्वर्गलोक में उत्पन्न होने वाले सुन्दर और मनोहर चन्दन, अक्षत, पुष्प समूह, नैवेद्य, उत्कृष्ट दीपक, धूप और फल के द्वारा जिन्होंने पूजा की है, जिनके अनिष्टों का समूह नष्ट हो गया है, तथा जिन्होंने पुष्टि कार्य को पूर्ण किया है ऐसे इन्द्रों ने उत्कृष्ट रूप से जन्माभिषेक को समाप्त किया ।।११६–११७।। इन्द्राणियों के साथ इन्द्रों ने तथा भक्ति से भरे हुए

---

१. मा+आशा+अस्माकम् इतिच्छेद २ रत्नत्रयरूप पुण्यानाम् ३. भवाब्धिशान्तये क० ४ 'फाग' इति हिन्दी ।
५ कृता इष्टि यैस्ते कृतपूजा. ।

इन्द्राणीभि: समं चेन्द्रा विश्वे देवा जगत्पतिम् । देव्यः परीत्य मूर्ध्ना तं प्रणेमुर्भक्तिनिर्भरा. ।११८।
तदापतद्दिवः पौष्पी वृष्टिर्नीरकणैः समम् । [1]मातरिश्वा वबौ मन्दं स्नानाम्भःशीकरान्किरन् ।
यत्र स्नापयिता शक्रः स्नानपीठः सुदर्शनः । देवाङ्गना. सुनर्तक्यो गन्धर्वा गीतगायिन. ।१२०।
चतुर्था किङ्करा देवा. स्नानद्रोणी पयोऽर्णवः[2] । जगद्गुरु समाराध्य. सञ्चनीयं महच्छुभम् ।१२१।
सर्वातिशयसंपूर्णं जिनस्नानमहोत्सवम् । छद्मस्थस्तं निरौपम्यं क्षमो वर्णयितुं हि कः १२२

मालिनी

इति सकलसुरौघा जन्मकल्याणमुच्चैः—परमनिखिलभूत्या तीर्थकृत्पुण्यपाकात् ।
शिवगतिसुखहेतोर्यस्य चक्रुः स नोऽव्याद् भवजलनिधिपातात्संस्तुतस्तद्गुणौघैः ।।१२३।।

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्मात्प्राप महोत्सवं सुरगिरौ कल्पाधिपैस्तीर्थकृद्
धर्मात्पूज्यपदं सुखं नृसुरज बाल्येऽपि लोकत्रये ।

समस्त देव देवियों ने प्रदक्षिणा देकर उन्हें शिर से प्रणाम किया ।।११८।। उस समय जल कणो के साथ आकाश से फूलों की वर्षा पड़ रही थी और अभिषेक सम्बन्धी जल के कणों को विखेरता हुआ पवन मन्द मन्द चल रहा था ।।११९।। जिसमें अभिषेक करने वाला इन्द्र था, सुदर्शन मेरु स्नानपीठ था, देवांगनाएं उत्तम नृत्यकारिणी थीं, गंधर्व गीत गाने वाले थे, चतुर्णिकाय के देव किङ्कर थे, क्षीर सागर स्नान का कुण्ड था, जगद्गुरु-जिनेंद्र आराधना करने योग्य थे, महान् पुण्य संचय करने योग्य था, जो समस्त अतिशयों से परिपूर्ण था तथा उपमा से रहित था उस जन्माभिषेक के महोत्सव का वर्णन करने के लिये कौन छद्मस्थ समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।।१२०-१२२।।

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति नामक पुण्यकर्म के उदय से समस्त देवसमूह ने अत्यंत उत्कृष्ट तथा सम्पूर्ण विभूति के साथ जिनका जन्म कल्याणक सम्पन्न किया था, जो मोक्षगति के सुखों की प्राप्ति में कारण थे तथा अपने गुण समूह के कारण जो अच्छी तरह स्तुत हुए थे वे भगवान् पार्श्वनाथ हम सबकी संसार सागर के पतन से रक्षा करें ।।१२३।। तीर्थंकर पार्श्वनाथ धर्म से सुमेरु पर्वत पर इन्द्रों के द्वारा किये हुए महोत्सव को प्राप्त हुए तथा धर्म से उन्होंने बाल्यावस्था में ही त्रिलोक पूज्य पद तथा मनुष्य और देवगति सम्बंधी सुख प्राप्त किये ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! तुम निरन्तर यत्नपूर्वक

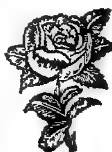
१. [illegible]

मत्वेतीह बुधाः कुरुध्वमनिशं धर्मं जिनास्योद्भव
दृक्शुद्धयादिसुभावनाभिरमलाभिश्चैव यत्नात्परम् ।।१२४।।
धर्मोऽनन्तगुणप्रदोऽगुणहरो धर्म्मं व्यधुर्धार्मिकाः
धर्मेणाशु किलाप्यते शिवपदं धर्माय मूर्ध्ना नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरो गुरुस्त्रिभुवने धर्मस्य मूलं मनः—
शुद्धिश्चित्तमहं दधे वरवृषे मे तिष्ठ चित्ते वृष ।।१२५।।
यत्पित्रोर्भवने चकार धनदो वृष्टिं मणीनां परां
षण्मासान् जिनपस्य पूर्वमसमां गर्भावतारात्पुनः ।
विश्वाश्चर्यकरां दिवश्च नवमासान्गर्भमासादिते
जाते मेरुगिरौ हरिश्च[1] स्नपनं नः सोऽस्तु तद्भूतये ।।१२६।।

इति भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे जन्माभिषेकवर्णनो नाम द्वादशःसर्गः ।।१२।।

दर्शनविशुद्धि आदि निर्मल भावनाओं के द्वारा जिनमुखोद्भूत—जिनेन्द्र प्रतिपादित धर्म का आचरण करो ।।१२४।। धर्म अनन्त गुणों को देने वाला तथा अवगुणों को हरने वाला है, धार्मिक पुरुष धर्म करते हैं, धर्म के द्वारा शीघ्र ही मोक्ष पद प्राप्त होता है, धर्म के लिये मस्तक से नमस्कार करता हूँ, तीनों लोकों में धर्म से बढ़कर दूसरा गुरु नहीं है, धर्म का मूल मन की शुद्धि है, मै उत्कृष्ट धर्म में चित्त धारण करता हूँ, हे धर्म ! तुम मेरे चित्त में स्थित होओ ।।१२५।। जिन जिनेन्द्र के गर्भावतार के छह माह पूर्व से कुबेर ने माता पिता के घर में मणियों की उत्कृष्ट वृष्टि की । पश्चात् गर्भ में आने पर लगातार नौ मास तक आकाश से सब को आश्चर्य उत्पन्न करने वाली रत्नवृष्टि की और उत्पन्न होने पर इन्द्र ने मेरु पर्वत पर जिनका अभिषेक किया वे पार्श्वनाथ भगवान् हमें अपनी विभूति के लिये हों अर्थात् हमें अपनी विभूति प्रदान करें ।।१२६।।

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में जन्माभिषेक का वर्णन करने वाला बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१२।।



१. इन्द्र. ।

त्रयोदशः सर्गः

नमः श्रीपञ्चकल्याणभागिनेऽनन्तशर्मणे । हन्त्रे [1]विश्वायविघ्नानां श्रीपार्श्वाय जितात्मने ।।१।।
अथाभिषेके संपूर्णे ह्येन्द्राणी त्रिजगद्गुरोः । प्रसाधनविधौ यत्नमकरोद्बहुकौतुका ।।२।।
निसर्गातिपवित्रस्याभिषिक्ताङ्गजिनेशिनः । ममार्जाङ्गास्यलग्नाम्भःकणान्सात्यमलांशुकैः ।।३।।
शची गात्रं जिनेन्द्रस्य दिव्यामोदविलेपनैः । अन्वलिप्यत लिम्पद्भिरिवामोदैर्जगद्गृहम् ।।४।।
त्रैलोक्यतिलकस्यास्य ललाटे तिलकं महत् । शची चक्रे मुदा केवलं स्वाचारप्रसिद्धये ।।५।।
जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि मन्दारमालया । उत्तंसं च दधे चूडामणिसान्निध्यमूर्जितम् ।।६।।
जगन्नेत्रस्य तीर्थेशस्य महादिव्यचक्षुषोः । साधादञ्जनसंस्कारं स्वाचार इति लभ्यते ।।७।।
कर्णावविद्धसच्छिद्रावलंचक्रे शची मुदा । कुण्डलाभ्या विजितेन्दुभ्या मणिरश्मिकोटिभिः।।८।।

त्रयोदश सर्ग

जो पञ्चकल्याण को प्राप्त है, अनन्तसुख से संपन्न हैं, समस्त पुण्य कार्यों में आने वाले विघ्नों के नाशक हैं तथा जितेन्द्रिय है उन पार्श्वनाथ भगवान् के लिये नमस्कार हो ।।१।।

अथानन्तर अभिषेक पूर्ण होने पर बहुत भारी कौतूहल से युक्त इन्द्राणी तीनों जगत् के गुरु जिनेन्द्र देव को अलंकार धारण कराने में यत्न करने लगी ।।२।। सर्व प्रथम इन्द्राणी ने स्वभाव से पवित्र तथा अभिषिक्त अङ्ग वाले जिनेन्द्र के शरीर और मुख में लगे हुए जलकणों को अत्यन्त निर्मल वस्त्रों से साफ किया ।।३।। जो अपनी सुगन्ध से जगद्रूपी घर को लिप्त कर रहे थे ऐसे दिव्यगन्ध वाले विलेपनों से इन्द्राणी ने जिनेन्द्र के शरीर को लिप्त किया ।।४।। तीन लोक के तिलकस्वरूप इन भगवान् के ललाट पर इन्द्राणी ने हर्षपूर्वक जो बड़ा तिलक लगाया वह मात्र अपने नियोग की पूर्ति के लिये लगाया था शोभा के लिये नहीं ।।५।। जगत् के चूडामणि स्वरूप इन जिनेन्द्र के मस्तक पर मन्दार माला द्वारा चूडामणि के सन्निधान से श्रेष्ठ आभूषण धारण किया अर्थात् उनके चूडामणि के समीप कल्पवृक्षों की माला पहिनाई ।।६।। जगत् के नेत्रस्वरूप तीर्थंकर के महान् दिव्य नेत्रो मे जो उसने अञ्जन लगाया था वह अपने नियोग से ही लगाया था ऐसा जान पड़ता है ।।७।। विना वेधे ही छिद्र सहित उनके कानों को इन्द्राणी ने रत्नरश्मियों के अग्रभाग

१. निर्विघ्नपुण्यान्तरायाणा ।

मणिहारेण कण्ठेऽस्य कुर्याच्छोभा परा च सा । बाह्वोः कटककेयूरमुद्रिकाङ्गदभूषणैः ॥९॥
दधे मणिमयं दाम किङ्किणीभिर्विराजितम् । सा कट्यामस्य कल्पाङ्घ्रिप्रारोहश्रियमुद्वहत् ॥१०॥
पादाब्जौ गोमुखाभासैर्मणिभिः शोभितौ व्यधात् । झङ्कारितौ सरस्वत्या कृतसेवाविवात्र सा ॥११॥
इत्यादिविविधैः संस्कारैश्च मण्डनकोटिभिः । निसर्गरुचिराङ्गस्य परा शोभां व्यधाच्छची ॥१२॥
तेजोनिधिरिवोद्भूतो यशोराशिरिवोर्जिता । सौभाग्यस्य परा कोटिः सपूर्णं वेन्दुमण्डलम् ॥१३॥
सौन्दर्यस्येव सन्दोहः पुण्याणूनामिवाकरः । लक्ष्म्यास्थानस्तदा सोऽभाद्भूषितोऽत्रासने विभुः॥१४
मणिभूषणविन्यस्तस्वाङ्गकान्तिप्रदीप्तिभिः । कल्पशाखीव रेजे स शाखाग्रस्थविभूषणः ॥१५॥
इति प्रसाध्य तं देवं शक्रोत्सङ्गगतं शची । विस्मयं स्वयमायासीत्पश्यन्ती रूपसम्पदम् ॥१६॥
तद्रूपातिशयं दृष्ट्वा हृत्तृप्तिजनकं हरिः । 'स्पृहालुस्तं पुनर्द्रष्टुं सहस्राक्षोऽभवत्तदा ॥१७॥
निमेषविमुखैर्दिव्यैर्लोचनैस्तं जगद्गुरुम् । निधानं वा मणीनां च ददृशुः कृतकौतुकाः ॥१८॥

से चन्द्रमा को जीतने वाले कुण्डलों से हर्षपूर्वक अलंकृत किया था ॥८॥ उसने मणियों के हार से इनके कण्ठ में तथा कटक, बाजूबन्द, मुद्रिका और अङ्गद आदि आभूषणों के द्वारा इनकी भुजाओं में परम शोभा उत्पन्न की थी ॥९॥ उसने इनकी कमर में क्षुद्रघण्टिकाओं से सुशोभित, तथा कल्पवृक्ष के अंकुर की शोभा को धारण करने वाली मणिमय मेखला पहिनाई थी ॥१०॥ उसने इनके चरणकमलों को गोमुख के समान आभा वाले मणियों से सुशोभित किया। उनके झाङ्कार से युक्त चरण कमल ऐसे जान पड़ते थे मानों सरस्वती ही उनकी सेवा कर रही हो ॥११॥ इत्यादि नाना प्रकार के संस्कारों और आभूषणों के अग्रभाग के द्वारा इन्द्राणी ने स्वभावसुभग शरीर वाले जिनबालक की परम शोभा उत्पन्न की ॥१२॥ जो प्रकट हुए प्रताप के मानों भाण्डार थे, अतिशय विस्तृत यशोराशि के समान थे, सौभाग्य की परम कोटि थे अथवा संपूर्ण चन्द्र मण्डल के समान थे, सौन्दर्य के समूह थे, पुण्य परमाणुओं की खान थे और लक्ष्मी के सभागृह थे ऐसे वे विभूषित विभु आसन पर सुशोभित हो रहे थे। ।१३–१४॥

मणिमय आभूषणों से युक्त अपने शरीर की कान्ति और दीप्ति से वे उस कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे जिसकी शाखाओं के अग्रभाग पर आभूषण स्थित है ॥१५॥ इस प्रकार इन्द्र की गोद में स्थित उन जिनबालक को अलकृत कर उनकी रूपसंपदा को देखने वाली इन्द्राणी स्वयं विस्मय को प्राप्त हो रही थी ॥१६॥ हृदय में सतोष उत्पन्न करने वाले उनके रूपातिशय को देखकर इन्द्र उन्हें फिर से देखना चाहता था इसी लिये क्या वह उस समय सहस्राक्ष–हजार नेत्रों वाला हो गया था ॥१७॥ कौतुक

---

१ 'स्पृहयालु' इति प्रसिद्ध रूपम् ।

विश्वेऽसुरा सुरा: शक्रा: शच्यो देव्योऽप्सरोवरा: । निरौपम्यं तदात्यर्थं जगदानन्ददायिनम् ॥१६॥
ततस्त स्तोतुमिन्द्राद्या: [1]प्राक्रमन्तामरा मुदा । माहात्म्यं प्रकटीकृत्य पुष्कलं तीर्थकृद्भवम् ॥२०॥
त्वं देव परमानन्दं दातुमस्माकमुद्गत: । बोधितुं जगतो यद्वद्भानुरब्जाकरान् भुवि ॥२१॥
मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन्निपतन्तमिमं जनम् । ऊद्धरिष्यसि नाथ त्वं धर्महस्तावलम्बनै: ॥२२॥
भवद्वाक्किरणै: स्वामिन् दुश्छेद्य नो मनस्तम: । पुरा प्रलीयते लोके यथा भास्वत्करैस्तम: ॥२३॥
त्व देव जगतां भर्ता बन्धुस्त्वं कारणं विना । त्वं त्राता भवभीरूणां त्वं पिता च हितंकर: ॥२४॥
त्वं पूतात्माखिलान्भव्यान्पुनासि धर्मवृष्टिभि: । दु:कर्मव्याधिशान्त्यै त्वं दास्यस्यौषधं सताम् ॥२५॥
वर्द्धिष्यन्ते गुणा: सर्वे [2]वपुषामा प्रभो त्वयि । संख्यातिगा ध्रुव चाब्धौ शुक्लपक्षे यथोर्मय: ॥२६॥
अस्नातपूतगात्रस्त्वं स्नापितोऽद्यात्र वार्गिभि: । न: पवित्रयितुं चित्तं दु:कर्मादिमलीमसम् ॥२७॥

से युक्त समस्त सुर, असुर, इन्द्र, इन्द्राणियों, देवियों और अप्सराओं ने निरुपम तथा जगत् को अत्यधिक आनन्द देने वाले मणियों के निधान के समान उन जगद्‌गुरु को टिमकार रहित दिव्य नेत्रो से देखा था ॥१८-१९॥

तदनन्तर इन्द्रादिक देव, तीर्थंकर नामकर्म से होने वाले बहुत भारी माहात्म्य को प्रकट कर हर्षपूर्वक उनकी स्तुति करने के लिये तैयार हुए ॥२०॥

हे देव ! जिस प्रकार पृथिवी पर जगत् को जागृत करने और कमल वन को विकसित करने के लिये सूर्य उदित होता है उसी प्रकार आप हम सब को परमानन्द देने तथा जगत् को बोधित-ज्ञानयुक्त करने के लिये उदित हुए हैं ॥२१॥ हे नाथ ! इस मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकूप में पड़ते हुए इस जन समूह को आप धर्मरूपी हस्त का अवलम्बन देकर निकालेंगे ॥२२॥ हे स्वामिन् ! जिस प्रकार सूर्य की किरणों से अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरणों से हमारे मन का दुश्छेद्य कठिनाई से छेदन करने योग्य अज्ञानान्धकार पहले ही नष्ट हुआ जाता है ॥२३॥ हे देव ! तुम जगत् के स्वामी हो, तुम जगत् के अकारण बन्धु हो, तुम संसार से भयभीत मनुष्यों के रक्षक हो और तुम हितकारी पिता हो ॥२४॥ पवित्र आत्मा से युक्त तुम, धर्मवृष्टि के द्वारा समस्त भव्य जीवों को पवित्र करते हो और तुम दुष्कर्मरूपी रोग की शान्ति के लिये सत्पुरुषों को औषध प्रदान करोगे ॥२५॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार शुक्ल पक्ष के समय समुद्र में असंख्य लहरें बढ़ने लगती हैं उसी प्रकार निश्चित ही आप में शरीर के साथ समस्त गुण बढने लगेंगे ॥२६॥ आपका शरीर तो स्नान के बिना ही पवित्र है, फिर आज जो यहां जल के द्वारा स्नपन किया गया है वह दुष्कर्म आदि से मलिन अपने चित्त को पवित्र करने के

१ प्राक्रमन्त २ शरीरेण सह ।

अतीव सुन्दरो नाथामण्डितस्त्वं विभूषणैः। मण्डितो मण्डनीभूत केवलं मण्डनाय नः ।।२८।।
मणिः शुद्धाकरोद्भूतो यथा संस्कारकर्मभिः । दीप्यतेऽधिकमेव त्व जातकर्मादिसंस्कृतः ।।२९।।
प्रहनिष्यसि नाथ त्वं मोहमिथ्यादि धीमताम् । द्योतयिष्यसि स्वर्मुक्तिमार्गौ दिव्यवचोऽशुभिः।।३०।।
चतुर्ज्ञानधरा देव त्वां स्तोतुं च क्षमा न हि। मुनयोऽत्रेति मत्वास्माभिः स्तुतौ न कृतः श्रमः।।३१।।
अतः पूतात्मने तुभ्यं नमस्ते गुणसिन्धवे। त्रिजगत्स्वामिने तुभ्यं नमो भीतिभिदे सताम् ।।३२।।
जगदाह्लादिने तुभ्यं नमोऽस्तु गुरवे सताम्। नमस्ते निर्विकाराय सर्वातिशयशालिने ।।३३।।
निःस्वेदाय नमस्तुभ्यं निसर्गनिर्मलाय ते । क्षीराच्छशोणिताङ्गाय चाद्यसंस्थानमूर्तये ।।३४।।
वज्रर्षभादिनाराचदृढसंहननाय च । नमस्ते दिव्यरूपाय सुगन्धवपुषे नमः ।।३५।।
सर्वलक्षणपूर्णाय नमस्ते तीर्थकारिणे । अप्रमाणसुवीर्याय वचःप्रियहितात्मने ।।३६।।

लिये किया गया है आपको पवित्र करने के लिये नहीं ।।२७।। हे नाथ ! आप तो आभूषणों से विभूषित किये बिना ही अत्यन्त सुन्दर है फिर हे आभूषण स्वरूप ! आज जो आपको विभूषित किया गया है वह मात्र हम लोगों को विभूषित करने के लिये किया गया है ।।२८।। जिस प्रकार शुद्ध खान से उत्पन्न हुआ मणि संस्कार क्रिया से अत्यधिक देदीप्यमान हो जाता है उसी प्रकार शुद्ध माता से उत्पन्न हुए आप जातकर्म–जन्माभिषेक आदि से संस्कृत होकर अत्यधिक देदीप्यमान हो रहे है ।।२९।। हे नाथ ! तुम बुद्धिमानों के मोह मिथ्यात्व आदि को नष्ट करोगे और दिव्यध्वनि रूप किरणों के द्वारा स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग को प्रकाशित करोगे ।।३०।। हे देव ! चार ज्ञान के धारक मुनि आपकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हैं यह मान कर हमने आपकी स्तुति में श्रम नही किया है ।।३१।। जिस कारण आप पवित्रात्मा तथा गुणों के सागर हो इसलिये आपको नमस्कार हो। जिस कारण आप तीन जगत् के स्वामी और सत्पुरुषों के भय को नष्ट करने वाले है इसलिये आपको नमस्कार हो ।।३२।। आप जगत् को आह्लादित करने वाले हैं तथा सत्पुरुषों के गुरु है अतः आपको नमस्कार है। आप विकार से रहित तथा समस्त अतिशयों से शोभायमान है अतः आपको नमस्कार है ।।३३।। आप पसीना से रहित है, स्वभाव से ही निर्मल है आपका शरीर दूध के समान सफेद रुधिर से सहित है और आप समचतुरस्र संस्थान के धारक हैं अतः आपको नमस्कार हो ।।३४।। आप वज्रवृषभनाराच नामक सुदृढ संहनन से युक्त हैं, दिव्यरूप के धारक है, तथा सुगन्धित शरीर से सहित है इसलिये आपको नमस्कार हो ।।३५।। आप समस्त लक्षणों से पूर्ण है, तीर्थंकर हैं, अतुल्य बल से सहित है तथा हित मित प्रिय वचन बोलने वाले है इसलिये आपको नमस्कार हो ।।३६।। इस प्रकार आप जन्म के दश अतिशयों से सहित है अतः आपको नमस्कार हो। आप अन्य

एवं दशसहोत्पन्नातिशयसंयुजे[1] नमः । अन्यामितगुणायैव नमस्ते विश्वदर्शिने ॥३७॥
भवन्तमित्यभिष्टुत्य देव नाशास्महे वयम् । सर्वं त्रैलोक्यसाम्राज्यं तत्र निर्लोभिनोऽखिले ॥३८॥
किन्तु देहि त्वमस्माकं दुःखकर्मक्षयं विभो । रत्नत्रयं समाधि च सुमृतिं त्वद्गुणान् द्रुतम् ॥३९॥
बह्वया प्रार्थनया किं वा विधेह्येका सुनिर्भराम् । भक्ति त्वयि समस्तं सा स्वाभीष्टं नः करिष्यति ।४०।
जन्मकल्याणकस्तुत्यादौ[2] पूर्णे सति सोत्सवाः । भूयो मतिं हि शक्रा वाराणसीगमने व्यधुः ॥४१॥
तथैव प्रहता भेर्यस्तथोक्ता जयघोषणाः । तथैवैरावतस्कन्धे स्वाङ्कारूढं जिनं व्यधात् ॥४२॥
जयदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतैर्नृत्यैर्महोत्सवैः । नभोऽङ्गणं समुत्पत्य द्रागाजग्मुः सुरा पुरीम् ॥४३॥
तामारुध्य पुरीं विश्वगनीकानि सुरेशिनाम् । देवा देव्यश्च खं वीथीर्वनं तस्थु स्ववाहनैः ॥४४॥
ततो जिनेन्द्रमादाय देवैः कतिपयैः समम् । स विवेश नृपागारं परार्ध्यमणिमण्डितम् ॥४५॥
तत्रानेकमहारत्ननिबद्धे श्रीगृहाङ्गणे । हैमसिंहासने देवं सौधर्मेन्द्रो न्यवीविशत् ॥४६॥

अपरिमित गुणों से सहित तथा सर्वदर्शी हैं अतः आपके लिये नमस्कार हो ॥३७॥ हे देव! इस प्रकार आपकी स्तुति कर हम उसके फलस्वरूप तीन लोक का सम्पूर्ण राज्य नहीं चाहते है क्योंकि हम समस्त सांसारिक पदार्थों में निर्लोभी हैं किन्तु हे विभो! आप हमें दुःखदायक कर्मों का क्षय दे, रत्नत्रय दें, समाधि–चित्त की स्थिरता दें, सुमरण–सल्लेखना दें और शीघ्र ही अपने गुण दें ॥३८–३९॥ अथवा बहुत प्रार्थना से क्या लाभ है? आप अपने आप में सातिशय एक भक्ति ही दे दीजिये–मेरी सुदृढ भक्ति आप में बनी रहे ऐसा कर दीजिये वह एक भक्ति ही हमारे समस्त मनोरथ सिद्ध कर देगी ॥४०॥

इस प्रकार जन्मकल्याणक सम्बन्धी स्तुति आदि के पूर्ण होने पर उत्सवों से सहित इन्द्रों ने पुनः वाराणसी जाने का विचार किया ॥४१॥ उसी प्रकार भेरियां बजाई गई उसी प्रकार जय जयकार की घोषणाएं की गई और उसी प्रकार इन्द्र ने ऐरावत हाथी के कन्धे पर जिनबालक को अपनी गोद में आरूढ किया ॥४२॥ जय भेरियों के जोरदार शब्दो, गीतो, नृत्यो तथा महोत्सवों से आकाशाङ्गण को लांघकर देव शीघ्र ही वाराणसी नगरी में आ पहुंचे ॥४३॥ देवो की सेनाएं, देव और देवियां–सभी लोग अपने अपने वाहनो द्वारा चारों ओर से उस नगरी को, आकाश को, गलियों को तथा वन को रोक कर स्थित हो गये ॥४४॥

तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने जिनेन्द्र भगवान् को लेकर कुछ देवों के साथ श्रेष्ठ मणियों से सुशोभित राज भवन में प्रवेश किया ॥४५॥ वहां उसने अनेक महारत्नों से खचित श्री

१ मपुगे म० ग० २ म्तुत्यादिपूर्णे ख० ग०।

विश्वसेनः समुद्भिन्नपुलकं गात्रमुद्वहन् । विस्फारित सुनेत्राभ्या प्रीत्या सूनु ददर्श तम् ।।४७।।
मायानिद्रां निराकृत्य शच्या देवी प्रबोधिता । सम स्वपरिवारेणैक्षिष्ट हृष्टा जगत्पतिम् ।।४८।।
तेजःपुञ्जमिवोद्भूत शुभाणूना चय त्विषा । परब्रह्मस्वरूप वा साक्षात्प्रत्यक्षमागतम् । ४६।।
सार्द्धं शच्यादिकल्पेश 'तावद्राष्टां जगत्पते' । पितरौ नितरा प्रीतौ परिपूर्णमनोरथौ ।।५०।।
ततस्तौ त्रिजगत्पूज्यौ पूजयामास देवराट् । महार्घकैर्विचित्रैश्च भूषणैः स्रग्भिरशुकैः ।।५१।।
प्रीत्या तौ प्रशशसेति सौधर्मेन्द्र. सहामरै. । पुण्यवन्तौ युवा धन्यौ ययोः पुत्रो जगद्गुरुः ।।५२।।
सौभाग्यस्य परां कोटिं युवा प्राप्तौ जगद्धितौ । विश्वग्रण्यौ युवां लोके बुधौ कल्याणभागिनौ।।५३।।
पूज्यौ स्तुत्यौ मता मान्यौ युवां लोकत्रयेऽद्भुतौ । युवयोर्न तुला लोके पितरौ त्रिजगत्पितुः ।।५४।।
जिनागारमिवागारमिदमाराध्यमद्य नः । सेव्यौ चार्च्यौ यतोऽस्मद्गुरागुरूधर्मिणौ युवाम् ।५५।
इत्यभिष्टुत्य तौ सूनुमर्पयित्वा स तत्करे । शक्र प्रीतः क्षण तस्थौ कुर्वंस्तत्तीर्थंकृत्कथाम् ।।५६।।

गृहाङ्गण में सुवर्णमय सिंहासन पर जिनेन्द्रदेव को बैठा दिया ।।४६।। रोमाञ्चित शरीर को धारण करने वाले राजा विश्वसेन ने विस्तृत नेत्रों द्वारा प्रीतिपूर्वक उस पुत्र को देखा ।।४७।। मायामयी निद्रा को दूर कर इन्द्राणी के द्वारा जगाई हुई ब्राह्मी देवी ने भी हर्ष विभोर होकर अपने परिवार के साथ जगत्पति–जिनेन्द्र को देखा ।।४८।। उस समय जगत्पति–जिनेन्द्र, कान्ति से ऐसे जान पड़ते थे मानों तेज का पुञ्ज ही प्रकट हुआ है, अथवा शुभ परमाणुओं का पिण्ड है अथवा प्रत्यक्ष आया हुआ परब्रह्म का स्वरूप ही है ।।४६।। जिनेन्द्र के माता पिता ने जिनेन्द्र के साथ इन्द्राणी तथा सौधर्मेन्द्र को भी देखा जिससे वे अत्यन्त प्रसन्न और परिपूर्ण मनोरथ हो गये अर्थात् उनके मनोरथ पूर्ण हो गये ।।५०।। तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने तीन जगत् के द्वारा पूज्य उन माता पिता की महामूल्यवान विचित्र आभूषणों, मालाओ और वस्त्रों से पूजा की ।।५१।। सौधर्मेन्द्र ने देवों के साथ प्रीतिपूर्वक उनकी इस प्रकार प्रशंसा की–आप दोनों महान् पुण्यवान् तथा धन्यभाग है जिनके कि जगद्गुरु पुत्ररूप से अवतीर्ण हुए है ।।५२।। आप दोनों सौभाग्य की परम कोटि को प्राप्त हुए हैं, जगत् हितकारी है, लोक में सबके अग्रणी है, विद्वान् हैं, कल्याण के भागी है, पूज्य हैं, स्तुत्य है, सत्पुरुषों के मान्य है, और तीनों लोकों में अद्भुत है । लोक में आप दोनों की उपमा नहीं है क्योंकि आप त्रिलोकीनाथ के माता पिता हैं । यह घर आज हम लोगों को जिनमन्दिर के समान पूज्य हो गया है । धर्म से युक्त आप दोनों हम लोगों के सेवनीय तथा पूजनीय हैं क्योंकि आप हमारे गुरु के गुरु-माता पिता हैं ।५३-५५। इस प्रकार माता-पिता की स्तुति कर तथा उनके हाथ में पुत्र को समर्पित कर प्रीति से भरा हुआ इन्द्र क्षण भर खड़ा

१ तौ अद्राष्टाम् इतिच्छेदः ।

कृत्स्नमिन्द्रोदितं श्रुत्वा मेरौ जन्ममहोत्सवम् । प्रमोदविस्मयादेस्तौ परा कोटिं समाश्रितौ ॥५७॥
भूयः शक्राज्ञया भूत्या जातकर्ममहोत्सवम् । कुरुतस्तौ सम पौरैर्बन्धुभि: समहोत्सवे: ॥५८॥
नानावर्णध्वजैर्दिव्यतोरणै रचनाकितैः । महोत्सवैर्जनाश्चक्रु:स्व.पुरी वा तदा पुरीम् ॥५९॥
धूपामोदैर्दिशो रुद्धाः पटवासैस्तत नभः । गीतमङ्गलवाद्याद्यैर्दिक्चक्रं बधिरीकृतम् ॥६०॥
पुरीवीथ्यस्तदा भान्ति रत्नचूर्णजस्वस्तिकैः । चन्दनद्रवसंसिक्ता स्व:पुर्या इव वीथय. ॥६१॥
तदुत्सवेऽखिल: पौरो गीतवाद्यैश्च नर्तनै: । मङ्गलै राजलोकोऽभूत्सुप्रीत्यानन्दनिर्भर. ॥६२॥
आदौ हि परया भूत्या जातकर्ममहोत्सवे । जिनागारे जिनेशानां विश्वकल्याणवृद्धये ॥६३॥
परमोत्सवमाचक्रुर्विश्वसेनादयो जनाः । महाभिषेकपूजाद्यै. सर्वाभ्युदयसाधनम् ॥६४॥
दीनानाथाङ्गिवन्दिभ्यो ददौ दानान्यनेकशः । स्वजनेभ्यो यथायोग्य वस्त्रभूषादि भूपति. ॥६५॥
न तदा [1]दृश्यते कोऽपि दीनो वा [1]दुर्विधो जन । कृपणो [2]बाष्पपूर्णाक्षो नि प्रमोदोऽप्यकौतुकः॥६६॥

रहा और उन्हीं तीर्थंकर की कथा करता रहा ॥५६॥ इन्द्र के द्वारा कथित, मेरु पर्वत पर होने वाले समस्त जन्म महोत्सव को सुनकर माता पिता हर्ष तथा आश्चर्य आदि की परम कोटि को प्राप्त हुए ॥५७॥

तदनन्तर इन्द्र की आज्ञा से उन्होंने महोत्सव से परिपूर्ण नागरिक जनों तथा बन्धु वर्ग के साथ वैभव के अनुसार जन्ममहोत्सव किया ॥५८॥ उस समय लोगों ने रङ्ग विरङ्गी ध्वजाओं, नाना रचनाओं से युक्त दिव्य तोरणों तथा अन्य महोत्सवों से अपनी नगरी को स्वर्गपुरी के समान बना दिया था ॥५९॥ धूप की सुगन्ध से दिशाएं रुक गईं सुगन्धित चूर्णों से आकाश व्याप्त हो गया और गीत तथा मङ्गल बाजे आदि से दिशाओं का समूह बहिरा हो गया ॥६०॥ उस समय रत्नचूर्ण से निर्मित स्वस्तिकों से नगर की गलियां चन्दन के द्रव से सींची गई स्वर्गपुरी की गलियों के समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥६१॥ उस उत्सव में समस्त नागरिक लोग, गायन वादन नृत्य तथा अन्य मङ्गलाचारों से उत्तम प्रीति तथा आनन्द से परिपूर्ण राज परिवार हो गये थे अर्थात् जैसा उत्सव राज परिवार में किया जा रहा था वैसा ही उत्सव समस्त नागरिक लोग कर रहे थे ॥६२॥

जातकर्म के महोत्सव में राजा विश्वसेन आदि जनों ने सबसे पहले जिन मन्दिर में समस्त कल्याणों की वृद्धि के लिये परम विभूति के साथ जिन प्रतिमाओं के महाभिषेक तथा पूजा आदि के द्वारा सब अभ्युदयों का साधनभूत परम उत्सव किया था ॥६३--६४॥ राजा ने दीन अनाथ जनों तथा स्तुति पाठकों को अनेक बार दान दिया और आत्मीय जनों को यथायोग्य वस्त्राभूषणादि दिये ॥६५॥ उस समय कोई ऐसा मनुष्य नहीं दिखाई

१ दरिद्र २ अश्रुपूर्णनेत्र: ।

संप्रमोदमयं विश्वमित्यालोक्य शचीपतिः । जन्माभिषेकसादृश्यमत्यर्थकौतुकेरितः ॥६७॥
स्वं प्रमोदं परां भक्ति स्वानुराग प्रकाशयन् । सार्धं देवैर्मनोवृत्ति प्रारब्धानन्दनाटकम् ॥६८॥
नृत्तारम्भे तदेन्द्रस्य सज्जो गीतचयो महान् । गन्धर्वैस्तद्विधानज्ञैस्तद्योग्यवाद्यवादनैः ॥६९॥
प्रेक्षका विश्वसेनाद्याः सकलत्राः सबान्धवाः । जिनेन्द्रेण सम तस्थुर्नाटकेऽस्मिस्तदीक्षितुम् ॥७०॥
आदौ ममवतारं कृत्वा त्रिवर्गफलप्रदम् । जन्माभिषेकसबद्धं प्रायुंक्तं नं मुदा हरिः ॥७१॥
ततोऽकरोद्वरान्यत्स रूपक वहुरूपकम् । नवावतारसंदर्भमधिकृत्य जगद्गुरोः ॥७२॥
पूर्वरङ्गप्रसङ्गेन पुष्पाञ्जलिपुरस्सरम् । ताण्डवारम्भमेवासावग्रहीदघहानये ॥७३॥
नान्दी प्रयोज्य सोऽन्तेऽस्यादिशन् रङ्गं महद्बभौ । घृतमङ्गलनेपथ्यः कल्पशाखीव देवराट् ॥७४॥
सलयैः पादविन्यासैः परितो रङ्गमण्डलम् । परिक्रामन्नसौ रेजे मिमान इव तद्धराम् ॥७५॥
कृतपुष्पाञ्जलौ ताण्डवारम्भमथ्रमेऽस्य हि । दिवोऽमुञ्चन् सुराः पुष्पवर्षं तद्भक्तिमोदिताः ॥७६॥
वीणा मधुरमारेणुः कल वंशा विसस्वनु । मन्द्रं मनोहर गान किन्नरीभिः समुज्जगे ॥७७॥

देता था जो दीन हो, दरिद्र हो, कृपण हो, अश्रुपूर्ण नेत्रों वाला हो, हर्ष रहित हो और कौतुक से शून्य हो ॥६६॥ समस्त लोक आनन्द से पूर्ण हो रहा है यह देख जो अत्यधिक कौतुक से प्रेरित हो रहा था तथा जन्माभिषेक के अनुरूप अपने हर्ष, परमभक्ति, स्वानुराग और मनोवृत्ति को प्रकट कर रहा था ऐसे सौधर्मेन्द्र ने देवों के साथ आनन्द नामक नाटक प्रारम्भ किया ॥६७–६८॥ उस समय इन्द्र के नृत्यारम्भ में नृत्य के विधान को जानने वाले तथा उसके योग्य बाजा बजाने वाले गन्धर्वों ने गीतों का बहुतभारी समूह तैयार किया था ॥६९॥ स्त्री तथा बन्धुजनों से सहित विश्वसेन आदि दर्शक उसे देखने के लिए इस नाटक मे जिनेन्द्र के साथ बैठे थे ॥७०॥ सबसे पहले इन्द्र ने त्रिवर्गरूप फल को देने वाला नान्दी आदि रङ्गावतार किया और उसके पश्चात् जन्माभिषेक से संबद्ध नाटक किया ॥७१॥ तदनन्तर जगद्गुरु के नौ भवों के संदर्भ को लेकर अन्य अनेक रूपक किये ॥७२॥ पापक्षय के लिये पूर्वरङ्ग के प्रसङ्ग से पुष्पाञ्जलि विखेरते हुए उसने ताण्डव नृत्य का ही प्रारम्भ किया ॥७३॥ नान्दी कर उसके अन्त में जो रङ्गस्थल को बहुत भारी आदेश दे रहा था तथा जिसने मङ्गलमय वेष धारण किया था ऐसा इन्द्र कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहा था ॥७४॥ रङ्गभूमि के चारों ओर लय सहित पादविन्यास से घूमता हुआ इन्द्र ऐसा जान पड़ता था मानों उस भूमि को नाप ही रहा हो ॥७५॥ पुष्पाञ्जलि विखेरने के बाद ज्यों ही इन्द्र का ताण्डव नृत्य प्रारम्भ हुआ त्यों ही उसकी भक्ति से प्रसन्न देवों ने उस पर आकाश से पुष्प बरसाये ॥७६॥ वीणाएं मधुर गान करने लगीं, बांसुरियों ने मधुर तान छेड़ दी और किन्नरियों ने गम्भीर तथा मनोहर गान गाना प्रारम्भ कर दिया

मृदङ्गा दध्वनुश्चान्यैस्तद्योग्यैर्वाद्यकोटिभिः । कलं गायन्ति गन्धर्वास्तद्योग्य गीतसञ्चयम् ।।७८।।
प्रयुज्यामरराट् शुद्धं पूर्वरङ्गं मुदा क्रमात् । करणैरङ्गहारैर्विचित्र प्रायुंक्त तं पुनः ।।७९।।
रेचकैर्विविधैः पादकटीकण्ठकराश्रितैः । ननाट नाटक शक्रो महान्त दर्शयन् रसम् ।।८०।।
तदा बाहुसहस्राणि विकृत्येन्द्रप्रनर्तनै । चरणन्याससघातै स्फुटन्तीव मही चलेत् ।।८१।।
विक्षिप्तबाहुविक्षेपैः सभूषैर्गगने हरि । कल्पवृक्ष इवानर्तीद्दर्शयन्प्राग्भव सताम् ।।८२।।
एकरूपः क्षणाद्दिव्योऽनेकरूपः क्षणात्परः । क्षणात्स्थूल क्षणात्सूक्ष्म क्षणाद् व्योम्नि क्षणाद्भुवि
क्षणाद्दीर्घतरः काय. क्षणाल्लघुतरोऽद्भुत । क्षणाद् द्विबाहुमानूरूपी क्षणाद् बहुकराङ्कित ।८४।
इति प्रतन्वतात्मीय सामर्थ्यं विक्रियोद्भवम् । इन्द्रजालमिवेन्द्रेण दर्शित धीमता तदा ।।८५।।
नेटुरप्सरसो भर्तृकरशाखासु सस्मिता. । सलीलभ्रूलतोत्क्षेपैरङ्गहारै सञ्चारिभिः ।।८६।।
वर्द्धमानलयै. काश्चिदन्यास्ताण्डवलास्यकै. । ननृतुर्देवनर्तक्यश्चित्रैरभिनयैस्तदा ।।८७।।
काश्चिदैरावती पिण्डीमैन्द्रीबध्वा सुराङ्गना । नेटू रम्यै प्रवेशैश्च नि क्रमै सुनियन्त्रितैः ।।८८।।

।।७७।। अपने योग्य अन्य बाजों के साथ मृदङ्ग शब्द कर रहे थे और गन्धर्व उसके योग्य मधुर गीत गा रहे थे ।।७८।। इन्द्र ने हर्षपूर्वक शुद्ध पूर्वरङ्ग को संपन्न कर पश्चात् करण तथा अङ्गहारों से विचित्र नाटक प्रारम्भ किया ।।७९।। पैर कमर कण्ठ तथा हाथों के आश्रय से होने वाले नाना प्रकार के रेचकों—वर्तुलाकार भ्रमण से बहुतभारी रस को प्रकट करता हुआ इन्द्र नाटक का अभिनय कर रहा था ।।८०।। उम समय विक्रिया से हजार भुजाएं बना कर इन्द्र नृत्य कर रहा था। नृत्य करते समय उसके पादविक्षेप के आघात से पृथिवी ऐसी कांपने लगी थी मानों फटी ही जा रही हो ।।८१।। आभूषणों से युक्त भुजाओं के विक्षेप से जो कल्पवृक्ष के समान जान पड़ता था ऐसा इन्द्र सत्पुरुषों को भगवान् के पूर्वभव दिखलाता हुआ आकाश में नृत्य कर रहा था ।।८२।। इन्द्र का दिव्य शरीर क्षणभर में एक हो जाता था, क्षणभर मे अनेक हो जाता था, क्षणभर मे स्थूल हो जाता था, क्षणभर में सूक्ष्म हो जाता था, क्षणभर में आकाश में चलने लगता था, क्षणभर मे पृथिवी पर आ जाता था, क्षणभर में अत्यन्त दीर्घ हो जाता था और क्षणभर में अत्यन्त लघु बन जाता था, क्षणभर में दो हाथों से युक्त रूप धारण करता था और क्षणभर में अनेक हाथों से युक्त हो जाता था'''इस प्रकार अपनी विक्रिया जन्य सामर्थ्य को विस्तृत करने वाले इन्द्र ने उस समय विद्वज्जनो के लिये मानों इन्द्रजाल ही दिखाया था ।।८३--८५।। इन्द्र की अंगुलियों पर मन्द मुसक्यान से सहित अप्सराएं लीला सहित भौंहें चलाती हुई, शरीर मटकाती हुई तथा फिरकी लगाती हुई नृत्य कर रही थीं ।।८६।। कोई अन्य देवनर्तकियां उस समय वढ़ते हुए लय से युक्त ताण्डव नृत्य से तथा अन्य अनेक प्रकार के अभिनयों से नृत्य कर रही थीं ।।८७।। कितनी ही देवाङ्गनाएं इन्द्राणी के साथ ऐरावत हाथी के शरीर में

रेजिरे ता सुरेन्द्रस्य भुजदण्डेषु सम्मिता । कल्पवल्ल्यइवोद्भूता शाखासु कल्पशाखिन ।।८९।।
सार्द्धं ताभि स आरब्धरेचको व्यरुचत्तराम् । तेजःपुञ्ज इव स्वाङ्गतदङ्गाभरणाशुभि ।।९०।।
हस्तागुलीषु शक्रस्य न्यस्यन्त्य करपल्लवान् । सलील ननृतु काश्चित्सूचीनाटचमिवाश्रिता ।।९१।।
वशयष्टीरिवारुह्य देवराजकरागुली । सपर्वा अपरा भ्रेमुस्तदग्रार्पितनाभय ।।९२।।
प्रतिबाहु सुरेन्द्रस्य सनटन्य स्त्रियो मुदा । सयत्नं संचरन्त्यो [1]वाभु शम्या वाङ्गदीप्तिभि ।९३
स्फुटन्निव कटाक्षेषु वक्त्रेषु विहसन्निव । स्फुरन्निव कपोलेषु पादेषु प्रसरन्निव ।।९४।।
विलसन्निव हस्तेषु नेत्रेषु विकसन्निव । रज्यन्निवाङ्गरागेषु निमज्जन्निव नाभिषु ।।९५।।
व्रजन्निव कटीष्वासा काञ्चीदामसु चास्खलन् । तदा नाटचरसोऽङ्गेषु ववृधे सोत्सवो महान् ।।९६।।
प्रत्यङ्गं या सुरेन्द्रस्य विक्रिया नृत्यतोऽभवन् । विधिना तासु देवीषु ता विभक्ता इवारुचन् ।।९७।।

रमणीय प्रवेश तथा अच्छी तरह नियन्त्रित निष्क्रमण के द्वारा नृत्य कर रही थीं। भावार्थ--कितनी ही देवियां ऐरावत हाथी के विक्रिया--निर्मित शरीर में व्यवस्थित रूप से प्रवेश करती और निकलती हुई नृत्य कर रही थीं ।।८८।। इन्द्र के भुजदण्डों पर एकत्रित हुई देवियां कल्पवृक्ष की शाखाओं पर उत्पन्न कल्पलताओं के समान सुशोभित हो रही थीं ।।८९।। उन देवियों के साथ फिरकी लगाता हुआ इन्द्र अपने तथा उन देवियों के शरीर सम्बन्धी आभूषणों की कान्ति से तेजपुञ्ज के समान अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ।।९०।। कितनी ही देवियां इन्द्र के हाथ की अंगुलियों पर अपने कर पल्लव रख कर लीला पूर्वक नृत्य कर रहीं थी और उससे ऐसी जान पड़ती थीं मानों सूचीनाट्य ही कर रही हो ।।९१।। कोई देवाङ्गनाएं पर्व सहित बांस की लकड़ियों के समान इन्द्र के हाथ की अगुलियों पर चढ कर तथा उनके अग्रभाग में अपनी नाभि रख कर घूम रही थीं ।।९२।। इन्द्र की प्रत्येक भुजा पर हर्ष से नृत्य करती हुई देवाङ्गनाएं अपने शरीर की कान्ति से ऐसी जान पड़ती थीं मानों यत्नपूर्वक बिजलियां ही चल रही हों ।।९३।। उस समय उत्सव से सहित बहुत भारी नाट्यरस उन देवाङ्गनाओं के कटाक्षों में स्पष्ट होते हुए के समान, मुखों में हंसते हुए के समान, कपोलो में स्फुरित होते हुए के समान, पैरो में फैलते हुए के समान, हाथों मे सुशोभित होते हुए के समान, नेत्रों में विकसित होते हुए के समान, अङ्गरागो में रंगीन होते हुए के समान, नाभियों में निमग्न होते हुए के समान, कटिभागों में चलते हुए के समान, और मेखलाओ में सब ओर से स्खलित होते हुए के समान इस प्रकार समस्त अङ्गों में वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ।।९४--९६।। नृत्य करते हुए इन्द्र के प्रत्येक अङ्ग में जो परिवर्तन होते थे वे सब उन देवियों में भी होते थे इससे ऐसे जान पड़ते थे मानों विधि--दैव के द्वारा उनमे विभक्त ही कर दिये गये है ।९७। इन्द्र उन देवियों को ऊपर

[1] वा अभु इतिच्छेद. ।

उर्द्ध्वमुच्छालयस्ताः खे नटन्तीर्दर्शयन्पुनः । अदृश्यास्ताः क्षणात् कुर्वन् सोऽभून्माहेन्द्रजालिकः ।
इत्यादिनर्तनैश्चित्रैर्निरौपम्यैर्मनोहरैः । प्रेक्षकाणा तदा शक्रः परं[1] शर्मं व्यजीजनत् ॥६६॥
विश्वसेननृपः सार्द्ध देव्या बन्धुजनैस्तराम् । प्रीतिमायाति साश्चर्यो दृष्ट्वा तन्नाट्यमूर्जितम् ॥
नयतीति स्वपार्श्वं यो भव्यानतो हि सार्थकम् । अस्य चक्रु सुराः पार्श्व नाम पित्रोः प्रसाक्षिकम् ॥
कृत्वेति जन्मकल्याण धात्रीः सुरकुमारकान् । तद्वयोवेषकर्तृ ँश्च नियोज्य देवकन्यकाः ॥१०२॥
स्वभक्त्या परिचर्यायै कृतकार्या सुराधिपाः । उपार्ज्य बहुधा पुण्य प्रजग्मु स्वस्वमाश्रयम् ।१०३

मालिनी

इति सुकृतविपाकाज्जन्मकल्याणमाप, परमनिखिलभूत्या सोऽमरेन्द्रैर्जिनेन्द्र. ।
अखिलसुखनिधानं शर्मकामा विदित्वे—तिविशदचरणौघैर्धर्ममेक भजध्वम् ॥१०४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्म. शर्मपरम्परार्पणपरो धर्मं श्रिता ज्ञानिनो
धर्मेणाशु किलाप्यते जिनपद धर्माय भक्त्या नम· ।

उछाल कर कभी आकाश में नृत्य करती हुई दिखाता था और कभी क्षणभर में उन्हें अदृश्य कर देता था । इस प्रकार वह जादूगर हुआ था ॥६८॥ इत्यादि नाना प्रकार के अनुपम और मनोहर नृत्यों के द्वारा उस समय इन्द्र दर्शकों को अत्यधिक सुख उत्पन्न कर रहा था ॥६६॥ राजा विश्वसेन, देवी तथा बन्धुजनों के साथ उस श्रेष्ठ नाटक को देखकर आश्चर्ययुक्त होते हुए प्रीति को प्राप्त हुए थे ॥१००॥ जो भव्यजीवों को अपने पास में ले जाता है वह पार्श्वनाथ है इस प्रकार देवों ने माता पिता के समक्ष देवों ने उनका 'पार्श्व' यह सार्थक नाम रक्खा ॥१०१॥ इस प्रकार इन्द्र, जन्मकल्याणक करके धायों को, उन उन वेषो को धारण करने वाले देवकुमारों को और स्वकीय भक्तिवश परिचर्या सेवा में निपुण देवकन्याओ को नियुक्त कर तथा बहुत भारी पुण्योपार्जन कर अपने अपने स्थानों पर चले गये ॥१०२–१०३॥

इस प्रकार पुण्योदय से वे जिनेन्द्र समस्त उत्कृष्ट विभूति के साथ जन्म कल्याणक को प्राप्त हुए थे ऐसा जानकर हे सुख के अभिलाषीजन हो ! निर्मल चारित्र के समूह से समस्त सुखों के निधानभूत एक धर्म की आराधना करो ॥१०४॥ धर्म सुख सन्तति के समर्पित करने मे तत्पर है, ज्ञानी जन धर्म को प्राप्त होते हैं, धर्म के द्वारा शीघ्र ही जिनेन्द्र का पद प्राप्त होता है, धर्म के लिये भक्तिपूर्वक नमस्कार है, धर्म से बढकर दूसरा संसार

१ सुखम् ।

धर्मान्नास्ति सुरक्षको भवभयाद्धर्मस्य वीज कृपा

धर्मे चित्तमह दधेऽप्यनुदिन हे धर्म मेऽघ हर ।।१०५।।

मन्दाक्रान्ता

विश्वेन्द्रार्च्यो गुणगणनिधिर्मुक्तिकान्तैकभर्ता

वन्द्यो भव्यैः प्रकटितवृषो धर्मिणां लोकमध्ये ।

शर्माब्धिः सस्तुत इह मया पार्श्वनाथश्च दद्याद्

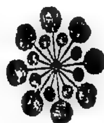
ध्यातो नित्य स्वपरमगुणानाशु कारुण्यतो मे ।।१०६।।

इति श्रीभट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे जिनेन्द्रमण्डमानन्दनाटकवर्णनो नाम त्रयोदश' सर्ग. ।

के भय से रक्षा करने वाला नहीं है, धर्म का बीज दया है, मै धर्म में प्रतिदिन चित्त लगाता हूँ, हे धर्म ! मेरे पाप को हरो ।।१०५।।

जो समस्त इन्द्रों के द्वारा पूज्य हैं, गुणसमूह के भाण्डार हैं, मुक्तिरूपी स्त्री के एक स्वामी है, भव्य जीवों के द्वारा वन्दनीय हैं, लोक के मध्य में धर्मात्माओं के लिये जिन्होंने धर्म प्रकट किया है, जो सुख के सागर है और मैंने यहां नित्य ही जिनकी स्तुति तथा ध्यान किया है वे पार्श्वनाथ भगवान् दयाकर मेरे लिये शीघ्र ही अपने उत्कृष्ट गुण प्रदान करें ।।१०६।।

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में जिनेन्द्र पार्श्वनाथ को आभूषण धारण करने तथा आनन्द नाटक का वर्णन करने वाला तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१३।।



चतुर्दशः सर्गः

गर्भस्थो वन्दितो योऽत्र तरा जन्मनि सस्तुतः। त्रिजगत्पतिभिर्भक्त्या सोऽस्तु मे मतिसिद्धये ।।१।।
अथ काश्चित्कुमारं त भूषयन्ति विभूषणैः। स्नापयन्त्यपरा मण्डयन्ति मण्डनवस्तुभिः ।।२।।
क्रीडयन्ति मुदा काश्चिद्देव्यः सस्कारयन्ति च। प्रीत्या काश्चित्प्रगृह्णन्ति कराम्बुजैः परस्परम् ।।
ततोऽसौ स्मितमातन्वन् संसर्प्पन्मणिभूतले। मुदं पित्रोस्ततानात्यन्त बाल्याद्भुतचेष्टया ।।४।।
त्रिजगज्जनतानन्दकर नेत्रप्रिय परम्। कलोज्ज्वल तदास्यासीच्चन्द्रादधिकशैशवम् ।।५।।
चन्द्रिकामलमस्यास्येन्दौ[1] मुग्धस्मितमूर्जितम्। अभूत्तेन मनस्तोषाब्धिः पित्रोर्ववृधेतराम् ।।६।।
रम्ये मुखाम्बुजेऽस्यासीत्क्रमान्मनमनभारती। विश्वानन्दकरा रम्या मधुरा कर्णशर्मदा ।।७।।
स्खलत्पद शनै रत्ननद्धभूमौ स संचरन्। नेपथ्यैर्मण्डितो रेजे पुण्यमूर्तिरिवापरा ।।८।।

चतुर्दश सर्ग

जो गर्भ में आने पर यहां तीन जगत् के स्वामियों के द्वारा वन्दित हुए और जन्म होने पर भक्तिपूर्वक संस्तुत हुए वे पार्श्वनाथ भगवान् हमारी बुद्धि की सिद्धि के लिये हों ।।१।।

अथानन्तर कोई देवियां उन कुमार को आभूषणों से विभूषित करती थीं, कोई स्नान कराती थीं, कोई सजावट की वस्तुओं से सुसज्जित करती थीं ।।२।। कोई हर्ष से खिलाती थीं, कोई संस्कारित करती थीं और कोई प्रीतिपूर्वक करकमलों के द्वारा परस्पर ग्रहण करती थीं ।।३।। तदनन्तर मन्द मन्द मुस्काते और मणिमय पृथिवी तल पर इधर उधर चलते हुए वे बाल्यावस्था की अद्भुत चेष्टाओं से माता पिता के हर्ष को अत्यधिक विस्तृत करने लगे ।।४।। उस समय तीनों जगत् की जनता को आनन्दित करने वाला, नयनवल्लभ और कलाओं से उज्ज्वल उनका शैशव, चन्द्रमा से भी अधिक उत्कृष्ट जान पड़ता था ।।५।। इनके मुखरूपी चन्द्रमा पर चांदनी के समान निर्मल जो उत्कृष्ट सुन्दर मुस्कान थी उससे माता पिता के हृदय सम्बन्धी संतोष का सागर अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ।।६।। क्रम क्रम से उनके सुन्दर मुखकमल में सब जीवों को आनंद करने वाली, रमणीय, मधुर और कानों को सुखदायक तोतली बोली प्रकट हुई ।।७।। आभूषणों से सुशोभित तथा रत्नखचित भूमि पर लड़खड़ाते पैरों से धीरे धीरे चलते हुए वे ऐसे

---

१ मुखचन्द्रे ।

अमृताहारपानाद्यै र्वंवृधेऽवयवव्रजम् । क्रमादस्य गुणैः सार्द्धं सेवितस्य सुरादिभिः ॥९॥
बाल्यावस्थामतीत्याप कौमारत्वं क्रमाद्विभुः । कीर्तिकान्तिवचोज्ञानरूपादिगुणभूषितम् ॥१०॥
मतिश्रुतावधिज्ञानान्येवास्य सहजान्यहो । तैरबोधि स निःशेषं तत्त्वं विश्वं शुभाशुभम् ॥११॥
कलाविज्ञानचातुर्यं श्रुतज्ञानं महामतिः । विश्वार्थाविगमं तस्य स्वयं परिणति ययौ ॥१२॥
'अतोऽखिलजनानां स शिक्षां दातुं क्षमोऽप्यभूत् । गुरुश्च नापरोऽत्रास्माद्गुरुर्वा जातु विश्वबित् ।१३
चेतोऽस्यालंकृतं विश्वहितं क्षायिकदृष्टिना [दर्शनात्] । निसर्गेणाभवद्दक्षं निर्मलं रागदूरगम् ॥१४॥
जगत्त्रयहिता वाणी समस्तार्थप्रदर्शिनी । निःसन्देहा विविक्तास्य बभूवाशु स्वभावतः ।१५।
निरौपम्यं वपुः कान्त शाम्यकान्त्यादिभूषितम् । भूषांशुभिर्व्यभादस्येव पूर्णं चन्द्रमण्डलम् ॥१६॥
वर्षाष्टमे स्वयं देवस्त्रिज्ञानज्ञः स पञ्चधा । आददेऽणुव्रतान्येव गुणशिक्षाव्रतानि च ॥१७॥
सप्तधा स्वर्गकर्तॄणि स्वयोग्यान्यपराणि च । त्रिशुद्धया निरतीचाराणि सागारवृषाप्तये ॥१८॥

सुशोभित हो रहे थे मानों दूसरी पुण्य की मूर्ति ही हों ॥८॥ देव आदि के द्वारा सेवित इन जिनबालक के अवयवों का समूह अमृतमय आहार पान आदि से गुणों के साथ साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ॥९॥

क्रम क्रम से प्रभु बाल्य अवस्था को व्यतीत कर कीर्ति, कान्ति, वचन, ज्ञान तथा रूप आदि गुणों से विभूषित कुमार अवस्था को प्राप्त हुए ॥१०॥ अहो ! मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान इन्हें जन्म मे ही थे । इन ज्ञानों के द्वारा वे समस्त शुभ अशुभ तत्त्वों को संपूर्णरूप से जानते थे ॥११॥ कला विज्ञान सम्बन्धी चतुराई, श्रुतज्ञान, महामतिज्ञान और समस्त पदार्थों का ज्ञान उनके स्वयं ही परिपाक को प्राप्त हुआ था ॥१२॥ यही कारण है कि वे समस्त जीवों को शिक्षा देने में समर्थ थे । इस जगत् में इनसे अधिक श्रेष्ठ समस्त पदार्थों को जानने वाला दूसरा गुरु कभी था भी नहीं ॥१३॥ सब जीवों का हित करने वाला इनका चित्त क्षायिक सम्यग्दर्शन से अलंकृत था, स्वभाव से चतुर था, निर्मल था और राग से दूर रहने वाला था ॥१४॥ तीनों लोकों का हित करने वाली, समस्त पदार्थों को दिखाने वाली, सन्देह रहित और पवित्र वाणी इन्हें शीघ्र ही स्वभाव से प्राप्त हुई थी ॥१५॥ अनुपम, सुन्दर तथा शान्ति और कान्ति आदि से विभूषित इनका शरीर आभूषणों की कांति से पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान सुशोभित हो रहा था ॥१६॥ तीन ज्ञान के ज्ञाता श्री पार्श्वनाथ देव ने आठ वर्ष की अवस्था में स्वयं ही पांच अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के भेद से सात शीलव्रत तथा स्वर्ग प्राप्त कराने वाले अपने योग्य अन्य निरतिचार व्रत गृहस्थ धर्म की प्राप्ति के लिये मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक ग्रहण

१ ततोऽखिल ग० ।

गजाश्वविक्रियापन्नैर्दिव्यैः सुरकुमारकैः । आरोहणादिभिः प्रीत्या कदाचिद्रमते विभुः ।।१९।।
मयूरक्रौञ्चहंसादिकृतवेषामरैः समम् । क्रीडेदसौ मुदान्येषु रूपनेपथ्यमण्डितैः ।।२०।।
कदाचिद्रूपमादाय सुरास्तद्वयसा समम् । नानाजलवनक्रीडाद्यैर्मुदा क्रीडयन्ति तम् ।।२१।।
कदाचित्स्वं यशः शृण्वन् गन्धर्वैरुदितं महत् । स्वगुणोत्पन्नगीतानि किन्नरीणां च कर्हिचित् ।२२।
अन्यदाप्सरसां नृत्यं पश्यन्नेव सुखावहम् । कुर्वन् काव्यादिगोष्ठी स लभते शर्मवान्वहम्।।२३।।
इत्यादिविविधैः क्रीडाविनोदैः स परं सुखम् । भजन्नाप क्रमाद्दिव्यं यौवनं श्रीजिनेश्वरः ।।२४।।
इन्द्रनीलनिभं रम्यं मलस्वेदादिदूरगम् । 'नवहस्तसमुत्तुङ्गं समतादिगुणाङ्कितम् ।।२५।।
दिव्यादिसमसंस्थानं वज्रास्थिदृढबन्धनम् । भूषाङ्गदीप्तिभिः कायं यौवनेऽस्य व्यभात्तराम् ।२६
दिव्यस्रग्मुकुटाद्यैर्भूषितं नीलशिरोरुहम् । शिरोऽस्य मणितेजोभिर्मेरोः शृङ्गमिवाबभौ ।२७।
भालपट्टेऽतिविस्तीर्णे निसर्गरुचिरेऽप्यभूत् । विभोः शोभा परा सर्वशुभाणूनामिवाकरा.[२] ।।२८।

किये थे ।।१७-१८।। प्रभु पार्श्वनाथ कभी हाथी घोड़ा आदि की विक्रिया को प्राप्त दिव्य देवकुमारों के साथ आरोहण आदि के द्वारा प्रीतिपूर्वक क्रीडा करते थे । भावार्थ—देव कुमार कभी विक्रिया से हाथी घोड़ा आदि का रूप रखते थे और पार्श्व प्रभु उन पर चढ़ कर क्रीड़ा करते थे ।।१९।। वे पार्श्वनाथ, किसी अन्य समय रूप तथा वेषभूषा से सुशोभित मयूर, क्रौञ्च और हंस आदि का वेष धारण करने वाले देवों के साथ हर्षपूर्वक क्रीड़ा करते थे ।।२०।। कभी देव उनकी अवस्था के समान रूप रखकर नाना प्रकार की जल क्रीडा तथा वन क्रीडा आदि के द्वारा उन्हें क्रीडा कराते थे ।।२१।। कभी गन्धर्वों के द्वारा गाये हुए अपने महान् यश को सुनते थे तो कभी अपने गुणों से उत्पन्न किन्नरियों के गीत श्रवण करते थे । किसी समय अप्सराओं का सुखोत्पादक नृत्य देखते थे और कभी काव्यादिक की गोष्ठी करते थे । यह सब करते हुए वे प्रतिदिन सुख को प्राप्त हो रहे थे ।।२२-२३।। इत्यादि नाना प्रकार के क्रीडा-विनोदों से परम सुख को प्राप्त होते हुए वे जिनेन्द्र क्रम क्रम से दिव्य यौवन को प्राप्त हुए ।।२४।।

यौवन के समय जो इन्द्रनीलमणि के समान था, मनोहर था, मल तथा पसीना आदि से दूर था, नौ हाथ ऊंचा था, समता आदि गुणों से सहित था, समचतुरस्र संस्थान से युक्त था, और वज्रवृषभनाराच संहनन का धारक था ऐसा उनका शरीर आभूषण तथा शरीर की कान्ति से अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ।।२५-२६।। दिव्यमाला और मुकुट आदि से विभूषित तथा नील केशों से युक्त इनका शिर मणियों के तेज से मेरु पर्वत के शिखर के समान सुशोभित होने लगा ।।२७।। अत्यन्त विस्तृत और स्वभाव से सुन्दर

१. नवहस्तप्रमं तुङ्गं ख० २. मिवाकरा ख० ।

जगन्नेत्रस्य देवस्य सुदीर्घे नयनोत्पले । भ्रेजतुर्विभ्रमाद्यैर्मदनराज्ञः शराविव ।।२९।।
मणिकुण्डलभूषाभ्यां प्रभोः कर्णौ रराजतुः । सेवताविव चन्द्रार्काभ्यां सुगीतादिपारगौ[1] ।।३०।।
मुखेन्दोः किं पृथक् शोभा वर्ण्यतेऽस्य तरां यदि । जगद्धितोध्वनिरस्माज्जिःसरत्यमृताधिकः ।।३१।।
स्मिताशु सुन्दरं तस्य मुखमापाटलाधरम् । चन्द्रमाण्डलमाजित्य बभौ दन्तादिरश्मिभिः ।३२।
रेजेऽस्य नासिका तुङ्गा [2]ह्यायता विधिना परा । मुखामोदं समाघ्रातुं कल्पितेव [3]प्रणालिका ।३३।
मणिहारेण वक्षोऽस्य विस्तीर्णं रुचिरं व्यभात् । वीरविद्याश्रियो रम्यं क्रीडास्थलमिवोर्जितम् ।३४।
केयूरकटकाद्यैर्भूषितौ बाहू दधे जिनः । कल्पद्रुमाविवाभीष्टप्रदौ गजकरोपमौ ।।३५।।
जिनस्याङ्गुलयो भान्ति मुद्रिकानखरश्मिभिः । उन्नतान्दश सद्धर्मान् व्यक्तीकर्तुमिवोद्यताः ।।३६।
मध्येऽसौ दिव्यदेहस्य गम्भीरां नाभिमादधौ । सरसीमिव सावर्त्तां लक्ष्मीहंसीनिषेविताम् ।।३७।।
मेखलांशुकभूषाद्यै रेजे तस्य कटीतटम् । अलङ्घ्यं मदनारेरिव ब्रह्मभूभुजो गृहम् ।।३८।।

प्रभु के ललाट तट पर भी समस्त शुभ परमाणुओं की खान के समान परम शोभा विद्यमान थी ।।२८।। जगत् के नेत्र स्वरूप पार्श्वदेव के अत्यन्त विशाल नेत्र अपने विभ्रम–हाव भाव विलास आदि के द्वारा कामभूपाल के बाणोंके समान सुशोभित हो रहे थे ।।२९।। सुन्दर गीत आदि के पारगामी प्रभु के कान मणिमय कुण्डलों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों चन्द्र और सूर्य के द्वारा सेवित ही हो रहे हों ।।३०।। इनके मुखरूपी चन्द्रमा की शोभा का पृथक् क्या वर्णन किया जावे जबकि उससे जगत्‌हितकारी और अमृत से भी अधिक दिव्यध्वनि निकलेगी-प्रकट होगी ।३१। मन्द मुसकान से सुन्दर और गुलाबी ओठ से सहित उनका मुख दांतों आदि की किरणों से चन्द्रमण्डल को जीत कर सुशोभित हो रहा था ।३२। इनकी ऊंची और लम्बी नाक ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों मुख की सुगन्ध को सूंघने के लिये विधाता के द्वारा बनाई हुई नाली ही हो ।।३३।। इनका चौड़ा और सुन्दर वक्षःस्थल मणियों के हार से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वीर विद्यारूप लक्ष्मी का मनोहर तथा उत्कृष्ट क्रीडास्थल ही हो ।।३४।। पार्श्व जिनेन्द्र बाजूबन्द तथा वलय आदि से विभूषित और हाथी की सूंड की उपमा से सहित जिन भुजाओं को धारण कर रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों अभीष्ट फल को देने वाले कल्पवृक्ष ही हों ।।३५।। जिनेन्द्र भगवान् की अंगुलियां अंगूठी तथा नखों की किरणों से ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों उत्तम क्षमा आदि दश श्रेष्ठ धर्मों को प्रकट करने के लिये ही उद्यत हो रही हों ।।३६।। वे भगवान् सुन्दर शरीर के मध्य में भवर से सहित तथा लक्ष्मीरूपी हंसी से सेवित सरसी के समान गहरी नाभि को धारण कर रहे थे ।।३७।। मेखला, वस्त्र तथा आभूषण आदि के द्वारा उनकी कमर ऐसी

---

१ सुगीतादिपारगं ख० २ ह्यायिता ख ग. ३ प्रनालिका ख० ग० ।

बभारोरूद्वयं कान्त व्युत्सर्गादिक्षम जिनः। जङ्घे ऽतिकोमले रम्ये निरौपम्ये च निर्मले ।।३६।।
जिताब्जावस्य सत्पादौ भ्रेजतुर्नखरश्मिभिः। निषेवितावविवादाय दशधात्मानमिन्दुना ।।४०।।
इत्यादि परमा शोभा ह्यावालाग्रं नखाग्रतः। याभूदस्यात्र ता सर्वां विद्वान्को गदितुं क्षमः ।४१।
यत्र वज्रमयास्थीनि वज्रैर्वेलयितानि च। वज्रनाराचभिन्नानि प्रभोः संहननं हि तत् ।।४२।।
न त्रिदोषोद्भवा अस्यातङ्का देहे [1]व्यधुः पदम्। स्वप्नेऽपि जातु वा मान्ये पुद्गला दु खहेतवे ।४३।।
वपुः कान्तिसुनेपथ्यमणितेजश्चयैः समम्। निसर्गनिर्मलाङ्गेऽस्य लक्षणानि विरेजिरे ।।४४।।
श्रीवृक्षशङ्खपद्मस्वस्तिकाङ्कुशप्रकीर्णकाः । सुतोरणं स्थित[2] छत्र सिंहविष्टरकेतने ।।४५।।
कुम्भौ झषौ तथा कूर्मश्चक्रमब्धिसरोवरम्। विमानं भवन नागो नरो नारी मृगाधिपः ।।४६।।
बाणो बाणासन गङ्गा देवराट् मेरुरेव हि। गोपुर पुरमिन्द्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ।।४७।।
वीणा वेणुर्मृदङ्गश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ। उद्यान फलित क्षेत्र विचित्राभरणानि च ।।४८।।

सुशोभित हो रही थी मानों काम के शत्रु परमब्रह्मरूपी राजा का अलङ्घनीय घर ही हो ।।३८।। पार्श्व जिनेन्द्र सुन्दर तथा कायोत्सर्ग आदि मे समर्थ ऊरु युगल को तथा अत्यन्त कोमल, मनोहर, अनुपम और निर्मल दो जङ्घाओं को धारण कर रहे थे ।।३९।। कमलों को जीतने वाले उनके उत्तम चरण नखकिरणों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अपने आपके दशरूप रखकर चन्द्रमा ही उनकी सेवा कर रहा हो ।।४०।। इस प्रकार नख के अग्रभाग से लेकर केशों के अग्रभाग तक इनकी जो उत्कृष्ट शोभा थी उस सबको कहने के लिये कौन विद्वान् समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।।४१।। जिसमें वज्रमय हड्डियां वज्र के वेष्टनों से वेष्टित तथा वज्र की कीलों से कीलित होती है ऐसा वज्रवृषभनाराच संहनन प्रभु का था ।४२। वात पित्त और कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न होने वाले रोगों ने उनके शरीर में पैर नहीं रख पाया था और न अन्य पुद्गल ही स्वप्न में भी कभी उनके दुःख के कारण हो सके थे ।।४३।। इनके स्वभाव से निर्मल शरीर में शरीर की कान्ति तथा उत्तम मणियों की तेजोराशि के साथ निम्नाङ्कित लक्षण सुशोभित हो रहे थे ।।४४।।

श्रीवृक्ष, शङ्ख, पद्म, स्वस्तिक, अकुश, चमर, उत्तम तोरण, सफेद छत्र, सिंहासन, पताका, कलशयुगल, मीन युगल, कच्छप, चक्र, सागर, सरोवर, विमान, भवन, नाग, नर, नारी, सिंह, बाण, धनुष, गङ्गा, इन्द्र, मेरु, गोपुर, पुर, चन्द्र, सूर्य, उत्तम जाति का अश्व, तालवृन्त, वीणा, वेणु, मृदङ्ग, मालायुगल, पाट का वस्त्र, बाजार, उद्यान, फला हुआ खेत, नाना प्रकार के आभरण, रत्नद्वीप, वज्र, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, गाय, वृषभ, चूडारत्न, महानिधि, सुवर्ण कल्पलता, जम्बूवृक्ष, गरुड, चैत्यवृक्ष, भवन, नक्षत्र, तारा, ग्रह, दिव्य

१. चक्रु २ सित ग०।

रत्नद्वीपस्तथा वज्रं धरा लक्ष्मीः सरस्वती। [1]सुरभिः [2]सौरभेयश्च चूडारत्न महानिधिः ।४९।
हिरण्यं कल्पवल्ली च जम्बूवृक्षो हि पक्षिराट्। सिद्धार्थपादपः सौधमुडूनि[3] तारका ग्रहाः ।।५०।।
प्रातिहार्याणि दिव्यानि मङ्गलान्यपराण्यपि। इत्यादिलक्षणान्यस्य सर्वाण्यष्टोत्तर शतम् ।५१।।
दिव्यदेहे विभो सन्ति व्यञ्जनान्यपराण्यपि। आगमोक्तानि रम्याणि नवैव हि शतान्यपि ।५२।
पुद्गला दिव्यरूपा ये शुभाः सन्ति जगत्त्रये। तानादायास्य मन्येऽङ्गं वेधसा रचित मुदा ।५३।
रूपलावण्यसौभाग्यदृक्चिदादिगुणव्रजे. । शतसम्वत्सरायुष्कोऽप्यपुञ्ज[4] इव स व्यभात् ।५४।
अथ स प्राक्तनः सिंहो भुक्त्वा दु.खमघार्पितम्। निःसृत्य नरकाद्दीर्घ भ्रमित्वा कुभवाटवीम् ।५५।
त्रसस्थावरजां घोरा महीपालपुरेऽभवत्। नृपालभूभुजः सूनुर्महीपालाभिधः शुभात् ।।५६।।
ब्राह्म्याः पिता कदाचित्स पट्टराज्ञीवियोगतः। आददे तापसैः सेव्यं तपः पञ्चाग्निगोचरम् ।५७।।
आश्रमादिवने तस्मादागत्य शठमानसः। पञ्चाग्निसाधनं कुर्वन्नास्ते स कष्टपीडित. ।।५८।।
षोडशाब्दावसानेऽथ ह्येकदा नवयौवनः। क्रीडार्थं [5]स्वबलेनामा पार्श्वनाथो वनं ययौ ।।५९।।
क्रीडित्वाथो यथेष्ट च भूपैर्देवकुमारकैः। क्रीडामुदा पुरीमागच्छन् दृष्ट्वा शात्रव निजम्।६०।

प्रातिहार्य तथा अन्य मङ्गल द्रव्य इन्हें आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण भगवान् के सुन्दर शरीर में विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त आगम में कहे हुए नौ सौ सुन्दर व्यञ्जन भी सुशोभित हो रहे थे ।।४५–५२।। तीनों जगत् में जो सुन्दर और शुभ पुद्गल है उन्हें लेकर ही विधाता ने हर्षपूर्वक इनका शरीर रचा था ऐसा जान पड़ता है ।।५३।। जो रूप, लावण्य, सौभाग्य, दर्शन तथा ज्ञान आदि गुणों के समूह से सहित थे तथा सौ वर्ष प्रमाण जिनकी आयु थी ऐसे वे पार्श्व प्रभु पुण्य समूह के समान सुशोभित हो रहे थे ।।५४।।

अथानन्तर वह पहले का सिंह पाप के द्वारा प्रदत्त दुःख को भोगकर नरक से निकला और त्रस स्थावर जीवों की भयंकर भवावलीरूपी अटवी में चिरकाल तक भ्रमण कर पुण्योदयसे महीपाल पुर में राजा नृपाल का महीपाल नामक पुत्र हुआ ।।५५–५६।। वह पार्श्व जिनेन्द्र की माता ब्राह्मी का पिता था। कदाचित् अपनी पट्टरानी के वियोग से उसने तापसियों के द्वारा सेवनीय पञ्चाग्नि नामका तप ग्रहण कर लिया ।।५७।। उस तप के कारण वह मूर्ख आश्रमादि के वन में आ गया और पञ्चाग्नि तप करता हुआ कष्ट से पीडित रहने लगा ।।५८।।

तदनन्तर सोलह वर्ष समाप्त होने पर एक समय नव यौवन को धारण करने वाले पार्श्वनाथ क्रीडा करने के लिये अपनी सेना के साथ वन को गये ।।५९।। पश्चात् राजाओं और देव कुमारों के साथ इच्छानुसार क्रीडा कर क्रीडा के हर्ष से हर्षित होते हुए जब वे नगरी की

१ गौ २ वृषभ ३. नक्षत्राणि ४. पुण्यराशिरिव ५. स्वसैन्येन सह।

पञ्चपावकमध्यस्थ गजारूढो जिनेश्वरः। आगत्य तत्समीपेऽस्थादनत्वैनमनादरः ॥६१॥
तदसन्मानमेवासाववधार्याशु तापसः। तदा कोपारिणा ग्रस्तो मनस्येवं विचिन्तयेत् ।६२।
कुलीनोऽहं तपोवृद्धो वा पितास्य गुरुर्महान्। दीक्षितो धीमतां मान्यस्तापसव्रतपारगः ॥६३॥
एवम्भूतस्य मेऽकृत्वा नमस्कारं कुमार्गगः। कुमारोऽयं मदाविष्टः स्थितवान्मम सन्निधौ[1] ६४
इत्यन्त क्षोभमासाद्य प्रशान्तेऽग्निचये पुनः। निक्षेप्तुं स्वयमेवोच्चैरुत्क्षिप्य परशुं बलात् ।६५।
छिन्दन् काष्ठमसौ मूर्खो निषिद्धः श्रीजिनेशिना। [2]अहियुग्मं तदन्तःस्थ विज्ञाय स्वावधित्विषा ।६६।
अस्यान्तरे वराकं हि नागयुग्मं प्रविद्यते। इति मा छेदयस्वेदमिति प्रोक्तो मुहुर्मुहुः ॥६७॥
श्रुत्वेति तद्वच पापी भूत्वा क्रोधाग्निभस्मितः। प्राग्जन्मायातवैरेण छेदयामास तत्क्षणम् ॥६८॥
नागो नागी च तद्घाताद् द्विधा खण्ड तदागमत्। तौ निरीक्ष्य कुमारः कारुण्यात्तं सोऽब्रवीत् ॥६९॥
अहं गुरुस्तपस्वीति मुधा गर्वं त्वमुद्वहन्। महापापास्रवस्ते तस्माद्भवत्येव न संशयः ॥७०॥

ओर आ रहे थे तब उन्होंने पञ्चाग्नि के मध्य में स्थित अपने शत्रु को देखा। उस समय वे हाथी पर सवार थे। उस तापस के पास आकर उसे नमस्कार किये बिना ही वे अनादर से खड़े हो गये ॥६०–६१॥ यह तो मेरा अपमान ही है ऐसा निश्चय कर वह तापस शीघ्र ही क्रोध रूपी शत्रु से ग्रस्त हो गया और मन में ऐसा विचार करने लगा ।६२।

मै कुलीन हूं, तप से बड़ा हूं, इसके पिता तुल्य हूं, महान् गुरु हूं, दीक्षित हूं, विद्वज्जनों का मान्य हूं और तापस के व्रत का पारगामी हूं ॥ इस प्रकार की विशेषता से सहित होने पर भी यह कुमार्गगामी अहंकारी कुमार मेरे लिये नमस्कार न कर मेरे पास खड़ा है ॥६३–६४॥ इस प्रकार वह मन में क्षोभ को प्राप्त हो रहा था। इसी के बीच उसकी अग्नि का समूह शान्त हो गया जिससे उसमें डालने के लिये वह मूर्ख स्वयं बलपूर्वक फरसा ऊपर उठाकर लकड़ी काटने लगा। यह देख अपने अवधिज्ञानरूपी ज्योति के द्वारा उस लकड़ी के भीतर स्थित सांपों के युगल को जान कर श्री पार्श्व जिनेन्द्र ने उसे मना किया ॥६५–६६॥ इसके भीतर बेचारे सांपों का एक युगल विद्यमान है इसलिये इसे मत काटो। ऐसा उन्होंने बार बार कहा ॥६७॥ उनके इन वचनों को सुनकर पापी तापस ने क्रोध रूपी अग्नि से भस्म होकर पूर्व जन्मों से चले आये वैर के कारण उस लकड़ी को तत्काल काट डाला ॥६८॥ लकड़ी के कटने से सर्प और सर्पिणी उसी समय दो खण्ड को प्राप्त हो गये। उन्हें देख कुमार ने दयावश उस तापस से कहा ॥६९॥ 'मै गुरु हूँ', 'मै तपस्वी हूँ' इस प्रकार का गर्व तू व्यर्थ ही धारण कर रहा है। इस गर्व से तुझे पापों का

[1] सन्निधिम् ग० २. सर्पयुगलं।

तेन दुःखमिहामुत्र चाज्ञानतपसा महत् । दुर्गत्यादिभवं तीव्रं ते भविष्यति दुर्धियः ॥७१॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य ज्वलित्वा कोपवह्निना । इत्थमाह तपस्वी स कुमार प्रति मूढधी ॥७२॥
अहं ज्येष्ठस्तपस्वी चाम्बापिता[1] तव किं मम । दुर्मदेन कुमार त्वं करोषि मानखण्डनम् ॥७३॥
तपसो मेऽतिमाहात्म्यमबुद्ध्वैव ब्रवीषि किम् । मानभङ्गकरं वाक्य निन्दाकरणतत्परम् ॥७४॥
पञ्चाग्निमध्यवर्तित्वं मरुदाहारजीवनम् । ऊर्ध्वैकरैकपादेन दुःकरा सुचिरं स्थितिः ॥७५॥
स्वयपतितपर्णादीनां प्रोषधेन पारणम् । क्षुधाशीतोष्णवातादिपरीषहजयं परम् ॥७६॥
इत्याद्यङ्गातिसंक्लेशितापसाना सुदुर्द्धरम् । महत्तपोऽस्ति नास्मादधिकं त्वं विद्धि जातुचित् ॥
तदाकर्ण्य जिनोऽवादीद्रे[2] दुरात्मन् वचो मम । शृणु पथ्यं हितं सार ते कुमार्गनिषेधकम् ॥७८॥
मिथ्यात्वेनाविरत्या च प्रमादेन कषायतः । दुष्टयोगेन मूढाना महापापं प्रजायते ॥७९॥
पञ्चाग्निसाधनेनैव पृथिव्याद्यङ्गिराशयः । म्रियन्ते षड्विधाः सर्वदिक्षु तत्तापतो भृशम् ।८०।
जीवघातेन घोराघं तस्य पाकेन दुर्गतौ । जायते च महद्दुःख तापसाना जडात्मनाम् ॥८१॥

महान् आस्रव नियम से हो रहा है इसमें संशय नहीं है ॥७०॥ उस अज्ञान तप से तुझ मूर्ख को यहां महान् दुःख हो रहा है और परभव में दुर्गति आदि से होने वाला तीव्र दुःख होगा ॥७१॥ इस प्रकार उनके वचन सुनकर तथा क्रोधाग्नि से जलकर उस मूढ बुद्धि तापस ने कुमार के प्रति कहा ॥७२॥

मैं बड़ा हूं, तपस्वी हूं और तुम्हारी मा का पिता हूं फिर भी हे कुमार ! तू दुष्ट अहंकार से मेरा मानखण्डन क्यों कर रहा है ?॥७३॥ मेरे तप के बहुत भारी माहात्म्य को न जानकर ही मानभङ्ग करने वाले तथा निन्दा करने में तत्पर वचन क्यों कह रहा है ? ॥७४॥ पञ्चाग्नियों के बीच में रहना, मात्र वायु के आहार से जीवन निर्वाह करना, और एक हाथ ऊपर उठाकर एक पैर से चिरकाल तक खड़ा रहना कठिन है ॥७५॥ उपवास के बाद स्वयं पड़े हुए पत्तों आदि से पारणा करना, तथा क्षुधा शीत उष्ण और वायु आदि का परिषह जीतना इत्यादिक शरीर को अत्यन्त संक्लेशित करने वाला तापसों का तप अत्यन्त कठिन है । इससे अधिक बड़ा तप कभी नहीं है यह तू समझ ॥७६–७७॥

यह सुन पार्श्व जिनेन्द्र ने कहा—रे दुष्ट ! मेरे वचन सुन, जो तेरे लिये पथ्य, हितकारी, सारभूत तथा कुमार्ग का निषेध करने वाले है ॥७८॥ मिथ्यात्व से, अविरति से, प्रमाद से, कषाय से और दुष्टयोग से अज्ञानीजनों को महापाप होता है ॥७९॥ पञ्चाग्नियों की साधना से उनके ताप के कारण सब दिशाओं में पृथिवी आदि छह काय के जीवों के समूह अत्यधिक मात्रा में मरते है ॥८०॥ जीवघात से घोर पाप होता है, और

१. मातामह २ हे दुरात्मन् ख० ।

ज्ञानहीनो वपु:क्लेशो व्यर्थ: पापास्रवान्नृणाम् । दयां विना तपोधर्म. सर्वमस्ति निरर्थकम् ॥८२॥
तुपखण्डनयोगेन [1]लभ्यन्ते तण्डुला यथा । न तथाऽज्ञानकष्टेन मोक्षमार्गादय: क्वचित् ॥८३॥
यथाम्बुमथनान्नैवोत्पद्यते जातुचिद्घृतम् । तथा हिंसाकरेणैव तपसात्र सुखादि च ॥८४॥
अत्रान्धश्मादया स्वर्णं गोशृङ्गाच्च पयो न हि । जायते जातु धर्मो वा सुख पञ्चाग्निसाधनात् ।८५।
दावभीत्या यथान्धो धावन्नपि म्रियते यथा । कुर्वन्नपि तपोऽज्ञानी मज्जत्येव भवार्णवे ॥८६॥
हेयाहेयविचारं च पुण्यं पाप हिताहितम् । देवादेवं भव मोक्षं स्वास्रवं सवरं शुभम् ॥८७॥
निर्जरा तत्त्वविज्ञान गुरुं च कुगुरुं श्रुतम् । कुशास्त्रं वेत्ति नाज्ञानी जात्यन्ध इव दन्तिनम् ८८
अतो जैनमतं तथ्यं धर्मं जीवदयावहम् । तपोऽनघं गृहाण त्व त्यक्त्वेमं च दुराग्रहम् ॥८९॥
नैर्ग्रन्थ्यतपसा मोक्ष: सुखं वाचामगोचरम् । अज्ञानतपसा दु:ख भ्रमणं च भवाटवी:[2] ॥९०॥
भवत्स्नेहेन तथ्य ते हित च धर्मसाधनम् । वच: प्रोक्तं मयेति त्वा हीच्छता शुभमञ्जसा ।९१।

उसके उदय से दुर्गति में मूर्ख तापसों को बहुत भारी दु:ख होता है ॥८१॥ मनुष्यों का ज्ञान हीन कायक्लेश, पापास्रव का कारण होने से निरर्थक है । वास्तव में दया के बिना तप और धर्म सब निरर्थक हैं ॥८२॥ जिस प्रकार तुषों के खण्डन से चांवल नहीं प्राप्त होते हैं उसी प्रकार पूर्ण कष्ट सहन करने से कही मोक्षमार्ग आदि प्राप्त नहीं होते हैं ॥८३॥ जिस प्रकार जल के मथने से कभी भी घृत उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार हिंसा के खान स्वरूप तप से यहां सुखादिक उत्पन्न नहीं होते है ॥८४॥ इस जगत् में जिस प्रकार अन्धपाषाण से स्वर्ण और गाय के सींग से दूध नहीं उत्पन्न होता है उसी प्रकार पञ्चाग्नि तप से कभी धर्म और सुख उत्पन्न नहीं होता है ॥८५॥ जिस प्रकार अन्धा मनुष्य दावानल के भय से भागता हुआ भी मरता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष तप करता हुआ भी संसार-सागर मे डूबता ही है ॥८६॥ हेय-अहेय के विचार को, पुण्य-पाप को, हित-अहित को, देव-अदेव को, ससार-मोक्ष को, शुभास्रव और शुभ संवर को, निर्जरा को, तत्त्वविज्ञान को, गुरु कुगुरु को, सुशास्त्र और कुशास्त्र को अज्ञानी जीव उस प्रकार नहीं जानता है जिम प्रकार जन्मान्ध मनुष्य हाथी को नहीं जामता है ॥८७-८८॥ इसलिये तुम इस दुराग्रह को छोड़कर जीव दया को धारण करने वाले जैनमत और सत्यधर्म को स्वीकृत करो, तथा निर्दोष तप को ग्रहण करो ॥८९॥ निर्ग्रन्थ तप से मोक्ष तथा वचनागोचर सुख प्राप्त होता है और अज्ञान तप से दु:ख तथा संसाररूप अटवियों में परिभ्रमण प्राप्त होता है ॥९०॥ तेरी वास्तविक भलाई की इच्छा करते हुए मैंने आपके स्नेह से सत्य, हितकारी तथा धर्म को सिद्ध करने वाले वचन कहे है ॥९१॥ इसलिये हे मित्र ! मन से विचार

---

१ [illegible] २ भवाटवीम् ख० ।

अतो विचार्य हे मित्र मनसेह[1] परत्र च। यद्धितं कुरु तच्छीघ्रं हत्वा स्वमतदुर्मदम् ॥९२॥
इत्यादि तद्वचः श्रुत्वा पूर्ववैरानुबन्धनात्। निजपक्षानुरागित्वाद्दीर्घसंसारयोगतः ॥९३॥
दुष्टप्रकृतितो [2]वाधी. कोपाग्निज्वलितोऽवदत्। पराभवसि मामेव कुमार त्वं मुहुर्मुहुः ॥९४॥
तस्मिन् क्रोधातुर. प्राप्य सशल्यो दु:करा मृतिम्। बभूव हीनदेवोऽसौ ज्योतिर्लोके कुमार्गगः ॥९५॥
तपसा कुत्सितेनाहो यद्यसौ निर्जरोऽभवत्। कुर्वन्ति ये तपो जैनं तेषां किं दुर्लभं ततः ॥९६॥
ततोऽर्'तकृपया ताभ्यां खण्डिताभ्यां जिनाधिपः। ददौ पञ्चनमस्कारान् कर्णे विश्वहितकरान् ॥९७॥
धर्मादिश्रवणेनामा, कृत्स्नदु:खान्तकारिणः। गुरुपञ्चकनामोत्थान्स्वर्गमुक्तिकरान्यरान् ॥९८॥
श्रुत्वा तौ तान्नमस्कारान् धर्मादिसूचकं वचः। प्राप्य चोपशमं चित्ते शुभध्यानेन संमृतौ ॥९९॥
ततो नागो नमस्कारफलेनामरनायकः। पृथुश्र्यलङ्कृतः सोऽभूद् धरणेन्द्रो महर्द्धिकः ।१००
नागी पुण्यफलेनास्य पद्मावता व्यभूत्तदा। [3]दिव्यदेहासुखानीता जिनशासनवत्सला ॥१०१॥

कर तेरे लिये इस लोक तथा परलोक में जो हितकारी हो उसे अपने मत का मिथ्या गर्व नष्ट कर शीघ्र ही संपन्न कर ॥९२॥

इत्यादि उनके वचन सुनकर पूर्व वैर के संस्कार से, अपने पक्ष के अनुराग से, दीर्घ संसार के योग से अथवा दुष्ट स्वभाव से वह मूर्ख क्रोधाग्नि से जलता हुआ बोला अरे कुमार! तू बार बार मेरा ही तिरस्कार कर रहा है ॥९३–९४॥ पार्श्व जिनेंद्र पर क्रोध से पीडित हुआ वह तापस शल्य सहित कुमरण कर ज्योतिर्लोक में कुमार्गगामी हीन देव हुआ ॥९५॥ अहो! खोटे तप से भी जब तापस देव हो गया तब जो जैन–जिन प्रतिपादित तप करते है उनके लिये दुर्लभ क्या है? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥९६॥

तदनन्तर जिनराज ने उन खण्डित सर्प सर्पिणी के लिये कान में अत्यधिक दयाभाव से सर्वहितकारी पञ्चनमस्कार मंत्र दिया ॥९७॥ धर्म आदि को सुनने के साथ समस्त दुःखों का अन्त करने वाले, पञ्च परम गुरुओं के नाम से उत्पन्न स्वर्ग तथा मुक्ति को करने वाले उन श्रेष्ठ नमस्कारों को और धर्मादि की सूचना देने वाले अन्य वचनों को सुनकर वे सर्प सर्पिणी चित्त में उपशमभाव को प्राप्त कर शुभ ध्यान से मरे ॥९८–९९॥ तदनन्तर नमस्कार मन्त्र के फल से मर कर सर्प बहुत भारी लक्ष्मी से अलंकृत, महान् ऋद्धियों को धारण करने वाला धरणेन्द्र नामक इन्द्र हुआ और सर्पिणी पुण्य के फल से इसकी पद्मावती नामकी देवी हुई। उस समय वह पद्मावती दिव्य–वैक्रियिक–सुन्दर शरीर से सहित थी, सुख से सहित थी तथा जिन शासन से स्नेह रखने वाली थी ॥१००–१०१॥

१ मनसा हि ख० ग० २ वा अधी मूर्ख ३. दिव्यदेहासुखातीता ग०।

अहियुग्ममहो क्रूरं जीवभक्षणतत्परम् । नमस्कारेण यद्येव सुखं प्राप्तं महत्ततः ॥१०२॥
त्रिशुद्धया ये नमस्कारान् जपन्त्यत्रानिशं बुधाः । त्रिलोकीपतयः किन्नामुत्र स्युस्तेऽतिधार्मिकाः १०३
अनाद्यनिधनो मन्त्रराजोऽयं सार ऊर्जितः । मध्येऽखिलाङ्गपूर्वाणां जिनेन्द्रशासनस्य च ।१०४।
यथाणोश्च परं नाल्पं नभसो न महत्परम् । मन्त्रेशादपरो मन्त्रः सर्वसिद्धिकरोऽस्ति न ।।१०५।
चौरारिदुष्टभूपालदुर्जनादिभवा द्रुतम् । उपद्रवा विलीयन्ते महामन्त्रेण धीमताम् ॥१०६॥
दुःसहाः सकला रोगा कुष्ठदोषत्रयोद्भवाः । [1]मन्त्रजापात्क्षयं यान्ति वज्रेणाशु यथाद्रयः १०७
दुष्टा भूताः पिशाचाश्च शाकिन्यो दुर्धिडामराः । कर्तुं पराभवं शक्ता न मन्त्रार्पितचेतसाम् ॥१०८।
शृङ्खलादिमहापाशा दृढाश्च बन्धनादयः । मन्त्रस्मरणमात्रेण शतखण्डं प्रयान्त्यहो ॥१०९॥
अब्धौ च विषमेऽरण्ये दावाग्नौ दुर्द्धरे रणे । सर्वत्रापदि सद्बन्धुर्मन्त्रोऽयं रक्षकोऽङ्गिनाम् ।११०।
जिनेन्द्रचक्रिशक्रादीनां भूतयः सुखादय. । परमेष्ठिप्रसादेन जायन्ते धर्मिणां पराः ॥१११॥
सप्तव्यसनिनो रौद्रा येऽञ्जनाद्याश्च तस्कराः । तिर्यञ्चस्ते यमासाद्य मन्त्रं मृत्यौ दिवंगताः ।११२

जीवभक्षण करने में तत्पर रहने वाला सर्प सर्पिणी का क्रूर युगल भी यदि नमस्कार मंत्र से ऐसे महान् सुख को प्राप्त हुआ है तो जो विद्वज्जन मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक निरन्तर नमस्कार मंत्र को जपते हैं वे परलोक में क्या अत्यन्त धार्मिक त्रिलोकीनाथ नहीं होंगे ? अर्थात् अवश्य होंगे ॥१०२-१०३॥ जिनेन्द्र धर्म के समस्त अङ्ग और पूर्वों के बीच यह अनादि निधन मंत्र राज अत्यन्त सारभूत कहा गया है ॥१०४॥ जिस प्रकार परमाणु से अल्प दूसरा नहीं है और जिस प्रकार आकाश से बड़ा दूसरा नहीं है उसी प्रकार मंत्रराज से बढ़कर सर्वसिद्धि को करने वाला दूसरा मंत्र नहीं है ॥१०५॥ चोर, शत्रु, दुष्ट राजा, तथा दुर्जन आदि से होने वाले विद्वज्जनों के उपद्रव, महामंत्र के द्वारा शीघ्र ही विलीन हो जाते है ॥१०६॥ जिस प्रकार वज्र से पर्वत शीघ्र ही क्षय को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार कुष्ठ तथा वात पित्त कफ इन तीन दोषों से उत्पन्न होने वाले समस्त कठिन रोग मंत्र के जपने से शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०७॥ दुष्ट भूत, पिशाच, शाकिनी तथा मूर्ख प्रेत आदि देव, मंत्र में चित्त लगाने वाले जीवों का पराभव करने में समर्थ नहीं हैं ॥१०८॥ अहो ! शृङ्खला आदि महापाश तथा दृढ बन्धन आदि, मंत्र के स्मरणमात्र से शतखण्ड को प्राप्त हो जाते हैं ॥१०९॥ समुद्र में, विषम अटवी में, दावाग्नि में, भयंकर युद्ध में और सब आपत्तियों में यह मंत्र प्राणियों की रक्षा करने वाला उत्तम बन्धु है ॥११०॥ परमेष्ठी के प्रसाद से धर्मात्मा जीवों को तीर्थंकर चक्रवर्ती तथा इन्द्रादि की उत्कृष्ट विभूतियां और सुख आदिक प्राप्त होते हैं ॥१११॥ सप्त व्यसनों का सेवन

१ मन्त्रजाप्यात् म० ब०

कल्पवृक्षोऽप्ययं मन्त्रः संकल्पिताखिलार्थदः । चिन्तामणिश्च निःशेषचिन्तितार्थकरो नृणाम् ।।
कामधेनुश्च मन्त्रोऽयं कामिताशेषवस्तुकृत् । निधिः स्वामी पिता माता सुहृन्नास्माद्धितोऽपरः ।
यत्किञ्चिच्चात्र दुःसाध्यं स्थितं दूरेऽतिदुर्लभम् । मन्त्रेशध्यानिनां शीघ्रं तत्सर्वं जायते करे ।।११५।
सतामालिङ्गन दत्ते मुक्तिस्त्री स्वयमेत्य च । भार्येव मन्त्रमाकृष्टा का कथा नाकयोषिताम् ।।
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदङ्गी समीहते । तत्तदेव भवेन्नून मन्त्रराजप्रसादतः ।।११७।।
अथासौ मोहयल्लोकान् रूपकान्त्यादिसद्गुणैः । कुमारः स्वपुरीं भूत्या जगामाहीन्द्रलीलया[1] ११८
ततस्त्रिंशत्समायामानं[2] कुमारः सुखमुल्वणम् । देवमर्त्यार्पितं दिव्यं भुञ्जन्नास्ते मुदा जिनः ११९
साकेतनगरेशोऽथ जयसेनाख्यभूपतिः । धर्मप्रीत्यान्यदासौ प्राहिणोच्छ्रीपार्श्वसन्निधिम् ।।
निसृष्टार्थं महादूत कृत्स्नकार्यकरं हितम् । भगलीदेशसंजातहयादिप्राभृतैः समम् ।।१२१।।
सोऽप्यागत्य समर्प्याशु प्राभृतं भक्तिपूर्वकम् । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य ननाम तत्पदाम्बुजौ ।१२२।।

करने वाले जो अञ्जन आदि चोर तथा अत्यन्त क्रूर तिर्यञ्च थे वे भी मृत्यु के समय जिस मंत्र को प्राप्त कर स्वर्ग गये ।।११२।। संकल्प किये हुए समस्त पदार्थों को देने वाला यह मंत्र कल्पवृक्ष भी है तथा समस्त चिन्तित पदार्थों को देने वाला यह मंत्र मनुष्यों के लिये चिन्तामणि भी है ।।११३।। समस्त मन चाही वस्तुओं को देने वाला यह मंत्र कामधेनु है । इस मंत्र से अधिक हितकारी न तो कोई निधि है, न स्वामी है, न पिता है, न माता है, और न मित्र है ।।११४।। इस जगत् में जो कुछ भी वस्तु कष्टसाध्य, दूर स्थित और दुर्लभ है वह सब मत्रराज का ध्यान करने वालों के हाथ में शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती है ।।११५।। जब मंत्र की लक्ष्मी से आकर्षित मुक्तिरूपी स्त्री स्वयं आकर भार्या के समान सत्पुरुषों को आलिङ्गन देती है तब देवाङ्गनाओं की तो कथा ही क्या है ? ।।११६।। इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है ? प्राणी जो जो चाहता है मंत्रराज के प्रसाद से वही वही निश्चित ही प्राप्त हो जाता है ।।११७।।

अथानन्तर रूप तथा कान्ति आदि सद्गुणों से लोगों को मोहित करते हुए पार्श्वकुमार धरणेन्द्र जैसी लीला से वैभवपूर्वक अपनी नगरी में वापिस आ गये ।।११८।। तदनन्तर तीस वर्ष तक कुमार देव और मनुष्यों के द्वारा अर्पित उत्कट दिव्य सुख का उपभोग करते हुए हर्षपूर्वक रहे ।।११९।। पश्चात् किसी अन्य समय साकेत नगर के स्वामी जयसेन नामक राजा ने धर्मप्रीति से श्री पार्श्वकुमार के निकट समस्त कार्यों को करने वाला हितकारी प्रधान महादूत, भगली देश में उत्पन्न अश्व आदि उपहारों के साथ भेजा ।।१२०–१२१।। तदनन्तर उस दूत ने आकर शीघ्र ही भक्तिपूर्वक उपहार समर्पित किया

१ जगाम हीन्द्रलीलया ख० ग० २. त्रिंशद्वर्षप्रमाणं ।

गृहीत्वोपायनं दूतोत्तमं सन्मान्य त मुदा । साकेतस्य विभूतिं पप्रच्छ श्रीजिनपुङ्गव: ।।१२३।।
सोऽपि भट्टारक पूर्वं वर्णयित्वा जगद्गुरुम् । कीर्तिकान्त्यादिकल्याणैर्भूं त्या ज्ञानादिसद्गुणै ।।
पश्चात्पुरं स्वकीय व्यावर्णयामास सच्छ्रिया । विचारचतुरा: प्राज्ञा भवन्ति क्रमवेदिन: ।।१२५।
तच्छ्रुत्वा तत्र किं जातस्तीर्थकृन्नामवद्भवात्[1] । एष एव पुनर्मोक्षमापदित्युपयोगवान् ।।१२६।।
स्मृत्वा लघु निजातीतभवसन्ततिमञ्जसा । संवेगं परमं प्राप कर्मलाघवतो जिन: ।।१२७।।
ततो विभूतिभोगादिपरित्यक्तमना विभु: । हृदीति चिन्तयामास वैराग्यादिगुणाङ्किते ।१२८।
अहो य: [2]प्राक्तनैर्भोगैर्देवराजादिगोचरै: । नाप तृप्तिं स किं [3]ह्यत्यङ्गचन्नत्यैर्दु खमिश्रितै: ।
इन्धनैरनलो यद्वज्जलधिर्वा नदीशतै: । एति जातु न संतोषं तथाङ्गी स्वाक्षजै: सुखै: १३०
येषां यथा यथा भोगा भवन्त्यत्र समीहिता: । तथा तथाऽनिषिद्धाशा तेषा विश्वं प्रसर्पति ।१३१।
मत्वेति दूरतस्त्याज्या बुधैर्भोगा इवोरगा: । अतृप्तिजनका: सार्द्धमिन्द्रियादिसुखंद्रु तम् ।१३२।

और अपने हाथ जोड़कर उनके चरणकमलों को नमस्कार किया ।।१२२।। श्री जिनेन्द्र पार्श्वनाथ ने उपहार लेकर तथा हर्षपूर्वक उस उत्तम दूत का सम्मान कर उससे साकेत–अयोध्या की विभूति पूछी ।।१२३।। उस दूत ने भी पहले कीर्ति कान्ति आदि कल्याणों तथा ज्ञानादि सद्गुणों के द्वारा जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव का वर्णन कर पश्चात् उत्तम लक्ष्मी से अपने नगर का वर्णन किया सो ठीक ही है क्योंकि विचार करने में चतुर मनुष्य क्रम को जानने वाले होते है ।।१२४–१२५।। यह सुनकर उनके मनमें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि वहां तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से ऋषभदेव तीर्थंकर हुए पश्चात् वही मोक्ष को प्राप्त हो गये । उसी समय शीघ्र ही अपनी पूर्वभवावली का स्मरण कर पार्श्व जिनेन्द्र कर्मोदय की लघुता से सम्यक् प्रकार उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त हो गये ।।१२६–१२७।।

तदनन्तर विभूतियों के भोग आदि से जिनका मन हट गया है ऐसे विभु पार्श्व जिनेन्द्र वैराग्यादि गुणों से अङ्कित हृदय मे ऐसा विचार करने लगे ।।१२८।। अहो ! जो प्राणी इन्द्र आदि की पर्याय में प्राप्त होने वाले पूर्व भोगों से तृप्ति को प्राप्त नहीं हुआ वह क्या यहां के दुःख मिश्रित भोगों से तृप्ति को प्राप्त होगा ? अर्थात् नहीं ।।१२९।। जिस प्रकार इन्धन से अग्नि और सैकड़ों नदियों से समुद्र कभी संतोष को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार प्राणी अपनी इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुख से संतोष को प्राप्त नहीं होता है ।।१३०।। इस जगत् में जिन प्राणियों को मन चाहे भोग जैसे जैसे प्राप्त होते जाते है वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा किसी रुकावट के बिना, विश्व में फैलती जाती है ।।१३१।। ऐसा जानकर विद्वज्जनों के द्वारा अतृप्ति को उत्पन्न करने वाले, भोग, इन्द्रियादि सुखों के

[1] [illegible] इतिच्छेद: ।

अतिस्वल्पमहो ह्यायुः शतवर्षादिगोचरम् । विज्ञाय विषयासक्तिं को विधत्ते सचेतनः ॥१३३॥
इयन्ति मम वर्षाणि संयमेन विना वृथा । गतानि ह्यधुना किं तद्ग्रहणे [1]काललम्बनम् १३४

शार्दूलविक्रीडितम्

यावन्नायुरहो सुदुर्लभतरं संक्षीयते चाखिलं
यावद्रोगजराग्निभिर्वपुरिदं धामेव [2]नादह्यते ।
यावत्स्वेन्द्रियशक्तिरस्ति पटुता देहोद्यमः सन्मति—
स्तावद्विश्वहितं चरन्ति निपुणा वृत्तादिभिः सिद्धये ॥१३५॥

एवं मोहविधेः क्षयोपशमतः सत्काललब्ध्या वरं
निर्वेदं परमं समाप्य भवभोगाङ्गस्वराज्यादिषु ।
सर्वानर्थविधायिषु [3]व्यघकरेष्वेष्वेवामलं संयमं
ह्यात्तुं श्रीजिन एत्र चोद्यममधात् कर्मारिनाशाय सः ॥१३६॥

साथ शीघ्र ही छोड़ देने के योग्य हैं ॥१३२॥ अहो ! मेरी सौ वर्ष की आयु अत्यन्त अल्प है ऐसा जानकर कौन सचेतन प्राणी विषयों में आसक्ति करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।१३३। मेरे इतने वर्ष संयम के बिना व्यर्थ गये । अब उसके ग्रहण करने में काल व्यतीत करना क्या है ? भावार्थ–अब संयम धारण करने में विलम्ब करना उचित नहीं है ॥१३४॥ अहो ! जब तक अत्यन्त दुर्लभ संपूर्ण मनुष्यायु क्षीण नहीं होती है, जब तक यह शरीर घर की तरह रोग तथा वृद्धावस्थारूप अग्नियों के द्वारा सब ओर से भस्म नहीं होता है और जब तक अपनी इन्द्रियों की शक्ति, समर्थता, शरीर का पुरुषार्थ तथा अच्छी बुद्धि विद्यमान है तब तक चतुर मनुष्य सिद्धि के लिये चारित्र आदि के द्वारा संपूर्ण हित कर लेते है ॥१३५॥

इस प्रकार मोह कर्म के क्षयोपशम से तथा उत्तम काल लब्धि के द्वारा समस्त अनर्थों को करने वाले एवं विविध पापों के कारणभूत संसार भोग शरीर तथा अपने राज्य आदि के विषय में परम वैराग्य को प्राप्त कर श्री पार्श्व जिनेन्द्र ने कर्मरूप शत्रुओं का नाश करने के लिये निर्मल संयम प्राप्त करने का ही उद्यम किया ॥१३६॥

१ समययापनम् २ न आदह्यते इतिच्छेद ३ विविध पापकरेषु ।

इन्द्रवज्रा

वाल्येऽपि यो व्याप जिनाधिनाथ: । सवेगमेकं सकलाक्षसौख्ये ।
मुक्तिस्त्रियामर्पितचित्तवृत्ति । त पार्श्वनाथं प्रणमामि भक्त्या ।।१३७।।

इति श्री भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे वालक्रीडावैराग्योत्पत्तिवर्णनो नाम चतुर्दश सर्ग: ।

जिन जिनेन्द्र ने वाल्य अवस्था में ही समस्त इन्द्रिय सुखों में एक संवेगभाव को प्राप्त किया है तथा जिनकी चित्तवृत्ति मुक्तिरूपी स्त्री में लग रही है उन पार्श्वनाथ भगवान् को मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूं ।।१३७।।

इस प्रकार श्री भट्टारक सकलकीर्ति के द्वारा विरचित श्रीपार्श्वनाथ चरित में वालक्रीडा और वैराग्योत्पत्ति का वर्णन करने वाला चौदहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१४।।



पञ्चदशः सर्गः

रागादिदोषसत्यक्तं संवेगादिगुणाङ्कितम् । संवेगाय स्तुवे पार्श्वमनन्तगुणवारिधिम् ॥१॥
चिन्तयत्यथ देवोऽसौ संवेगगुणवृद्धये । अनुप्रेक्षा द्विषड्भेदा वैराग्यशिवमातरः ॥२॥
अनित्याशरणे संसारैकत्वान्यत्वमेव हि । अशुच्यास्रवनामानौ संवरो निर्जरा तथा ॥३॥
लोकोऽपि दुर्लभा बोधिर्धर्मश्चेति[1] द्विषड्विधाः । अनुप्रेक्षा बुधैर्ज्ञेया रागारिक्षयकारिकाः ॥४॥
अनित्यानि शरीराणि विद्युत्तुल्यानि देहिनाम् । क्षणादेव क्षय यान्ति विषाग्न्यह्यरिमृत्युतः ॥५॥
चञ्चलं यौवनं प्रातर्दर्भाग्रबिन्दुसन्निभम् । गच्छेन्नाश क्षणार्द्धेन जीवितव्य रुजादिना ॥६॥
वेश्येव चपला लक्ष्मीर्जगत्प्रार्थ्याऽशुभाकरा । दुःप्राप्या दुर्धरा कुर्यात्केषुचिन्न रतिं सदा ॥७॥
सुखं वैषयिकं पुंसां विश्वानर्थनिबन्धनम् । दु.प्रापं दुःखपूर्वं स्याद्गन्धर्वनगरोपमम् ॥८॥
राज्यं रजोनिभं चक्रिणामपीहासुखाकरम् । बहुचिन्ताकरं छायोपमं धर्मादिनाशकृत् ॥९॥

पञ्चदश सर्ग

जो रागादि दोषों से रहित हैं और संवेगादि गुणों से सहित है, अनन्त गुणों के सागरस्वरूप उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं संवेग प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर वे पार्श्वनाथ देव संवेग गुण की वृद्धि के लिये बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करने लगे क्योंकि वे अनुप्रेक्षाएं वैराग्य की उत्पत्ति के लिये उत्तम मातास्वरूप है ॥२॥ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षाएं विद्वज्जनों के द्वारा जानने योग्य है । ये सभी अनुप्रेक्षाएं रागरूपी शत्रु का क्षय करने वाली है ॥३–४॥

प्राणियों के शरीर बिजली के समान अनित्य है तथा विष, अग्नि, सर्प, शत्रु और मृत्यु के द्वारा क्षणभर में ही क्षय को प्राप्त हो जाते हैं ॥५॥ यौवन प्रातःकाल के डाभ के अग्रभाग पर स्थित ओस की बून्द के समान चञ्चल है । और जीवन रोग आदि के द्वारा क्षणार्धभाग में नाश को प्राप्त हो जाता है ॥६॥ लक्ष्मी वेश्या के समान चपल है, समस्त जगत् इसे चाहता है, अशुभ की खान है, कठिनाई से प्राप्त होती है, बड़ी कठिनाई से रखी जाती है और किन्हीं में यह सदा प्रीति नहीं करती है ॥७॥ पुरुषों का विषय सम्बन्धी सुख समस्त अनर्थों का कारण है, दुष्प्राप्य है, दुःख का कारण है और गन्धर्व नगर के समान है ॥८॥ इस जगत् में चक्रवर्तियों का राज्य भी धूलि के समान है,

१. द्वादशविधा ।

[1]कुटुम्बं चञ्चलं शम्याभ समस्तासुखप्रदम्। धर्मध्वंसकरं पापप्रेरकं शत्रुसन्निभम् ॥१०॥
गृह वाहनवस्तूनि राज्यालङ्करणानि च। धनधान्यपदार्थान्यत्राभ्रा[2]भान्यपराण्यहो ॥११॥
यत्किञ्चिद् दृश्यते वस्तु श्रेष्ठं लोकत्रये स्थितम्। कालानलेन तत्सर्वं भस्मीभावं प्रयास्यति ॥१२॥
इत्यनित्यं परिज्ञाय विश्व वस्तु चराचरम्। साधयध्वं बुधा मोक्षं नित्यमाशुगुणार्णवम् ॥१३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आयुश्चाक्षचय बल निजवपुः सर्वं कुटुम्ब धनं।
राज्यं वायुकदर्थिताम्बुलहरीतुल्य जगच्चञ्चलम्।
ज्ञात्वेतीह शिव जगत्त्रयहितं सौख्याम्बुधिं शाश्वतं
दृक्चिद्वृत्तयमैद्रुतं बुधजना मुक्त्यै भजध्व सदा ॥१४॥

अनित्यानुप्रेक्षा

वने व्याघ्रगृहीतस्य मृगस्य शरणं यथा। विद्यते न तथा पुंसां मृत्युव्याघ्रादिना क्वचित् १५
दृग्वृत्तधर्मसद्दानतपोज्ञानयमादय. । जिनाः सिद्धा मुनीन्द्राश्च स्यु. शरण्याः सतां भवात्

दुःखों की खान है, बहुत चिन्ता को करने वाला है, छाया के समान है और धर्मादिक का नाश करने वाला है ॥९॥ कुटुम्ब विजली के समान चञ्चल है, समस्त दुःखों को देने वाला है, धर्म का विनाश करने वाला है, पाप का प्रेरक है और शत्रु के तुल्य है ॥१०॥ अहो ! घर वाहन आदि वस्तुएं राज्य के अलंकारभूत छत्र चमरादि, धन धान्यादि पदार्थ तथा अन्य पदार्थ इस जगत् में मेघ के समान हैं ॥११॥ तीनो लोकों में स्थित जो कुछ भी श्रेष्ठ वस्तु दिखाई देती है वह सब कालरूपी अग्नि के द्वारा भस्मभाव को प्राप्त हो जायगी ॥१२॥ इस प्रकार समस्त चराचर वस्तुओं को अनित्य जानकर हे विद्वज्जन हो ! निरन्तर शीघ्र ही गुणो के सागर स्वरूप मोक्ष की साधना करो—मोक्ष प्राप्त करने का उद्यम करो ॥१३॥ आयु, इन्द्रिय समूह, शारीरिक बल, अपना शरीर, समस्त कुटुम्ब, धन, राज्य और जगत् वायु से ताडित जल की तरङ्ग के समान चञ्चल है ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! मुक्ति प्राप्ति के लिये सदा दर्शन ज्ञान चारित्र तथा इन्द्रियदमन के द्वारा शीघ्र ही यहां उस मोक्ष की उपासना करो जो तीनों जगत् के लिये हितकारी है, सुख का सागर है तथा स्थाई है ॥१४॥ (इस तरह अनित्यानुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

जिस प्रकार वन में व्याघ्र के द्वारा पकड़े हुए मृग को शरण नहीं है उसी प्रकार मृत्युरूपी व्याघ्र आदि के द्वारा पकड़े हुए पुरुषों को कहीं शरण नहीं है ॥१५॥ दर्शन, चारित्र, धर्म, सम्यग्दान, तप, ज्ञान, इन्द्रियदमन आदि, अरहंत सिद्ध और मुनिराज ही सत्

1. ग्न और म० पुस्तके नास्ति 2. मेघतुल्यानि।

अन्नपानादिताम्बूलैः पोषितं वस्त्रभूषणैः । यदङ्गं तन्न यात्युच्चैरङ्गिना सह किं परः ।।४८।।
तिष्ठन्ति फलिते चाम्रे भुक्त्यर्थं पक्षिणो यथा । फलापाये प्रयान्त्येव तथा च स्वजना जनाः ।।४९।
कर्मकार्येभ्यो योगेभ्यः कर्मभ्यः परमार्थतः । मूर्तेभ्यश्च पृथग्भूत आत्मा [1]ज्ञानमयोऽभवेत् ।५०।
गृहस्त्रीधनपुत्रादीन्मे मे कुर्वन्ति ये शठाः । ते तास्त्यक्त्वा भ्रमन्त्यत्र दुःखिनो हि चतुर्गतौ ५१
यत्किञ्चिद् दृश्यते वस्तु मूर्तं सर्वं विनश्वरम् । कर्मजं तत्पृथग्भूतं विज्ञेय स्वात्मनो ध्रुवम् ।।५२।।
इति मत्वाखिलं वस्तु सर्वं त्वत्कर्मजं बुधाः । स्वकीयं परमात्मानं सेवध्व मुक्तये सदा ।।५३।।

शार्दूलविक्रीडितम्

अन्यत्कायमसारवस्तुनिचितं सर्वं कुटुम्बं स्वतो
राज्यं चेन्द्रियशर्मं पूर्वविधिजं रागादिदोषव्रजः ।
ज्ञात्वेतीह चिदेकमूर्तिमसमं भिन्नं स्वदेहादित-
श्चात्मानं शिवसिद्धयेऽतिनिपुणा यत्नाद्भजध्वं हृदि ।।५४।।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

पिता अन्य है, स्त्री अन्य है, पुत्र अन्य है, बान्धव अन्य हैं और कुटुम्बी जन अन्य है ।।४७।। जो शरीर अन्न, पान, ताम्बूल आदि तथा वस्त्राभूषणों से पोषित किया जाता है वह भी जब जीव के साथ ऊपर नहीं जाता तब दूसरा पदार्थ साथ कैसे जा सकता है ? ।।४८।। जिस प्रकार पक्षी खाने के लिये फले हुए आम्रवृक्ष पर ठहरते है और फलों का अभाव होने पर नियम से चले जाते है उसी प्रकार कुटुम्बीजन भोगोपभोग के लिये सम्पन्न दशा में साथ रहते है और सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर अन्यत्र चले जाते है ।।४९।। ज्ञान से तन्मय आत्मा कर्मों के कार्यस्वरूप योगों से तथा मूर्तिक कर्मों से वास्तव में पृथक् है ।५०। जो मूर्ख घर स्त्री धन तथा पुत्रादिक को मेरे मेरे करते हैं वे उन्हें छोड़कर दुःखी होते हुए चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते है ।।५१।। कर्म से उत्पन्न होने वाली जो कुछ मूर्तिक वस्तु दिखाई देती है वह सब विनश्वर है तथा अपने आत्मा से निश्चित ही पृथग्भूत है ऐसा जानना चाहिये ।।५२।। इस प्रकार अपने कर्म से उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं को पृथक् जानकर हे विद्वज्जन हो ! मुक्ति प्राप्ति के लिये सदा स्वकीय परमात्मा की सेवा करो ।।५३।। निःसार वस्तुओं से भरा हुआ शरीर समस्त कुटुम्ब, राज्य, पूर्व कर्म से उत्पन्न हुआ इन्द्रिय सुख तथा रागादि दोषों का समूह अपने आपसे अन्य है–पृथक् है ऐसा जानकर हे चतुरजन हो ! इस जगत् में एक चैतन्य मूर्ति, अनुपम, तथा अपने शरीरादि से भिन्न आत्मा का मोक्ष सिद्धि के लिये हृदय में यत्नपूर्वक भजन करो ।।५४।।

(इस प्रकार अन्यत्वानुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

---

१. ज्ञानमयोऽभवत् ख० ।

कृत्स्नदुःखाकरीभूते सप्तधातुमयेऽशुचौ । शुक्रशोणितबीजेऽज्ञे विवेकी को रतिं व्यधात् ।५५।
क्षुत् ड्रुग्रुकोपमानाग्नयो ज्वलन्त्यनिशं सताम् । यत्र कायकुटीरेऽस्मिन्कि वासस्तत्र शस्यते ।।५६।।
अमेध्यधातुसपूर्णं जन्तुकोटिशताकुलम् । यद्यमास्ये स्थित कायं तत्सतां रतये कुतः ।।५७।।
वस्त्रभूषान्नपानाद्यैः शरीरं पोषयन्ति ये । अत्र तेषां रुजो दद्यादमुत्र दुर्गति च तत् ।।५८।।
तैर्वपुः सफल चक्रे यैर्मोक्षाय कदर्थितम् । विरज्य कामभोगेषु तपोवृत्तपरीषहैः ।।५९।।
कलेवरे ह्यसारेऽस्मिन्सार कार्यं तपोऽनघम् । ध्यानाध्ययनसद्योगवृत्तदानजपादिकम् ।।६०।।
इति विज्ञाय हत्वाङ्ग ममत्वं दुरिताकरम् । पवित्रं मुक्तिसाम्राज्यं साधयध्वं विदो द्रुतम् ।६१।

मालिनी

अशुचिसकलपूर्णं धातुविष्ठादिधाम दुरितनिखिलबीज कृत्स्नदुःखैकहेतुम् ।
वपुरपगतसारं संविदित्वात्र दक्षाः प्रभजत शिवकामा यत्नतो मोक्षसारम्[1] ।।६२।।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

जो समस्त दुःखों की खानस्वरूप है, सप्तधातुओं से तन्मय है, अपवित्र है, रज और वीर्य से उत्पन्न है तथा ज्ञान रहित है, ऐसे शरीर में कौन विवेकी पुरुष प्रीति करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ।।५५।। सत्पुरुषों के जिस शरीररूप झोंपड़े में क्षुधा तृषा रोग क्रोध और मानरूपी अग्नियां निरन्तर जलती रहती है उसमें निवास करना क्या प्रशंसनीय है ? अर्थात् नहीं ।।५६।। जो अपवित्र धातुओं से भरा हुआ है, जीवों की सैकड़ों कोटियों से व्याप्त है और यमराज के मुख में स्थित है वह शरीर सत्पुरुषों को प्रीति के लिये कैसे हो सकता है ? ।।५७।। जो मनुष्य वस्त्र आभूषण तथा अन्न पान आदि के द्वारा शरीर का पोषण करते हैं उन्हे वह शरीर इस भव में रोग देता है और परभव मे दुर्गति प्रदान करता है ।।५८।। उन्ही पुरुषो ने शरीर को सफल किया है जिन्होने काम भोगों में विरक्त होकर तप चारित्र और परिषहो के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये उसे पीडित किया है ।।५९।। इस असार शरीर मे निर्दोष तप तथा ध्यान अध्ययन प्रशस्त योग चारित्र दान और जप आदिक सारभूत कार्य हैं ।।६०।। ऐसा जानकर हे ज्ञानी जन हो ! शरीर में पापों की खानभूत ममता को छोड़ो और शीघ्र ही पवित्र मुक्ति के साम्राज्य की साधना करो ।।६१।। यह शरीर समस्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है, धातु तथा विष्ठा आदि का स्थान है, समस्त पापो का वीज है, सब दुःखों का प्रमुख कारण है और सार रहित है ऐसा जान कर हे मोक्षाभिलाषी चतुर जन हो ! इस जगत् में यत्नपूर्वक मोक्षरूप सार पदार्थ की आराधना करो ।।६२।।

(इस प्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

---

1. मोक्षपारम् ख० ।

सच्छिद्रं च यथा पोत मज्जत्यब्धौ जलास्रवैः । तथा कर्मास्रवैर्जीवो विषयान्धो भवार्णवे ।।६३।।
मिथ्यात्व पञ्चधा द्वादशधा विरतयोऽशुभाः । [1]त्रिपञ्चैव प्रमादा हि कषायाः पञ्चविंशतिः।६४।
योगाः पञ्चदशाप्येते प्रत्ययाः[2] शत्रवः पराः । त्याज्या मुमुक्षुभिर्यत्नात्कुकर्मास्रवहेतवः[3] ।।६५।।
मनोवाक्काययोगैर्वा सर्वं सजायतेतराम् । द्विधा कर्म ततः कार्यो यत्नस्तद्रोधने बुधैः ।।६६।।
सचिनोत्यशुभ कर्म रागद्वेषमलीमसम् । मनः [4]साम्यादिकापन्नं शुभं कर्म नृणा सदा ।६७।
मृषादिदूषित वाक्य चासूते पापमद्भुतम् । सत्या हिता मिता वाणी सत्पुण्य च सुखाकरम् ६८
कायोत्सर्गादिमापन्नं वपु. . सूते महच्छुभम् । दुरित दुःखसतान विक्रियाद्यन्वित च तत् ।।६९।।
रुद्धा योगाश्च यैर्दक्षैर्ध्यानाध्ययनकर्मभिः । तैश्चात्र प्रत्ययाः कर्मास्रवाः सर्वेऽशुभप्रदा' ।।७०।।
इति मत्वास्रवान्योगान् निरुन्धध्व बुधा द्रुतम् । सर्वशर्मशिवाद्याप्त्यै यत्नाद्ध्यानादिकर्मभि. ।७१।

शार्दूलविक्रीडितम्

सर्वाशर्मपरम्परार्पणपर चौरं सुमुक्तिश्रियः
ससाराम्बुधिमज्जक मुनिवरैर्ध्यानासिना नाशितम् । '

जिस प्रकार छिद्र सहित जहाज जल के आने से समुद्र में डूबता है उसी प्रकार विषयान्ध जीव कर्मों के आस्रव से संसाररूपी सागर में डूबता है ।।६३।। पांच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार की अशुभ अविरतियां, पन्द्रह प्रमाद, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग ये प्रत्यय–बन्ध के कारण परम शत्रु है तथा निन्द्य कर्मास्रव के हेतु है । मुमुक्षु जनों को यत्नपूर्वक इनका त्याग करना चाहिये ।।६४–६५।। मन वचन काय रूप योगों के द्वारा पुण्य पापरूप द्विविध कर्म का अत्यधिक आस्रव होता है इसलिये ज्ञानीजनों को उनके रोकने में यत्न करना चाहिये ।।६६।। मनुष्यों का राग द्वेष से मलिन मन अशुभ कर्म का संचय करता है और साम्यभाव आदि को प्राप्त हुआ मन सदा शुभ कर्म का संचय करता है ।।६७।। असत्य आदि से दूषित वचन, आश्चर्यकारक पाप को उत्पन्न करता है और सत्य मित तथा हितकारी वाणी सुख की खानस्वरूप उत्तम पुण्य को उत्पन्न करती है ।।६८।। कायोत्सर्ग आदि को प्राप्त हुआ शरीर बहुतभारी शुभ–पुण्य कर्म को उत्पन्न करता है और विकार आदि से सहित शरीर पाप तथा दुःखों की सन्तति को जन्म देता है ।।६९।। जिन चतुर मनुष्यों ने ध्यान तथा अध्ययन कार्य के द्वारा योगों को रोका है उन्हीं ने इस जगत् में अकल्याण को देने वाले समस्त कर्मास्रव रोके है ।।७०।। ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! आप लोग समस्त शिव सुख की प्राप्ति के लिये ध्यान आदि कार्यों के द्वारा शीघ्र ही यत्नपूर्वक आस्रव स्वरूप योगों को निरुद्ध करो ।।७१।। जो समस्त दुःखसन्तति के देने

---

१. पञ्चदश २ बन्धकारणानि ३ हेतवे ख० घ० ४ शाम्यादि ख० घ० ।

धर्मारामहुताशनं यतिवराः सर्वास्रवं कर्मणां
दृक्चिद्वृत्ततपोभिराशु हि निराकुर्वीध्वमेवादरात् ॥७२॥

आस्रवानुप्रेक्षा

सर्वास्रवनिरोधो यस्तपसा ज्ञानिनां महान् । संवरो मुक्तिदाता स कीर्तितो जिनपुङ्गवैः ॥७३॥
त्रयोदशप्रकारा हि समितिव्रतगुप्तयः । दशैव लक्षणान्येव धर्मस्य साधनानि च ॥७४॥
द्विषड्भेदा अनुप्रेक्षाः परीषहजयोऽखिलः । संयमः पञ्चधा धर्म्यशुक्लध्यानाक्षनिग्रहाः ॥७५॥
मनोवाक्कायरोधातिशुभलेश्याः सुभावनाः । एते कारणभूताः संवरस्य मुनिभिर्मताः ॥७६॥
संवरेण समं किञ्चित् तपोवृत्तयमादिकम् । स्तोकं हि यत्कृतं तत्स्यात्सर्वं मुक्तेर्निबन्धनम् ॥७७॥
संवरेण विना पुंसां तपोवृत्तादिसेवनम् । शास्त्रादिपठनं कृत्स्नं [1]यावत्स्यात्तुषखण्डनम् ॥७८॥
संवरः परमो मित्रो मुक्तिनार्याः पितामहः । अनन्तकर्मशत्रुघ्नोऽनेकशर्माकरो भवेत् ॥७९॥
ज्ञात्वेति सोऽनिशं कार्यस्तपोध्यानश्रुतादिभिः । निवार्याघास्रवं यत्नान्मुक्तयेऽनन्तशर्मकृत् ॥८०॥

में तत्पर है, मुक्तिरूपी लक्ष्मी को चुराने वाला है, संसार सागर में डुबाने वाला है, मुनिराजो ने ध्यानरूपी खड्ग के द्वारा जिसका नाश किया है, और जो धर्मरूपी उपवन को जलाने के लिये अग्निस्वरूप है ऐसे समस्त कर्मो के आस्रव को हे मुनिवर हो ! सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप के द्वारा बड़े आदर से शीघ्र ही नष्ट करो ॥७२॥

(इस प्रकार आस्रवानुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

ज्ञानी जीवो के तप के द्वारा जो समस्त आस्रव का रुक जाना है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने मुक्ति को देने वाला महान् संवर कहा है ॥७३॥ पांच समिति पांच महाव्रत और तीन गुप्ति के भेद से तेरह प्रकार का चारित्र, धर्म के साधन स्वरूप उत्तम क्षमा आदि दश लक्षण धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, सब परीषहों का जीतना, सामायिक आदि के भेद से पाच प्रकार का सयम, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान तथा इन्द्रिय निग्रह, मन वचन काय को रोकना, अत्यन्त शुभ लेश्या और मैत्री आदि उत्तम भावनाएं, मुनियों ने इन्हें संवर का का कारण माना है ॥७४-७६॥ संवर के साथ जो कुछ भी तप चारित्र तथा इन्द्रियदमन आदि किया जाता है वह सब मात्रा मे अल्प होने पर भी मोक्ष का कारण होता है ॥७७॥ संवर के विना पुरुषो का जो तप और चारित्र का सेवन तथा शास्त्रादि का पढ़ना है वह सब तुष खण्डन के समान है ॥७८॥ संवर परम मित्र है, मुक्तिरूपी स्त्री का पितामह है, अनन्त कर्म शत्रुओं को नष्ट करने वाला है तथा अनन्तसुख की खान है ॥७९॥ ऐसा जानकर मुक्ति की प्राप्ति के लिये यत्नपूर्वक पापास्रव को रोकना चाहिये तथा तप ध्यान और शास्त्र

1. पाठ स्यात्तु,षखण्डनम् म० ब० ।

खगमर्त्यसुराधीशचण्डिकाव्यन्तरादयः । त्रातारो जातु न नृणां मणिमन्त्रौषधादयः ।।१७।
परमेष्ठिवृषादीनां शरणं ये व्रजन्त्यहो । तेऽचिरात् स्युर्भवत्रस्ता जन्ममृत्युजराच्युताः ।।१८।
क्षेत्रपालौषधादीना यान्ति ये शरणं शठाः । तेऽघभारेण रोगार्ता [1]यमास्ये संपतन्त्यहो ।।१९।।
यथा पोतच्युतः पक्ष्यशरण्योऽब्धौ च मज्जति । तथा धर्मच्युतः प्राणी श्वभ्राब्धौ पापभारतः ।२०।
मणिमन्त्रौषधार्थाद्यैर्विश्वैर्देवनराधिपैः । यमेन नीयमानोऽङ्गी[2] क्षणं त्रातुं न शक्यते ।२१।
इति ज्ञात्वा बुधैः कार्याः शरण्याः परमेष्ठिनः । तपोधर्मादयश्चात्र दुःकर्मयमहानये ।।२२।।
शरण्यो मुनिभि कार्यो नित्यो मोक्षः सुखार्णवः । दृक्चिद्वृत्तादयस्त्रातारो विधेयाः शिवप्रदाः ।।२३।

शार्दूलविक्रीडितम्

नेन्द्रा नैव खगा न व्यन्तरगणा नैवात्र चक्राधिपा
मन्त्रश्चौषधराशयश्च सकला धर्मं विना देहिनः ।

पुरुषों को संसार से बचाने के लिये शरण्यभूत है ।।१६।। विद्याधर, मनुष्य, इन्द्र, चण्डिका, व्यन्तर आदि देव तथा मणि मंत्र औषध आदि पदार्थ मनुष्यों के कभी रक्षक नहीं है–मृत्यु से कोई बचाने वाले नहीं हैं ।।१७।। अहो ! संसार से भयभीत हुए जो मनुष्य पञ्च-परमेष्ठी तथा धर्म आदि की शरण को प्राप्त होते हैं वे शीघ्र ही जन्म मृत्यु और जरा से च्युत हो जाते है–इनके चक्र से बच जाते है ।।१८।। जो मूर्ख क्षेत्रपाल तथा औषध आदि की शरण को प्राप्त होते है वे पाप के भार से रोग पीडित होते हुए यमराज के मुख में पड़ते है ।।१९।। जिस प्रकार जहाज से छूटा हुआ पक्षी शरण रहित हो समुद्र में डूबता है उसी प्रकार धर्म से छूटा हुआ प्राणी पाप के भार से नरकरूपी समुद्र में डूबता है ।।२०।। यम के द्वारा ले जाया जाने वाला प्राणी मणि, मंत्र औषध धन आदि पदार्थो तथा समस्त देव और राजाओं के द्वारा क्षणभर के लिये भी नहीं बचाया जा सकता ।।२१।। ऐसा जान कर विद्वज्जनों को दुष्कर्म तथा यम मृत्यु को नष्ट करने के लिये परमेष्ठियों को ही शरण्य रक्षक बनाना चाहिये ।।२२।। मुनियों को नित्य तथा सुख के सागर स्वरूप मोक्ष को ही शरण्य-रक्षक बनाना चाहिये । इसी प्रकार मोक्ष को देने वाले दर्शन ज्ञान तथा चारित्र आदि को रक्षक बनाना चाहिये ।।२३।। पूर्वोपार्जित कर्मोदय से होने वाले दुःखरूप मरण से प्राणियों को क्षणभर बचाने के लिये धर्म को छोड़ कर न इन्द्र समर्थ है न विद्याधर, न व्यन्तरगण, न चक्रवर्ती, न मंत्र, न औषधराशि–सभी असमर्थ है–ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! कर्म से सुरक्षित रखने वाले धर्म को ही निरन्तर रक्षक बनाओ ।।२४।।

(इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

---

१ यममुखे २ प्राणी ।

पूर्वोपार्जितकर्मदु:खमरणात्त्रातुं क्षमा न क्षण
विज्ञायेति बुधाः कुरुध्वमनिशं धर्मं शरण्य विधेः ।।२४।।

अशरणानुप्रेक्षा

अस्मिन्ननादिसंसारे कृत्स्नदु:खाकरेऽशुभे । धर्मादृते भ्रमन्त्यङ्गिनोऽखिला· कर्मणानिशम् ।२५।
द्रव्यक्षेत्रेण कालेन भवभावेन जन्तवः । पञ्चप्रकारसंसार भ्रमन्ति विधिवञ्चिताः ।।२६।
आहारकर्मनोकर्मणाखिलाः पुद्गला भुवि । गृहीता ये न त्यक्ता न ते न सन्ति जगत्त्रये ।।२७।
पुद्गलैर्यैः शुभैरत्र ते कायोऽयं विनिर्मितः । प्राग्भवे तैस्तत्राङ्गान्यनन्तशः खण्डितान्यहो ।२८।
असंख्ये खप्रदेशेऽस्मिन् यत्र जातो मृतो न च । कर्मशृङ्खलवद्धोऽङ्गी स प्रदेशोऽस्ति जातु न ।।२९।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः सर्वस्मिन् समयेऽशुभात् । यत्रोत्पन्नो मृतो नाङ्गी विद्यते समयो न सः ।३०।
श्वभ्रतिर्यग्नृदेवेषु यावद्ग्रैवेयकं च या । न गृहीता न मुक्ता सा योनिर्जीवैर्न भूतले ।।३१।
मिथ्यादिप्रत्ययैर्भावै रागद्वेषादिजैः सदा । बध्नन्त्यत्राखिला जीवा अनन्तान्कर्मपुद्गलान् ।३२
भ्रमन्तोऽत्रभवारण्ये कर्मारिभिर्गलेधृताः । भुञ्जन्त्यनन्तदु.खानि शर्मांशं न भजन्त्यहो ।।३३।।
चित्ते जडात्मनां भाति सुखदु.खद्वयं भवे । न सुख [1]ह्यंशमात्रं च सर्वं दु:खं विवेकिनाम् ३४।

समस्त दु:खो की खानस्वरूप इस अशुभ अनादि संसार में धर्म के विना समस्त प्राणी कर्मोदय से निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं ।।२५।। कर्मों से ठगे हुए प्राणी द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव के भेद से पांच प्रकार के संसार में भ्रमण करते है ।।२६।। पृथिवी पर जो समस्त पुद्गल हैं उनमें से आहार, कर्म और नोकर्म के रूप में इस जीव ने जो न ग्रहण किये हों और न छोड़े हों ऐसे पुद्गल तीनों लोकों में नहीं हैं ।।२७।। अहो ! इस जगत् में जिन शुभ पुद्गलों से तेरा यह शरीर रचा गया है पूर्वभव में उन्हीं पुद्गलो से अनन्त बार तेरे शरीर खण्डित हुए हैं ।।२८।। कर्मरूपी शृङ्खला से बन्धा हुआ यह प्राणी आकाश के असंख्य प्रदेशों में से जिस प्रदेश में न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो वह प्रदेश कभी नहीं है ।।२९।। पापोदय से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सभी समयो में से जिस समय मे यह जीव न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो वह समय नहीं है ।।३०।। नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देवों में ग्रैवेयक पर्यन्त वह योनि नहीं है जो लोक में जीवों के द्वारा न ग्रहण की गई हो और न छोड़ी गई हो ।।३१।। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों तथा रागद्वेषादि से उत्पन्न भावों के द्वारा समस्त जीव इस जगत् में अनन्त कर्म पुद्गलों को बांधते रहते हैं ।।३२।। अहो ! कर्मरूपी शत्रुओं ने जिनका गला पकड़ रक्खा है, ऐसे संसाररूपी वन में भ्रमण करते हुए जीव अनन्त दुःख भोगते हैं, सुख का अंश भी प्राप्त नहीं करते ।।३३।। अज्ञानी जनों के चित्त में ऐसा भाव रहता है कि संसार में सुख दु:ख दोनों हैं परन्तु ज्ञानी

१ ह्यणुमात्रं ग० ।

इति मत्वा भवं त्यक्त्वा कृत्स्नाशर्माकर बुधाः । यत्नेन तपसा मोक्ष साधयध्वं सुखार्णवम् ॥३५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

श्वभ्रे दुःखमनारतं घनतरं तिर्यग्गतौ केवलं
मानुष्येऽपि वियोगशोकजनित दारिद्र्यरोगादिजम् ।
देवत्वेऽपि सुराङ्गनाच्यवनजं दाहप्रदं मानस
मत्वेतीह जनाः शिवं सुखनिधिं यत्नाद् भजध्वं द्रुतम् ॥३६॥

ससारानुप्रेक्षा

एको जातो मृतश्चैक' सुखी दुःखी धनेश्वरः । निर्धनो रोगवानेको भ्रमत्यत्र [1]चतुर्गतीः ॥३७॥
मिथ्याहिंसानृतान्यस्त्रीचौर्यरौद्रादिकर्मभिः । उपार्ज्यैनो जनः श्वभ्र यात्येकोऽत्रासुखाकरम् ।३८।
मायाकौटिल्यशोकार्तध्यानाद्यैरघमञ्जसा । अर्जयित्वा व्रजत्येकस्तिर्यग्योनीरनेकशः ॥३९॥
दृक्चिद्वृत्ततपोयोगदानपूजायमादिभिः । कृत्वा पुण्यं प्रयात्येकः स्वर्गं सर्वसुखार्णवम् ॥४०॥

जनों के चित्त में यह भाव रहता है कि यहां सुख अंशमात्र भी नहीं है सब दुःख ही दुःख है ॥३४॥ ऐसा जानकर हे विद्वज्जन हो ! समस्त दुःखों की खानस्वरूप संसार को छोड़ कर यत्नपूर्वक तप के द्वारा सुख के सागरस्वरूप मोक्ष की साधना करो ॥३५॥ नरक में निरन्तर तीव्रतर दुःख है, तिर्यञ्चगति में मात्र दुःख है, मनुष्यगति में वियोग और शोक से उत्पन्न तथा दरिद्रता और रोग आदि से होने वाला दुःख है और देवगति में भी देवाङ्गनाओं के च्युत हो जाने से उत्पन्न, दाह को देने वाला मानसिक दुःख है'''ऐसा जान कर हे ज्ञानीजन हो ! शीघ्र ही सुख के भाण्डारस्वरूप मोक्ष की उपासना यत्न से करो ॥३६॥

(इस प्रकार ससार अनुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

यह जीव अकेला उत्पन्न होता है, अकेला मरता है, अकेला सुखी होता है, अकेला दुःखी होता है, अकेला धनपति होता है, अकेला निर्धन होता है, अकेला रोगी होता है और अकेला ही चारों गतियों में भ्रमण करता है ॥३७॥ यह जीव इस जगत् में मिथ्यादर्शन, हिंसा, असत्य, परस्त्री सेवन, चोरी तथा क्रूर आदि कर्मो से पाप का उपार्जन कर अकेला ही दुःख की खान स्वरूप नरक में जाता है ॥३८॥ मायाचार, कुटिलता, शोक, और आर्तध्यान आदि के द्वारा पाप का संचय कर अकेला ही अनेक प्रकार की तिर्यञ्चयोनियों में जाता है ॥३९॥ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप के योग से तथा दान पूजा और इन्द्रियदमन आदि के द्वारा पुण्य कर अकेला ही समस्त सुखों के सागरस्वरूप स्वर्ग को प्राप्त

---

१ च दुर्गती. ख० ।

दानपूजार्जवाद्यैश्च किञ्चित्पुण्य विधाय ना । भजत्येको नृयोनौ च श्रियं राज्यादिगोचराम् ।४१

एको दीक्षां समादाय हत्वा कर्माणि शुद्धधीः । तपोरत्नत्रयाढ्यो निर्वाण गच्छेद्गुणाम्बुधिम् ।४२

एको रोगादिभिर्ग्रस्तो मृत्वा कष्टेन पापभाक् । वायुवत्सभ्रमेद्विश्वं स्वैनसाऽशर्मपूरितः ॥४३॥

इत्येकत्व परिज्ञाय जन्ममृत्व्योश्च[1] सर्वथा । त्यक्त्वाङ्गादिपरद्रव्यं भजैकत्वं बुधात्मनः ॥४४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

एको दुःखमनारत च कुगतौ पापोदयात्प्राणभृ—
देकः सौख्यमपारमद्भुततरं स्वर्गेऽत्र भुङ्क्ते शुभात् ।
एको मोक्षमनन्तशर्मजलधिं कर्मक्षयाद्यात्यहो
बुद्ध्वेत्याशु बुधा भजध्वमनिशं स्वात्मानमेक विधे. ॥४५॥

एकत्वानुप्रेक्षा

देहाद्यत्र भवेदन्यो जडादात्मा हि चिद्वपुः । स्वकीय तत्र किञ्चान्यत्कुटुम्बस्त्रीगृहादिकम् ।४६

अन्या माता पिताप्यन्यो[2] भार्याः पुत्राश्च बान्धवाः । अन्ये च स्वजना नूनं जायन्ते सर्वजातिषु ॥४७॥

होता है ॥४०॥ दान पूजा तथा आर्जव—सरलता आदि के द्वारा किञ्चित पुण्य का उपार्जन कर यह मनुष्य अकेला ही मनुष्ययोनि में राज्यादि विषयक लक्ष्मी को प्राप्त होता है ॥४१॥ अकेला ही दीक्षा लेकर तथा कर्मों को नष्ट कर शुद्ध बुद्धि और तप एवं रत्नत्रय से युक्त होता हुआ गुणों के सागरस्वरूप निर्वाण को प्राप्त होता है ॥४२॥ पापी जीव अकेला ही रोगादि से ग्रस्त होता हुआ कष्ट से मरता है और अपने पाप के फलस्वरूप दुःख से युक्त होता हुआ वायु के समान संसार में भ्रमण करता है ॥४३॥ इस प्रकार जन्म और मरण में यह जीव सब प्रकार से अकेला ही रहता है यह जानकर हे ज्ञानीजन हो ! शरीरादि परद्रव्य को छोड़कर आत्मा के एकत्व की आराधना करो अर्थात् आत्मा अकेला ही है ऐसी दृढ प्रतीति करो ॥४४॥ पाप के उदय से यह प्राणी अकेला ही कुगति में निरन्तर दुःख भोगता है और पुण्योदय से स्वर्ग में अपार तथा आश्चर्यकारक सुख भोगता है। तथा कर्मों के क्षय से अकेला ही अनन्त सुख के सागरस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है ऐसा जान कर अहो विद्वज्जन हो ! शीघ्र ही···निरन्तर एक अपनी आत्मा की कर्म से पृथक् उपासना करो ॥४५॥

(इस प्रकार एकत्व अनुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

जहां चिन्मूर्ति आत्मा जड शरीर से अन्य है वहां कुटुम्ब, स्त्री तथा घर आदिक अन्य पदार्थ अपने कैसे हो सकते है ? ॥४६॥ निश्चय से सभी योनियों में माता अन्य है,

---

1. जन्ममृत्व्यो ख० म० ग० 2 पितापन्यो ख० ।

स्रग्धरा

शर्माब्धि मुक्तिहेतुं निखिलगुणनिधिं स्वर्गसोपानभूतं
कर्मघ्नं धर्ममूलं ह्यसुखचयहरं सेवितं तीर्थनाथैः।
पोतं संसारवाधौं भवभयचकिताः संवरं सर्वयत्नात्
कुर्वीध्वं मोक्षहेतोश्चरणसुतपसा ध्यानरत्नत्रयाद्यैः ॥८१॥

संवरानुप्रेक्षा

निर्जरात्र द्विधा प्रोक्ता सविपाकाविपाकतः। जिनैराद्या च सर्वेषां मुनीनां तपसा परा ॥८२॥
संवरेण समं यात्र निर्जरा क्रियते बुधैः। तपोवृत्तादिना देया साविपाका शिवप्रदा ॥८३॥
निर्जरा जायते पुंसां कर्मणां हि यथा यथा। निकटीभावमायाति मोक्षलक्ष्मीस्तथा तथा ॥८४॥
यदाराधनयात्र स्यात् सर्वेषां कर्मणां क्षयः। तदा मोक्षो यतीशानामनन्तगुणसागरः ॥८५॥
मुक्तिस्त्रीजननी विश्वशर्मखानिर्गुणाकरा। जगद्धिता सतां मान्या निर्जरा कर्मनाशिनी ॥८६॥
अपक्वाम्रफलान्यत्र पच्यन्ते ह्यूष्मणा यथा। तथा कर्माणि दृग्ज्ञानतपोवृत्तयमादिभिः ॥८७॥

स्वाध्याय आदि के द्वारा अनन्त सुख को करने वाला संवर निरन्तर करना चाहिये ॥८०॥ जो सुख का सागर है, मुक्ति का कारण है, समस्त गुणों का भाण्डार है, स्वर्ग की सीढी रूप है, कर्मों को नष्ट करने वाला है, धर्म का मूल है, दुःख समूह को हरने वाला है, तीर्थङ्करों के द्वारा सेवित है, और संसार सागर में जहाजस्वरूप है ऐसे संवर को हे संसार के भय से भीत पुरुषो ! मोक्षप्राप्ति के लिये ध्यान तथा रत्नत्रय आदि के द्वारा संपूर्ण प्रयत्न से प्राप्त करो ॥८१॥ (इस प्रकार संवर अनुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

इस जगत् में जिनेन्द्र भगवान् ने सविपाक और अविपाक के भेद से निर्जरा दो प्रकार की कही है। उनमें से पहली-सविपाक निर्जरा सभी जीवों के होती है और दूसरी--अविपाक निर्जरा तप के द्वारा मुनियों के होती है ॥८२॥ इस जगत् में विद्वज्जनों के द्वारा तप और सम्यक् चारित्र आदि से संवर के साथ जो निर्जरा की जाती है वह मोक्ष को देने वाली अविपाक निर्जरा ग्रहण करने योग्य है ॥८३॥ पुरुषों के जैसे जैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे वैसे ही मोक्ष लक्ष्मी निकटभाव को प्राप्त होती जाती है ॥८४॥ जब यहां मुनियों के आराधना के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है तब अनन्त गुणों का सागर स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है।८५। निर्जरा मुक्तिरूपी-स्त्री की माता है, समस्त सुखों की खान है, गुणों का आकर है जगत् हितकारी है, सत्पुरुषों को मान्य है तथा कर्मों का नाश करने वाली है ॥८६॥ जिस प्रकार यहां गर्मी द्वारा विना पके आम के फल पका लिये जाते हैं उसी प्रकार दर्शन ज्ञान तप चारित्र तथा इन्द्रिय दमन आदि के द्वारा उदयावली में अप्राप्त

इति मत्वा प्रयत्नेन कार्या सात्र मुमुक्षुभिः । कर्मणां मुक्तिलाभाय चिद्ध्यानतपसादिभिः ॥८८॥
रत्नत्रयेण सारेण त्रिकालयोगदुःकरैः । मनोऽक्षदमनेनैव कायक्लेशपरीषहैः ॥८९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

संसाराम्बुधितारिकां क्षयकरां दुःकर्मशत्रोः परा
सेव्या श्रीजिनपुङ्गवैर्गुणनिधिं मुक्तिस्त्रियो मातरम् ।
दुःखाद्रौ [1]पविसन्निभां सुखखनी श्वभ्रालयेष्वर्गलां
कुर्वीध्वं शिवलब्धये सुतपसा दक्षाः सदा निर्जराम् ॥९०॥

निर्जरानुप्रेक्षा

अधोमध्योर्द्ध्वभेदेन लोको नित्यस्त्रिधात्मकः । अकृत्रिमो जिनैः प्रोक्तो भृतः षड्द्रव्यसञ्चयैः ।९१।
नरकाण्यप्यधोभागे सप्त दुःखाकराणि च । भवन्त्येकोनपञ्चाशत्पटलान्यखिलानि च ।९२॥
चतुरशीतिलक्षाणि कुत्सितानि विलान्यपि । सर्वाशर्माकरीभूतानि स्यु कृत्स्नानि संग्रहैः ॥९३॥
ये सप्त व्यसनासक्ताः परस्त्रीधनलम्पटा. । क्रूरा रौद्राशया रौद्रकर्मध्यानादितत्पराः ॥९४॥

कर्म पका लिये जाते है—निर्जीर्ण कर दिये जाते है ॥८७॥ ऐसा जानकर यहां मोक्षाभिलाषी जीवों को मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान ध्यान तप आदि, सारभूत रत्नत्रय, अतिशय कठिन त्रिकाल योग, मन तथा इन्द्रियदमन और कायक्लेश तथा परीषह जय के द्वारा यत्नपूर्वक कर्मों की अविपाक निर्जरा करना चाहिये ॥८८–८९॥ जो संसाररूपी समुद्र से तारने वाली है, दुष्टकर्मरूपी शत्रु का क्षय करने वाली है, उत्कृष्ट है, श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा सेवनीय है, गुणों का भाण्डार है, मुक्तिरूपी स्त्री की माता है, दु खरूपी पर्वत को नष्ट करने के लिये वज्र समान है, सुख की खान है तथा नरकरूपी घर की आगल है ऐसी निर्जरा को हे चतुरजन हो ! मोक्ष की प्राप्ति के लिये उत्तम तप के द्वारा निरन्तर करो ॥९०॥

(इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा का चिन्तवन किया)

जिनेन्द्र भगवान् ने अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से लोक तीन प्रकार का कहा है। यह लोक नित्य है, अकृत्रिम है और छह द्रव्यों के समूह से भरा हुआ है ॥९१॥ अधोभाग में दुःखों की खानस्वरूप सात नरक हैं। इन सात नरकों के सब मिला कर उनंचास पटल है और चौरासी लाख निन्द्य बिल है। ये संपूर्ण बिल समस्त दुःखों की खान हैं ॥९२–९३॥ जो मनुष्य सात व्यसनों में आसक्त हैं, परस्त्री और परधन के लोभी हैं, क्रूर हैं, रौद्र परिणामी हैं, रौद्र कार्य तथा रौद्रध्यान मे तत्पर है, मिथ्यात्व की वासना

१ वज्रतुल्या ।

मिथ्यात्ववासिता मूढाः पापिनो धर्मवर्जिताः। निन्दका देवधर्मादिस्ते यान्ति तासु भूमिषु ॥९५॥
छेदनादिभवं दुःखं मानसं कायजं महत्। भुञ्जते तत्र ते पापात्कविवाचामगोचरम् ॥९६॥
जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽब्धयः। असंख्याता जिनैरुक्ता वलयाकारधारिणः ॥९७॥
मेर्वादिपर्वता ज्ञेया जिनागारादिमण्डिताः। ह्रदा नद्यादयः क्षेत्रभोगकर्मधरादयः ॥९८॥
इत्यादिमध्यलोकोऽत्र ह्यार्यम्लेच्छजनैर्भृतः। क्वचिद्देवैश्च विज्ञेयः पुण्यपापादिकारणः ॥९९॥
असंख्येयविमानानि चैत्यागारयुतान्यपि। [1]चन्द्रेनग्रहनक्षत्रतारकाणा भवन्त्यहो ॥१००॥
स्वर्गाः षोडश विज्ञेयाः सौधर्मादय एव च। ग्रैवेयकादयः कल्पातीताः सर्वसुखाकराः ॥१०१॥

से सहित है, मूर्ख है, पापी है, धर्म से रहित हैं, तथा देव और धर्म आदि के निन्दक हैं वे जीव उन भूमियों में जाते हैं ॥९५॥ वहां वे पाप के कारण छेदन आदि से होने वाले कविवचनागोचर कायिक और मानसिक महान् दुःख भोगते है ॥९६॥

मध्यमलोक में जिनेन्द्र भगवान् ने जम्बूद्वीप को आदि लेकर असंख्यात द्वीप और लवण समुद्र को आदि लेकर असंख्यात समुद्र कहे है। ये द्वीप समुद्र चूडी के आकार एक दूसरे को घेरे हुए है ॥९७॥ जिन चैत्यालयों से सुशोभित मेरु आदि पर्वत, सरोवर, नदी आदि, क्षेत्र, भोग भूमि कर्मभूमि आदि, सब मध्यम लोक है। यह मध्यम लोक आर्य तथा म्लेच्छजनों से और कही देवों से भरा हुआ है तथा पुण्य पाप आदि का कारण है। भावार्थ–मध्यलोक के अढाई द्वीप में आर्य तथा म्लेच्छ मनुष्यों का अस्तित्व है और उसके आगे असंख्य द्वीप समुद्रों में देवों का निवास है। तिर्यञ्चों का निवास सर्वत्र है। कहीं कहीं अढाई द्वीप में भी व्यन्तर और भवनवासी देवों का निवास है ॥९८–९९॥ अहो! जिन चैत्यालयों से युक्त चन्द्रमा सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारों के असख्यात विमान भी इसी मध्यमलोक मे है। भावार्थ–मध्यलोक का विस्तार मेरु पर्वत के एक हजार योजन नीचे से लेकर मेरु पर्वत की चोटी तक माना गया है इसलिये ज्योतिषी देवों का निवास भी मध्यमलोक में ही है ऐसा जानना चाहिये ॥१००॥

ऊर्ध्वलोक में सौधर्म आदि सोलह स्वर्ग और ग्रैवेयक आदि कल्पातीत विमान जानना चाहिये। ये सभी विमान सब सुखों की खान है। भावार्थ–मेरु पर्वत की चूलिका के ऊपर एक बाल का अन्तर छोड़कर ऊर्ध्वलोक की सीमा शुरू होती है। सौधर्मादि सोलह स्वर्ग कल्प कहलाते है क्योंकि इनमें इन्द्र सामानिक आदि दश भेदों की कल्पना रहती है और उसके ऊपर नव ग्रैवेयक आदि कल्पातीत कहलाते हैं क्योंकि उनमें इन्द्रादिक भेदों की

१. चन्द्र सूर्यग्रह–।

चतुरशीतिलक्षास्त्रयोविंशतियुता दिवि । त्रिसहस्रोनलक्षैश्च विमानाः सन्ति चाखिलाः १०२
अनेकर्द्धिसमायुक्ता जिनधामविभूषिताः । विश्वशर्माकरीभूताः कृत्स्नदुःखादिदूरगाः ॥१०३॥
रत्नत्रयतपोभूपा ज्ञानध्यानपरायणाः । जिनभक्ताः सदाचारा व्रतशीलादिमण्डिताः ।१०४
त्यक्तरागादिदोषौघा निष्पापा धर्मवासिताः । यान्ति स्वर्गं यथायोग्यं सदाचारा नरोत्तमाः ।१०५
ते तत्र विविध शर्मं दिव्यस्त्रीभिः समं सदा । भुञ्जाना न गतं कालं जानन्ति पुण्यपाकतः ।१०६
मोक्षाख्यास्ति शिला लोकाग्रे शुद्धस्फटिका शुभा । [1]नरक्षेत्रसमा वृत्ता रुन्द्रा द्वादशयोजना ।।१०७॥
तत्राष्टकर्मनिर्मुक्ता गुणाष्टकविभूषिताः । वन्द्या मया च भव्यौर्घैर्नित्याः सिद्धा हि चिन्मया ।
भुञ्जते प्रोत्तम शर्म निरौपम्यसुखोद्भवम्[2] । अनन्त विषयातीतं स्वात्मज शाश्वत सदा ॥१०९।
एव लोकत्रय ज्ञात्वा सुखदुःखादिसंकुले । वैराग्यिणो यतन्तेऽत्र मुक्तौ रत्नत्रयादिभि ।११०

शार्दूलविक्रीडितम्

सर्वद्रव्यभृतं ह्यनादिनिधनं शर्मासुखाद्याकरं
नित्यं दृग्विषयं जिनस्य नियतासंख्यप्रदेशात्मकम् ।

कल्पना नहीं रहती है ॥१०१॥ ऊर्ध्वलोक के सब विमान चौरासी लाख सतानवे हजार तेईस हैं ॥१०२॥ ये सभी विमान अनेक ऋद्धियों से सहित हैं, जिन मन्दिरों से विभूषित हैं, समस्त सुखों की खान है तथा सब दुःख आदि से दूर है ॥१०३॥ जो रत्नत्रय तथा तपरूपी आभूषण से सहित हैं, ज्ञान ध्यान में तत्पर रहते है, जिनेन्द्र भगवान के भक्त है, सदाचारी हैं, व्रतशील आदि से अलंकृत है, जिन्होंने रागादि दोषों के समूह को छोड़ दिया है, जो पाप रहित है और धर्म की वासना से सहित है ऐसे समीचीन आचार विचार वाले उत्तम मनुष्य यथायोग्य स्वर्गों में जाते हैं ॥१०४–१०५॥ वे वहां पुण्योदय से देवाङ्गनाओं के साथ सदा सुख भोगते हुए गत काल को नहीं जानते । भावार्थ–निरन्तर सुख में निमग्न रहने से वे यह नहीं जानते कि हमारा कितना काल व्यतीत हो चुका है ॥१०६॥

लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला है जो शुद्ध स्फटिक की है, शुभ है, मनुष्य क्षेत्र के बराबर पंतालीस लाख योजन विस्तार वाली है, गोल है और बारह योजन मोटी है ॥१०७॥ वहां आठ कर्मों से रहित, आठ गुणों से विभूषित, मेरे तथा भव्यजनों के द्वारा वन्दनीय, नित्य तथा चिन्मूर्ति सिद्ध भगवान् सदा उस उत्तम सुख का उपभोग करते हैं जो निरुपम–निराकुल सुख से उत्पन्न है, अनन्त है, विषयों से रहित है, स्वकीय आत्मा से उद्भूत है और शाश्वत है ॥१०८–१०९॥ इस प्रकार तीनों लोकों को जानकर सुख दुःख से परिपूर्ण लोक मे वैराग्य को धारण करने वाले मुनि रत्नत्रय आदि के द्वारा मुक्ति के लिये प्रयत्न करते हैं ॥११०॥ जो सब द्रव्यों से भरा हुआ है, अनादि निधन है, सुख दुःख

---

१ नरक्षेत्र।प्रदीप्तविस्तृता २ निरौपम्य सुखोद्भवम् म० प० ।

पुण्यापुण्यगृहं जिनेन्द्रगदितं ज्ञात्वेह लोकत्रयं

हत्वा रागमनारतं सुतपसा मोक्षं भजध्वं बुधाः ॥१११॥

लोकानुप्रेक्षा

मानुष्यं दुर्लभं विद्धयत्रानन्ते भवसागरे। चिन्तारत्नमिवाब्धौ दु कर्मारिवशवर्तिनाम् ॥११२॥
तत्प्राप्तेऽप्यतिदुःप्राप्यमार्यखण्डं वृषाकरम्। कथञ्चिद्धि तदाप्तेऽतिदुर्लभं कुलमुत्तमम् ॥११३॥
तल्लब्धेऽप्यङ्गिनामायुर्न दीर्घं सुलभं क्वचित्। दीर्घायुषामपि नृणां मतिः साध्वी [2]खपूर्णता ॥
कषायहीनता धर्मे बुद्धिर्देहनिरोगता। देवगुर्वादिसामग्री मणिवत्सुष्ठुदुर्लभा ॥११५॥
लब्धेष्वेतेषु मुञ्चन्ति मिथ्यात्वं ये न निःफला। सामग्री साखिला तेषां धर्महीना यथा मतिः ॥११६॥
तत्त्यागेऽपि श्रुतं वृत्तं तपश्चात्यन्तदुर्लभम्। निःपापाचरणं पुंसां भवेत्कल्पद्रुमोपमम् ॥११७॥
इत्यादि बोधिलब्धाना समाधिमरणं महत्। निधानं वानघाचारं यावज्जीवं सुदुर्लभम् ॥११८॥

आदि की खान है, नित्य है, जिनेन्द्रदेव के दृष्टिगोचर है—केवलज्ञान का विषय है, नियत असंख्यात प्रदेश वाला है, तथा पुण्य और पाप का घर है ऐसे जिनेन्द्र कथित तीनों लोकों को जानकर हे बुधजन हो ! राग को नष्टकर निरन्तर तप के द्वारा मोक्ष की आराधना करो ॥१११॥

(इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा का चिन्तन किया)

दुष्ट कर्मरूपी शत्रुओं के वश में रहने वाले जीवों को इस अनन्त ससार सागर में मनुष्य पर्याय उसी प्रकार दुर्लभ है जिस प्रकार कि समुद्र में चिन्तामणि दुर्लभ होता है ॥११२॥ उस मनुष्य पर्याय के प्राप्त होने पर भी धर्म की खान स्वरूप आर्य खण्ड का मिलना कठिन है। कथंचित् आर्यखण्ड के मिलने पर भी उत्तम कुल का मिलना अत्यन्त कठिन है ॥११३॥ कदाचित् वह भी मिल जाय तो दीर्घ आयु का मिलना सुलभ नहीं है तथा दीर्घ आयु मिलने पर भी मनुष्यों की उत्तम बुद्धि, इन्द्रियों की पूर्णता, कषाय की हीनता, धर्म की बुद्धि, शरीर की नीरोगता और देव गुरु आदि की सामग्री का मिलना मणि के समान अत्यन्त दुर्लभ है ॥११४–११५॥ इन सबके मिलने पर भी जो मनुष्य मिथ्यात्व को नहीं छोड़ते है उनकी वह समस्त सामग्री उस प्रकार निष्फल है जिस प्रकार कि धर्म से रहित बुद्धि निष्फल होती है ॥११६॥ मिथ्यात्व का त्याग होने पर भी सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप अत्यन्त दुर्लभ है। वास्तव में पाप रहित आचरण मनुष्यों के लिये कल्पवृक्ष के समान है ॥११७॥ इत्यादि रूप से बोधि को प्राप्त हुए मनुष्यों को बड़े भारी निधान के समान निर्दोष आचरण से युक्त समाधिमरण का प्राप्त

२. इन्द्रियपूर्णता।

इत्यादि बोधिमासाद्य समाधिमरणे बुधैः । महायत्नो विधातव्यो येन सा सफला भवेत् ।।११६।
प्राप्य बोधिं प्रमादं ये तद्रक्षादौ च कुर्वते । समाधिमरणे तेऽघाद्भवारण्ये भ्रमन्त्यहो ।।१२०।।
इति मत्वा जनैः कार्यो बोधिरक्षाविधौ महान् । यत्नश्चोत्तममृत्वादौ प्रमादेन विनानिशम्[1] १२१

शार्दूलविक्रीडितम्

संसारेऽत्र च दुःखराशिविकटे नृत्वं कुलं चोत्तमं
स्वायुः कायमनामयं खसकलं सारं विवेकं वृषम् ।
चिन्तारत्नमिवातिदुर्लभतरं दक्षं मनोहृक्श्रुतं
बुद्ध्वेत्याशु जना यतध्वमनिशं धर्मे च रत्नत्रये ।।१२२।।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा

भवाब्धौ पतनाच्छीघ्रं य उद्धृत्याङ्गिनः शुभे । स्थापयत्यचलस्थाने तं धर्मं विद्धि तत्त्वतः ।।१२३।।
उत्तमादौ क्षमा मार्दवमार्जवं सुसत्यवाक् । शौच संयम एवानुतपस्त्यागस्तथोत्तमः ।।१२४।।
आकिञ्चन्यं महद्ब्रह्मचर्यं चेति दशात्मकः । धर्मः साध्योऽप्यमीभिः सल्लक्षणैर्दशभिर्बुधैः १२५।

होना जीवन पर्यन्त अत्यन्त दुर्लभ रहता है। भावार्थ–बोधि के प्राप्त होने पर भी यथाविधि समाधिमरण का प्राप्त होना कठिन है ।।११८।। इत्यादि रूप से बोधि को प्राप्त कर ज्ञानी जीवों को समाधिमरण के विषय महान् यत्न करना चाहिये जिससे वह बोधि सफल हो सके ।।११६।। जो मनुष्य बोधि को प्राप्त कर उसकी रक्षा आदि करने तथा समाधिमरण में प्रमाद करते हैं वे पाप से संसार सागर में भ्रमण करते हैं ।।१२०।। ऐसा जानकर मनुष्यों को बोधि की रक्षा तथा उत्तम समाधिमरण आदि मे प्रमाद रहित होकर निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।।१२१।। दुःखसमूह से परिपूर्ण इस संसार में मनुष्यभव, उत्तमकुल, दीर्घ आयु, नीरोग शरीर, इन्द्रियों की पूर्णता, श्रेष्ठ विवेक, धर्म, समर्थ मन, सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान ये सब चिन्तामणि के समान अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा जानकर हे ज्ञानीजन हो ! धर्म तथा रत्नत्रय के विषय में शीघ्र ही निरन्तर प्रयत्न करो ।।१२२।।

(इस प्रकार बोधिदुर्लभभावना का चिन्तन किया)

जो संसाररूपी सागर में पतन से निकाल कर जीवों को शीघ्र ही शुभ और अविनाशी स्थान में स्थापित कर दे उसे परमार्थ से धर्म जानो ।।१२३।। सब से पहले विद्वानों को उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्यवचन, शौच, संयम, तप, उत्तमत्याग, आकिञ्चन्य और महान् ब्रह्मचर्य यह दशरूप धर्म, इन उत्तम क्षमा आदि दश लक्षणों के द्वारा सिद्ध करना

1. [illegible]

धर्मो नरकपातालान्नरानुद्धरितु क्षमः । तथा स्थापयितु शक्रराज्येऽनन्तसुखेऽथवा ॥१२६॥
धर्मोऽमुत्र सुपाथेयं सहगामी वृषोऽङ्गिनाम् । सर्वत्र व्यसने बन्धुर्धर्मः पापारिनाशकृत् ॥१२७॥
मुक्तिश्रीः स्वयमासक्ता याति धर्मात्सुधर्मिणः । स्वभार्येव द्रुतं लोके का कथा परसच्छ्रियः ॥१२८॥
ये कुर्वन्ति सदा धर्मं दृक्चिद्वृत्तैः क्षमादिभिः । तेषां किं दुर्लभं लोकत्रये सौख्यं च सत्पदम् ।१२९।
भासते सफल तेषा जन्मायुर्ये निरन्तरम् । सर्वशक्त्या भजन्त्येक धर्मं यत्नेन मुक्तये ॥१३०॥
बिना धर्मेण लोकाना मानुष्यं दुर्लभ वृथा । सत्कुल च मतिर्यस्मात् तत्स्याच्छ्वभ्रस्य कारणम् ।
जीवन्तोऽपि मृता ज्ञेया मानवा धर्मवर्जिताः । धर्मवन्तोऽमृता नूनमिहामुत्र च जीविता ॥१३२॥
विज्ञायेति न नेतव्यात्रैका कालकला क्वचित् । विना धर्मेण संप्राप्यं मानुष्य दुर्लभ जनैः ॥१३३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्मो विश्वसुखप्रदोऽघहतको धर्मं व्यधुर्धार्मिका,
धर्मेणाशु विलभ्यते शिवपद धर्माय मूर्ध्ना नमः ।

चाहिये ॥१२४–१२५॥ धर्म, मनुष्यों को नरकरूपी पाताल से निकालने तथा इन्द्र का राज्य अथवा अनन्त सुख–मोक्ष में स्थापित करने के लिये समर्थ है ॥१२६॥ धर्म, परलोक के लिये उत्तम पाथेय–संबल है, धर्म प्राणियों के साथ जाने वाला है, धर्म सभी संकटों में बन्धु है और धर्म पापरूपी शत्रु को नष्ट करने वाला है ॥१२७॥ धर्म से जब मुक्तिरूपी लक्ष्मी स्वयं आसक्त होकर अपनी स्त्री के समान शीघ्र ही समीप आ जाती है तब अन्य लक्ष्मियों की क्या कथा है ? ॥१२८॥ जो मनुष्य सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तथा क्षमा आदि के द्वारा सदा धर्म करते है उनके लिये तीनों लोकों में कौन सुख और कौन उत्तम पद दुर्लभ है ? अर्थात् कोई भी नहीं ॥१२९॥ उन्हीं का जन्म और जीवन सफल मालूम होता है जो संपूर्ण शक्ति से मुक्ति के लिये निरन्तर एक धर्म की उपासना करते है ।१३०। धर्म के विना लोगों का दुर्लभ मनुष्य भव, उत्तम कुल और उत्तम बुद्धि व्यर्थ है क्योंकि उसके विना यह सब नरक का कारण है ॥१३१॥ धर्म से रहित मनुष्य जीवित रहते हुए भी मृत है और धर्म सहित मनुष्य मर कर भी इस लोक तथा परलोक में जीवित है ऐसा जानना चाहिये ॥१३२॥ ऐसा जानकर तथा दुर्लभ मनुष्य पर्याय प्राप्त कर मनुष्यों को धर्म के बिना कहीं काल की एक कला भी नहीं व्यतीत करना चाहिये ॥१३३॥

धर्म समस्त सुखों को देने वाला, तथा पापों का नाश करने वाला है, धार्मिकजन धर्म करते है, धर्म के द्वारा शीघ्र ही मोक्षपद प्राप्त होता है, धर्म के लिये शिर से नमस्कार हो, धर्म से भिन्न दूसरा हितकारी पिता नहीं है, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, मैं प्रतिदिन

धर्मान्नास्त्यपरः पितात्र हितकृद्धर्मस्य बीजं सुहृग्,
धर्मेऽहं विदधे मनः प्रतिदिनं हे धर्म मेऽघं हर ।।१३४।।
इत्येता हृदि चिन्तयन्त्यनुदिनं मुक्तेः सुसख्योप्यनु-
प्रेक्षा येऽत्र पलायतेऽघसहितो रागश्च तेभ्यः खलः ।
तन्नाशाच्च विजायतेऽति परमो निर्वेद एवाघहृन्-
निर्वेदात्तप एव दुःकरमतस्तेषा शिवोऽघक्षयात् ।।१३५।।

मालिनी

सकलगुणनिधानाः सर्वसिद्धान्तमूला जिनवरमुनिसेव्या रागपापारिहन्त्रीः ।
शिवगतिसुखखानीः सिद्धयेमुक्तिकामा अनवरतमनुप्रेक्षा भजध्व प्रयत्नात् ।।१३६।।

शार्दूलविक्रीडितम्

यो रागादिरिपून् विजित्य जिनपो निर्वेदतीक्ष्णासिना
बाल्येऽप्यत्र चकार संनिजवशे वैराग्यराज्यं महत् ।
हत्वा शर्म नृदेवज च विभव त्रैलोक्यराज्याय तं
स्तोष्ये तद्गुणसिद्धये गुणगणैर्विघ्नौघनाशंकरम् ।।१३७।।

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रेऽनुप्रेक्षावर्णनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।।१५।।

धर्म में मन लगाता हूं, हे धर्म ! मेरा पाप नष्ट करो ।।१३४।। मुक्ति की सखी स्वरूप इन अनुप्रेक्षाओं का जो प्रतिदिन हृदय में चिन्तन करते हैं उनके समीप से पाप सहित रागरूपी दुर्जन भाग जाता है, राग के नष्ट हो जाने से पाप को नष्ट करने वाला अत्यन्त उत्कृष्ट वैराग्य ही उत्पन्न होता है, वैराग्य से कठिन तप प्राप्त होता है और तप से पापों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है ।।१३५।। जो समस्त गुणों की निधान है, समस्त सिद्धान्तों की मूल हैं, जिनेन्द्र देव तथा बड़े बड़े मुनियों के द्वारा सेवनीय हैं, राग और पापरूपी शत्रु को नष्ट करने वाली है, और मोक्षगति के सुखों की खान हैं, ऐसी अनुप्रेक्षाओं का हे मोक्षाभिलाषी जीवो ! मोक्ष के लिये निरन्तर प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करो ।।१३६।।

जिन्होंने वैराग्यरूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा रागादि शत्रुओं को जीतकर बाल्य अवस्था मे भी बहुत बड़े वैराग्यरूपी राज्य को अपने वश कर लिया था तथा मनुष्य और देव पर्याय में होने वाले सुख और वैभव को छोड़कर जो तीन लोक का राज्य प्राप्त करने के लिये समर्थ हुए थे, गुणसमूह के द्वारा विघ्नसमूह को नष्ट करने वाले उन पार्श्व जिनेन्द्र की, उनके गुणों की प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूँ ।।१३७।।

इस प्रकार श्रीभट्टारक सकलकीर्ति के द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में अनुप्रेक्षाओं का वर्णन करने वाला पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१५।।

षोडशः सर्गः

श्रीमन्तं त्यक्तरागादिदोषं लोकत्रयार्चितम् । वैराग्यादिगुणापन्नं पार्श्वनाथं नमाम्यहम् ।।१।।
अथ सारस्वता देवा आदित्या वह्नयोऽरुणाः । निर्जरा गर्दतोयाख्यास्तुषिता दिव्यमूर्तयः ।।२।।
अव्याबाधा अरिष्टाः स्युरेते लौकान्तिकामराः । अष्टधा त्रिदशैर्मान्या ध्रुवमेकावतारिणः ।।३।।
[1]विश्वपूर्वधराः सौम्या देवीरागादिवर्जिताः । जिननिःक्रान्तिकल्याणशंसिनो मुक्तिकाङ्क्षिणः ।४।
ब्रह्मलोकालयावासाः ख्याता देवर्षयोऽमलाः । स्वावधिज्ञानयोगेन ज्ञातनिःक्रमणोत्सवाः ।।५।।
आजग्मुर्द्योतयन्तः [2]खं स्वाङ्गभूषादिदीप्तिभिः । तत्र ते स्वनियोगाय निसर्गब्रह्मचारिणः ।।६।।
तदङ्घ्रिकमलौ नत्वा भूर्षाभ्यर्च्य मनोहरौ । कल्पवृक्षप्रसूनाद्यैर्भक्त्या संयमकारणैः ।।७।।
वचोऽमलैर्मनोज्ञैस्ते तद्गुणग्रामशंसिभिः । भक्त्या प्रारेभिरे स्तोतुं जिनवैराग्यवृद्धये ।।८।।

षोडश सर्ग

जो अनन्तचतुष्टय रूप अन्तरङ्ग और अष्टप्रातिहार्यरूप बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित हैं, जिनके रागादि दोष छूट गये हैं, जो तीनों लोकों के द्वारा पूजित हैं, तथा वैराग्यादि गुणों से संपन्न हैं उन पार्श्वनाथ भगवान् को मै नमस्कार करता हूं ।।१।।

अथानन्तर सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, दिव्य शरीर के धारक तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव, जो कि देवों के द्वारा मान्य हैं, नियम से एकभवावतारी है, समस्त पूर्वो के पाठी हैं, सौम्य हैं, देवी सम्बन्धी रागादि से रहित हैं, जिनेन्द्र भगवान् के दीक्षा कल्याणक को सूचित करते है, मुक्ति के अभिलाषी हैं, ब्रह्मलोक–पञ्चम स्वर्ग के निवासी हैं, देवर्षि नाम से विख्यात हैं, निर्मल हैं, अपने अवधिज्ञान के द्वारा जिन्होंने दीक्षा कल्याणक के उत्सव को जान लिया है, जो अपने शरीर तथा आभूषणादि की दीप्ति से आकाश को प्रकाशित कर रहे हैं तथा स्वभाव से ब्रह्मचारी है, अपना नियोग पूरा करने के लिये वहां आ पहुँचे ।।२–६।। आते ही साथ उन्होंने भगवान् के मनोहर चरण कमलों को नमस्कार किया, संयम के कारणभूत कल्पवृक्ष के पुष्प आदि से भक्तिपूर्वक पूजा की और उसके पश्चात् वे भगवान् के गुणसमूह को सूचित करने वाले मनोहर निर्मल वचनों के द्वारा जिनेन्द्र देव के वैराग्य की वृद्धि के लिये भक्तिपूर्वक स्तुति करने को उद्यत हुए ।।७–८।।

---

१ चतुर्दशपूर्वधराः २. गगनं ।

मोहारातिजयोद्योगमधुना संविवित्सुना । भव्याङ्गिनां जगन्नाथ बन्धुकृत्यं त्वयेहितम् ॥९॥
प्रकम्पतेऽद्य कामारिः संवेगासिकराङ्कितम् । दृष्ट्वा त्वां हा हतो हीत्युक्त्वा नाथ द्विप्रियायुतः[1]
जगत्त्रयमिदं देव धर्महस्तावलम्बनैः । अज्ञानकूपपातात्त्वं कारुण्यादुद्धरिष्यसि ॥११॥
त्वया निष्पादितं धर्मपोतमारुह्य दुस्तरम् । उत्तरिष्यन्ति भव्यौघा जिनानन्तभवाम्बुधिम् ।१२
देव वागंशुभिर्दीप्तैर्मोहनिद्रास्तचेतनम् । बोधयिष्यसि विश्वं त्वं स्वर्गमोक्षाध्वदर्शिभिः ।१३
पापपङ्के निमग्नान्प्राणिनस्त्वमुद्धरिष्यसि । कृपया नाथ धर्मोपदेशहस्तावलम्बनैः ।१४॥
मोहमल्लविजेतारं त्रातारं शरणार्थिनाम् । हन्तार कर्मशत्रूणां त्वां वदन्ति विचक्षणाः ।१५॥
त्व स्वयम्भूः स्वयंबुद्धस्त्रिज्ञानालङ्कृतः सुधीः । अस्मान्मुक्तिपथं नाथ बोधयितासि निष्तुपम् ।१६।
ज्ञानमूर्ते न बोध्यस्त्वमस्मदादिभिरेव हि । दीयते किं प्रकाशाय रवेर्दीपो जगद्गुरो[2] ॥१७॥
[3]वनस्पतेर्यथा पुष्पैरर्चनं क्रियते शठैः । तथा सम्बोधनं तेऽस्माभिर्नियोगाय केवलम् ॥१८॥

हे जगन्नाथ ! इस समय मोहरूपी शत्रु को जीतने की इच्छा करते हुए आपने भव्य जीवों के प्रति बन्धु का कार्य करने की चेष्टा की है ॥९॥ हे नाथ ! जिनका हाथ संवेग रूपी खड्ग से सहित है ऐसे आपको देखकर आज रति और प्रीतिरूपी दो प्रियाओं से युक्त कामदेव 'हाय मारा गया' यह कहकर थर थर काँपने लगा है ॥१०॥ हे देव ! आप दया भाव से धर्मरूपी हाथ का आलम्बन देकर इस जगत्त्रय को अज्ञानरूपी कूप में पतन से उद्धृत करोगे ॥११॥ हे जिन ! आपके द्वारा निर्मापित धर्मरूपी जहाज पर आरूढ होकर भव्य जीवों के समूह कठिनाई से पार करने के योग्य अनन्त संसाररूपी सागर को पार करेंगे ॥१२॥ हे देव ! मोहरूपी निद्रा से जिसकी चेतना नष्ट हो गई है ऐसे विश्व को आप स्वर्ग तथा मोक्ष का मार्ग दिखलाने वाली वचनरूपी किरणों के द्वारा जागृत करेंगे ॥१३॥ हे नाथ ! आप दयाभाव से धर्मोपदेशरूपी हाथ का आलम्बन देकर पापपङ्क में डूबे हुए प्राणियों का उद्धार करेंगे ॥१४॥ विद्वान् लोग आपको मोहरूपी मल्ल के विजेता, शरणार्थियों के रक्षक तथा कर्मरूपी शत्रुओं का घात करने वाला कहते हैं ॥१५॥ हे नाथ ! आप स्वयंभू हैं, स्वयं बुद्ध हैं, तीन ज्ञानों से अलंकृत हैं तथा उत्तम बुद्धि से युक्त हैं अतः हम सबको निर्दोष मुक्ति का मार्ग बतलावेंगे ॥१६॥ हे ज्ञानमूर्ते ! यह निश्चित है कि आप हम लोगों के द्वारा बोध्य नहीं हैं अर्थात् आपको संबोधित करने की योग्यता हम लोगों में नहीं है । यह ठीक ही है क्योंकि हे जगद्गुरो ! सूर्य को प्रकाशित करने के लिये क्या दीपक दिया जाता है ? अर्थात् नहीं दिया जाता ॥१७॥ जिस प्रकार अज्ञानी जनों द्वारा फूलों से वृक्ष का पूजन किया जाता है उसी प्रकार हम लोगों के द्वारा आपका संबोधन मात्र

१. द्विप्रिया यती ख० द्विप्रियं यथी घ० २. जगद्गुरुः ग० जगद्गुरुन् ख० घ० ३. वनस्पता ख० ग० घ० ।

अथवा बोधितोऽस्मान् संबोधयस्यखिलं हितम् । त्वं नाथात्र यथा दीपस्तमोघ्नाश्वार्थदर्शकः ।१६।
कुर्वन्ति स्वहित केचिद्दक्षास्त्वं श्रीजिनाधिप । स्वान्ययोः स्वहितं कीर्ता भविष्यस्ययदर्शनात्[1] ।२०।
केवलज्ञानमेघस्त्वं भूत्वा दिव्यवचोऽम्बुभिः । सतां मोक्षफलप्राप्त्यै धर्मवृष्टि करिष्यसि ।।२१।।
भवन्निर्दर्शितं मार्गं केचिदासाद्य धीधनाः । देव हत्वा स्वकर्मारीन् वृत्ताद्यास्यन्ति निर्वृतिम् २२
तव धर्मोपदेशेन केचिदादाय सयमम् । गमिष्यन्ति जिनाधीश सर्वार्थसिद्धिमत्र हि ।।२३।।
त्वया निगदित तीर्थं प्राप्य केचिद्द्विवलोकजम् । भुक्त्वा शर्म भविष्यन्ति मुक्तिनाथाः क्रमाद्बुधाः ।।
केवलेन भवन्त नाथासाद्य केचिदप्यहो । अज्ञानध्वान्तमाहत्य भविष्यन्ति भवत्समाः ।।२५।
भवत्सूर्योदय प्राप्य मोहनिद्रां प्रहत्य वै । प्रभो चिच्चक्षुषा केचिल्लोकयिष्यन्ति सच्छिवम् ।।
भवत्संबोधनाद्विश्वसुकल्याणपरम्पराम् । संलप्स्यन्ते बुधाः स्वामिन् दुःख हत्वा जगत्त्रये ।।
धन्या भवादृशा दुर्लभतरास्तेऽत्र हे प्रभो । हत्वा बाल्येऽपि कामारीन् ये गृह्णन्ति तपोऽनघम् ।।
दुस्सहान् कोमलाङ्गेऽपि ये सहन्ते परीषहान् । धन्यास्त एव लोकेऽस्मिन्महान्तो धैर्यशालिनः २६।

नियोग के लिये है आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं ।।१८।। अथवा हे नाथ ! हम लोगों के द्वारा बोधित हुए आप हम लोगों को समस्त हित का बोध करावेंगे जिस प्रकार हम लोगों के द्वारा जलाया हुआ दीपक हम लोगों के अन्धकार को नष्ट करता है और घट-पटादि पदार्थों को दिखाता है ।।१६।। हे जिनेन्द्र ! कितने चतुर लोग अपना हित करते है परन्तु आप पुण्य का मार्ग दिखला कर निज और पर दोनों के हित कर्ता होंगे ।।२०।। आप केवलज्ञानरूपी मेघ होकर दिव्यवचनरूपी जल के द्वारा सत्पुरुषों को मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिये धर्मरूप वृष्टि करेंगे ।।२१।। हे देव ! आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्ग को प्राप्त कर कितने ही बुद्धिमान् चारित्र से अपने कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त होंगे ।।२२।। हे जिनेन्द्र ! आपके उपदेश से संयम ग्रहण कर कितने ही लोग सर्वार्थ सिद्धि जावेंगे ।।२३।। आपके द्वारा कहे हुए तीर्थ को प्राप्त कर कितने ही विद्वज्जन दोनों लोकों का सुख भोग कर क्रम से मुक्ति के स्वामी होंगे ।।२४।। अहो नाथ ! कितने ही लोग आपको प्राप्त कर केवलज्ञान के द्वारा अज्ञान तिमिर को नष्ट कर आपके समान होंगे ।।२५। हे प्रभो ! कितने ही लोग आप जैसे सूर्य का उदय प्राप्तकर तथा निश्चय से मोहरूपी निद्रा को नष्ट कर ज्ञानरूपी चक्षु के द्वारा समीचीन मोक्ष को देखेंगे ।।२६।। हे स्वामिन् ! आपके सम्बोधन से विद्वज्जन तीनों लोकों में दुःख को नष्ट कर समस्त कल्याणों की परम्परा को प्राप्त करेंगे ।।२७।। हे प्रभो ! इस जगत् में आप जैसे धन्यभाग मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं जो बाल्यावस्था में भी कामशत्रु को नष्ट कर निर्दोष तप ग्रहण करते है ।।२८।। जो कोमल शरीर में भी कठिन परिषहों को सहते हैं वे ही इस लोक में धन्य हैं, महान् हैं

१ पुण्यदर्शनात् ।

तत्त्वया विहितं भद्रं स्वल्पायुष्केऽपि यत्कृतम् । वैराग्याधिष्ठितं चेतो दीक्षायै त्रिजगद्गुरो[1] ॥३०॥
अतः शीघ्रं कुरूद्योगं स्वान्ययोर्हितकारणम् । सयमाप्त्यै जगद्भर्त्तो[2] हत्वा मोहादिविद्विषः ।३१।
संयमग्रहणे स्वामिनेष कालः समागतः । कर्मारातीन् विजेतुं स्रष्टुं धर्मतीर्थमेव च ॥३२॥
अतो जयेश देव त्वं कर्मारीश्च तपोऽसिना । मोहमल्लं स्मरारातिं वैराग्यास्त्रेण [3]खानि च ३३
परीषहभटान्नाथ त्वं घातय तपोऽसिना । केवलज्ञानमासाद्य स्वाधीनं कुरु सच्छिवम् ॥३४॥
उत्तिष्ठतां भवान्मुक्तौ कुमार धर्मवर्तने । स्त्रीभोगादीन् भुक्त्वापि ह्यतृप्तिजनकान् द्रुतम् ३५
सर्ववस्तुषु संवेगसंप्राप्ताय नमोऽस्तु ते । निःस्पृहाय स्वराज्यादौ सस्पृहाय [4]शिवे जिन ।३६
मुमुक्षवे नमस्तुभ्य नमः कामारिनाशिने । दीक्षोद्यताय ते प्रभो त्यक्तरागाय ते नमः ॥३७॥
नमस्ते दिव्यरूपाय सद्बालब्रह्मचारिणे । मोहघ्नाय नमस्तुभ्यं त्रिजगत्स्वामिने नमः ॥३८।
देवैतत्स्तवनेनात्र प्रार्थयामो जगच्छ्रियम् । न हि त्वा किन्तु नो देहि [5]बाल्ये वृत्तं भवे भवे ३९

और धैर्यशाली है ॥२९॥ हे तीन जगत् के गुरु ! आपने यह बहुत भला किया जो अल्पायु में भी वैराग्य से युक्त अपना चित्त दीक्षा के लिये उद्यत किया ॥३०॥ इसलिये हे जगत्पते ! मोहादि शत्रुओं को नष्ट कर संयम की प्राप्ति के लिये स्वपरहितकारक उद्योग शीघ्र ही कीजिये ॥३१॥ हे स्वामिन् ! यह समय संयम के ग्रहण करने, कर्मशत्रुओं को जीतने और धर्मतीर्थ की सृष्टि करने के लिये आया है ॥३२॥ इसलिये हे ईश ! हे देव ! तुम तपरूपी तलवार के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं को जीतो और वैराग्यरूपी शस्त्र के द्वारा मोहरूपी मल्ल, कामरूपी शत्रु तथा इन्द्रियों को परास्त करो ॥३३॥ हे नाथ ! तुम तपरूपी खड्ग के द्वारा परिषहरूपी योद्धाओं का घात करो और केवलज्ञान प्राप्त कर उत्तम मोक्ष को अपने अधीन करो ॥३४॥ हे कुमार ! जो भोगकर भी अतृप्ति को उत्पन्न करने वाले है ऐसे स्त्रीभोग आदि को शीघ्र ही छोड़ कर आप धर्म के प्रवर्तानि और मुक्ति प्राप्त करने के लिये उद्यमयुक्त होओ ॥३५॥ हे जिन ! जो सब वस्तुओं में संवेग को प्राप्त है, अपने राज्य आदि में निःस्पृह है तथा मोक्ष में स्पृहा–इच्छा से सहित हैं ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥३६॥ हे प्रभो ! आप मुमुक्षु हैं अतः आपको नमस्कार है। आप कामशत्रु को नष्ट करने वाले है अतः आपको नमस्कार है। आप दीक्षा के लिये उद्यत हैं इसलिये आपको नमस्कार है। आप वीतराग हैं अतः आपको नमस्कार है ॥३७॥ आप दिव्य रूप के धारक होकर भी उत्तम बाल ब्रह्मचारी हैं अतः आपको नमस्कार है। आप मोह को नष्ट करने वाले हैं अतः आपको नमस्कार है। आप तीन जगत् के स्वामी है अतः आपको नमस्कार है ॥३८॥ हे देव ! इस स्तवन के द्वारा हम आपसे यहां जगत् की लक्ष्मी नहीं चाहते है

१. त्रिजगद्गुरो· ख० घ० २ जगद्भर्ता ग० ३ इन्द्रियाणि ४. विशेषत· ख० घ० ५. कल्ये वृत्तं ख० ।

इति स्तुत्वा जिनाधीशं सम्प्रार्थ्य स्वेष्टवस्तु च । स्वं नियोगं विधायोच्चैर्नत्वा तत्पादपङ्कजम् ।४०।।
मुहुर्मूर्ध्ना व्युपार्ज्यातिपुण्यं स्तवनपूजया । शुद्धाशयाः सुरास्तेऽतः कृतकार्या दिवं ययुः ।।४१।।
तेषां वचोंऽशवः प्रापुर्जिनस्य सहकारिताम्[1] । मोहध्वान्तविनाशे च यथा दीपः सचक्षुषाम् ।४२।।
ततोऽववुध्य घण्टादिनादेनावधिना तदा । तन्निःक्रमणकल्याणं सामराः[2] कम्पितासनाः ।४३।
द्योतयन्तो दिशः खं च स्वाङ्गनेपथ्यरश्मिभिः । अनेकविक्रियोपेतदिव्यस्त्रीवृन्दवेष्टिताः ।।४४।
चतुर्णिकायजाः सर्वो स्वस्वभूत्युपलक्षिताः । आजग्मुर्निजधर्माय तत्रेन्द्रा हर्षिताननाः ।।४५।।
नभोऽङ्गणमथारुध्य वनं च परितः पुरीम् । वीथी तस्थुः सुरानीकाः सकलत्राः सवाहनाः ।४६।
अप्सरोभिश्च गीर्वाणैर्गीतनृत्यमहोत्सवैः । तदा बभौ पुरी सातिरम्या स्वर्नगरी यथा ।।४७।।
ततोऽस्य [3]परिनिष्क्रान्तिमहाकल्याणसिद्धये । महाभिषेकमाचक्रुर्देवेन्द्राः सामरा मुदा ।।४८।।

किन्तु हम लोगों को भव भव में बाल्यावस्था में चारित्र प्रदान करो ।।३९।। इस प्रकार जिनेन्द्र की स्तुति कर, अपनी इष्ट वस्तु की प्रार्थना कर, अपना नियोग पूरा कर, उनके चरण कमलों में मस्तक से बार बार नमस्कार कर तथा स्तवन रूप पूजा से अत्यधिक पुण्य उपार्जन कर, शुद्ध अभिप्राय से सहित वे देव कृतकृत्य होते हुए यहां से स्वर्ग चले गये ।।४०-४१।।

जिस प्रकार दीपक चक्षु सहित मनुष्यों का अन्धकार नष्ट करने में सहकारिता को प्राप्त होता है उसी प्रकार उन लौकान्तिक देवों के वचनरूपी किरणें जिनराज के मोहरूपी तिमिर के नष्ट करने में सहकारिता को प्राप्त हुई थीं ।।४२।।

तदनन्तर जो देवों से सहित है जिनके आसन कम्पित हुए है, जो अपने शरीर और आभूषणों की कान्ति से दिशाओं तथा आकाश को देदीप्यमान कर रहे है, जो अनेक विक्रियाओं से सहित देवाङ्गनाओं के समूह से वेष्टित हैं, अपनी अपनी विभूति से सहित हैं, तथा जिनके मुख हर्षित हो रहे है ऐसे चतुर्णिकाय के इन्द्र घण्टा आदि के शब्द तथा अवधिज्ञान के द्वारा उस समय भगवान् का निःक्रमण कल्याणक-दीक्षाकल्याणक जानकर अपने धर्म के लिये-अपना कर्तव्य पूर्ण करने के लिये आ पहुँचे ।।४३-४५।। तदनन्तर स्त्रियों और वाहनों से सहित देव सेनाएं गगनाङ्गण, वन, नगरी और गलियों को चारों ओर से घेरकर खड़ी हो गईं ।।४६।। उस समय अप्सराओं, देवों, और गीत नृत्य के महोत्सवों से अत्यन्त रमणीयता को प्राप्त हुई वह नगरी स्वर्गपुरी के समान सुशोभित हो रही थी ।।४७।।

तदनन्तर देवों से सहित इन्द्रों ने तपः कल्याणक की सिद्धि के लिये हर्षपूर्वक भग-

१ सहकारिणीम् ग० २ कल्याणममरा ग० ३ दीक्षाकल्याण- ।

क्षीरार्णवाम्बुसंपूर्णैर्मुक्तादामादिभूषितैः । हेमकुम्भैर्महाभूत्या ह्यारोप्य हरिविष्टरे ।।४९।।
पुनर्विभूषयामासुर्निसर्गसुन्दर जिनम् । ते वा मुक्तेर्वरं दिव्यमालाभूषाम्बरादिभिः ।।५०।।
ततः सत्रोध्य वैराग्यवचोभिः पितृबान्धववान् । मातरं चातिकष्टेन विसृज्य जिनपुङ्गवः ।।५१।।
शक्रहस्तं समालम्ब्य[1] शिविकां विमलाभिधाम् । देवोत्पन्नां प्रतिज्ञां वा दीक्षायामारुरोह सः ।।५२।।
चन्दनालिप्तदीप्ताङ्गः स्रग्वी भूषाद्यलङ्कृतः । स रेजे शिविकारूढः सद्वरो वा तपःश्रियः ।।५३।।
आदौ सप्तपदान्यूहुर्मुदा तां शिविकां नृपा । ततो निन्युः खगाधीशा व्योम्नि सप्तपदान्तरम् ५४
ततः सुरासुराः स्वस्वस्कन्धेष्वारोप्य भक्तितः । तामुत्पेतुर्नभो भूत्या सानन्दा ह्यविलम्बितम् ।।५५।।
अहो पर्याप्तमत्रास्य विभोर्माहात्म्यशंसनम् । कल्पनाथास्तदा यद्बभूवुर्युग्मकवाहिनः ।।५६।।
पुष्पवर्षं तदा चक्रुः कुसुमैः कल्पशाखिजैः । देवा ववौ मरुद्गङ्गा शीकराहारशीतलः ।।५७।।
प्रस्थानमङ्गलान्युच्चैर्दीक्षोत्साहकराण्यपि । दिव्येन वचसाग्रेऽस्य प्रपेठुः सुरवन्दिनः ।।५८।।

वान् का महाभिषेक किया ।।४८।। इन्द्रों ने वह अभिषेक, भगवान् को बड़े वैभव से सिंहासन पर बैठा कर क्षीर सागर के जल से परिपूर्ण तथा मोतियों की माला आदि से सुशोभित सुवर्ण कलशों के द्वारा किया था ।।४९।। अभिषेक के पश्चात् इन्द्रों ने स्वभाव से सुन्दर जिनराज को दिव्य मालाएं आभूषण और वस्त्र आदि से मुक्ति के दूलह के समान विभूषित किया ।।५०।। तदनन्तर जिनेन्द्र पार्श्वनाथ ने वैराग्यपूर्ण वचनों के द्वारा पिता को, भाई-बान्धवों को और माता को बड़े कष्ट से समझा कर उन्हें विदा किया पश्चात् इन्द्र का हाथ पकड़ कर वे दीक्षा की प्रतिज्ञा के समान देव निर्मित विमला नाम की पालकी पर आरूढ हुए ।।५१-५२।। जिनका देदीप्यमान शरीर चन्दन से लिप्त था, जो मालाओं से सहित थे तथा आभूषण आदि से अलंकृत थे ऐसे पालकी पर बैठे हुए पार्श्वकुमार तपोलक्ष्मी के वर के समान सुशोभित हो रहे थे ।।५३।। सब से पहले मनुष्यों ने बड़े हर्ष से सात कदम तक उस पालिकी को धारण किया, फिर सात डग विद्याधर राजा उसे आकाश में ले गये और उसके बाद आनन्द से भरे हुए सुर असुर उसे भक्ति से अपने अपने कन्धों पर रखकर शीघ्र ही वैभव के साथ आकाश में जा उड़े ।।५४-५५।। अहो ! इन विभु का माहात्म्य वर्णन इतना ही पर्याप्त है कि उस समय स्वर्ग के इन्द्र उनकी पालकी के वाहक हुए थे ।।५६।। उस समय देव कल्पवृक्षों से उत्पन्न फूलों के द्वारा पुष्पवर्षा कर रहे थे और गङ्गा के छींटो को आहरण करने से शीतल वायु वह रही थी ।।५७।। दीक्षा के उत्साह को करने वाले प्रस्थान-कालिक मङ्गलाचार भी अच्छी मात्रा में हो रहे थे और भगवान् के आगे आगे देवों के चारण दिव्य वचनों द्वारा विरुदावली का पाठ कर रहे थे ।।५८।।

[1] भ्रुग्मवान् ।

तदा प्रयाणभेर्योऽत्र शश्वदास्फालिताः सुरैः। गीर्वाणकरसंस्पर्शाद्ध्वनुश्चामरानकाः ॥५९॥
मोहारातिजयोद्योगसमयोऽय जगत्पतेः। इत्युच्चैर्घोषयामासुर्देवाः शक्राज्ञया तदा ॥६०॥
जयकोलाहलं कुर्युर्हृष्टा देवाः खगा मुदा। भर्तुरग्रे खमारुध्य वधिरीकृतदिग्मुखम् ॥६१॥
तदा मङ्गलगीताद्यैर्जयनन्दादिघोषणैः। सुरानकमहाध्वानैर्व्यभूद्रुद्धं नभोऽङ्गणम् ॥६२॥
नभोरङ्गे नटन्तीषु नाकस्त्रीषु सविभ्रमम्। विचित्र करणै रम्यैश्छत्रबन्धादिलाघवैः ॥६३॥
गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम्। गीतौघ स्वगुणैर्हृब्ध विभोर्निष्क्रमणोत्सवे[1] ॥६४॥
मङ्गलानि जिनाधीशगुणहब्धानि सुस्वरैः। मुदा कालोचितान्युच्चैः पठत्सु सुरवन्दिषु ॥६५॥
देवेषूद्भूतहर्षेषु नानाकेतनहारिषु। इतोऽमुतः प्रधावत्सु सहर्षं नभस्तले ॥६६॥
अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु पङ्कजार्पितपाणिषु। सार्धं समङ्गलार्थाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् ॥६७॥
ध्वनन्तीषु दिशो व्याप्य देवेन्द्रानककोटिषु। इत्यमीषु विशेषेषु प्रभवत्सु महोत्सवम् ॥६८॥
परार्द्धयमणिनिर्माण दिव्ययानगाधिष्ठितः। वीज्यमानोऽमराधीशैर्मनोज्ञैः सुप्रकीर्णकैः ॥६९॥

उस समय देवों के द्वारा निरन्तर ताडित प्रयाण-भेरियां और देवों के पटह, देवों के हाथ का स्पर्श पाकर जोरदार शब्द कर रहे थे ॥५९॥ उस समय इन्द्र की आज्ञा से देव उच्च स्वर से ऐसी घोषणा कर रहे थे कि यह जगत्पति का मोहरूपी शत्रु को जीतने के उद्योग का समय है ॥६०॥ हर्ष से भरे हुए देव और विद्याधर स्वामी के आगे आकाश को घेर कर दिशाओं के अग्रभाग को बहरा बना देने वाले जय जयकार का कोलाहल हर्ष से कर रहे थे ॥६१॥ उस समय मङ्गलगीत आदि से, जय नन्द आदि की घोषणाओं से और देव दुन्दुभियों के महान् शब्दों से आकाशाङ्गण व्याप्त हो गया था ॥६२॥

जब आकाशरूपी रङ्गभूमि में देवाङ्गनाएं हावभावों के साथ नाना प्रकार के रमणीय करणों और छत्र बन्ध आदि की शीघ्रता से नृत्य कर रही थीं। जब उत्तम कण्ठों वाली किन्नरियां दीक्षा कल्याणक के उत्सव में अपने गुणों से युक्त भगवान् के गीत-समूह को मधुर स्वर से गा रही थीं। जब देवों के बन्दीजन जिनदेव के गुणों से युक्त तत्काल के योग्य मङ्गल पाठों के हर्ष पूर्वक अच्छे स्वरों द्वारा उच्चस्वर से पढ़ रहे थे। जब प्रकट हुए हर्ष से युक्त, नानाप्रकार की पताकाओं को लिये हुए देव हर्षसहित आकाश में इधर से उधर दौड़ रहे थे। जब हाथों में कमल लिये हुई लक्ष्मी नामक देवियां मङ्गल द्रव्यों से युक्त दिक्कुमारियों के साथ आदर पूर्वक आगे आगे चल रही थीं। जब देवों के करोड़ों बाजे दिशाओं को व्याप्त कर शब्द कर रहे थे। और जब ये सब विशेष कार्य महोत्सव को प्रभावपूर्ण बना रहे थे ॥६३-६८॥ जब श्रेष्ठ मणियों से निर्मित दिव्य

१ निष्क्रमणोत्सवं ख० ग०।

शिरःस्थसितछत्रेण सेव्यमान इवेन्दुना । हारशेखरकाञ्चीदामादिभूषणराशिभिः ॥७०॥
दिव्यस्रगंशुकैर्विश्वैर्भूषितश्चन्दनादिभिः । कुर्वन्पुंसां परां प्रीतिं सौभाग्येन च संपदा ॥७१॥
इत्यादिकृतमाहात्म्यो देवेन्द्रैः परितो वृतः । जिनः पुर्या विनिःक्रामन् पौरैरित्यभिनन्दितः ।७२।
व्रज सिद्ध्यै विभो तेऽस्तु शिवः पन्था द्रुतं जय । शत्रूणां नन्द वर्द्धस्व भव कल्याणभाजनः ॥७३॥
केचिद्विचक्षणाः पौरा आहुश्चित्रमहो इदम् । यतोऽयं तपसे याति कौमारत्वेऽपि सद्वनम् ॥७४॥
प्राहुरन्ये महाश्चर्यमिदं हन्ति यतोऽप्ययम् । बाल्येऽपि मदनारातिं दुर्जयं स्वेन्द्रियैः समम् ॥७५॥
जजल्पुरपरेऽत्राहो उत्पद्यन्ते नरोत्तमाः । केचिन्मोहारिमाहन्तुं शक्ता ये कर्मतस्करान् ।७६॥
केचित् [1]तत्स्तवनं चक्रुरित्यत्रायं जगद्गुरुः । धन्यो जगत्त्रयीनाथो बाल्ये त्यक्तुं महान् क्षमः ७७
ईदृग्विधाः श्रियः शक्रखगमर्त्याधिपार्पिताः । जगद्विजयिनं[2] कामं हन्तुं चाक्षादितस्करान् ।७८॥
एकाकी कर्मसैन्यं च [3]भङ्क्तुं घोरतरं तपः । कर्तुं परीषहारातीन् जेतुं शक्तस्तपोऽसिना ॥७९॥

पालकी पर जो आरूढ़ थे, इन्द्र जिन पर मनोहर चामर ढोर रहे थे, जिनके शिर पर चन्द्रमा के समान धवल छत्र लग रहा था, जो हार, शेखर तथा मेखला दाम आदि आभूषणों के समूहों, सब प्रकार की दिव्य मालाओं और वस्त्रों तथा चन्दन आदि से विभूषित थे, जो सौभाग्य और सम्पत्ति के द्वारा मनुष्यों को उत्कृष्ट प्रीति उत्पन्न कर रहे थे, इत्यादि कार्यों से जिनकी महिमा बढ़ रही थी, और जो देवों द्वारा सब ओर से घिरे हुए थे–ऐसे जिनेन्द्रदेव नगर से बाहर निकल रहे थे। उस समय नागरिक लोग उनका इस प्रकार अभिनन्दन कर रहे थे कि हे देव ! सिद्धि के लिये जाओ, आपका मार्ग कल्याणरूप हो, आप शीघ्र ही शत्रुओं को जीतो, समृद्धिमान् होओ और कल्याण के पात्र बनो ॥६९–७३॥

कितने ही बुद्धिमान् नगरनिवासी जन कह रहे थे–अहो ! यह आश्चर्य है कि ये भगवान् कुमार अवस्था में भी तप के लिये वन को जा रहे हैं ॥७४॥ अन्य लोग कह रहे थे कि यह महान् आश्चर्य है जिस कारण यह प्रभु बाल्य अवस्था में भी अपनी इन्द्रियों के साथ दुःख से जीतने योग्य कामरूप शत्रु को नष्ट कर रहे है ॥७५॥ कोई यह कह रहे थे कि अहो ! इस संसार में कोई ऐसे भी उत्तम मनुष्य उत्पन्न होते हैं जो मोहरूपी शत्रु और कर्मरुपी चौरों को नष्ट करने में समर्थ हैं ॥७६॥ कोई इस प्रकार उनका स्तवन कर रहे थे कि इस जगत् में यह जगद्गुरु त्रिलोकीनाथ धन्य है जो बाल्यावस्था में ही इन्द्र विद्याधर तथा चक्रवर्ती के द्वारा समर्पित इस प्रकार की लक्ष्मियों को छोड़ने में अत्यन्त समर्थ हैं। जगद्विजयी काम और इन्द्रिय आदि चौरों को नष्ट करने, कर्मों की सेना को अकेले ही भग्न करने, अत्यन्त कठिन तप करने और तपरूपी तलवार के द्वारा परीषहरूपी शत्रुओं

१. तत्स्तवन ग० २. जगद्विजयन ख०ग०घ० ३. भोक्तुं ख० ।

केचिद् दोःकुड्मलीकृत्य नेमुस्त तीर्थनायकम् । साश्चर्यहृदयाः केचित्पश्यन्ति स्म निरन्तरम् ।८०।
इत्यादिस्तवनैर्देवः श्लाघ्यमानः पुरीजनैः । वन्द्यमानो मुहुर्मूर्ध्ना पुरोपान्तं व्यतीयिवान्[1] ।८१।
अथ सप्रस्थिते पुत्रे जिनाम्बा तच्छुचा हृता । बन्धुभिश्च वृतामात्यैः स्वसूनुमनुनिर्ययौ ।।८२।।
[2]तुग्वियोगमहादावदग्धवल्लीनिभाञ्जसा । गतशोभा विशोकार्ता रोदनं सेति सव्यधात् ।।८३।।
हा पुत्र कोमलाङ्गस्त्वं बालो घोरपरीषहान् । वर्षातापतुषारादीन् कथं सहसि भीतिदान् ।।८४।।
अरण्ये निर्जने भीमे श्मशाने वा भयङ्करे । कथ वससि चैकाकी व्याघ्रादिप्रचुरे सुत ।।८५।।
कथ जयसि हारीन्मदुदरस्थ खदुर्जयान् । उपसर्गाग्निसंपातान् कषायमदनादि च ।।८६।।
क्व गतोऽस्यधुना वत्स मा विहाय श्रिया समम् । क्व पश्यामि पुनस्त्वां सुमुक्तिश्रीरञ्जिताशयम् ८७
हा नन्दन क्षरण सोढुं त्वद्वियोगं क्षमा न हि । यावज्जीव विनातस्त्वा कथं प्राणान्धराम्यहम् ८८।
इति प्रलपमाना सा व्रजन्ती जिनमातृका । प्रस्खलत्पदविन्यासैर्बन्धुभिः सह शोकिभिः ।।८९।।

को जीतने के लिये समर्थ हैं ।।७७–७९।। कोई हाथ जोड़कर उन तीर्थंकर को नमस्कार कर रहे थे और कोई आश्चर्यपूर्ण हृदय होकर उनकी ओर निरन्तर देख रहे थे ।।८०।। नगर निवासी लोग इत्यादि स्तवनो से जिनकी प्रशंसा कर रहे है और मस्तक झुका कर जिन्हे बार बार नमस्कार कर रहे है ऐसे पार्श्व जिनेन्द्र ने नगर के समीपवर्ती प्रदेश को व्यतीत किया ।।८१।।

अथानन्तर पुत्र के प्रस्थान कर चुकने पर उसके शोक से पीडित और बन्धुजनों तथा मन्त्रियों से घिरी हुई जिनमाता अपने पुत्र के पीछे–पीछे जा रही थी ।।८२।। जो वास्तव में पुत्र के वियोगरूपी महादावानल से जली हुई लता के समान थी, जिसकी शोभा नष्ट हो गयी थी और जो शोक से दुखी थी ऐसी वह माता इस प्रकार रोदन कर रही थी ।।८३।। हाय पुत्र ! तुम कोमल शरीर के धारक बालक हो, अतः वर्षा, घाम तथा तुषार आदि के भयदायक घोर परिषहों को कैसे सहन करोगे ?।।८४।। हाय पुत्र ! तुम व्याघ्रादि से परिपूर्ण, भयदायक निर्जन वन अथवा भयंकर श्मशान में अकेले कैसे निवास करोगे ? ।।८५।। हाय मेरे पुत्र ! तुम इन्द्रियरूपी दुर्जेय शत्रुओं को, उपसर्ग, अग्नि, तथा घोर वृष्टि को और कषाय एवं काम को कैसे जीतोगे ? ।।८६।। वत्स ! लक्ष्मी के साथ २ मुझे छोड़कर तू इस समय कहाँ चला गया है ? मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने जिसके चित्त को अनुरक्त कर लिया है ऐसे तुझे फिर कहां देखूं ? ।।८७।। हाय पुत्र ! मै तेरा वियोग क्षणभर भी सहन–करने के लिये समर्थ नहीं हूँ फिर जीवन पर्यन्त तेरे विना कैसे प्राण धारण करूंगी? ।।८८।। इस प्रकार प्रलाप करती हुई वह जिनमाता शोकयुक्त बन्धुजनों के साथ गिरते

---

१ व्यतीयवान् ख०ग०घ० २ पुत्रवियोग—

मनोहरगिरागत्य प्रोक्तेति तन्महत्तरै. । हे मातः किं न जानासि वृत्तमस्य जगत्पतेः ।।९०।।
अयं ज्ञानत्रयीनाथः पुत्रस्ते धीमतां गुरुः । [1]पूर्वं स्वमुद्धरित्वानु सद्भव्यानुद्धरिष्यति ।।९१।।
प्रकाश्य मुक्तिपन्थानं केवलज्ञानरश्मिभिः । हत्वा कर्मारिसन्तानं मोक्ष यास्यति निश्चितम् ।९२
पाशबद्धो यथा सिंहो न तिष्ठति कदाचन । तथा पुरुषसिंहस्ते मोहपाशावृत सुत. ।।९३।।
अय त्रिजगतीभर्ता विश्व त्रातुं क्षमो महान् । हन्तुं कर्माक्षसैन्य च कथं गेहे च तिष्ठति ।।९४।।
अतो देवि न कर्तव्यः शोको दुःकर्मकारणः । न किञ्चिच्छाश्वतं लोके मत्वेति धर्मनाशकृत्।९५।
यतो मूर्खा हि शोचन्ति स्वजन कर्मभोगिनम् । नात्मानं यमदंष्ट्रान्तःस्थितं बुद्धिविपर्ययात् ।।९६।।
शठा इष्टवियोगेन शोकं कुर्वन्त्यघार्णवम् । बुधाः संवेगतो धर्मं तपश्चानिष्टघातकम् ।।९७।।
विज्ञायेति द्रुतं देवि शोकं हत्वाधुनाशुभम् । कुरु धर्मं गृहं गत्वा शुभध्यानेन सिद्धये ।।९८।।
इत्यादितद्वचश्चन्द्रांशुभिः शोकतमोऽन्तरे । हत्वा देवी ययौ गेहं धृत्वा धर्मे मनो निजम् ।।९९।।

पड़ते पैरों से जा रही थी ।।८९।। उसी समय घर के वृद्धजनों ने आकर मनोहर वाणी द्वारा उससे कहा—हे मातः ! क्या तुम इन जगत्पति का वृत्तान्त नहीं जानती ? ।।९०।। तुम्हारा यह पुत्र तीन ज्ञान का स्वामी तथा बुद्धिमानों का गुरु है । यह पहले अपना उद्धार कर पश्चात् भव्यजीवों का उद्धार करेगा ।।९१।। यह केवल ज्ञानरूप किरणों के द्वारा मोक्षमार्ग को प्रकाशित कर तथा कर्मरूप शत्रुओं की सन्तति को नष्ट कर नियम से मोक्ष मार्ग को प्राप्त होगा ।।९२।। जिस प्रकार पाशबद्ध सिंह कभी नहीं ठहरता उसी प्रकार तुम्हारा पुत्र यह श्रेष्ठ पुरुष मोहपाश से आवृत होकर कभी नहीं ठहर सकता ।।९३।। यह त्रिलोकीनाथ समस्त संसार की रक्षा करने तथा कर्म और इन्द्रियरूपी सेना को नष्ट करने मे समर्थ है अतः घर में कैसे रह सकते है ? ।।९४।। इसलिये हे देवि ! लोक में कुछ भी शाश्वत स्थायी नहीं है ऐसा मानकर दुष्कर्मों का कारण तथा धर्म का नाश करने वाला शोक नहीं करना चाहिये ।।९५।। क्योंकि मूर्खजन कर्मका फल भोगने वाले आत्मीयजन के प्रति शोक करते हैं किन्तु बुद्धि की विपरीतता से यमराज की दाढ़ों के बीच स्थित अपने आपके प्रति शोक नहीं करते ।।९६।। मूर्खजन इष्टवियोग से पाप का सागरस्वरूप शोक करते हैं और ज्ञानीजन संवेग से अनिष्ट को नष्ट करने वाला धर्म तथा तप करते हैं ।९७। ऐसा जान कर हे देवि ! इस समय अशुभ शोक को शीघ्र ही नष्ट करो और घर जाकर सिद्धि के लिये शुभध्यान से धर्म करो ।।९८।। वृद्धजनों के इन वचनरूपी चन्द्रमा की किरणों से हृदय में विद्यमान शोकरूपी अन्धकार को नष्ट कर तथा धर्म में अपना मन लगाकर जिनमाता घर चली गयी ।।९९।।

१ [पूर्वमात्मान मुद्धृत्य] इति पाठ सुष्ठु भाति ।

नातिदूरं खमुत्पत्य लोकानां नेत्रगोचरम् । नातिदूरे नगर्यास्तस्या नातिनिकटे चिरात् ।१००।।
यथोक्तैर्मङ्गलारम्भैर्मोक्षलक्ष्मीसमुत्सुकः । कुमारोऽश्ववनं प्रायान्मनोज्ञं सुरवेष्टितः ।।१०१।।
तत्रैकस्मिन्प्रदेशेऽतिरम्ये रम्यशिलातले । चन्द्रकान्तमये [1]वृत्ते देवैः प्रागुपकल्पिते ।।१०२।।
पुष्पवृष्टिसमाकीर्णे तरुच्छायातिशीतले । शचीस्वकरविन्यस्तमणिचूर्णोपहारके ।।१०३।।
पर्यन्तमङ्गलद्रव्ये केतुमालावृताम्बरे । धूपवासितदिग्भागे चित्रमण्डपमण्डिते ।।१०४।।
इत्यादिबहुशोभाढ्ये शस्ते [2]वास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरद्देवोऽमरैः क्ष्मामवतारितात् ।।१०५।।
प्रशान्तेऽथ जनक्षोभे गीतवाद्यादिसुस्वने । सर्वत्र समता सम्यग्भावयन् शुभभावनाम् ।।१०६।।
तत्रासीनोऽरिमित्रादौ तृणहेमादिवस्तुषु । क्षेत्रादिदशधाबाह्यपरिग्रहांश्चतुर्दश ।।१०७।।
मिथ्यात्वाद्यन्तरङ्गाश्च त्रिशुद्धया परिहाप्य सः । वस्त्राभरणमाल्यानि व्युत्सृजेन्मोहहानये ।।१०८।।
अनूत्तरमुखो, भूत्वा कृत्वा सिद्धनमःक्रियाम् । समादायाष्टमाहारत्याग सोऽत्यन्तनिःस्पृहः ।।१०९।

तदनन्तर मोक्षरूपी लक्ष्मी में उत्कण्ठित और देवों से परिवृत पार्श्वकुमार, जहां तक लोग देख सकते थे वहां तक कुछ दूर आकाश में चलकर उस नगरी के न अधिक दूर और न अधिक समीप मनोहर अश्ववन में बहुत विलम्ब से पहुंचे ।।१००–१०१।। वहां किसी एक अत्यन्त सुन्दर प्रदेश में देवों द्वारा पृथ्वी पर उतारी हुई पालकी से निकलकर भगवान् पार्श्व देव, जो चन्द्रकान्तमणि से निर्मित था, गोल था, देवों के द्वारा पहले से ही निश्चित था, फूलों की वर्षा से व्याप्त था, वृक्षों को छाया से अत्यन्त शीतल था, इन्द्राणी ने अपने हाथ से जिस पर मणियों के चूर्ण द्वारा वलि रचना की थी, जिसके पास मङ्गल द्रव्य रखे हुए थे, जिसने पताकाओं के समूह से आकाश को व्याप्त कर रक्खा था, जिसकी दिशाओं का भाग धूप से सुवासित होरहा था, जो चित्र विचित्र मण्डप से सुशोभित था, इत्यादि बहुत प्रकार की शोभा से सहित था, प्रशस्त था और वस्तुदेव की प्रतिष्ठा से सहित था ऐसे मनोहर शिलातल पर अवतीर्ण हुए ।।१०२–१०५।।

तदनन्तर जब मनुष्यों का कोलाहल तथा गीत वादित्र आदि का सुन्दर शब्द शान्त होगया तब उस शिलातल पर विराजमान तथा शत्रु मित्र और तृण सुवर्ण आदि सभी वस्तुओं में समता नामक शुभ भावना की भावना करने वाले भगवान् पार्श्वनाथ ने क्षेत्र आदि दश प्रकार के बाह्य और मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग परिग्रहों का मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक त्याग कर मोह को नष्ट करने के लिये वस्त्र आभूषण तथा माला आदि को छोड़ दिया ।।१०६–१०८।।

तदनन्तर जो चेतन अचेतन और मिश्र नामक सभी परिग्रहो में अत्यन्त निःस्पृह हैं, साथ ही तप आदि लक्ष्मी तथा मुक्तिरूपी रमणी के मुख में सस्पृह–अभिलाषा से सहित

१ वर्तुले २ वास्तुदेवप्रतिष्ठायुक्ते ।

चेतनेतरमिश्रेषु सर्वसङ्गेषु तीर्थराट्। सस्पृह. तपसादिश्रीषु मुक्तिरमणीसुखे ॥११०॥
पञ्चमुष्टिभिरुत्पाटच केशान्मूलात्स्वपाणिना। आददे परमां दीक्षां मुक्तिनारीवशीकराम् ॥१११॥
पौषे मास्यसिते पक्षे एकादश्यां स्वमुक्तये। पूर्वाह्णे साम्यतापन्नः पल्यङ्कासनमाश्रितः ॥११२॥
तत्साहसं विलोक्याशु भूभुजस्त्रिशतप्रमाः। [1]निर्वेदाच्छ्रीजिनेनामा जगृहुः संयमं परम् ११३।
भूषास्रग्वस्त्रसंत्यागाज्जातरूप जगद्गुरो.। इन्द्रनीलमणीनां सत्तेज.पुञ्जमिवाबभौ ॥११४॥
विरम्य सर्वसावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमम्। व्रतगुप्तिसमित्यादीन् समस्ताघनिवारकान् ॥११५॥
सहोत्तरगुणैर्मूलगुणान् विश्वगुणप्रदान्। अष्टाविंशतिभेदांश्चाददे श्रीजिनपुङ्गव. ॥११६॥
[2]बालान् भगवतो मूर्ध्नि वासाद्रम्यान् पवित्रितान्। प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्या मानहेतवे ॥११७॥
ततो नीत्वा महाभूत्या देवेशा [3]अंशुकावृतान्। बहुमानकृतान्पूतान्क्षीराब्धौ तान्निचिक्षिपु. ॥११८॥
ततो जगत्त्रयाधीशं ज्ञानज्योतिर्गिरापतिम्। देव तुष्टुवुरित्युच्चैः [4]कल्पनाथा गुणव्रजैः ॥११९॥

हैं ऐसे तीर्थपति भगवान् पार्श्वनाथ ने शिला पर उत्तराभिमुख होकर सिद्धों को नमस्कार किया, तीन दिन के उपवास का नियम लिया। पञ्चमुष्टियों द्वारा अपने हाथ से केशों को जड़ से उखाड़ डाला और इस तरह मुक्तिरूपी नारी को वश करने वाली उत्कृष्ट दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१०९–१११॥ पौष मास के कृष्णपक्ष की एकादशी के दिन पूर्वाह्ण के समय पर्यङ्कासन से स्थित हो तथा साम्यभाव को धारण कर आत्ममुक्ति के लिये उन्होंने दीक्षा ली थी ॥११२॥ उनका साहस देख तीन सौ राजाओं ने शीघ्र ही वैराग्य होने से श्री जिनेन्द्र के साथ उत्कृष्ट संयम ग्रहण किया अर्थात् भगवान् के साथ तीन सौ अन्य राजाओं ने भी दीक्षा ली ॥११३॥ आभूषण, माला तथा वस्त्रों का सर्वथा त्याग करने से जगद्गुरु का बालक जैसा निर्ग्रन्थ रूप इन्द्रनीलमणियों के उत्तम तेज समूह के समान सुशोभित होने लगा ॥११४॥ जिनराज पार्श्वनाथ ने समस्त सावद्य सपाप कार्यों से निवृत्त होकर सामायिक संयम को धारण किया तथा उत्तर गुणों के साथ समस्त पापों का निवारण करने वाले और समस्त गुणों को देने वाले अट्ठाईस मूलगुण ग्रहण किये ।११५–११६। भगवान् के मस्तक पर निवास करने से पवित्र रमणीय केशों को इन्द्र ने सम्मान के हेतु रत्नमय पिटारे में रक्खा ॥११७॥ तदनन्तर जो वस्त्र से ढके हुए हैं, जिनका बहुत भारी मान किया गया है और जो पवित्र हैं ऐसे उन केशों को इन्द्रों ने बड़ी विभूति के साथ ले जाकर क्षीर समुद्र में क्षेप दिया ॥११८॥ पत्पश्चात् इन्द्र, तीनो जगत् के स्वामी, ज्ञानरूपी ज्योति तथा वाणी के अधीश्वर श्री पार्श्व देव की गुणसमूह के कारण इस प्रकार उच्च स्वर से स्तुति करने लगे—॥११९॥

१. वैराग्यात् २ केशान् ३ अंशुकाच्छादितान् ख० घ० ४ स्वर्गेन्द्रा ।

त्वां हि जगत्त्रयीनाथं गुरूणां परमं गुरुम्। विश्वानिष्टविघाताय नाथाभिष्टुमहे वयम् ।।१२०।।
ते प्रभो गणनातीता अनल्पविषया गुणाः। अशक्या वक्तुमस्माभिरसमास्तुच्छबुद्धिभि ।।१२१।।
मत्वैवं देव नश्चित्तं स्तुतौ दोलायतेऽद्य ते। तथापि त्वद्गुणैः सम्यक् स्व पवित्री प्रकुर्महे।१२२।
बहिरन्तर्मलाचापान्निर्मलास्ते गुणाः प्रभो। स्फुरन्ति मेघनिर्मुक्ता रम्या इव करा रवेः ।।१२३।।
निरस्ताखिलसंतापा जगच्छुद्धिविधायिनी। भारतीव पुनीयान्नो दीक्षेयं [1]पारमेश्वरी ।।१२४।।
जगदानन्ददा नाथ विश्वानिष्टक्षयकरी। सुवागिव सुनिःक्रान्तियौष्माकीयं धिनोति नः १२५
राजलक्ष्मीं चलां हत्वा तपोलक्ष्मीं परां शुभाम्। दधतो मुक्तिधात्रीं ते नैर्ग्रन्थ्यं क्वास्ति धर्मराट् १२६
प्रस्तरान् रत्नसंज्ञान् [2]संत्यक्त्वा संदधतस्तव। रत्नत्रयमनर्घ्यं परं क्वाहो ग्रन्थविच्युतिः ।।१२७।।
स्त्र्यशुच्यङ्गे विहायाशु रागं ते कुर्वतः परम्। मुक्तिनार्यां महारागं क्व लोकेऽस्ति विरागता १२८
स्वल्पैश्वर्यं परित्यज्य जगदैश्वर्यमीहतः। कुतस्ते लोभनिर्मुक्तिर्भगवन्नतिलोभिनः ।।१२९।।

हे नाथ ! हम समस्त अनिष्टों को नष्ट करने के लिये तीनों लोकों के नाथ तथा गुरुओं के परमगुरु आपकी स्तुति करते हैं ।।१२०।। हे प्रभो ! जो गणना से रहित है, बहुत भारी है तथा अनुपम है ऐसे आपके गुण हम तुच्छ बुद्धियों के द्वारा नहीं कहे जा सकते है ।।१२१।। हे देव ! ऐसा जानकर आज आपकी स्तुति करने मे हमारा चित्त यद्यपि चञ्चल हो रहा है तो भी हम आपके गुणों द्वारा अपने आपको अच्छी तरह पवित्र कर रहे है ।।१२२।। हे प्रभो ! बाह्याभ्यन्तर मल के नष्ट हो जाने से निर्मलता को प्राप्त हुए आपके गुण मेघ से निर्मुक्त सूर्य की सुन्दर किरणों के समान देदीप्यमान हो रहे है ।१२३। जिसने समस्त संताप को नष्ट कर दिया है, तथा जो जगत् की शुद्धि करने वाली है ऐसी यह आपकी दीक्षा सरस्वती के समान हम लोगों को पवित्र करे ।।१२४।। हे नाथ ! जो जगत् को आनन्द देने वाली है तथा समस्त अनिष्टों का क्षय करने वाली है ऐसी आपकी यह दीक्षा दिव्यवाणी के समान हम सबको संतुष्ट करती है ।।१२५।। हे धर्मेश्वर ? चंचल राजलक्ष्मी को छोड़कर मुक्ति की धायस्वरूप परम शुभ तपोलक्ष्मी को धारण करने वाले आपके निर्ग्रन्थपना कहां है ? ।।१२६।। रत्न नामक पाषाणों का त्याग कर जब आप अमूल्य तथा उत्कृष्ट रत्नत्रय को धारण कर रहे है तब आपका परिग्रह त्याग कहां हुआ ? ।।१२७।। स्त्री के अपवित्र शरीर में शीघ्र ही राग छोडकर जब आप मुक्तिरूपी नारी में अत्यधिक महान् राग को धारण कर रहे है तब लोक में आपके विरागता कहां हुई ? ।।१२८।। हे भगवन् ! अत्यन्त अल्प ऐश्वर्य का त्यागकर जब आप समस्त जगत् के ऐश्वर्य की इच्छा कर रहे है तब अत्यधिक लोभ करने वाले आपके लोभ का त्याग कहां हुआ ?

---

१. परमेश्वरस्येयं पारमेश्वरी २ सत्यज्य।

तुच्छे भोगे स्पृहां हत्वा मुक्तिकान्तोद्भवान् परान् । भोगानासक्तचित्तस्य निःस्पृहत्वं क्व ते जिन[1] १३०
बन्धूनल्पान् वै हित्वा त्रिजगतां बन्धुता पराम् । कुर्वतः स्वगुणैः स्वामिन् कथं ते मोहसंच्युतिः १३१
रतिप्रीत्योस्त्वया नाथ कृतं वैधव्यमञ्जसा । बाल्ये तद्भर्तृघातेन कुतस्ते हृदये दया ।।१३२।।
हेयाहेय परिज्ञाय हत्वा हेय परं महत् । स्वीकुर्वत उपादेय कुतस्ते समभावना ।।१३३।।
पराधीन सुख त्यक्त्वा स्वाधीनं सुखमिच्छतः । नित्य मुक्तिश्रियोपेतं कुतस्ते निःस्पृहं मनः ।।१३४।।
मोहमल्लं विलोक्याशु हन्यमान[2] विधेः पतिम् । भीत्वाघानि[3] विहाय त्वामगु पार्श्वं कुलिङ्गिनाम् ।
[4]देव, निगृह्यमाण स्मरभूपं विश्वतापिनम् । अक्षसैन्यं विहाय त्वा रागिणा निकटं व्यगात्[5] ।।
त्वया बाल्येऽपि देवात्र दुर्द्धरो मन्मथो जितः । जगज्जयीन्द्रियैः सार्द्धं महच्चित्रमिदं सताम् ।१३७
अतो न भवता तुल्यो धीरोऽनेकगुणाकरः । सर्वानिष्टहरो दक्षो ज्ञानवानपरो भुवि ।।१३८।।

।।१२९।। तुच्छ भोग में स्पृहा लालसा को छोडकर जब आप मुक्ति स्त्री से उत्पन्न होने वाले उत्कृष्ट भोगों के प्रति आसक्त चित्त हो रहे है तब हे जिनेन्द्र ! आपके निःस्पृहपना कहां है ? ।।१३०।। हे स्वामिन् ! निश्चय से अल्प बन्धुओं को छोडकर जब आप अपने गुणो के द्वारा तीन जगत् की उत्कृष्ट बन्धुता को कर रहे हैं तब आपके मोह का त्याग कैसे हुआ ? ।।१३१।। हे नाथ ! आपने बाल्य अवस्था में ही रति और प्रीति के पति का घात कर उन्हें वास्तव में विधवा बना दिया है अतः आपके हृदय में दया कहां से आई ? ।।१३२।। आपने हेय–छोडने योग्य और अहेय–न छोडने योग्य वस्तु को अच्छी तरह जान कर हेय–छोडने योग्य परपदार्थ को छोड दिया है और बहुत भारी उपादेय–ग्रहण करने योग्य पदार्थ को ग्रहण किया है अतः आपके समभावना कहां से आई ? ।।१३३।। जब आप पराधीन सुख को छोडकर मुक्ति लक्ष्मी से सहित स्वाधीन नित्य सुख की इच्छा कर रहे है तब आपका मन निःस्पृह कैसे हो सकता है ? ।।१३४।। कर्मों के राजा मोह मल्ल को आपके द्वारा शीघ्र ही नष्ट किया जाता देख पाप डर गये इस लिये वे आपको छोडकर कुलिङ्गियों–मिथ्या तापसों के समीप चले गये हैं ।।१३५।। हे देव ! समस्त संसार को संतप्त करने वाले कामदेवरूपी राजा को आपके द्वारा दण्डित किया जाता देख इन्द्रियों की सेना आपको छोड़कर रागी जीवों के निकट चली गई है ।।१३६।। हे देव ! आपने इन्द्रियों के साथ जगद्विजयी दुर्धर कामदेव को यहां बाल्य अवस्था में ही जीत लिया है यह सत्पुरुषों के लिये बडे आश्चर्य की बात है ।।१३७।। इसलिये पृथिवी पर आपके समान दूसरा धीर वीर, अनेक गुणों की खान, समस्त अनिष्टों को हरने वाला चतुर और ज्ञानवान् नहीं है

---

१ जिन म० ग० २ कर्मणा ३ पापानि, घाति ख० ग० म० ४ देव निगृह्यमान ख० ५ जगाम ।

ततस्तुभ्यं नमो नाथ विसंख्यगुणशालिने[1]। नमस्ते जगदानन्ददायिने परमेष्ठिने ॥१३९॥
नमस्ते तीर्थनाथाय विश्वानिष्टविघातिने। दीक्षिताय नमस्तुभ्यं मुक्तिकान्तात्तचेतसे ॥१४०॥
दिगम्बराय तुभ्य नमो बालब्रह्मचारिणे। निजात्मध्यानलीनाय नमस्ते गुणसिन्धवे ॥१४१॥
हिताय स्वान्ययोर्नाथ नमस्ते दिव्यमूर्तये। कामारिनाशिने तुभ्य नमोऽक्षजयिने विभो ।१४२।
असंवृत्ताय विश्वाशापूरणाय च ते नम:। चतुर्ज्ञानविभूषाय नमस्तेऽघहताय च ॥१४३॥
इत्यभिष्टुत्य देव त्वां प्रार्थयामोऽधुना वयम्। जगत्त्रितयसाम्राज्यं नात्र निर्लोभिनो भुवि ।१४४।
किन्तु देहि जगन्नाथ बाल्येऽष्टवर्षसंमिते। दीक्षा भवे भवे सार्द्धं सारैः सर्वैर्भवद्गुणैः ।१४५।
स्तुत्वेति [2]कल्पनाथाः कृत्वाभीष्टप्रार्थनां पराम्। उपार्ज्य बहुधा पुण्य श्रेष्ठाचारैर्गुणस्तवैः ॥१४६॥
त्रि:परीत्योत्तमाङ्गेन नत्वा तच्चरणाम्बुजौ। प्रमोदनिर्भरा जग्मु स्व स्व स्थान सहामरैः ।१४७।
जिनेन्द्रस्तत्क्षणं प्राप्य चतुर्थज्ञानमञ्जसा। निश्चलाङ्गोऽतिशान्तात्मा व्यधाद् ध्यान स्वमुक्तये

॥१३८॥ हे नाथ ! असंख्यात गुणों से सुशोभित आपके लिये नमस्कार है। जगत् को आनन्द देने वाले परमेष्ठी स्वरूप आपको नमस्कार है ॥१३९॥ समस्त अनिष्टो को नष्ट करने वाले आप तीर्थकर के लिये नमस्कार है। दीक्षित तथा मुक्तिरूपी कान्ता में संलग्न चित्त वाले आपको नमस्कार है ॥१४०॥ जो दिगम्बर है तथा बालब्रह्मचारी है ऐसे आपके लिये नमस्कार है। आत्मध्यान मे लीन तथा गुणों के सागर स्वरूप आपके लिये नमस्कार है ॥१४१॥ हे नाथ ! स्वपर के हितकारक तथा दिव्य शरीर को धारण करने वाले आपके लिये नमस्कार हो। हे विभो! कामरूपी शत्रु को नष्ट करने तथा इन्द्रियो को जीतने वाले आपको नमस्कार है ॥१४२॥ जो स्वयं असंपन्न रहकर भी समस्त जीवों की आशाओं को पूर्ण करने वाले है ऐसे आपको नमस्कार हो और जो चार ज्ञानों से सहित है तथा पापों को नष्ट करने वाले है ऐसे आपके लिये नमस्कार है ॥१४३॥ हे देव ! इस प्रकार स्तुति कर इस समय आपसे हम तीन लोकों का राज्य नही चाहते है क्योंकि पृथिवी पर हम लोभ रहित है ॥१४४॥ किन्तु हे जगन्नाथ ! यह तो दीजिये कि भव भव मे आठ वर्ष की बाल्यावस्था में सारभूत आपके समस्त गुणों के साथ हम दीक्षा धारण कर सकें ॥१४५॥

इस प्रकार स्तुति कर अत्यधिक अभीष्ट प्रार्थना कर, श्रेष्ठ आचार और गुणों के स्तवन से बहुतभारी पुण्य का उपार्जन कर, तीन प्रदक्षिणाए देकर और मस्तक द्वारा उनके चरण कमलों को नमस्कार कर हर्ष से भरे हुए इन्द्र देवो के साथ अपने अपने स्थानों पर चले गये ॥१४६-१४७॥ भगवान् पार्श्वनाथ उसी समय मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त कर स्थिर शरीर हो गये और अत्यन्त शान्त चित्त होकर अपनी मुक्ति के लिये ध्यान करने लगे ॥१४८॥

1. शालिन ख० २ स्वर्गेन्द्रा।

मालिनी

इति विगतविकारो ध्यानलीनोऽघहन्ता निखिलगुणसमुद्रो दीक्षितो विश्वनाथः।
रहितसकलदोष पूजितः संस्तुतश्च त्रिभुवनपतिभर्व्यैयः स नोऽव्याद्भवाब्धेः[1] ॥१४९॥

वसन्ततिलका

बाल्येऽपि योऽत्र मदनारिनृप विजित्य वैराग्यशस्त्रसबलः [2]सुभटैः सहाशु।
अङ्गीचकार परम तप आत्मशुद्धयै दद्यात् स नो जिनपतिः सकला स्वभूतिम् ॥१५०॥

स्रग्धरा

विश्वार्च्यो विश्ववन्द्यो निखिलगुणनिधिः सर्वदोषातिदूरः
कर्मघ्नो मोक्षहेतुर्विजितमदनखो दीक्षितो ज्ञाननेत्रः।
शर्माब्धिर्धर्मकर्ताखिलदुरितहरः संस्तुतो वन्दितश्च
मूर्ध्ना नित्यं मया मे भवतु भवभवे संयमाप्त्यै कुमारः ॥१५१॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचिते श्री पार्श्वनाथचरित्रे दीक्षावर्णनो नाम षोडशः सर्गः ॥१६॥

इस प्रकार जो विकार से रहित है, ध्यान में लीन हैं, पापों का नाश करने वाले हैं, समस्त गुणों के सागर हैं, दीक्षित है, सबके स्वामी हैं, सकल दोषों से रहित हैं, और तीन लोक के पतियों द्वारा पूजित तथा अच्छी तरह स्तुत है वे पार्श्वनाथ भगवान् संसार सागर से हमारी रक्षा करे ॥१४९॥ वैराग्यरूपी शस्त्र से सबल होकर जिन्होने यहां बाल्यावस्था में भी इन्द्रियरूपी सुभटों के साथ शीघ्र ही कामरूपी राजा को जीतकर आत्मशुद्धि के लिये उत्कृष्ट तप स्वीकृत किया था वे पार्श्व जिनेन्द्र हम सबके लिये अपनी समस्त विभूति प्रदान करे अर्थात् हम लोगो को भी अपने ही समान वीतराग तथा सर्वज्ञ बनावें ॥१५०॥

जो सबके द्वारा पूज्य है, सबके द्वारा वन्दनीय है, समस्त गुणों के भाण्डार हैं, सर्व दोषों से अत्यन्त दूर हैं, कर्मों का नाश करने वाले हैं, मोक्ष के कारण हैं, जिन्होंने काम तथा इन्द्रियो को जीत लिया है, जो दीक्षा से युक्त हैं, ज्ञान नेत्र के धारक हैं, सुख के सागर हैं, धर्म के कर्ता हैं, समस्त पापों को हरने वाले है, मेरे द्वारा संस्तुत हैं और मै नित्य ही मस्तक से जिनकी वन्दना करता हूँ वे पार्श्वकुमार भव भव में मुझे संयम की प्राप्ति के लिये हो ॥१५१॥

इस प्रकार श्री भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथचरित में दीक्षा का वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१. रक्ष्यात् २ इन्द्रिययोधैः।

सप्तदशः सर्गः

दीक्षापन्नं जगद्वन्द्यं विश्वार्च्यं त्रिजगद्गुरुम् । [1]त्यक्ताङ्गं शिरसा वन्दे पार्श्वनाथ यमाप्तये ।।१।।
अथ योगं विमुच्याशु स्वेर्यापथविलोचन । भावयस्त्रिकसंवेगं भोगाङ्गभववस्तुषु ।।२।।
निर्धनोऽयं धनेशोऽयं मनागित्यविचारयन् । सर्वेन्द्रियजयोद्युक्तः सुखदुःखसमाशयः ।।३।।
दानिनां परमं तोषं कुर्वंस्तीर्थाधिराट् परम् । गुल्मखेटपुरं कायस्थित्यर्थं प्राविशच्चिदे ।।४।।
तत्र [2]मत्याखभूपालः श्यामवर्णो गुणोज्ज्वल । निधानमिव त दृष्ट्वा परं पात्र जगद्गुरुम् ।।५।।
प्राप्यानन्दं मुहुर्नत्वा शिरसा तत्पदाम्बुजौ । तिष्ठ तिष्ठेति सप्रोक्त्वा[3] स्थापयामास तत्क्षणम् ।
श्रद्धा शक्तिर्निरीहत्वं भक्तिर्ज्ञान दया क्षमा । एतान्सप्तगुणान्प्राप दानकाले स भूपतिः ।।७।।
प्रतिग्रहस्तथोच्चस्थानं पादक्षालनार्चनम् । प्रणाम कायवाक्चित्तशुद्धीना त्रितय परम् ।।८।।

सप्तदश सर्ग

जो दीक्षा को प्राप्त है, जगत् के द्वारा वन्दनीय हैं, सबके द्वारा पूज्य हैं, तीन जगत् के गुरु है, तथा शरीर से ममत्व छोड़कर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित है उन पार्श्वनाथ भगवान् को मैं संयम की प्राप्ति के लिये शिर से नमस्कार करता हूँ ।।१।।

अथानन्तर तीन दिन का योग समाप्त होने पर जो शीघ्र ही अपने मार्ग का अवलोकन करते हुए ईर्या समिति से चल रहे है, जो भोग शरीर और संसार की वस्तुओं मे त्रिविध संवेग की भावना कर रहे है, यह निर्धन है यह धनाढ्य है ऐसा रञ्चमात्र भी विचार नहीं कर रहे हैं, समस्त इन्द्रियों के जीतने में उद्यत है, सुख और दुःख में जिनका साम्यभाव हैं तथा जो दानियो को परम संतोष उत्पन्न कर रहे हैं ऐसे तीर्थराज–पार्श्वनाथ तीर्थकर ज्ञानादि गुणों की साधना के निमित्त शरीर की स्थिरता के लिये गुलमखेट नगर में प्रविष्ट हुए ।।२–४।। यहाँ शरीर से श्याम किन्तु गुणों से उज्ज्वल मत्याख नामक राजा ने निधान के समान उत्तम पात्रस्वरूप जगद्गुरु को देखकर परम हर्ष का अनुभव किया । उसने उनके चरणकमलों में शिर झुका कर नमस्कार किया और 'तिष्ठ तिष्ठ' कहकर उन्हें तत्काल पड़गाह लिया ।।५–६।। उस राजा ने दानकाल में होने वाले श्रद्धा, शक्ति, निरीहता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा इन सात गुणों को प्राप्त कर लिया ।।७।। प्रतिग्रह–पडगाहना, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, कायशुद्धि, वचन शुद्धि, मनः

१ त्यक्तार ग० २ मन्याख ग० ३ [सप्रोच्य] ।

एषणाशुद्धिरित्येतान्पुण्योपार्जनकारणान् । प्रकारान्नव तत्काले स्वीचकार महीपतिः ।।९।।
ततोऽतिमधुरं हृद्यं तपोज्ञानादिवर्धकम् । प्रासुकं सरसं क्षुत्तृड्नाशनं दोषदूरगम् ।।१०।।
[1]कृतादिवर्जितं भक्त्या परमान्नं जिनेशिने । त्रिशुद्धया मुक्तये तस्मै ददौ सुविधिना नृपः ।।११।।
तत्कालार्जितपुण्येन करैर्मुक्ता दिवौकसाम् । महती रत्नवृष्टिः खादपप्तत्तेजसाकुला ।।१२।।
महादानफलं लोके व्यक्तं वा कुर्वती सताम् । अत्र स्वर्भोगभूमुक्त्यादौ परत्र नृपालये ।।१३।।
[2]तदापप्तद्दिवो वृष्टिर्मुक्ता देवकरैः शुभा । कल्पशाखिजपुष्पाणां सुगन्धीकृतभूतला ।।१४।।
मन्द्रं सुरानका देवकरस्पर्शात्प्रदध्वनुः । बहवो घोषयन्तोऽत्रेव दातुः परमं यशः ।।१५।।
संचचार मरुच्छीतः सुगन्धिः स्पर्शनप्रियः । देवोपनीत एवाहो गन्धोदककणान् किरन् ।।१६।।
अहो परमपात्रोऽयं जिनेशो दातृतारकः । धन्योऽयं जगतां मान्यो दाता तद्वृत्तसक्ष्यकृत् १७।
अहो दानं परं चेदं धर्मदं दातृपात्रयोः । दानतोषात्सुराः क्षेत्रेऽत्युच्चैश्चक्रुर्महाध्वनिम् ।।१८।।

शुद्धि और आहार शुद्धि ये नौ पुण्योपार्जन के कारण हैं। राजा ने उस समय उपर्युक्त नौ कारणों को स्वीकृत किया ।।९।। तदनन्तर राजा ने मुक्ति प्राप्ति के हेतु उन जिनराज के लिये मन वचन काय की शुद्धिपूर्वक भक्ति से अत्यन्त मधुर, रुचिकर, तप तथा ज्ञानादि की वृद्धि करने वाला, प्रासुक, सरस, क्षुधा तृषा को नष्ट करने वाला और कृत कारितादि दोषों से रहित परमान्न–खीर का आहार विधिपूर्वक दिया ।।१०–११।। तत्काल उपार्जित पुण्य के द्वारा देवों के हाथ से छोड़ी हुई तेजपूर्ण बहुतभारी रत्नवृष्टि आकाश से पड़ने लगी ।।१२।। राजभवन में पड़ती हुई रत्नवृष्टि ऐसी जान पड़ती थी मानो लोक में सत्पुरुषों के लिये दान का महाफल प्रकट करती हुई यह बता रही हो कि दान से इस भव में तथा स्वर्ग, भोगभूमि और मोक्ष आदि में परम सुख की प्राप्ति होती है ।।१३।। उस समय पृथिवी को सुगन्धित करने वाली, देवों के हाथ से छोड़ी कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा आकाश से पड़ रही थी ।।१४।। देवों के हाथ के स्पर्श से देवों के बहुत भारी नगाड़े गम्भीर शब्द कर रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों इस लोक में दाता के परम यश की घोषणा ही कर रहे हों ।।१५।। अहो ! उस समय शीतल, सुगन्धित स्पर्शनेन्द्रिय को प्रिय, देवोपनीत वायु सुगन्धित जल के कणों को बिखेरती हुई सब ओर चल रही थी ।।१६।। अहो ! दाताओं को तारने वाले ये तीर्थंकर जिनेन्द्र परमपात्र हैं और उनके चारित्र का साक्षात् करने वाला, जगन्मान्य यह दाता भी धन्यभाग है ।।१७।। अहो ! दाता और पात्र–दोनों के लिये धर्म को देने वाला परम दान है, इस प्रकार दान के संतोष से उस क्षेत्र में देव लोग उच्चस्वर से महान् शब्द कर रहे थे। भावार्थ–उस समय पात्रदान के प्रभाव से देवों ने

1 उद्दिष्टादिदोषरहित २. तदापतद्दिवो ख० ग० ।

कृतार्थंतरमात्मानं मेने भूपः सुदानतः। गार्हस्थ्य सफलं स्वस्य जीवितं च धनार्जनम् ।१९।।
दानानुमोदतः पुण्य तदान्ये बहवोऽभजन् । पर रत्नं यथासाद्य स्फटिकस्तद्रुचिं भजेत् ।।२०।।
यथात्र लभ्यते लक्ष्मीः पात्रदानात्सुखोद्भवा। तथामुत्र स्फुट भोगधरा नाकालये परा ।।२१।।
अहो धन्यास्त एवात्र दातारो ददतेऽत्र ये। अन्वहं परमं दानं यतिवृत्तिप्रवर्द्धकाः ।।२२।।
जगन्नाथस्तदाहार गृहीत्वा समचित्ततः। रागं हत्वा यथालब्धं पारिणपात्रेण संस्थितः ।२३।।
वृत्तज्ञानादिवृद्धयर्थं पवित्रं संविधाय सः। [1]तद्गृहं ध्यानसंसिद्धयै ह्येकाकी सद्वन ययौ ।२४।
आहारवीर्यसामर्थ्याज्जिनो भेजे पर तपः। कर्माद्यरीन् क्षमो हन्तुं ग्रासपुष्टो यथा हरिः ।।२५।
मोहान्धतमसध्वसकारिणी विश्वदर्शिनी। दिदीपेऽस्य मनोगेहे महती बोधदीपिका ।।२६।।
गुणास्थया गुणान्पश्येत् दोषान् दोषास्थयात्र यः। हेयाहेयादिवित्स स्यात्क्वापरस्येदृशी गतिः ।।२७।।

---

१. रत्नवृष्टि २. पुष्पवृष्टि ३. देवदुन्दुभिताडन ४. मन्द सुगन्धित वायु का सचार और ५. 'अहो दानं अहो पात्रं अहो दाता' की घोषणा ये पञ्चाश्चर्य किये थे ।।१८।। उस उत्तम दान से राजा ने अपने आपको कृतकृत्य माना तथा गृहस्थता, अपना जीवन तथा धनार्जन को सफल समझा ।। १९ ।। जिस प्रकार उत्कृष्ट रत्न को पा स्फटिक-मरिण उस रत्न के समान कान्ति को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार दान की अनुमोदना से उस समय अन्य बहुत लोगों ने पुण्य प्राप्त किया था ।।२०।। जिस प्रकार पात्रदान से इस जगत् में सुख से प्राप्त होने वाली लक्ष्मी उपलब्ध होती है उसी प्रकार पर भव में भोगभूमि और स्वर्ग की उत्कृष्ट संपदा प्राप्त होती है।२१। अहो ! इस लोक में वे ही दाता धन्य है जो यहां मुनिवृत्ति को बढ़ाते हुए प्रतिदिन उत्तम दान देते है ।।२२।।

तदनन्तर सम्यक् प्रकार से खड़े हुए भगवान् ने जैसा कुछ प्राप्त हुआ वैसा आहार समचित्त से पारिणपात्र द्वारा ग्रहण किया था। उन्होंने यह आहार राग को नष्ट कर चारित्र तथा ज्ञानादि की वृद्धि के लिये ग्रहण किया था। आहार लेकर तथा राजा मत्याख के घर को पवित्र कर वे ध्यान की सिद्धि के लिये अकेले ही उत्तम वन की ओर चले गये ।।२३-२४।। आहार जनित शक्ति की सामर्थ्य से जिनेन्द्र देव उत्कृष्ट तप की आराधना करने लगे तथा ग्रास से पुष्ट सिंह के समान कर्मादिक शत्रुओं को नष्ट करने के लिये समर्थ हो गये ।।२५।। इनके मनरूपी गृह में मोहरूपी गाढ अन्धकार को नष्ट करने वाली तथा सबको दिखाने वाली बहुत बड़ी ज्ञानरूपी दीपिका देदीप्यमान होने लगी ।।२६।। इस जगत् में जो गुणों को गुणों की श्रद्धा से और दोषों को दोषों की श्रद्धा से देखता है वही हेयोपादेय आदि पदार्थों का ज्ञाता हो सकता है अन्य की ऐसी गति कहां होती ? अर्थात् कहीं नहीं।२७।

---

१ तद्गृहे ग० ।

सावद्यविरति सर्वामूरीकृत्याखिलार्थवित् । तद्भेदान्पालयामास निर्मलाद्यव्रताप्तये ।।२८।।
सत्यमहाव्रत मौनी मौनेन पालयेत्त्रिधा । अस्तेयव्रततात्पर्यं व्यधात्सर्वत्र निःस्पृहः ।।२९।।
मात्रादिसदृशा सर्वा स्त्री विधाय स्वमानसे । नवधा ब्रह्मचर्यं स दध्यात्कृत्स्न[1]मलातिगम् ।।३०।
वाह्याभ्यन्तरसङ्गेषु मूर्च्छा हृत्वातिनिःस्पृह । दिग्दशाम्बर एवाधात् पूर्णं स व्रतपञ्चमम् ।।३१।।
महाव्रतानि पञ्चैवमनिश पालयन् जिन । तच्छुद्धयर्थं सदैता स भावयामास भावनाः ।३२।
वचोगुप्तिर्मनोगुप्तिरीर्यासमितिसञ्ज्ञिका । तथैवादाननिक्षेपोत्सर्गाख्या समिति. परा ।।३३।।
चक्षुर्भ्यां हि दिनालोकितपानभोजन त्विमाः । भावना पञ्च विज्ञेया. प्रथमव्रतशुद्धिदा ।।३४।।
क्रोधलोभभयत्यागा सर्वथा हास्यवर्जनम् । वाणी सूत्रानुगाहीति[2] द्वितीयव्रतभावनाः ।।३५।।
मितोचिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा । सतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावना. ।।३६।।
स्त्रीशृङ्गारकथारागाश्रवण चानिरीक्षणम् । स्त्रीमनोहररूपस्य नारीणा सङ्गवर्जनम् ।।३७।।
पूर्वसेवितभोगाना हृद्यनुस्मरणापहम् । वृष्येष्टान्नरसत्यागः पञ्चेति ब्रह्मभावना ।।३८।।

समस्त पदार्थों को जानने वाले भगवान् ने समस्त सावद्य—सपाप कार्यों का त्याग स्वीकृत कर निर्मल अहिंसा व्रत की प्राप्ति के लिये उसके भेदों का पालन किया ।।२८।। मौन को धारण करने वाले जिनेन्द्र ने मन वचन काय के भेद से तीन प्रकार के मौन द्वारा सत्य महाव्रत का पालन किया था। समस्त पदार्थों में निःस्पृह रहने वाले पार्श्व जिनेन्द्र ने अचौर्य महाव्रत में तत्परता की थी ।।२९।। अपने मन में समस्त स्त्रियों को माता आदि के समान समझकर उन्होने नौ प्रकार का निर्दोष ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया था ।।३०।। अत्यन्त निःस्पृह पार्श्व जिनेन्द्र बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों में मूर्च्छा को छोड़ कर दिगम्बर ही हो गये थे इस प्रकार उन्होंने पूर्ण पञ्चम महाव्रत अपरिग्रह महाव्रत को धारण किया था ।।३१।। इस प्रकार निरन्तर पांच महाव्रतों का पालन करते हुए पार्श्व जिन, उन महाव्रतों की शुद्धि के लिये सदा इन भावनाओं का चिन्तवन करते थे ।।३२।।

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और नेत्रों से देखकर दिनालोकितपानभोजन ये पांच भावनाएं अहिंसाव्रत की शुद्धि को देने वाली जाननी चाहिये ।।३३–३४।। क्रोधत्याग, लोभत्याग, भयत्याग, सब प्रकार का हास्यत्याग और अनुवीचिभाषण ये सत्य महाव्रत की भावनाएं है ।।३५।। मितग्रहण, उचितग्रहण, अभ्यनुज्ञात ग्रहण, अन्यथा अग्रहण और भक्तपान में संतोष ये पांच अचौर्य महाव्रत की भावना है ।।३६।। स्त्रियों की शृङ्गार कथा मे राग बढाने वाले गीत आदि का नही सुनना, स्त्रियों के मनोहर रूप का नहीं देखना, स्त्रियों का सङ्ग छोड़ना, पूर्व सेवित भोगों के स्मरण का

1. निरवद्यपरिग्रहम् । 2. सूत्रानुग्रहीति ख० ।

बाह्याभ्यन्तरसङ्गेषु सचित्ताचित्तवस्तुषु । पञ्चाक्षविषयेष्वेव सुखदुःखविधायिषु ॥३९॥
सुमनोज्ञामनोज्ञेषु रागद्वेषादिवर्जनाः । पञ्चेमा भावना भाव्याः पञ्चमव्रतशुद्धये ॥४०॥
महाव्रतविशुद्ध्यर्थं भावनाः पञ्चविंशतिः । भावयामास तीर्थेश एताः सद्वृत्तशुद्धिदाः ॥४१॥
अष्टौ [1]प्रवचनाम्बाः स मातृवद्धितकारिणीः । त्रिशुद्ध्या पालयामास सर्वास्रवविहानये ॥४२॥
यानि कानि त्रिशल्यानि शल्यवद्दुःखदानि च । मिथ्यादीनि जिनाधीशैर्गर्हितानि जिनागमे ॥४३॥
व्युत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशल्यः श्रीजिनाग्रणीः । ग्रामखेटपुराटव्यादिषु सविहरेत्सदा ॥४४॥
विहरन्सोऽप्यरण्यादौ यत्रास्तं रविरन्वगात् । कायोत्सर्गं विधायाशु तत्रैवास्थात्सुनिर्भयः ॥४५॥
श्मशाने भीषणे रौद्रे वने चाद्रिगुहान्तरे । एकाकी सिंहवद्रात्रौ निःशङ्कः सोऽनिशं वसेत् ।४६।
अष्टादशसहस्रप्रशीलसन्नाहवर्मितः । चतुरशीतिलक्षप्रगुणभूषणभूषितः ।४७॥
रत्नत्रयशरोपेतस्तपोधनुर्विमण्डितः । महाशमगजारूढो धैर्यशाली जगद्गुरुः ॥४८॥
निघ्नन्कर्मारिसन्तानं सुचारित्ररणाङ्गणे । ध्यानखड्गेन भाति स्म सोऽपूर्वो वा भटोत्तमः ४९।

याग करना और गरिष्ट तथा इष्ट आहार का त्याग करना ये पांच ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएं है ॥३७–३८॥ बाह्याभ्यन्तर परिग्रहों में, सचित्ताचित्त वस्तुओं मे तथा सुख दुःख करने वाले पञ्चेन्द्रियों के इष्ट–अनिष्ट विषयों में रागद्वेषादि को छोड़ना ये पांच भावनाएं पञ्चमव्रत–परिग्रह त्याग महाव्रत में शुद्धि उत्पन्न करने के लिये है ॥३९–४०॥ इस प्रकार तीर्थ के स्वामी श्री पार्श्वजिनेन्द्र महाव्रतों की विशुद्धि के लिये सम्यक्चारित्र में शुद्धि प्रदान करने वाली इन पच्चीस भावनाओं का चिन्तवन करते थे ॥४१॥

वे समस्त आस्रव को नष्ट करने के लिये माता के समान हित करने वाली आठ प्रवचन मातृकाओं–पांचसमिति और तीन गुप्तियों का त्रिशुद्धिपूर्वक पालन करते थे ।४२। जिनेन्द्र भगवान् ने जिनागम मे शल्य के समान दुःख देने वाली जिन मिथ्यात्व आदि तीन शल्यों को निन्दित बताया है उन सबको छोड़कर पार्श्व मुनिराज निःशल्य होते हुए ग्राम खेट पुर तथा अटवी आदि मे सदा विहार करते रहते थे ॥४३–४४॥ वन आदि स्थानों में विहार करते हुए वे, जहां सूर्य अस्त हो जाता था वहीं पर शीघ्र कायोत्सर्ग कर अत्यन्त निर्भयरूप से ठहर जाते थे ॥४५॥ वे रात्रि के समय सिंह के समान अकेले तथा निःशङ्क होकर भयंकर श्मशान, रौद्रवन और पर्वत की गुफाओं मे सदा निवास करते थे ॥४६॥ जो अठारह हजार शील के भेदरूप कवच से युक्त थे, चौरासी लाख उत्तर गुणरूपी आभूषणों से विभूषित थे, रत्नत्रयरूपी बाणों से सहित थे, तपरूपी धनुष से मण्डित थे, महाशान्तपरिणामरूप हाथी पर सवार थे, धैर्यशाली थे, जगत् के गुरु थे और सम्यक्चारित्र

१. पञ्चसमितित्रिगुप्तिरूपा अष्टप्रवचनमातरः ।

द्विषड्भेदं तप सोऽधात् परं कर्मवनानलम् । प्रार्गाजतविधेर्हान्यै मुक्तिनारीवशीकरम् ।।५०।।
पञ्चेन्द्रियकुचौरान् समस्तानर्थविधायिनः । निर्वेदतीक्ष्णखड्गेन जघान मुक्तिशर्मणे ।।५१।।
[1]जजृम्भे ध्यानवह्निर्मनोगारे कल्पनातिगे । विभोर्दु:कर्मकाष्ठाना [2]भस्मीभावकरः परः ।५२।
आर्त्तरौद्रादिदुर्ध्याना नावकाशं भजन्त्यहो । जात्वस्य हृदये धर्म्यशुक्लध्याना[3]भिवासिते ।५३।
दुर्लेश्या न पद चक्रुश्चित्तेऽस्य मलदूरगे । शुभलेश्याकृतावासे क्वचिद्ध्यानपरायणे ।।५४।।
भ्रमन्त विषयारण्ये चञ्चलं चित्तमर्कटम् । ज्ञानशृङ्खलया ध्यानस्तम्भे शुद्धयै बबन्ध सः ।५५।
नयन् स चतुरो मासाश्छाद्मस्थ्येनागमज्जिनः । प्रत्यासन्नभवप्रान्त' प्राग्दीक्षाग्रहणे वने ।।५६।।
तत्रैवाधस्तले देवदारुभूरिमहीरुह' । अष्टमाहारसत्याग कृत्वा त्यक्त्वा निज वपुः ।।५७।
घातिकर्मक्षयायासौ योग सप्तदिनावधिम् । व्यधात्कर्मवनाग्नि समस्तयोगनिरोधकम् ।।५८।।

रूपी रणाङ्गण में ध्यानरूपी खड्ग के द्वारा कर्मरूपी शत्रुओं की सेना का घात कर रहे थे ऐसे वे पार्श्व मुनि अपूर्व सुभट के समान सुशोभित हो रहे थे ।।४७–४९।।

वे पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा के लिये कर्मरूपी वन को भस्म करने हेतु अग्नि के समान तथा मुक्तिरूपी स्त्री को वश करने के लिये वशीकरण मन्त्र के तुल्य बारह प्रकार का तप करते थे ।।५०।। वे मुक्ति सम्बन्धी सुख के लिये समस्त अनर्थों को करने वाले पञ्चेन्द्रियरूपी दुष्ट चोरों को वैराग्यरूपी तीक्ष्ण तलवार के द्वारा नष्ट करते थे ।।५१।। नाना प्रकार की कल्पनाओं से रहित उनके मनरूपी मन्दिर में दुष्ट कर्मरूपी काष्ठों को भस्म करने वाली ध्यानरूपी उत्कृष्ट अग्नि प्रज्वलित रहती थी ।।५२।। अहो ! धर्म्य-ध्यान और शुक्लध्यान से सुशोभित इनके हृदय में कभी भी आर्त रौद्र आदि खोटे ध्यान अवकाश नहीं प्राप्त करते थे ।।५३।। शुभलेश्याओं से युक्त तथा ध्यान में तत्पर रहने वाले इनके निर्मल चित्त मे अशुभ लेश्याए कहीं भी स्थान नहीं प्राप्त कर सकती थीं ।।५४।। उन्होने विषयरूपी वन मे घूमते हुए चञ्चल चित्तरूपी वानर को शुद्धि के लिये ज्ञानरूपी सांकल के द्वारा ध्यानरूपी स्तम्भ में बांध रक्खा था ।।५५।।

जिनके संसार का किनारा अत्यन्त निकट रह गया है ऐसे पार्श्वजिन छद्मस्थभाव से चार माह व्यतीत कर पहले के दीक्षावन में आये ।।५६।। वहीं उन्होंने देवदारुवृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर कायोत्सर्ग किया और घातिया कर्मों का क्षय करने के लिये सात दिन तक का योग-ध्यान धारण कर लिया । उनका वह योग कर्मरूपी वन को अग्नि स्वरूप था तथा समस्त योगों–मन वचन काय की प्रवृत्तियो का निरोध करने वाला था ।।५७–५८।।

[1] पर्दुर्म ग० घ० [2] भस्मीभावकरः पर ख० ग० [3]. शुक्लध्याननिवासिते ग० ।

यावत्सोऽस्थाज्जिनाधीशस्त्यक्तदेहोऽचलोपमः । सत्त्वसारोऽतिधैर्यात्मा धर्म्यध्यानं प्रवर्तयन् ॥५९॥
तावत्स प्राक्तनः पापी [1]संवराख्योऽति दुष्टधीः । ज्योतिष्कनिर्जरो गच्छन् खे तस्योपरि तत्क्षणम् ६०
विमानरूढ एव श्रीजिनयोगप्रतापत. । निरुद्ध सविमानोऽभूत्कीलितो वात्र केनचित् ।६१।
स्वं निरुद्धं विबुद्धयाशु विभङ्गेन पुरातनम् । वैरं चाप महाकोप सोऽनन्तभवकारणम् ।६२॥
ततः कोपाग्निना दग्धसर्वाङ्गो बहिरन्तरे । भूत्वाङ्गारनिभो नेत्रे चोपसर्गे मतिं व्यधात् ॥६३॥
विक्रियर्द्धिवलात्पापो कुर्याद्वैरतर प्रभोः । दुस्सह प्रोपसर्गं कातराणां भीतिदायकम् ॥६४॥
मुशलोपमधारौघवर्षणैश्चापडम्बरैः । झञ्झावातसमूहैश्च धराद्रिवनमज्जनै ॥६५॥
तदरण्यं तदा काले निमग्नक्ष्माद्रिपादपम् । सर्वत्र जलसपूर्णं बभूवेव महार्णवम् ॥६६॥
तथैव सोऽतिपापात्मा महोग्रोग्रतरानधात् । बहून् सुविविधान् शक्त्या प्रोपसर्गान्सुदुस्सहान् ६७।
ध्यानध्वंसकरैस्तीक्ष्णैः शपनादिकुजल्पनैः । अन्यैर्घोरैश्च [2]शैलोपनिपाताद्यैर्भयङ्करैः ॥६८॥

जिन्होंने शरीर से ममताभाव छोड़ दिया है, जो पर्वत के समान स्थिर है, बलयुक्त हैं और अत्यधिक धैर्यशाली है ऐसे पार्श्व जिनेन्द्र धर्म्यध्यान को प्रवर्ताते हुए ज्यों ही वहां स्थित हुए त्यों ही वहां पूर्व का पापी, संवर नामका ज्योतिषी देव जो कि दुष्ट बुद्धि था तथा उस समय विमानारूढ हो आकाश में जा रहा था, जब पार्श्व जिनेन्द्र के ऊपर से जाने लगा तब उनके ध्यान के प्रताप से वह विमान सहित ऐसा रुक गया मानों किसी ने कील दिया हो ॥५९–६१॥ अपने आपको रुका हुआ जानकर उसने शीघ्र ही विभङ्गावधि का प्रयोग किया। उसके द्वारा पूर्व वैर को जानकर वह अनन्त संसार के कारण स्वरूप महान् क्रोध को प्राप्त हुआ ॥६२॥ तदनन्तर क्रोधाग्नि से भीतर बाहर जिसका समस्त शरीर दग्ध हो गया था तथा जिसके नेत्र अंगार के समान लाल लाल हो रहे थे ऐसे उस संवर देव ने उपसर्ग करने का निश्चय किया ॥६३॥ विक्रिया ऋद्धि के बल से उस पापी ने प्रभु के ऊपर ऐसा भारी उपसर्ग किया जिसमें तीव्र वैर भरा हुआ था, जो दुःसह था तथा कायर मनुष्यों को भय उत्पन्न करने वाला था ॥६४॥ उसने वह उपसर्ग इन्द्र धनुष के विस्तार से सहित तथा पृथिवी पर्वत और वन को डुबा देने वाली मूसल के समान बड़ी मोटी धारा समूह की वर्षा और झञ्झा वायु के समूह के द्वारा किया था ॥६५॥ उस समय, जिसमें पृथिवी, पर्वत और वृक्ष डूब गये है ऐसा जल से भरा हुआ वह वन महासागर के समान हो गया था ॥६६॥ जिसकी आत्मा अत्यन्त पाप से युक्त है ऐसा वह संवर देव शक्तिपूर्वक नाना प्रकार के बहुतभारी असह्य, तीक्ष्ण से तीक्ष्ण महान् उपसर्ग करता रहा। कभी वह ध्यान में बाधा डालने वाले कठोर अपशब्दों का उच्चारण करता, कभी बड़ी

१ सवाराख्यो ख० ग० २. शिलोप घ० शीलोप ख० ग०।

यत्किञ्चिद्विद्यते तस्य सामर्थ्यं विक्रियोद्भवम् । तेन सप्तदिनान्तं स चकारोपद्रवं परम् ।।६९।।
प्रस्तावेऽस्मिन्महादक्षदृढवैराग्यवासितम् । सक्लेशादिविनि:क्रान्त तत्त्वचिन्तावलम्बितम् ।८०।
निर्भय निर्विकारं स ज्ञानध्यानपरायणम् । निर्विकल्पपदापन्न दधेऽसौ स्व मनो जिन: ।।७१।।
अनेकगुणसपूर्णे ज्ञानमूर्तौ निजात्मनि । अनन्तमहिमोपेत[1]चैतन्यगुणशालिनि ।।७२।।
अतो निश्चलचित्तेन धैर्यादिगुणराशिभि: । जानन्नपि न वेत्त्यभ्यन्तरे वाधा स तत्कृताम् ।७३।।
न मनाक् चलितो ध्यानान्न क्लेशदु:खवेदक: । न मनाग विक्रियापन्न [2]सुखरूपोऽभवत्सुधी. ।७४।
अतोऽसौ ध्यानसलीनो निष्कम्पो मेरुवद्विभु: । अस्थाज्जित्वा समन्तान् तत्कृतान् सर्वानुपद्रवान् ।।
चलत्यचलमालेयं क्वचिद्दैवादहो भुवि । न पुनर्योगिना चित्तं ध्यानात्सर्वपरीपहै: ।।७६।।
अहो धन्यास्त एवात्र येषा न स्खलित मनाक् । वीर्यं वा साहस जातु महोपद्रवकोटिभि ।।७७।।
तदा जिनमहायोगसामर्थ्याद्धरणेशिन: । पातयन्निव त भूमौ स्वासनं कम्पितं तराम् ।।७८।।

बड़ी शिलाओं को लाकर समीप में गिराता और कभी अन्य भयकर उत्पात करता था। उसकी विक्रिया की जितनी सामर्थ्य थी उसके अनुसार वह सात दिन तक अत्यधिक उपद्रव करता रहा ।।६७–६९।।

इस अवसर पर जिनेन्द्र भगवान् ने जो अत्यन्त समर्थ दृढ वैराग्य से युक्त था, संक्लेशादि से रहित था, तत्त्वचिन्ता में लीन था, निर्भय था, निर्विकार था, ज्ञानध्यान में तत्पर था, तथा निर्विकल्प पद को प्राप्त था ऐसे अपने मन को अनेक गुणों से परिपूर्ण, ज्ञानमूर्ति तथा अनन्त महिमा से युक्त चैतन्यगुण से सुशोभित अपनी आत्मा में स्थिर किया था ।।७०–७२।। यही कारण था कि वे धैर्यादि गुणों के समूह से निश्चलता को प्राप्त हुए चित्त से उस देवकृत वाधा को जानते हुए भी अन्तरङ्ग में उसका वेदन नहीं करते थे ।।७३।। न वे रञ्चमात्र ध्यान से चलायमान हुए थे, न क्लेशजन्य दु:ख का वेदन करते थे और न रञ्चमात्र विकार को प्राप्त हुए थे। किन्तु इसके विपरीत सुखी और सुबुद्धि के धारक हुए थे ।।७४।। जो ध्यान में लीन थे तथा मेरु पर्वत के समान निष्कम्प थे ऐसे प्रभु पार्श्वनाथ देवकृत समस्त उपद्रवों को जीत कर वहां स्थिर रहे ।।७५।। अहो ! पृथिवी पर कही दैववश यह पर्वतों की पंक्ति भी चलायमान हो जाती है परन्तु समस्त परिषहों से योगियो का मन ध्यान से चलायमान नही होता ।।७६।। अहो ! इस जगत् में वे ही धन्य हैं जिनका वीर्य और साहस करोड़ों महोपद्रवों से कभी रञ्चमात्र भी स्खलित नहीं होता७७

उस समय जिनेन्द्र भगवान् के महाध्यान की सामर्थ्य से धरणेन्द्र का अपना आसन इतना अधिक कम्पायमान हुआ मानो उसे पृथिवी पर गिरा ही रहा हो ।।७८।। तदनन्तर

१. महिमोपेत ख० ग० २ सुखम्पे ख० घ० ।

ततोऽवबुध्य तीर्थेशस्योपसर्गं सुदुस्तरम् । स्वावधिज्ञानसम्पत्त्या हीत्यसौ चिन्तयेद्धृदि ।७९।।
अहो यस्य प्रसादेन प्राप्तास्माभिरियं गतिः । तस्य मत्स्वामिनः प्रोपद्रवः संजायतेऽसुरात् ।।८०।।
यद्यहं न करोम्यद्य प्रत्युपकारमेव हि । पृथिव्यां मत्परः कोऽत्र पापी वात्यधमो भवेत् ८१।
विचिन्त्येति किलोद्भिद्य धरां सार्द्धं स्वकान्तया । आजगाम द्रुतं पार्श्वं जिनेन्द्रस्य फणीश्वरः ।।८२।।
त्रिपरीत्याशु तं धैर्यशालिनं प्रोपसर्गिणम् । ननाम धरणेन्द्रश्च भक्त्या पद्मावती मुदा ।।८३।।
भट्टारकमथोद्धृत्य प्रस्फुरत्फणपङ्क्तिभिः । भुवः प्रोत्थाप्य देवोऽस्थात्तद्बाधाहानये द्रुतम् ।८४।।
तस्योपरि विधायोच्चैः सघनं फणमण्डपम् । वज्रतुल्यं जलाभेद्यं स्थिता देवी स्वभक्तितः ।८५।।
तत्सर्वोपद्रवं तस्याशु [1]तत्राभ्यां निवारितम् । स्वशक्त्या परया भक्त्या फणैर्विद्युच्चमत्कृतैः ८६।
ततो निरर्थको जातः स चाकिञ्चित्करोऽमरः । अतृणे पतितो वह्निर्यथा मन्दरुचिः स्वयम् ।।८७।।
अहो क्व भुवि तीर्थेशः क्व तौ पातालवासिनौ । सति पुण्ये न किं पुंसां जायते दूरदुर्घटम् ।।८८।।

अपने अवधिज्ञान की सम्पत्ति से तीर्थंकर पर होने वाले बहुत भारी उपसर्ग को जानकर वह हृदय में ऐसा विचार करने लगा ।।७९।। अहो ! जिनके प्रसाद से हमने यह गति प्राप्त की, हमारे उन स्वामी पर असुर से बहुत भारी उपसर्ग हो रहा है ।।८०।। यदि आज मैं प्रत्युपकार नहीं करता हूं तो पृथिवी पर मुझ से अधिक पापी और नीच दूसरा कौन होगा ? ।।८१।। ऐसा विचार कर धरणेन्द्र पृथिवी का भेदन कर अपनी स्त्री के साथ शीघ्र ही जिनराज के समीप आ पहुँचा ।।८२।। धैर्य से सुशोभित तथा बहुत भारी उपसर्ग से युक्त भगवान् पार्श्वनाथ की तीन प्रदक्षिणाएं देकर धरणेन्द्र तथा पद्मावती ने भक्ति से हर्षपूर्वक उन्हें नमस्कार किया ।।८३।।

तदनन्तर धरणेन्द्र शीघ्र ही भगवान् की बाधा दूर करने के लिये उन्हें देदीप्यमान फणाओं की पंक्ति द्वारा पृथिवी से उठा कर खड़ा हो गया ।।८४।। और उनके ऊपर पद्मावती देवी अपनी भक्ति से उन्नत, सघन, वज्रसदृश तथा जल के द्वारा अभेद्य फणामण्डप तान कर खड़ी हो गई ।।८५।। धरणेन्द्र और पद्मावती ने अपनी शक्ति और परम भक्ति से बिजली के समान चमकते हुए फणों के द्वारा उनका वह समस्त उपसर्ग दूर कर दिया ।।८६।। तदनन्तर जिस प्रकार तृण रहित भूमि में पड़ी हुई अग्नि स्वयं मन्दकान्ति हो जाती है उसी प्रकार वह संवर देव भी निरर्थक तथा अकिञ्चित्कर हो गया ।।८७।। अहो ! पृथिवी पर विद्यमान पार्श्व तीर्थंकर कहां और पाताल में निवास करने वाले वे धरणेन्द्र और पद्मावती कहां ? ठीक है पुण्य के रहते हुए पुरुषों का कौनसा असंभव कार्य संभव नहीं हो जाता ? ।।८८।।

---

१ तत्ताभ्या ख० ग० ।

अथैवावसरे तस्मिन् प्राप्याप्रमत्ततां पराम् । निर्विकल्पपदारूढः परात्मध्यानतत्परः ।।८६।।
अन्तर्निर्मलता लब्ध्वारुरोह क्षपकाभिधाम् । श्रेणी स जगतां नाथो निःश्रेणी मोक्षसद्मनः ।६०।
[1]तत्राश्वष्टकषायारीन् देशसर्वव्रतान्तरान् । रागमूलास्त्रिवेदांश्च नोकषायरिपून्परान् ।।६१।।
क्रोधं-सञ्ज्वलनं मानं माया संज्वलनाभिधाम् । जघान क्रमतो योगी ह्याद्यशुक्लासिना तदा ।।६२।।
जयभूमिं ततो लब्ध्वा सूक्ष्मलोभमहारिपुम् । जघान श्रीजिनः सूक्ष्मसांपराययमासिना ।।६३।।
गुणस्थानमथास्पृश्य ह्येकादशममेव च । उत्पत्य प्राभवत्क्षीणकषायो मोहनाशकृत् ।।६४।।
ततो द्वादशमं प्रारुह्य गुणस्थानमञ्जसा । तस्यान्ते शेषघातीनि त्रिकर्माणि निहत्य सः ।६५।।
सदेकत्ववितर्कावीचारशुक्लायुधेन हि । महाभट इवात्यर्थं स्वीचकार जिनोत्तम ।।६६।।
केवलज्ञानसाम्राज्यं विश्वभूत्येकमन्दिरम् । अनन्तशर्मकर्तारं त्रिजगत्पतिमानितम् ।।६७।।
चैत्रमासे शुभे कृष्णपक्षे विशाखनामनि । नक्षत्रे च चतुर्दश्या पूर्वाह्णे घातिघातकृत् ।।६८।।
स्वशक्त्योत्पादयामास केवलज्ञानमद्भुतम् । अनन्तमहिमोपेतं लोकालोकाग्रदीपकम् ।।६६।।

अथानन्तर उसी अवसर पर उत्कृष्ट अप्रमत्त दशा प्राप्त कर जो निर्विकल्प पद पर आरूढ हैं तथा परात्मास्वकीयशुद्धस्वरूप के ध्यान में तत्पर हैं ऐसे जगत्पति पार्श्व जिनेन्द्र, अन्तरङ्ग की निर्मलता को प्राप्त कर मोक्ष महल की सीढी स्वरूप क्षपक श्रेणी पर आरूढ हुए ।।८६–६०।। वहां योगिराज पार्श्व जिनेन्द्र ने उस समय पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान के द्वारा शीघ्र ही देशचारित्र तथा सकलचारित्र को घातने वाले अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण नामक आठ कषायरूप शत्रुओं को, राग के मूलभेद तीन वेदों को, नो कषायरूप परम शत्रुओं को, संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान और संज्वलन माया को क्रम से नष्ट किया ।।६१–६२।। तदनन्तर श्री जिनेन्द्र ने विजयभूमि को प्राप्त कर सूक्ष्म सांपराय संयमरूपी तलवार के द्वारा सूक्ष्मलोभ नामक महाशत्रु का घात किया ।।६३।। तत्पश्चात् मोह कर्म का क्षय करने वाले भगवान् ग्यारहवें गुणस्थान का स्पर्श किये बिना ही क्षीण कषाय–बारहवें गुणस्थान वर्ती हो गये ।।६४।। तदनन्तर बारहवें गुणस्थान में चढ़ कर उसके अन्त समय में उन्होंने शेष तीन घातिया कर्मों का वास्तविक नाश किया ।।६५।। वहां उन्होंने एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानरूपी शस्त्र के द्वारा महान् योद्धा के समान उस केवलज्ञानरूपी साम्राज्य को प्राप्त किया जो समस्त संपदाओं का एक अद्वितीय मन्दिर है, अनन्त सुख को करने वाला है और तीन जगत् के स्वामियों द्वारा सन्मानित है ।।६६–६७।। चैत्र कृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्वाह्ण काल में विशाखा नक्षत्र में घातिया कर्मों का घात करने वाले पार्श्व जिनेन्द्र ने अपनी आत्मशक्ति के द्वारा वह केवलज्ञान उत्पन्न किया जो अद्भुत था, अनन्तमहिमा

१ तत्र माशु अष्टकषायारीन् इतिच्छेद ।

अनन्तं दर्शनं ज्ञानं वीर्यं क्षायिकदर्शनम् । वृत्तं दानं च लाभं भोगोपभोगौ किलेत्यहो ।१००।
नवकेवललब्धीः स स्वीचकार जिनाग्रणीः । घातिकर्मक्षयोत्पन्ना लोकेऽसाधारणाः पराः १०१।

मालिनी

भगवति जितमोहे केवलज्ञानभूत्या स्फुरति सति सुरेन्द्राः प्रानमन् भक्तिभारात् ।
नभसि जयनिनादो निर्जराद्यैर्जजृम्भे सुरपटहरवौघै रुद्धमासीत्तदा खम्[1] ।।१०२।।
[2]सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापप्तदुच्चै-र्भ्रमरघननिनादैर्गीतमातन्वतीव ।
शिशिरतरतरङ्गानास्पृशन्मातरिश्वा मृदुतरमभितस्संव्यानशे दिग्मुखानि ।।१०३।।
सकलविभवपूर्णा धर्मरत्नादिखानि बहुविधमणिसङ्घैर्दिव्यभूत्या चकार ।
समवसृतिमनर्घ्या यक्षराड्[3] यस्य सोऽव्याद् भवजलनिधिपातात्पार्श्वनाथः सता नः[4]।।१०४।।

शार्दूलविक्रीडितम्

एवं श्रीजिननायकोऽत्र परया क्षान्त्या जगद्द्योतकं
प्राप्तः केवललोचनं सुविमलं भुक्त्वा त्रिलोके सुखम् ।

से सहित था तथा लोकालोक के अग्रभाग को प्रकाशित करने वाला था ।।९८-९९।।
अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्तवीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिकचारित्र, दान, लाभ, भोग और उपभोग इन नौ केवललब्धियों को उन जिनेन्द्र ने स्वीकृत किया था । ये नौ केवल-लब्धियां घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है तथा लोक में परम असाधारण हैं ।।१००-१०१।।

मोह को जीतने वाले भगवान् पार्श्वनाथ जब केवलज्ञान रूप विभूति के द्वारा देदीप्यमान हो रहे थे तब इन्द्रों ने भक्तिभार से उन्हें प्रणाम किया । देवों आदि ने आकाश में जय जयकार का शब्द विस्तृत किया और देवदुन्दुभियों के शब्द समूह से आकाश उस समय व्याप्त हो गया था ।।१०२।। जो भ्रमरों की सघन गुञ्जार से मानों गीत गा रही थी, ऐसी कल्पवृक्ष के फूलों की वृष्टि ऊपर से नीचे पड़ रही थी तथा अत्यन्त शीतल तरङ्गों का स्पर्श करने वाली वायु ने धीरे धीरे समस्त दिशाओं के अग्रभाग को व्याप्त कर लिया ।।१०३।।

यक्षाधिपति कुबेर ने नाना प्रकार के मणि समूहों तथा स्वर्गीय विभूति के द्वारा जिनकी समस्त वैभव से पूर्ण तथा धर्मरत्न की प्रथम खानस्वरूप अमूल्य समवसरण रचा था वे पार्श्वनाथ भगवान् हम सत्पुरुषों की संसार सागर के पतन से रक्षा करें ।।१०४।।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् इस जगत् में परम क्षमा के द्वारा त्रिलोक सम्बन्धी अत्यन्त निर्मल सुख भोग कर जगत्प्रकाशक केवलज्ञान को प्राप्त हुए थे ऐसा जानकर हे

---

१ गगनम् २. कल्पवृक्षपुष्पाणां ३. कुबेर ४ अस्मान् ।

मत्वेतीह जनाः कुरुध्वमनिशं सारां क्षमां मोक्षदां
सर्वत्रापि निहत्य कोपकुरिपुं स्वर्मुक्तिससिद्धये ।।१०५।।

स्रग्धरा

सर्वज्ञो विश्वदर्शी त्रिभुवनशरणो धर्मतीर्थादिकर्ता
हन्ता कर्माक्षशत्रून् समवसृतियुतो वन्दितः संस्तुतो यः ।
पूज्यः कल्याणकाले सुरखगपतिभिर्विश्वनाथैर्मया च
सोऽस्य श्रीपार्श्वनाथः प्रभवतु मम दुर्घातिकर्मक्षयाय ।।१०६।।

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे केवलज्ञानोत्पत्तिवर्णनो नाम सप्तदश सर्गः ।।१७।।

भव्यजन हो ! स्वर्ग और मुक्ति की प्राप्ति के लिये सभी जगह क्रोधरूपी दुष्ट शत्रु को नष्ट कर निरन्तर सार स्वरूप मोक्षदायक क्षमा को धारण करो ।।१०५।।

जो सर्वज्ञ थे, सर्वदर्शी थे, त्रिभुवन के रक्षक थे, धर्म तीर्थ आदि के कर्ता थे, कर्म तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाले थे, समवसरण से सहित थे, वन्दित थे, संस्तुत थे, तथा कल्याणकों के काल में देवेन्द्र विद्याधरेन्द्र, सबके नाथ तथा मेरे द्वारा पूज्य थे, वे श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र हम सब के दुष्ट घातिया कर्मों के क्षय के लिये हों ।।१०६।।

इस प्रकार श्रीभट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्री पार्श्वनाथ चरित में केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला सत्रहवां सर्ग समाप्त हुवा ।।१७।।



अष्टादशः सर्गः

दिव्यौदारिकदेहाय केवलज्ञानचक्षुषे । गुरूणां गुरवे मूर्ध्ना श्रीपार्श्वाय नमः सदा ॥१॥
अथ केवलमाहात्म्याज्जिताब्धिध्वनिरद्भुता । घण्टा मुखरयामास वदन्तीव तदुत्सवम् ॥२॥
समन्तात्पुष्पवृष्टिं प्रचक्रुः कल्पमहीरुहाः । दिशो निर्मलतां प्रापुर्बभ्राजे [1]व्यभ्रमम्बरम् ॥३॥
विष्टराणि सुरेन्द्राणामशनैः प्रचकम्पिरे । बभूवुर्मुकुटा नम्राः शिशिरो मरुदाववौ ॥४॥
इत्यादिविविधैश्चिह्नैरवबुध्य तदुत्सवम् । सिंहासनात्समुत्थाय परोक्षभक्तिनिर्भरः ॥५॥
संयोजितावधिज्ञानः [2]आदिकल्पाधिपो द्रुतम् । ननाम तं जिनाधीशं केवलज्ञानभूषितम् ॥६॥
किमेतदिति पृच्छन्तीमिन्द्राणीमतिसंभ्रमात् । शक्रः प्रबोधयामास प्रभोः कैवल्यसंभवम् ॥७॥
प्रयाणपटहेषूच्चैः प्रध्वनत्सु सुराधिपः । विभोः कैवल्यपूजायै निश्चक्राम वृतः सुरैः ॥८॥
ततो [3]बलाहकाकारं विमानं [4]कामुकाभिधम् । देवो [5]बलाहकश्चक्रे विस्तीर्णं लक्षयोजनं ॥९॥

अष्टादश सर्ग

परमौदारिक शरीर से सहित, केवलज्ञानरूपी नेत्र से युक्त, गुरुओं के गुरु श्रीपार्श्वनाथ भगवान् को सदा शिर से नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर केवलज्ञान के माहात्म्य से समुद्र के शब्द को जीतने वाला घण्टा, केवलज्ञान महोत्सव की सूचना देता हुआ ही मानों शब्द करने लगा ॥२॥ कल्पवृक्ष सब ओर पुष्पवर्षा करने लगे, दिशाएं निर्मलता को प्राप्त हो गई और मेघ रहित आकाश सुशोभित होने लगा ॥३॥ इन्द्रों के आसन जोर से कम्पित होने लगे, मुकुट नम्रीभूत हो गये और शीतल वायु बहने लगी ॥४॥ इत्यादि विविध चिह्नों से केवलज्ञान का उत्सव जान कर परोक्ष भक्ति से परिपूर्ण, अवधिज्ञानी, सौधर्मेन्द्र ने शीघ्र ही सिंहासन से उठ कर केवलज्ञान से अलंकृत पार्श्व जिनेन्द्र को नमस्कार किया ॥५–६॥ 'यह क्या है' इस प्रकार पूछती हुई इन्द्राणी को सौधर्मेन्द्र ने बड़े हर्ष से बतलाया कि पार्श्वप्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ॥७॥

तदनन्तर जब प्रस्थान काल में बजने वाले नगाड़े जोर जोर से शब्द कर रहे थे तब देवों से घिरा इन्द्र प्रभु के केवलज्ञान की पूजा के लिये निकला ॥८॥ तत्पश्चात् बलाहक नामक देव ने मेघ के आकार, एक लाख योजन विस्तार वाला कामुक नामका

---

१ मेघरहितम् २ सौधर्मेन्द्र. ३ मेघाकार ४ कामकाभिध ख० ब० ५ बलाहकनाम देवः ।

मुक्तालम्बनदामौघैः किङ्किणीस्वनकोटिभिः । प्रहसन्निव तोषात्तद्रश्मिभिर्मणिनिर्मितम् ॥१०॥
शरदभ्रमिवात्यन्तशुक्लं श्वेतितदिग्मुखम् । तुङ्गवंशं सुदीर्घाङ्गं सवृत्तोन्नतमस्तकम् ॥११॥
लक्षणैर्व्यञ्जनैर्युक्तं जवनं नलिनं परम् । तिर्यग्लोकायतस्थूलक्रमवृत्तर्जुसत्करम् ॥१२॥
वृत्तगात्रं सुलीलाढ्यं महान्तं दुन्दुभिस्वनम् । मदनिर्झरव्याप्ताङ्गं कल्याणप्रकृतिं वरम् ॥१३॥
लक्षयोजनविस्तीर्णं हेमकक्षं गुणान्वितम् । ग्रैवेयमालया घण्टाद्वयेन परिभूषितम् ॥१४॥
अनेकवर्णनोपेतं दिव्यरूपं च्युतोपमम् । [1]नागदत्ताभियोग्येशो नागमैरावतं व्यधात् ॥१५॥
तमैरावणमारूढः [2]सहस्राक्षो व्यभात्तराम् । उदयाचलमारूढो यथा भानुः स्वतेजसा ॥१६॥
द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य सादृश्यानि भवन्ति च । [3]प्रत्यास्यमष्टदन्ताः स्थूला दीर्घाः किरणाकुलाः ।१७।
प्रतिदन्तं सरो ह्येकं स्वच्छनीरैर्भृतं महत् । सरः प्रति महारम्याप्यब्जिन्येका वरोत्पला ॥१८॥
द्वात्रिंशत्कमलान्यासां प्रत्येकं स्युर्महान्ति हि । कमलं प्रति द्वात्रिंशद्दीर्घपत्राणि निश्चितम् ॥१९॥
तेष्वायतेषु सर्वेषु नर्तक्योऽद्भुतदर्शनाः । विद्युतो वा नटन्ति स्म द्वात्रिंशत्सख्यकाः पृथक् ॥२०॥

विमान बनाया ॥९॥ वह मणिनिर्मित विमान मोतियों की लटकती हुई मालाओं के समूहों, किङ्किणियो क्षुद्र घण्टिकाओं की करोड़ों रुणझुनों और मणियों की किरणों से ऐसा जान पड़ता था मानों हंस ही रहा हो ॥१०॥ नागदत्त नामक आभियोग्य जाति के देव ने ऐसा ऐरावत हाथी बनाया जो शरदृऋतु के मेघों के समान अत्यन्त शुक्ल था, जिसने दिशाओं के अग्रभाग को श्वेत कर दिया था, जिसकी रीढ बहुत ऊंची थी, जिसका शरीर बहुत लम्बा था, जो गोल तथा ऊंचे मस्तक से सहित था, लक्षण और व्यञ्जनों से सहित था, वेगशाली था, अत्यन्त बलिष्ठ था, जिसकी सूंड मध्यम लोक के बराबर लम्बी, मोटी, क्रम से बढ़ती हुई गोलाई से युक्त तथा सीधी थी, जो एक लाख योजन विस्तार वाला था, सुवर्ण की मालाओं से युक्त था, अनेक गुणों से सहित था, कण्ठमालाओं और दो घण्टाओं से विभूषित था, अनेक वर्णनाओं से सहित था, दिव्यरूप का धारक तथा निरुपम था ।१५। उस ऐरावत हाथी पर बैठा हुआ सौधर्मेन्द्र अपने तेज से, उदयाचल पर आरूढ सूर्य के समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥१६॥ इस ऐरावत हाथी के एक समान बत्तीस मुख थे और प्रत्येक मुख में स्थूल, दीर्घ तथा किरणों से युक्त आठ आठ दांत थे ॥१७॥ प्रत्येक दांत पर स्वच्छ जल से भरा हुआ एक एक विशाल सरोवर था, और एक एक सरोवर में उत्तम कमलों से युक्त अत्यन्त सुन्दर एक एक कमलिनी थी ॥१८॥ एक एक कमलिनी में बत्तीस बत्तीस बहुत बडे कमल थे और एक एक कमल में निश्चित रूप से बत्तीस बत्तीस विशाल पत्ते थे ॥१९॥ उन लम्बे पत्तों पर अद्भुत दिखाई देने वाली बत्तीस बत्तीस

1 नागदत्तनामक आभियोग्यजातिको देव. २ सौधर्मेन्द्र ३. प्रतिमुख ।

तासां शृङ्गारलावण्यरसभावलयान्वितम् । पश्यन्तः परमं नृत्यं मुदा पिप्रियिरेऽमरा. ॥२१॥
युवराज इवातीव सुन्दरो निर्ययौ द्रुतम् । शक्रेणामा प्रतीन्द्रोऽपि स्ववाहनमधिष्ठितः ॥२२॥
पितृमातृगुरुप्रख्या मान्याः सामानिकाः सुराः । पुरोधोमन्त्र्यमात्यैर्निभास्त्रायस्त्रिंशनिर्जरा. ॥२३॥
पीठमर्दनसादृश्या देवा पारिषदाह्वयाः । अङ्गरक्षसमाना आत्मरक्षाख्या दिवौकस ॥२४॥
कोटपालसमा देवा लोकपालसमाह्वयाः । सेना तुल्यान्यनीकानि पदात्यादीनि सप्तधा ॥२५॥
पौरजानपदप्रख्यास्त्रिदशाश्च प्रकीर्णकाः । अमरा आभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमा ॥२६॥
प्रजाबाह्यसमाना गीर्वाणा किल्विषिकाभिधा । इति शक्रपरीवाराः स्वस्ववाहनमाश्रिता ॥२७॥
धर्मैकरसिका सर्वे स्वस्वभूत्युपलक्षिताः । सकलत्राश्च कल्पेशं व्रजन्तमनुवव्रजु ॥२८॥
स्वस्ववाहनमारूढाः सर्वाभरणभूषिताः । सार्द्धं स्वपरीवारैः शचीभिश्चामरैर्निजै ॥२९॥
सोत्सवा जिनपूजायै सर्वे कल्पाधिपाः समम् । ऐशानप्रमुखा भक्त्या निर्जग्मुस्तेन तत्क्षणम् ॥३०॥
सिंहासनादिचिह्नैः स्वैर्ज्ञात्वा केवलसंभवम् । सामराः सपरीवारा. सकलत्रा सवाहनाः ॥३१॥
दिव्यभूषादिदीप्ताङ्गा ज्योतिष्का. पञ्चधा सुराः । निर्ययुः परया भक्त्या कैवल्यपूजनोद्यता ॥३२॥

नर्तकियां बिजलियों के समान पृथक् पृथक् नृत्य कर रही थीं ॥२०॥ उन नर्तकियों के शृङ्गार सौन्दर्य रस भाव और लय से सहित उत्कृष्ट नृत्य को देखते हुए देव हर्ष से प्रसन्न हो रहे थे ॥२१॥

युवराज के समान अत्यन्त सुन्दर प्रतीन्द्र भी अपने वाहन पर बैठ कर इन्द्र के साथ शीघ्र ही बाहर निकला ॥२२॥ पिता माता और गुरु के समान माननीय सामानिक देव, पुरोहित मंत्री और अमात्यों के समान त्रायस्त्रिंश देव, पीठमर्द के समान पारिषद देव, अङ्गरक्षकों के समान आत्मरक्ष देव, कोटपाल के समान लोकपालदेव, सेना के तुल्य पदाति आदि सात प्रकार के अनीक जातीय देव, नगरवासी तथा देशवासी के समान प्रकीर्णक देव, दासों के समान आभियोग्य जाति के देव, और प्रजा से बाह्य—चाण्डालादिक के समान किल्विषिक नामक देव, ये सब इन्द्र के परिवार के देव अपने अपने वाहनों पर सवार होकर सौधर्मेन्द्र के पीछे पीछे चल रहे थे। ये देव भी धर्म के प्रमुख रसिक थे, अपनी अपनी विभूतियों से सहित थे तथा देवाङ्गनाओं से युक्त थे ॥२३–२८॥ जो अपने अपने वाहनों पर आरूढ थे, समस्त आभूषणों से विभूषित थे, अपने परिवारों, इन्द्राणियो तथा देवों से सहित थे, तथा उत्सव से युक्त थे ऐसे ऐशानेन्द्र आदि समस्त इन्द्र भक्तिपूर्वक जिन पूजा के लिये उस समय सौधर्मेन्द्र के साथ निकले ॥२९–३०॥ जो देवों से सहित है, परिवारों से युक्त है, देवाङ्गनाओं से परिवृत हैं, अपने अपने वाहनों पर आरूढ है तथा दिव्य आभूषणों से जिनके शरीर देदीप्यमान है ऐसे पांच प्रकार के ज्योतिषी देव सिंहासन आदि

शङ्खशव्दादिचिह्नैर्विज्ञाय श्रीजिनकेवलम् । स्वदेवीभिः स्वदेवैश्च स्वभूत्या सह सोत्सवाः ॥३३॥
सवाहनादिदेवा भवनवासिन आशु वै । निर्ययुर्दशधा भक्त्या जिनेन्द्रभक्तितत्पराः ॥३४॥
भेरीरवादिभिर्ज्ञात्वा जिनकल्याणकोत्सवम् । दिव्यभूत्या समं देवैः स्वकान्ताभिश्च संमुदा ॥३५॥
निश्चक्रुर्जिनेज्यायै ह्यष्टधा व्यन्तरामराः । दिव्यस्रग्वस्त्रभूषाढ्याः स्वस्ववाहनमास्थिताः ॥३६॥
एवं चतुर्णिकाया गीर्वाणाः सेन्द्राः सचामराः । छादयन्तो नभोभाग ध्वजच्छत्रादिकोटिभिः ॥३७॥
सुरानकमहाध्वानैर्बधिरीकृतदिग्मुखाः । जयनन्दादि कोलाहलानेकमुखरीकृताः ॥३८॥
जिनकैवल्यसंजातदिव्यगीतैर्मनोहरैः । हावभावविलासाढ्यै रप्सरोव्रजनर्तनैः ॥३९॥
कलाविज्ञानचातुर्यैः कुर्वन्तः परमोत्सवम् । द्योतयन्तो दिशो व्योम स्वाङ्गभूषादिदीप्तिभिः ॥४०॥
आगच्छन्तः शनैर्भूमिं मुदाकाशाद्दिवौकसः । विस्फारितसुनेत्रैर्दूरात् ददृशुर्जिनेशिनः ॥४१॥
आस्थानमण्डलं दिव्यं विश्वद्धर्यैककुलगृहम् । परार्घ्यमणिभिर्देवशिल्पिभिः परिनिर्मितम् ॥४२॥
आस्थानमण्डलस्यास्य कोऽत्र वर्णयितुं क्षमः । विन्यासं यस्य निर्माणे सूत्रधारोऽस्ति देवराट् ॥४३॥

चिह्नों के द्वारा केवलज्ञान की उत्पत्ति जानकर परम भक्ति से केवलज्ञान की पूजा के लिये उद्यत होते हुए निकले ॥३१–३२॥ शङ्खों के शब्द आदि चिह्नों से श्री जिनेन्द्र भगवान् के केवलज्ञान की उत्पत्ति को जान कर अपनी अपनी देवियों, देवों, अपनी अपनी विभूतियों, उत्सवों, तथा वाहनों आदि से सहित दश प्रकार के भवनवासी देव जिनेन्द्र भक्ति में तत्पर होते हुए भक्तिपूर्वक निकले ॥३३–३४॥ भेरियों के शब्द आदि से जिन कल्याणक के उत्सव को जान कर दिव्य विभूति, देव और देवाङ्गनाओं से सहित, दिव्य माला वस्त्र और आभूषणों से युक्त, अपने अपने वाहनों पर बैठे हुए आठ प्रकार के व्यन्तर देव, हर्षपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के लिये निकले ॥३५–३६॥ इस प्रकार जो इन्द्रों से सहित थे, चामरों से युक्त थे, करोड़ों ध्वजाओं और छत्रों आदि के द्वारा आकाश प्रदेशों को आच्छादित कर रहे थे, देव दुन्दुभियों के विशाल शब्दों से जिन्होंने दिशाओं के अग्रभाग को बहरा कर दिया था, जय, नन्द आदि के विविध कोलाहलों से जो शब्द कर रहे थे, जिनेन्द्र भगवान् के कैवल्य महोत्सव से सम्बद्ध, मनोहर दिव्यगीतों, हावभाव विलास से सहित अप्सराओं के नृत्यों तथा कलाविज्ञान सम्बन्धी चतुराई से जो परम उत्सव कर रहे थे, अपने शरीर और आभूषणों की कान्ति से दिशाओं और आकाश को प्रकाशित कर रहे थे, तथा हर्षपूर्वक आकाश से धीरे धीरे पृथिवी की ओर आ रहे थे ऐसे चतुर्णिकाय के देवों ने अपने खुले हुए सुन्दर नेत्रों के द्वारा दूर से ही श्री जिनेन्द्र भगवान् के उस समवसरण को देखा जो दिव्य था, समस्त सम्पदाओं का कुलगृह था, और देव कारीगरों ने श्रेष्ठ मणियों से जिसकी रचना की थी ॥३७–४२॥ कवि कहते हैं कि जिसके बनाने में इन्द्र स्वयं सूत्रधार

तथाप्यस्योच्यते किञ्चित् सुशोभा रचनादिका । श्रुतेन येन भव्यानां शुभो भावः प्रजायते ।।४४।।
पञ्चप्रकोशविस्तारं परार्द्ध्यमणिसंचयैः । घटित वृत्तमास्थानपीठं स्यात्त्रिजगद्गुरोः ।।४५।।
पीठपर्यन्तभूभागमलचक्रे स्फुरद्द्युतिः । धूलीशालपरिक्षेपो रत्नपांसुमयो महान् ।।४६।।
इन्द्रचाप इवात्यन्ततेजस्वी वलयाकृतिः । क्वचिदञ्जनपुञ्जाभः क्वचित्काञ्चनसच्छविः। ।४७।
क्वचिच्छुकच्छदच्छाय. क्वचिद्विद्रुमपुञ्जभाक् । चन्द्रकान्तशिलाचूर्णमयः सोऽभाच्च तेजसा ।।४८।।
चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य स्वर्णस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा मकरास्फोटमणिमाला विरेजिरे ।।४९।।
ततोऽन्तरान्तर किञ्चिद् गत्वा तुङ्गा मनोहराः । वीथीनां मध्यदेशेषु [1]तप्तहाटकनिर्मिताः ।।५०।।
मध्यप्रदेशतीर्थेशप्रतिमौघप्रतिष्ठिताः । ध्वजचामरघण्टासंगीतमङ्गलनर्तनैः । ५१।।
नित्यातोद्यमहावाद्यैर्मानस्तम्भा विभान्ति च । स्तम्भयन्तो सतां मानं मूर्ध्नि छत्रत्रयाङ्किता ।।५२।।
चतुर्गोपुरसंयुक्ताः प्राकारत्रयवेष्टिताः । जगत्यस्त्रिजगन्नाथस्नपनाम्बुपवित्रिताः ।।५३।।

था भगवान् के उस समवसरण मण्डल के रचना का वर्णन करने के लिये यहां कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ।।४३।। तो भी शास्त्रानुसार इसकी कुछ रचना और उत्तम शोभा आदि का वर्णन किया जाता है जिससे भव्य जीवों के शुभ भाव होते हैं ।४४।

त्रिलोकीनाथ भगवान् पार्श्व जिनेन्द्र का पांच क्रोश विस्तृत गोलाकार समवसरण श्रेष्ठ मणियों के समूह से बनाया गया था ।। ४५ ।। समवसरण के अन्तिम भूभाग को देदीप्यमान कान्ति से युक्त, रत्नधूलि से तन्मय धूलिसाल का महान् घेरा अलंकृत कर रहा था ।।४६।। जो इन्द्रधनुष के समान अत्यन्त तेजस्वी था, चूड़ी के तुल्य गोल आकार को धारण करने वाला था, कहीं अञ्जन के समूह के समान था, कहीं सुवर्ण के समान कान्ति वाला था, कहीं तोता के पङ्ख के समान कान्ति से युक्त था, कहीं मूगाओं के समूह से सहित था, और कहीं चन्द्रकान्तमणियों के चूर्ण से तन्मय था ऐसा वह धूलिसाल अपने तेज से सुशोभित हो रहा था ।।४७–४८।। इस धूलिसाल की चारों दिशाओं में चार तोरण सुशोभित हो रहे थे जो सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग पर अवलम्बित थे तथा मकराकार देदीप्यमान मणियों की मालाओं से विभूषित थे ।।४९।।

तदनन्तर कुछ भीतरी अन्तर को पार कर चार दिशा सम्बन्धी चार गलियों के मध्यदेश में चार मानस्तम्भ सुशोभित हो रहे थे जो ऊंचे थे, मनोहर थे, तपाये हुए सुवर्ण से निर्मित थे, बीच में तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के समूह से सहित थे, ध्वजा, चामर, घण्टा, संगीत, मङ्गल मय नृत्य तथा निरन्तर बजने वाले आतोद्य नामक वाद्यों से सहित थे, सत्पुरुषों के मान को रोकने वाले थे और मस्तक पर छत्रत्रय से युक्त थे ।।५०–५२।। उन

१ तप्तसुवर्णरचिता. ।

स्वर्णषोडशसोपाना तन्मध्ये पीठिका परा । न्यस्तपुष्पोपहारार्चा तन्मध्येऽपि त्रिमेखलम् ॥५४॥
अस्ति दिव्यं परं पीठं ते तन्मूर्ध्नि प्रतिष्ठिताः । मनस्तम्भा महामाना दुर्दृशां मानखण्डनात् ॥५५॥
स्तम्भपर्यन्तभूभागमलंचक्रुः सहोत्पलाः । स्वच्छनीरभृतो वाप्यो नन्दोत्तरादिसंज्ञकाः ॥५६॥
दिशं प्रति चतस्रो मणिसोपानविभूषिताः । पादप्रक्षालनाकुण्डैस्तटभूमिविमण्डिताः ॥५७॥
पक्षिद्विरेफझङ्कारैर्गायन्त्य इव सद्गुणैः । जिनेन्द्रं ता महावाप्यो बभुर्नेत्रप्रियंकराः ॥५८॥
स्वल्पान्तरं ततोऽतीत्य मही तां कमलैश्चिता[1] । परिवव्रे तत्र ततो वीथी च जलखातिका ॥५९॥
वातोद्भूततरङ्गौघैः पक्षिकोलाहलैश्च सा । रेजेऽगाधा प्रनृत्यन्तीव तोषात्तन्महोत्सवे ॥६०॥
तदभ्यन्तरभूभागं परितो हि लतावनम् । अलंचक्रे घनच्छायं वल्लीगुल्मद्रुमैर्भृतम् ॥६१॥
पुष्पवल्लीसमासक्तगुञ्जद्भ्रमरसुन्दरम् । सर्वर्त्तुकुसुमोपेतं पक्षिकोलाहलाकुलम् ॥६२॥
[2]तत्र क्रीडाद्रयो भान्ति सशय्याश्च लतालयाः । धृता ये स्युः सुरस्त्रीणां शिशिरा मरुतो वराः॥६३॥

मानस्तम्भों की रचना इस प्रकार थी । सर्व प्रथम चार गोपुरों से युक्त, तीन प्राकारों से वेष्टित और त्रिलोकीनाथ के स्नपनजल से पवित्र जगतियां थीं । उन जगतियों पर चढ़ने के लिये स्वर्ण की सोलह सीढियां लग रही थीं । उन जगतियों के मध्य में तीन मेखला वाला सुन्दर परम पीठ था । उस पीठ पर वे मानस्तम्भ प्रतिष्ठित थे । मानस्तम्भ बहुत ऊंचे थे तथा मिथ्यादृष्टियों का मान खण्डन करने के कारण मानस्तम्भ कहलाते थे ॥५३–५५॥

नील कमलों से सहित तथा स्वच्छ जल से भरी हुई नन्दोत्तरा आदि वापिकाएं उन मानस्तम्भों के समीपवर्ती भूमिभाग को सुशोभित कर रही थीं ॥५६॥ वे वापिकाएं एक दिशा में चार चार थीं, मणिमय सीढ़ियों से विभूषित थीं, पैर धोने के कुण्डों से युक्त थीं तथा तटभूमियों से अलंकृत थीं ॥५७॥ नेत्रों को प्रिय लगने वाली वे महावापिकाएं पक्षियों और भ्रमरों की झांकारों से ऐसी जान पड़ती थीं मानो प्रशस्त गुणों के द्वारा भगवान् का गान ही कर रही हों ॥५८॥ उससे थोड़ी दूर जाकर कमलों से व्याप्त परिखा उस भूमि तथा वीथी को घेरे हुये है ॥५९॥ वह परिखा बहुत गहरी थी और वायु से उठती हुई तरङ्गों के समूहों तथा पक्षियों के कोलाहलों से ऐसी जान पड़ती थी मानों भगवान् के केवलज्ञान महोत्सव में संतोष से नृत्य ही कर रही हो ॥६०॥ उस परिखा के भीतरी भूभाग को चारों ओर से वह लतावन अलंकृत कर रहा था जो सघन छाया से सहित था, लता, झाड़ी और वृक्षों से भरा हुआ था, पुष्पित लताओं पर बैठ कर गुञ्जार करने वाले भ्रमरों से सुन्दर था, सब ऋतुओं के पुष्पों से सहित था और पक्षियों के कोलाहल से व्याप्त था ॥६१–६२॥ उस लतावन में क्रीडागिरि तथा शय्याओं से सहित वे

१. चितां ग० २. श्लोकोऽयं ग० प्रतौ एवास्ति ।

चन्द्रकान्तशिलास्तत्र लताभवनमध्यगाः । विश्रामायामरादीनां[1] भवन्ति तेजसाकुलाः ।।६४।।
अतोऽध्वानं ततोऽतीत्य कियन्तं तां धरां शुभाम् । प्राकारः प्रथमो वव्रे तुङ्गो रम्यो हिरण्मयः ।।६५।।
यस्योपरितले लग्ना दीप्ताङ्गा मौक्तिकावली । तारातितिरियं किं स्विदित्याशङ्कास्पदं सताम्।।६६।।
क्वचिद्विद्रुमसंघातः क्वचिन्नवघनच्छविः । क्वचिच्छाड्वलसुच्छाय इन्द्रगोपनिभः क्वचित्।६७।
क्वचिद्विचित्ररत्नांशु रचितेन्द्रशरासनः । व्यभात् स नितरां शालो विद्युदापिञ्जरः क्वचित्६८
क्वचिद्द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवृत्तिभिः । क्वचिद्धंसशुकैर्बर्हिणैः[2] क्वचिच्च नृयुग्मकैः ।।६९।।
क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरन्तो विचित्रितः । हसन्निव बभौ सोऽतिसुन्दरो मणिरश्मिभिः ।।७०।।
महान्ति गोपुराण्यस्य त्रिभूमानि[3] बभुस्तराम् । राजतानि सुरूप्याद्रेः शृङ्गाणीव स्पृशन्ति खम्।।७१।।
पद्मरागमयैस्तुङ्गैः शिखरैर्व्योमलङ्घिभिः । दिशः पल्लवयन्तीव तानि रत्नांशुसङ्कुलैः ।।७२।।

निकुञ्ज सुशोभित होते हैं जहां देवाङ्गनाओं के द्वारा सेवनीय ठण्डी ठण्डी वायु बहती रहती है ।।६३।। वहां देवों आदि के विश्राम के लिये लताभवनों के मध्य में चन्द्रकान्त मणि की देदीप्यमान शिलाएं हैं ।।६४।।

इसके आगे कितने ही मार्ग को उल्लंघ कर उस शुभ भूमि को सुवर्णमय रमणीय ऊंचा वह प्रथम कोट घेरे हुए था ।।६५।। जिसके ऊपर लगी हुई मोतियों की देदीप्यमान माला सत्पुरुषों को ऐसी शङ्का उत्पन्न करती रहती है कि क्या यह ताराओं की पंक्ति है ? ।।६६।। वह कोट कहीं मूंगाओं के समूह से युक्त था, कहीं नवीन मेघ के समान श्यामल कान्ति से सहित था, कहीं हरी हरी घास के समान कान्ति से सुशोभित था, कहीं वीर बहूटी के समान लाल रंग का था, कहीं चित्र विचित्र रत्नों की किरणों से इन्द्रधनुष की रचना कर रहा था और कहीं बिजली के समान पीतवर्ण से युक्त होता हुआ अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ।।६७-६८।। वह कोट कहीं युगलरूप से रहने वाले हाथी घोड़े और व्याघ्र की आकृतियों से, कहीं हंस तोता और मयूरों से तथा कहीं स्त्री पुरुषों के युगलों से सुशोभित हो रहा था ।।६९।। कहीं भीतर बाहर कल्पलताओं से चित्रविचित्र हो रहा था और कहीं रत्नों की किरणों से अत्यन्त सुन्दर दिखने वाला वह कोट ऐसा जान पड़ता था मानों हँस ही रहा हो ।।७०।।

इस सुवर्णमय कोट में तीन तीन खण्ड के चांदी के बड़े बड़े गोपुर अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानों विजयार्ध के शिखर ही आकाश का स्पर्श कर रहे हों ।।७१।। वे गोपुर, आकाश को लांघने वाले रत्नों की किरणों से युक्त, पद्मराग मणिमय ऊंचे शिखरों से ऐसे जान पड़ते थे मानों दिशाओं को पल्लवित–लहलहाते नवीन

---

१ विरामायामरादीना २ मयूरैः ३. खण्डत्रितययुक्तानि ।

जगद्गुरोर्गुणानत्र गायन्ति देवगायनाः । केचिच्छृण्वन्ति केचिच्च नृत्यन्ति परमोत्सवात् ।७३।
भृङ्गारकलशाब्दाद्या मङ्गलद्रव्यसंपदा । अष्टोत्तरशतं तेषु प्रत्येकं गोपुरेष्वभात् ।।७४।।
माणिक्यरश्मिजालातिपरिपिञ्जरिताम्बराः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसंख्या बभासिरे ।।७५।।
निसर्गभास्वरे काये विभोः स्वानवकाशताम् । मत्वेवाभरणान्यस्थु रुद्धाब्दान्यनुतोरणम् ।।७६।।
निधयो नव पद्माद्या वैराग्यादवधीरिताः । स्वामिना स्वेर्ष्ययैवात्र तद्द्वारोपान्तमाश्रिता. ।७७।
तेषामन्तर्महावीथेरुभयोः पार्श्वयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं दिक्षु प्रत्येकं चतसृष्वपि ।।७८।।
तप्तहेममयस्तम्भौ शुद्धस्फाटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखरैस्तुङ्गैस्त्रिभूमिभूमिभिः परौ[1]।।७९।।
गीतवाद्यादिशब्दौघै रेजतुर्नाट्यमण्डपी । गर्जन्ताविव गीर्वाणाप्सरोभिः परिपूरितौ ।।८०।।
नाट्यमण्डपरङ्गेषु मृदङ्गादिसुवादनैः । नृत्यन्त्यमरनर्तक्यो जिनभक्तिभराङ्किताः ।।८१।।
किन्नर्यः किन्नरैः सार्द्धं वीणावादेन सत्स्वनम् । गायन्ति जिनमल्लस्य जयं कर्मारिघातजम् ।।८२।।

लाल पत्तों से युक्त ही कर रहे हों ।।७२।। इन गोपुरों मे देवो के गवैये जगद्गुरु—भगवान् के गुण गाते हैं, कोई सुनते है और कोई बहुत भारी हर्ष से नृत्य करते हैं ।।७३।। उन गोपुरों में प्रत्येक गोपुर के समीप भृङ्गार कलश और दर्पण आदि मङ्गल द्रव्य एक सौ आठ एक सौ आठ की संख्या में सुशोभित थे ।।७४।। उन गोपुरों में प्रत्येक के आगे मणियों के किरणसमूह से आकाश को अत्यधिक पीला करने वाले सौ सौ तोरण सुशोभित हो रहे थे ।।७५।। प्रत्येक तोरण के समीप आभूषण विद्यमान थे जो ऐसे जान पड़ते थे मानों स्वभाव से देदीप्यमान भगवान् के शरीर में अपने लिये स्थान न जान कर आकाश को घेरे हुए ही विद्यमान थे ।।७६।। वैराग्य के कारण भगवान् के द्वारा तिरस्कृत पद्म आदि नौ निधियां अपनी ईर्ष्या से ही मानों उन गोपुर द्वारों के समीप आ डटीं थीं ।।७७।।

उन गोपुरों के बीच में जो महा वीथी—लम्बी चौड़ी सड़क थी उसके दोनों ओर चारों दिशाओं में दो दो नाट्यशालाएं थीं ।।७८।। वे नाट्यशालाएं तपाये हुए सुवर्ण से निर्मित खम्भों से सहित थीं, उनकी दीवालें शुद्ध स्फटिक की थीं । ऊंचे ऊंचे रत्नमय शिखरों और तीन तीन खण्डों से वे बड़ी भली प्रतीत होती थीं ।।७९।। देव देवाङ्गनाओं से भरी हुई वे नाट्यशालाएं गीत तथा बाजों आदि के शब्द समूहों से ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों गर्जना ही कर रही हैं ।।८०।। उन नाट्यशालाओं की रङ्गभूमियों मे जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से भरी हुई देव नर्तकियां, मृदङ्ग आदि उत्तम बाजों की ताल पाकर नृत्य कर रहीं थीं ।।८१।। किन्नरियां किन्नरों के साथ मिल कर वीणा की मधुर ध्वनि से कर्मरूपी शत्रु के घात से उत्पन्न जिनराजरूपी मल्ल के विजयगीत गा रही थीं ।।८२।।

१ परैः ख० ।

ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः। सुगन्धीकृतदिग्भागौ धूपधूमैर्मरुद्वशैः ॥८३॥
तत्र वीथ्यन्तरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । सर्वर्तु फलपुष्पादिपूर्णतुङ्गद्रुमान्विताः ॥८४॥
अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्रमहीरुहाम् । रेजुस्तानि वनान्युच्चैर्नन्दनानीव सन्ततम् ॥८५॥
वनाना मध्यभागेषु क्वचिद्वाप्योऽम्बुसभृता । चतुष्कोणास्त्रिकोणाश्च पुष्करिण्य क्वचित्परा ८६
क्वचिद्धर्म्याणि रम्याणि क्वचिच्च कृतकाद्रयः। प्रेक्षागाराः क्वचिद्दिव्याः क्वचिदाक्रीडमण्डपाः।८७।
चित्रशालाः क्वचिद्रम्या देवाना मिथुनैर्भृताः। एकशालाद्विशालाद्याः क्वचित्प्रासादपंक्तयः। ८८॥
क्वचिच्च शाड्वलाभूमिरिन्द्रगोपै. क्वचित्तता.। सरांस्यमलवारीणि क्वचिन्नद्यः ससैकता. ॥८९॥
अशोकवनमध्ये स्यादशोकाख्यो द्रुमो महान् । हैम त्रिमेखलं पीठ रम्य तुङ्गमधिष्ठितः ॥९०॥
अधोभागे जिनेन्द्रस्य प्रतिबिम्बैर्विभूषित. । चतुर्दिक्षु सुरैरर्च्यश्चैत्यवृक्षाभिधः परः ॥९१॥
सप्तपर्णवनेऽप्यासीत्सप्तपर्णद्रुमो महान् । चम्पकाम्रतरू ह्येव ज्ञेयौ शेषवनर्द्धये ॥९२॥

तदनन्तर गलियों की दोनों दिशाओं में वायु के वश उड़ते हुए धूप के धुआं से दिशाओं को सुगन्धित करने वाले दो दो धूप घट थे ॥८३॥ उन गलियों के बीच में चार वन वीथियां और थीं जो समस्त ऋतुओं के फल पुष्प आदि से परिपूर्ण ऊंचे ऊंचे वृक्षों से सहित थीं ॥८४॥ अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षों के वे ऊंचे ऊंचे वन निरन्तर नन्दन वन के समान सुशोभित हो रहे थे ॥८५॥ उन वनों के मध्यभाग में कहीं जल से भरी हुई चतुष्कोण और त्रिकोण वापिकाएं थीं तथा कहीं उत्कृष्ट छोटे छोटे तालाब थे ॥८६॥ कहीं रमणीय महल थे, कहीं कृत्रिम क्रीडा गिरि थे, कहीं सुन्दर प्रेक्षागृह–देखने के स्थान और कहीं सुन्दर वन निकुञ्ज थे। कहीं देव देवियों से भरी हुई सुन्दर चित्रशालाएं थीं, कहीं एक खण्ड, दो खण्ड आदि की भवन पंक्तियां थीं ॥८७–८८॥ कहीं इन्द्रगोप नामक लाल लाल कीड़ों से व्याप्त हरी घास की भूमि थी, कहीं स्वच्छ जल से भरे हुए तालाब थे और कहीं रेतीले तटों से युक्त नदियां थीं ॥८९॥

अशोक वन के मध्य में अशोक नामका एक बड़ा वृक्ष था जो तीन मेखला वाले रमणीय तथा ऊंचे स्वर्णमय पीठ पर स्थित था ॥९०॥ यह बड़ा वृक्ष चैत्यवृक्ष कहलाता था, चारों दिशाओं में नीचे स्थित जिनप्रतिमाओं से विभूषित था तथा देवों के द्वारा पूज्य था ॥९१॥ सप्तपर्ण वन में भी सप्तपर्ण नामका महान् वृक्ष था। इसी प्रकार चम्पकवन और आम्रवन की सम्पदा बढ़ाने के लिये उनके मध्य में चम्पक वृक्ष और आम्रवृक्ष जानना चाहिये ॥९२॥

मालावस्त्रमयूराब्जहंसवीनमृगेशिनाम्[1] । वृषभेभेन्द्रचक्राणां ध्वजाः स्युर्दशधेत्यपि ॥९३॥
शतमष्टोत्तरं ज्ञेयाः प्रत्येकं केतवोऽमलाः । एकैकस्या दिशि प्रोच्चास्तरङ्गा इव वारिधेः ॥९४॥
समीरान्दोलितस्तेषां ध्वजानामंशुकोत्करः । [2]व्याजुहूषुरिवाभाति जिनार्च्चायै खगामरान्॥९५॥
स्रग्ध्वजेषु स्रजो रम्याः सौमनस्योऽवलम्बिरे । वस्त्रकेतुषु सूक्ष्मांशुकानि शोभाकराणि च ॥९६॥
मयूरादिध्वजेष्वेव मयूरादिसुमूर्तयः । सर्वेषु लम्बिता ज्ञेया दिव्यरूपधराः पराः ॥९७॥
इत्यमी केतवो दिव्या मोहारातिजयोर्ज्जिताः । बभुस्त्रिभुवनैश्वर्यमेकीकर्तु मिवोद्यताः ॥९८॥
एकस्यां दिशि सर्वे तु पिण्डिताः केतवः पराः । अशीतियुतमेक सहस्रं स्युर्जिनेशिनः ॥९९॥
एकीकृताः समस्तास्ते चतसृष्वपि दिक्षु हि । विंशत्यामा त्रिचत्वारिंशच्छतानि [3]भवन्त्यपि ।१००।
ततोऽनन्तरमेवान्तर्मार्गेऽभाद्द्वितीयो महान् । [4]श्रीमानर्जुननिर्माणः शालस्तुङ्गो मनोहरः॥१०१॥
पूर्ववद्गोपुराण्यस्य तोरणाभरणानि च । प्रागुक्ता वर्णनाः सर्वा आद्ये शाले विदुर्बुधाः॥१०२।

माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, हाथी और चक्र के चिह्न से चिह्नित दश प्रकार की ध्वजाएं थीं। ये दश प्रकार की निर्मल ध्वजाएं एक एक दिशा में एक सौ आठ एक सौ आठ थीं तथा समुद्र की ऊंची उठी हुई लहरों के समान सुशोभित हो रही थीं ॥९३–९४॥ वायु से हिलता हुआ उन ध्वजाओं का वस्त्र समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा के लिये देव और विद्याधरों को बुलाना ही चाहता हो ॥९५॥ माला से चिह्नित ध्वजाओं के ऊपर फूलों की मनोहर मालाएं लटक रही थीं। वस्त्र के चिह्न से चिह्नित पताकाओं पर शोभा की खानस्वरूप सूक्ष्म वस्त्र लटक रहे थे। इसी प्रकार मयूर आदि के चिह्नों से सुशोभित समस्त ध्वजाओं पर मयूर आदि की सुन्दर मूर्तियां अवलम्बित थीं। ये सब मूर्तियां सुन्दर रूप को धारण करने वाली अतिशय श्रेष्ठ थीं ॥९६–९७॥ मोहरूपी शत्रु को जीत लेने के उपलक्ष्य में फहराई हुई ये दिव्य पताकाएं ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों तीनलोक का ऐश्वर्य एकत्रित करने के लिये ही उद्यत हों ॥९८॥ एक दिशा में संमिलितरूप से जिनेन्द्र भगवान् की समस्त उत्कृष्ट ध्वजाएं एक हजार अस्सी थीं ॥९९॥ चारों दिशाओ में एकत्रित समस्त ध्वजाएं तेतालीस सौ वीस थीं ॥१००॥

इसके आगे मध्यभाग में चांदी से निर्मित शोभा संपन्न, मनोहर ऊंचा दूसरा महान् कोट था ॥१०१॥ इस द्वितीय कोट के गोपुर तोरण, आभूषण तथा पहले कही हुई समस्त वर्णना प्रथम कोट के समान जानना चाहिये ॥१०२॥ इस कोट की महावीथी चौड़ी

१ वीनां पक्षिणाम् इनः स्वामी वीनः गरुड इत्यर्थः २. आह्वयितुमिच्छु ३ प्रभवन्त्यपि ख० ग० घ० ४ रजतनिर्माण, श्रीमानर्जुननिर्माण. ब० घ० ।

अत्रापि पूर्ववज्ज्ञेयं नाट्यशालाद्वय परम् । तद्वद्धूपघटद्वन्द्वं महावीथ्युभयान्तयोः ॥१०३॥
ततो वीथ्यन्तरेषु स्याद्वनं कल्पमहीरुहाम् । नानारत्नप्रभौघैर्भास्वरं वा भोगभूतलम् ॥१०४॥
तत्र कल्पद्रुमास्तुङ्गाः सच्छायाफलशालिनः । नाना स्रग्वस्त्रभूषाद्यैः शोभन्तेऽतिमनोहराः ।१०५।
नेपथ्यानि फलान्येषा स्युरंशुकानि पल्लवाः । मालाः शाखावलम्बिन्यो दृढप्रारोहयष्टयः ॥१०६॥
ज्योतिरङ्गेषु ज्योतिष्का दीपाङ्गेषु च नाकिनः । भावनेन्द्राः स्रगङ्गेषु यथायोग्यं दधुर्धृतिम् ॥१०७॥
अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्राभिधा इमे । [1]सिद्धार्थपादपा ज्ञेयाः सिद्धार्चाधिष्ठिताः परा. १०८
चतुर्गोपुरसंबद्धशालत्रितयवेष्टिताः । छत्रचामरभृङ्गारकलशाद्यैः प्रशोभिताः ॥१०९॥
पीठस्योपरि चैतेषां प्रतिमा दिक्चतुष्टये । दीप्राङ्गा मणिनिर्माणा जिनेन्द्राणां विरेजिरे।११०।
क्षीरोदसलिलाद्यैस्ता अष्टभेदैर्महार्चनैः । अर्चयन्ति सुरेन्द्राद्या प्रणमन्ति स्तुवन्ति च ।।१११।
ततो बभूव पर्यन्ते वनानां वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुङ्गैः स्पृशन्तीव नभोऽङ्गणम्।।११२।
घण्टाजालानि लम्बानि मुक्तालम्बानि कानि च । पुष्पदामानि सरेजुरमुष्यां गोपुरं प्रति ॥११३॥

गली के दोनों ओर दो दो उत्तम नाट्यशालाएं और धूप घटों का युगल पहले के समान जानना चाहिये ॥१०३॥ तदनन्तर वीथियों के मध्य में कल्पवृक्षों का वन था जो नाना रत्नों की कान्ति के समूह से देदीप्यमान होता हुआ भोगभूमि के भूजल के समान सुशोभित हो रहा था ॥१०४॥ उस वन में उत्तम छाया और फलों से सुशोभित ऊंचे ऊंचे कल्पवृक्ष थे जो अत्यन्त मनोहर थे तथा नाना मालाओं वस्त्रों और आभूषण आदि से सुशोभित हो रहे थे ॥१०५॥ आभूषण, इन वृक्षों के फल थे, वस्त्र, पल्लव थे और शाखाओं पर लटकने वाली मालाएं, दृढ अङ्कुर यष्टियां थीं ॥१०६॥ ज्योतिषी देव, ज्योतिरङ्गकल्प वृक्षों पर, देव, दीपाङ्ग वृक्षों पर और भावनेन्द्र मालाङ्ग वृक्षों पर संतोष धारण करते थे ॥१०७॥ अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नाम के ये वृक्ष चैत्यवृक्ष जानने योग्य है। ये सभी वृक्ष स्वयं उत्कृष्ट थे तथा सिद्ध भगवान् की प्रतिमाओं से युक्त थे ॥१०८॥ चार गोपुरों से युक्त तीन कोटों से घिरे हुए ये चैत्यवृक्ष, छत्र, चामर, भृङ्गार तथा कलश आदि मङ्गल द्रव्यों से सुशोभित थे ॥१०९॥ इन चैत्यवृक्षों की चारों दिशाओं में पीठ के ऊपर देदीप्यमान, मणिनिर्मित जिनेन्द्र प्रतिमाएं सुशोभित हो रही थीं ॥११०॥ इन्द्रादिक देव, क्षीर सागर के जल आदि आठ महाद्रव्यों से उनकी पूजा करते हैं, प्रणाम करते हैं और स्तुति भी करते है ॥१११॥

तदनन्तर वनों के पर्यन्त भाग में वनवेदिका थी जो ऊंचे ऊंचे चार गोपुरों से ऐसी जान पड़ती थी मानों आकाशाङ्गण का स्पर्श ही कर रही हो ॥११२॥ इस वनवेदिका

---

१ सिद्धार्था ख० ।

राजतानि बभुर्वेद्या गोपुराण्यष्टमङ्गलैः । वाद्यैर्गीतैश्चनृत्ताद्यैर्मणिभूषणतोरणैः ॥११४॥
ततो वीथ्यन्तरालस्था विविधाः केतुपंक्तयः । अलंचक्रुः परां भूमि हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः॥११५॥
सुस्थास्ते रत्नपीठेषु ध्वजस्तम्भा महोन्नताः । विभोः क्रोधाद्यरीणां विजयं वक्तुमिवोद्यता ।११६।
मानस्तम्भाश्च प्राकाराः सिद्धार्थचैत्यपादपाः । स्तूपाः सतोरणाः स्तम्भा केतवो वनवेदिकाः॥११७
प्रोक्तास्तीर्थंकरोत्सेधादुत्तुङ्गेन द्विषड्गुणाः । दैर्घ्यानुयोगमेतेषामाहू रौन्द्रयं गणाधिपाः ॥११८॥
हर्म्याणां पर्वताना च वनानामुन्नतिर्भुवि । सर्वेषां वर्णितैवैव श्रीजिनागमकोविदैः ॥११९॥
भवेयुरद्रयो रुन्द्राः स्वोच्छ्रयादष्टसगुणाम्[1] । स्तूपानां रौन्द्रयमुत्सेधात्साधिकं ज्ञानिनो विदुः॥१२०
विस्तार वेदिकादीनामुशन्ति[2] श्रीगणाधिपाः । उत्सेधस्य चतुर्भाग द्वादशाङ्गाब्धिपारगाः ॥१२१॥
क्वचिद्वाप्य क्वचिन्नद्य. क्वचित्सैकतमण्डलम् । क्वचित्सभागृहाणीति रेजुस्तत्र वनान्तरे ॥१२२॥
वनवीथोमिमामेव वव्रेऽसौ वनवेदिका । तुङ्गा हेममया दिव्या चतुर्गोपुरसयुता ॥१२३॥

के प्रत्येक गोपुर पर घण्टाओं के जाल, लटकती हुई मोतियों की मालाएं तथा पुष्पमालाएं सुशोभित हो रही थीं ॥११३॥ वनवेदिका के रजत निर्मित गोपुर, अष्ट मङ्गल द्रव्यों, वाजों, गीतों, नृत्यों तथा मणिमय आभूषणों और तोरणों से सुशोभित हो रहे थे ।११४। तदनन्तर वीथियों के अन्तराल में स्थित उत्कृष्ट भूमि को, सुवर्णमय स्तम्भ के अग्रभाग पर संलग्न नाना प्रकार की ध्वजपंक्तियां अलंकृत कर रही थीं ॥११५॥ रत्नमय पीठों पर अच्छी तरह स्थित वे बहुत ऊंचे ध्वजस्तम्भ ऐसे जान पड़ते थे मानों 'भगवान् ने क्रोधादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है' यह कहने के लिये ही उद्यत हुए हों ॥११६॥

मानस्तम्भ, कोट, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण, स्तम्भ, पताकाएं, और वनवेदिका आदि जो पहले कहे गये हैं वे ऊंचाई की अपेक्षा तीर्थंकर की ऊंचाई से बारह गुणे होते हैं। गणधर महाराज ने इन सबकी लम्बाई तथा गहराई का भी यथा योग्य वर्णन किया है ॥११७-११८॥ श्री जिनागम के ज्ञाता विद्वानों ने भवनों, पर्वतों तथा वनों की पृथिवी पर जो ऊंचाई है उसका वर्णन किया ही है ॥११९॥ पर्वत अपनी ऊंचाई से आठ गुणे गहरे थे तथा ज्ञानीजन स्तूपों की गहराई ऊंचाई से कुछ अधिक जानते हैं ॥१२०॥ द्वादशाङ्गरूपी सागर के पारगामी श्री गणधर देव वेदिका आदि के विस्तार को ऊंचाई का चतुर्थ भाग कहते हैं ॥१२१॥ उस कल्पवृक्ष वन के मध्य में कहीं वापिकाएं है, कहीं रेतीले तट हैं, और कहीं सभागृह सुशोभित हो रहे है ॥१२२॥ इसी वन वीथी को वह वनवेदिका घेरे हुए हे जो ऊंची हैं, सुवर्णमय है, देवोपनीत अथवा सुन्दर है तथा चार

१ [illegible] २ [illegible] ।

अस्यां पूर्वोक्तमानानि गोपुराणि भवन्ति च । प्रागुक्ततोरणादीनि माङ्गल्यद्रव्यसंपदः ॥१२४॥
अथोल्लङ्घ्य प्रतोली ता वीथ्यभूत्परितः परा । नानाप्रासादपंक्तिश्च सुरशिल्पिविनिर्मिता ॥१२५॥
तप्तचामीकरस्तम्भा वज्राधिष्ठानबन्धनाः । चन्द्रकान्तमहारत्नभित्तयो रश्मिसंकुलाः ॥१२६॥
सुहर्म्या द्वितलाः केचित् त्रिचतुर्भूमिकाः परे । चन्द्रशालयुताः केचिद्वलभिच्छन्दभूषिताः ॥१२७॥
ते प्रासादा विराजन्ते स्वदीप्तिमग्नमूर्तयः । रत्नकूटैश्च रश्म्यौघैर्ज्योत्स्नाभिर्निर्मिता इव ॥१२८॥
कूटागारसभागेहप्रेक्ष्यशाला बभुः क्वचित् । सशय्याः सासनास्तुङ्गसोपानाः सुमनोहराः ॥१२९॥
पन्नगाः किन्नरा देवाश्चारमन्त खगाधिपाः । गानेषु केचिदासक्ताः केचिद्वादित्रवादनैः ॥१३०॥
वीथीना मध्यदेशेऽपि नवस्तूपाः समुद्ययुः । पद्मरागमयास्तुङ्गाश्छत्रध्वजविभूषिताः ॥१३१॥
सिद्धार्हत्प्रतिबिम्बौघैर्निचिता[1] दिव्यमूर्तयः । तेजः पुञ्जा इवाभान्ति ते सर्वे मङ्गलश्रिया ॥१३२॥

गोपुरों से संयुक्त है ॥१२३॥ इस वन वेदिका में पहले कहे हुए प्रमाण से युक्त गोपुर, पूर्वोक्त तोरण आदि तथा मङ्गलद्रव्यरूप संपदाएं होती हैं ॥१२४॥

तदनन्तर उस प्रतोली को उल्लंघकर अर्थात् गोपुरों से आगे चल कर उत्कृष्ट वीथी है और उस वीथी के दोनों ओर नाना प्रकार के भवनों की वह पंक्ति है जो देवरूप कारीगरों के द्वारा निर्मित है, तपाये हुए सुवर्णमय खम्भों से सहित है, वज्रमय नींव से युक्त है, चन्द्रकान्त मणि निर्मित दीवालों से सुशोभित है और किरणों से व्याप्त है ॥१२५-१२६॥ उस प्रासादपंक्ति में कोई भवन दो खण्ड के हैं कोई तीन चार खण्ड के हैं, कोई चन्द्रशालाओं-उपरितनछतों से युक्त है और कोई अट्टालिकाओं तथा छन्दगृहों से विभूषित है ॥१२७॥ जिनकी आकृति अपनी ही दीप्ति में निमग्न हो रही है ऐसे वे भवन, रत्नमय शिखरों और किरणों के समूह से ऐसे सुशोभित होते है मानों चांदनी के द्वारा ही बनाये गये हों ।१२८। कहीं शय्याओं से सहित, आसनों से सहित, ऊंची सीढ़ियों से सहित तथा अत्यन्त मनोहर कूटागार, भूलभुलैया वाले महल, सभागृह और प्रेक्ष्यगृह—अजायबघर सुशोभित हो रहे है ॥१२९॥ उन भवनों में नागकुमार तथा किन्नर जाति के देव और विद्याधर क्रीडा करते हैं। क्रीडा करने वाले देव और विद्याधरों में कोई गाने में आसक्त हैं तथा कोई बाजों के बजाने में संलग्न हैं ॥१३०॥

वीथियों—गलियों के बीच में नव स्तूप भी खड़े हुए हैं जो पद्मराग मणियों से निर्मित है, ऊंचे हैं, छत्र और ध्वजाओं से विभूषित है, सिद्ध तथा अर्हन्त भगवान् की प्रतिमाओं के समूह से व्याप्त हैं, मनोहर आकृति वाले हैं और मङ्गलद्रव्यरूपी संपदा से ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों तेज के पुञ्ज ही हों ॥१३१-१३२॥ उन स्तूपों पर जो जिनेन्द्र

१ प्रतिबिम्बोच्चै ख० ।

[1]जिनेन्द्रप्रतिमास्तेष्वभिषिच्याभ्यर्च्यं भक्तितः। स्तुत्वा प्रदक्षिणीकृत्यार्जयन्ति विबुधाः शुभम् ।।१३३।
स्तूपहर्म्यावलीरुद्धां धरामुल्लङ्घ्य तां ततः। नभ स्फटिकशालोऽभूत् शुद्धस्फाटिकरत्नजः।।१३४।।
दिक्षु शालोत्तमस्यास्य वृत्तस्य गोपुराण्यपि । पद्मरागमयान्युच्चैरुच्छ्रितानि बभुस्तराम् ।।१३५।।
अत्रापि पूर्ववज्ज्ञेया मङ्गलद्रव्यसंपदः । द्वारोपान्ते च दातारो निधयोभोगमञ्जसा ।।१३६।
छत्रचामरतालध्वजादर्शसुप्रतिष्ठकाः । भृङ्गारकलशा एते भवन्ति प्रतिगोपुरम् ।।१३७।।
गोपुरेषु सुरास्तेष्वासन् गदादिकराङ्किताः । क्रमाच्छालत्रये [2]द्वाःस्था भौमभावनकल्पजा.।।१३८।।
ततः स्फाटिकशालाग्राज्जिनपीठान्तमायताः । भित्तयः षोड़शाभूवन्महावीथ्यन्तराश्रिताः ।।१३९।।
आद्यपीठतलालग्ना निर्मलस्फाटिकोद्भवा. । प्रसरद्रश्मिजालैस्ता व्यधुर्नित्यं दिनश्रियम्।।१४०।।
तासामुपरि विस्तीर्णो वियत्स्फाटिकनिर्मितः। रत्नस्तम्भैर्महातुङ्गो दिव्यः श्रीमण्डपोऽभवत् ।।१४१।।
यतोऽत्र त्रिजगन्नाथः प्रत्यक्षं नृसुराधिपैः । स्वीकुर्यात्त्रिजगल्लक्ष्मी ततः श्रीमण्डपोऽस्त्ययम् ।।१४२

देव की प्रतिमाएं हैं उनका भक्तिपूर्वक अभिषेक, पूजन, स्तुति और परिक्रमा देकर देव उत्तम पुण्य का संचय करते हैं ।।१३३।।

उसके आगे स्तूप तथा भवनों की पंक्ति से युक्त उस भूमि को उलंघ कर शुद्ध स्फाटिक रत्नों से निर्मित आकाश स्फाटिक मणियों का कोट है ।।१३४।। यह कोट शालाओं से उत्कृष्ट तथा गोलाकार है। इसके पद्मराग मणि निर्मित ऊंचे ऊंचे गोपुर भी अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे ।।१३५।। इन गोपुरों पर भी पहले के समान मङ्गल द्रव्य रूप संपदाएं जानना चाहिये। साथ ही द्वारों के समीप वास्तविक भोगों को देने वाली निधियां भी विद्यमान रहती हैं ।।१३६।। छत्र, चामर, ताडव्यजन, ध्वजा, दर्पण, ठौना, भृङ्गार और कलश ये मङ्गलमय पदार्थ प्रत्येक गोपुर के समीप उपस्थित रहते हैं ।।१३७।। उन गोपुरों पर गदा आदि हाथ में लिये हुए देव द्वारपाल थे। पूर्वोक्त तीन कोटों पर क्रम से व्यन्तर, भवनवासी, और कल्पवासी इन्द्र द्वारपाल थे ।।१३८।।

तदनन्तर स्फटिकमणिमय कोट के आगे से लेकर जिनपीठ तक लम्बी सोलह दीवालें हैं जो महावीथियों के अन्तराल में स्थित हैं ।।१३९।। जो प्रथम पीठ से संलग्न हैं तथा निर्मल स्फटिक मणियों से जिनकी उत्पत्ति हुई हैं ऐसी वे दीवालें फैलते हुए किरण समूह के द्वारा निरन्तर दिन की शोभा को उत्पन्न करती रहती हैं ।।१४०।। उन दीवालों के ऊपर आकाशस्फटिक से निर्मित, रत्नमयस्तम्भों से सहित, बहुत ऊंचा, विस्तृत तथा सुन्दर श्रीमण्डप था ।।१४१।। जिसकारण इस मण्डप में त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव,

१ जैनेन्द्री ग० २. द्वारपालाः ।

तद्रुद्धभूमिमध्ये बभावाद्या पीठिका परा । वैडूर्यरत्ननिर्माणा प्रोत्तुङ्गा मणिरश्मिभिः ।।१४३।।
तस्या षोडशसोपानमार्गाः स्युः षोडशान्तराः । चतुर्दिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशेषु च निर्मलाः ।।१४४।।
पीठिकां तामलंचक्रुरष्टमङ्गलसंपदः । धर्मचक्राणि वोढानि दीप्तानि यक्षमूर्धभिः ।।१४५।।
सहस्रारैः स्फुरद्दीप्तैः रेजिरे तानि सन्ततम् । उद्यतानीव भव्यानां धर्म्या प्रोक्तुं शुभा गिरम्।।१४६।।
तस्योपरि महापीठं द्वितीयमभवच्छुभम् । दिव्यं हिरण्मयं तुङ्गं स्पर्द्धमानमिव रवेः ।।१४७।।
चक्रेभवृषभाम्भोजांशुकसिंहगरुत्मताम् । माल्यस्येति ध्वजा रेजुस्तस्योपरि तले पराः ।।१४८।।
सर्वरत्नमयं पीठं तस्योपर्यभवत्पृथु । तृतीयं विस्फुरद्रत्नरोचिर्ध्वस्ततमश्चयम् ।।१४९।।
त्रिमेखलमिदं पीठ पराद्ध्यं रत्ननिर्मितम् । जगत्साराकरं वाभात्त्रिजगत्सारवस्तुभिः ।।१५०।।
तत्र गन्धकुटी पृथ्वी विश्वलक्ष्म्याकरा परा । [1]रैराड् निवेशयामास दिव्यगन्धमया परा ।।१५१।।
बिभ्रती सार्थकं नाम सा बभौ पुष्पदामभिः । सुगन्धधूपधूमैश्च सुगन्धीकृतदिक्चया ।।१५२।।

प्रत्यक्ष ही मनुष्य और देवों के द्वारा तीन लोक की लक्ष्मी को स्वीकृत करते थे इसकारण यह श्रीमण्डप कहलाता था ।।१४२।।

उस श्रीमण्डप से रुकी हुई भूमि के मध्य में वैडूर्य मणियों से निर्मित तथा मणियों की कान्ति से अत्यन्त ऊंची पहली उत्कृष्ट पीठिका है ।।१४३।। उस पीठिका की चारों दिशाओं में सभागृहों में प्रवेश करने के लिये निर्मल सोलह सोलह सीढियां हैं और सोलह ही अन्तर हैं ।।१४४।। अष्ट मङ्गल द्रव्य तथा यक्षों के मस्तक द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान धर्मचक्र उस पीठिका को अलंकृत कर रहे हैं ।।१४५।। देदीप्यमान हजार आरों से वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भव्य जीवों को निरन्तर धर्मयुक्त शुभ वाणी सुनाने के लिये उद्यत ही हों ।।१४६।। उस प्रथम पीठ के ऊपर द्वितीय महापीठ था जो शुभ था, सुन्दर था, सुवर्णमय था, ऊंचा था और सूर्य से स्पर्धा करता हुआ सा जान पड़ता था ।।१४७।। उसके ऊपर चक्र, हाथी, वृषभ, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और माला के चिह्नों से सहित उत्कृष्ट ध्वजाएं सुशोभित हो रही थीं ।।१४८।। उस द्वितीय पीठ के ऊपर सर्वरत्नमय तृतीय विस्तृत पीठ था, जो देदाप्यमान रत्नों की किरणों से अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाला था ।।१४९।। तीन मेखलाओं वाला यह पीठ श्रेष्ठ रत्नों से निर्मित था और तीन जगत् की सारभूत वस्तुओं से ऐसा जान पड़ता था मानों तीन जगत् की श्रेष्ठ वस्तुओं का आकर–खान ही हो ।।१५०।।

उस तृतीय पीठ पर विशाल गन्धकुटी थी, जो समस्त लक्ष्मी की खानस्वरूप थी, दिव्यगन्ध से युक्त थी और धनपति–कुबेर ने जिसकी रचना कराई थी ।१५१। पुष्पमालाओ

---

१ कुवेर ।

रत्नाभरणमालाभिर्मुक्ताजालैर्व्यभाच्च सा । जित्वा मेरुश्रियं विश्वमङ्गलद्रव्यसंपदा ।।१५३।।
तस्या मध्ये स्फुरद्रत्नरश्मिव्याप्तदिगन्तरम् । नानामणिप्रभाकीर्णं तुङ्गं सिंहासनं भवेत् ।।१५४।।
विष्टरं तदलंचक्रे श्रीपार्श्वस्त्रिजगद्गुरुः । अस्पृशंस्तत्तलं स्वेन महिम्ना चतुरङ्गुलैः ।।१५५।।

मालिनी

इति निजमतिशक्त्या शास्त्रदृष्ट्या समासात् समवसरणदिव्यं कीर्तितं यस्य किञ्चित् ।
त्रिभुवनपतिभर्तुर्यच्च तत्को नु शक्तो गदितुमखिलमेवान्यो गणेशात्स नोऽव्यात् ।।१५६ ।

शार्दूलविक्रीडितम्

किं भानुः किमु राशिरेव यशसां किं वा सुतेजोनिधिः
किं वा विश्वकरो जगत्त्रयगुरुः किं वा परब्रह्मराट् ।
किं पुण्याणुचयः स्थितः सदसि यः किं धर्मराजो महा-
न्नित्यन्त.प्रवितर्कणैः सुरवरैर्दृष्टः स नोऽस्तु श्रिये ।।१५७।।

तथा सुगन्धित धूप के धुएं से समस्त दिशाओं के समूह को सुगन्धित करने वाली वह गन्ध कुटी सार्थक नामको धारण करती हुई सुशोभित हो रही थी ।।१५२।। मणिमय आभूषणों की पंक्तियों, मोतियों के समूहों तथा समस्त मङ्गल द्रव्य रूपी संपदा से वह गन्धकुटी मेरु पर्वत की लक्ष्मी को जीत कर अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ।।१५३।। उस गन्धकुटी के मध्य में देदीप्यमान रत्नों की किरणों से दिशाओं के अन्तराल को व्याप्त करने वाला तथा नाना मणियों की प्रभा से युक्त ऊंचा सिंहासन था ।।१५४।। तीन जगत् के गुरु श्री पार्श्वनाथ भगवान् अपनी महिमा के द्वारा चार अंगुल की दूरी से उसके तलभाग का स्पर्श न करते हुए उस सिंहासन के अलंकृत कर रहे थे ।।१५५।।

इस प्रकार अपनी बुद्धि की सामर्थ्य तथा शास्त्रावलोकन से त्रिजगत्पति पार्श्व जिनेन्द्र के जिस समवसरण का किञ्चित् वर्णन हुआ है उसका संपूर्ण रूप से वर्णन करने के लिये गणधर के अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । वे पार्श्वनाथ भगवान् मेरी रक्षा करें ।।१५६।। क्या यह सूर्य है, या यश की प्रशस्त राशि है ? क्या उत्तम तेज की निधि है ? अथवा सबको करने वाले तीन जगत् के स्वामी परम ब्रह्मराज हैं ? क्या पुण्य परमाणुओं का समूह है ? अथवा सभा में स्थित महान् धर्मराज हैं इस प्रकार हृदय में तर्कणा करने वाले इन्द्रों ने जिन्हें देखा था वे पार्श्वनाथ भगवान् हम लोगों की लक्ष्मी के लिये हों ।।१५७।।

स्रग्धरा

सर्वज्ञ. सर्वदर्शी गुणगणजलधिर्मुक्तिकान्तो जिनेन्द्रः

पूज्य स्तुत्यश्च वन्द्यस्त्रिभुवनपतिभि· सर्वशक्त्या मयापि ।

कर्मघ्नो धर्मकर्ता भयरहितकरोऽनन्तशर्मैकभोक्ता

य: सोऽय विश्वनाथो भवभयमथन: स्वश्रिय मेऽत्र दद्यात् ।।१५८।।

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरित्रे समवसरणवर्णनो नामाष्टादश. सर्ग· ।।१८।।

जो सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी है, गुण समूह के सागर है, मुक्तिकान्ता के पति है, जिनेन्द्र है, तीन लोक के स्वामियो तथा मेरे द्वारा भी सम्पूर्णशक्ति से पूज्य, स्तुत्य तथा वन्दनीय है, कर्मो का नाश करने वाले है, धर्म कर्ता है, भय रहित करने वाले है, अनन्तसुख के अद्वितीय भोक्ता है, सब के स्वामी है तथा संसार का भय नष्ट करने वाले है वे पार्श्वनाथ भगवान् इस जगत् में मुझे अपनी अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी प्रदान करें ।।१५८।।

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति द्वारा विरचित श्रीपार्श्वनाथचरित में समवसरण का वर्णन करने वाला अठारहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१८।।



एकोनविंशतितमः सर्गः

श्रीमते विश्वनाथाय सर्वज्ञाय जिनेशिने	त्रिजगद्गुरवे मूर्ध्ना नमोऽस्तु सर्वदर्शिने	॥१॥
अथाष्टप्रातिहार्याणि महान्ति स्युर्जगद्गुरोः	तन्मध्ये विष्टर दिव्य स्यात्पूर्ववर्णितं परम्	॥२॥
समापप्तन्नभोभागात्कौसुमी[1] वृष्टिरद्भुता	मुक्ता देवकरैः सपूर्य जिनास्थानमञ्जसा	॥३॥
गुञ्जन्मत्तालिभिः सारा गायन्तीव जिनोत्सवम्	दिव्यामोदाघनाशसुगन्धीकृतखभूतला	॥४॥
पत्रैर्मरकतोत्पन्नैर्मणिपुष्पैर्मनोहरैः	दिव्यशाखापशाख्यैश्च मरुदान्दोलितैः परैः	॥५॥
जिनाभ्याशे प्रकुर्वन्निवाशोको नर्तनं महत्	व्यभादन्वर्थनामात्र त्रिजगच्छोकघातनात्	॥६॥
परार्ध्यमणिकोटीभि. पिनद्धदण्डभास्वरम्	छत्रत्रयं विभोर्मूर्ध्नि जितादित्येन्दुसत्प्रभम्	॥७॥
रुरुचे सुन्दरं श्वेत शुक्लध्यानशिखाचयम्	इवाभ्यन्तरपूर्णत्वाद्दृशमद्वारनिर्गतम्	॥८॥

एकोनविंशतितम सर्ग

जो अन्तरङ्ग बहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित थे, सबके स्वामी थे, सर्वज्ञ थे, जिनेन्द्र थे, तीनो जगत् के गुरु थे, तथा सर्वदर्शी थे उन पार्श्वनाथ भगवान् को मेरा शिर से नमस्कार हो ॥१॥

अथानन्तर जगद्गुरु श्री पार्श्व जिनेन्द्र के आठ महाप्रातिहार्य प्रकट हुए। उस गन्धकुटी के मध्य में जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है ऐसा उत्तम सुन्दर सिंहासन था ॥२॥ आकाश से देवो के हाथों से छोड़ी हुई आश्चर्य कारक पुष्पवृष्टि समवसरण को अच्छी तरह व्याप्त कर पड़ रही थी ॥३॥ दिव्य गन्ध के द्वारा पापों को नष्ट कर जिसने आकाश और पृथिवीतल को सुगन्धित कर दिया था ऐसी वह श्रेष्ठ पुष्पवृष्टि गुञ्जार करते हुए मत्तभ्रमरों से ऐसी जान पड़ती थी मानों जिनेन्द्र भगवान् के केवलज्ञान महोत्सव का गान ही कर रही हो ॥४॥ मरकतमणियों से उत्पन्न पत्रों, मनोहर मणिमय पुष्पों और वायु से हिलती हुई उत्कृष्ट दिव्य शाखा उपशाखाओं से जो जिनेन्द्र भगवान् के निकट बहुत भारी नृत्य करता हुआ सा जान पड़ता था ऐसा अशोकवृक्ष तीनों जगत् का शोक नष्ट करने से साथक नाम को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥५–६॥ जो करोड़ों श्रेष्ठ मणियो से खचित दण्ड से देदोप्यमान हो रहा था, जिसने सूर्य और चन्द्रमा की उत्तम प्रभा को जीत लिया था, जो सुन्दर था, श्वेत था और भीतर का स्थान परिपूर्ण हो जाने

१ कुसुमानामिय कौसुमी ।

जितज्योत्स्नाब्धिफेनाद्यैश्चतुःषष्टिसुचामरैः । हंसच्छदनिभैर्दिव्यैर्यक्षदेवकरार्पितैः ॥९॥
वीज्यमानो जिनेन्द्रोऽसौ भाति सिंहासने स्थितः । मुक्तिकान्ताकटाक्षैर्वा [1]लक्ष्मीकृतवरोत्तमः ॥१०॥
सार्द्धद्वादशकोटीनां वादित्राणां समुच्चयं । योऽसौ दुन्दुभिशब्दोऽयं निर्जिताब्धिघनस्वनः ॥११॥
आपूर्य दिग्धराकाशं ताडितोऽमरपाणिभिः । करोति त्रिविधान्नादान्पटहादिभवान्परान् ॥१२॥
निर्जिताखिलदीप्त्यौघम् [2]इनेन्दुमणिज्योतिषाम् । व्याप्तविश्वसभास्थानं[3] भानुकोट्यधिकप्रभम् ॥१३॥
नेत्रशर्मकरं रम्यं देहभामण्डलं परम् । राजते श्रीजिनाङ्गस्य तेजःपुञ्जमिवोच्छ्रितम् ॥१४॥
जगतां संनिराकुर्वन्मिथ्यामोहतमोऽखिलम् । महाध्वनिर्विभोर्दिव्यो विश्वतत्त्वार्थव्यक्तकृत् ॥१५॥
जलौघोऽत्र यथैकोऽपि विचित्रो जायते वने । भूमियोगात्तथा भर्तुर्नानाभाषात्मको ध्वनिः ॥१६॥
अनक्षरोऽपि सर्वेषां पशुम्लेच्छार्यदेहिनाम् । सर्वभाषामयैर्व्यक्ताक्षरैस्तत्त्वादिसूचकः ॥१७॥
इत्यसाधारणैर्दिव्यैर्निरौपम्यैः सुरोद्भवैः । महाष्टप्रातिहार्यैर्विभ्राजते वा स धर्मराट् ॥१८॥

के कारण दशम द्वार से बाहर निकले हुए शुक्लध्यान के शिखा समूह के समान जान पड़ता था ऐसा छत्रत्रय भगवान् के मस्तक पर सुशोभित हो रहा था ॥७–८॥ जिन्होंने चांदनी तथा समुद्रफेन आदि को जीत लिया है, जो हंस के पंखों के समान हैं, सुन्दर है तथा यक्ष जातीय देवों के हाथों में स्थित है ऐसे चौसठ चामरों से वीज्यमान, सिंहासनासीन वे जिनेन्द्र भगवान् ऐसे प्रतीत होते थे मानों मुक्तिरूपी स्त्री के कटाक्षों से अवलोकित उत्तम दूल्हा ही हों ॥९–१०॥ जिसमें साढे बारह करोड़ बाजों का स्वर मिला हुआ था तथा जिसने समुद्र के जोरदार शब्द को जीत लिया था ऐसा देव हस्तों से ताडित दुन्दुभियों का शब्द, दिशा पर्वत और आकाश को व्याप्त कर पटह आदि से होने वाले नाना प्रकार के श्रेष्ठ शब्दों को कर रहा था ॥११–१२॥ जिसने सूर्य चन्द्र मणि तथा नक्षत्रों को समस्त कान्ति के समूह को जीत लिया था, जिसने समस्त सभामण्डप को व्याप्त कर लिया था, जिसकी प्रभा करोड़ो सूर्य से भी अधिक थी, जो नेत्रों को सुख उत्पन्न करने वाला था, और रमणीय था ऐसा उत्कृष्ट भामण्डल इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानों श्री जिनेन्द्र भगवान् के शरीर का तेजःपुञ्ज ही ऊपर की ओर उठ खड़ा हो ॥१३–१४॥ समस्त तत्त्वों के अर्थ को व्यक्त करने वाली भगवान् की महान् दिव्यध्वनि जगत् के सम्पूर्ण मिथ्या मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर रही थी। जिस प्रकार इस संसार में एक ही जल का प्रवाह वन में पृथिवी के योग से नानारूप हो जाता है उसी प्रकार भगवान् की दिव्यध्वनि भी पात्र के योग से नानाभाषारूप हो गई थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक थी तथापि समस्त पशु म्लेच्छ और आर्य मनुष्यों के लिये सर्वभाषारूप स्पष्ट अक्षरों के द्वारा तत्त्व आदि को

---

१ लक्ष्मीकृतवरोत्तम ख० ग० २ सूर्यकान्तचन्द्रकान्तमणिकिरणानाम् ३ सभास्थाने ख० ग० घ०।

अथ देवा नभोमार्गादवतीर्य महीतलम् । त्रिःपरीत्य जिनास्थानमण्डलं भक्तिनिर्भराः ॥१९॥
द्रष्टुं त्रिजगन्नाथं कुड्मलीकृतपाणयः । विविशुस्ते सभां दिव्यां नम्रीभूतस्वशेखराः ॥२०॥
विधायानु महीपृष्ठे स्वजानूनमरेशिनः । प्रणेमुः परया भक्त्या तत्पीठार्पितमौलयः ॥२१॥
शच्यः साप्सरसः सर्वाः प्रणामं त्रिजगद्गुरोः । प्रचक्रुः शिरसा भक्त्या तद्गुणग्रामरञ्जिताः ॥२२॥
अथोत्थाय सुरेन्द्राद्यास्तुष्टा धर्माथिनः शुभाम् । महापूजां तदा चक्रुः श्रीतीर्थेशपदाब्जयोः ॥२३॥
क्षीरोदादिभवैर्नीरैः रत्नभृङ्गारनालगैः । दिव्यामोदमयैः रम्यैः स्वर्गोत्पन्नैर्विलेपनैः ॥२४॥
मुक्ताफलमयैः पुण्याङ्कुरैर्वा परमाक्षतैः । मन्दारादिकमालौघैः कल्पद्रुमभवैः परैः ॥२५॥
मणिपात्रार्पितैः पीयूषपिण्डैः रत्नदीपकैः । तमोघ्नैर्दिव्यधूपौघैः [1]कल्पांह्रिपजसत्फलैः ॥२६॥
एवं संपूज्य देवेशा नत्वा तत्पादपङ्कजम् । भक्तिरागातिरेकेण तत्स्तवं कर्तुमुद्ययुः ॥२७॥

सूचित करती थी ॥१५–१७॥ इस प्रकार असाधारण सुन्दर निरुपम तथा देवोत्पादित आठ महा प्रातिहार्यों से वे धर्मराज के समान सुशोभित हो रहे थे ॥१८॥

अथानन्तर जो भक्ति से भरे हुए हैं, जिन्होंने अपने हाथ जोड़कर कुड्मल–कमल की बोंड़ी के आकार कर लिये है तथा जिनके अपने सेहरे नम्रीभूत हैं ऐसे देवों ने आकाश मार्ग से पृथिवी तल पर उतर कर उस समवसरण मण्डल की तीन प्रदक्षिणाएं दीं पश्चात् तीनलोक के नाथ का दर्शन करने के लिये उस दिव्य सभा में प्रवेश किया ॥१९–२०॥ तदनन्तर भगवान् की पीठ पर जिन्होंने अपने घुटने पृथिवी तल पर टेक कर परम भक्ति से नमस्कार किया ॥२१॥ भगवान् के गुणो में अनुरक्त, अप्सराओ से सहित समस्त इन्द्राणियो ने भक्तिपूर्वक शिर से त्रिजगद्गुरु को प्रणाम किया ॥२२॥

तदनन्तर उस समय संतुष्ट तथा धर्म के अभिलाषी इन्द्र आदि ने खड़े होकर श्री तीर्थंकर देव के चरण कमलों की पुण्यवर्धक महापूजा की ॥२३॥ रत्नमय भृङ्गार के नाल से निकलने वाले क्षीर समुद्र आदि के जल से, दिव्य सुगन्ध से तन्मय, रमणीय, स्वर्ग में उत्पन्न विलेपन–चन्दन से, पुण्य के अंकुरों के समान सुशोभित मोतियों के उत्कृष्ट अक्षतों से, कल्पवृक्षो से उत्पन्न मन्दार आदि की श्रेष्ठ मालाओं के समूह से, मणिमय पात्र में रखे हुए अमृत के पिण्ड से, अन्धकार को नष्ट करने वाले रत्नमय दीपकों से, दिव्य धूप के समूहो से, और कल्पवृक्षों से उत्पन्न उत्तम फलों से देवों ने भगवान् के चरण कमलों की नमस्कार कर इन्द्र, भक्ति सम्बन्धी राग की अधिकता से उनका स्तवन करने के लिये उद्यत हुए ॥२७॥

१ कल्पवृक्षोत्पन्नसमीचीनफलैः ।

विभो ते गणनातीताश्चतुर्ज्ञानयुषां गुणाः । अगोचरा गणेशानां ये दिव्यास्ते परैः[1] कथम् ।।२८।।
शक्या हि स्तवितुं सर्वे मादृशैः स्वल्पबुद्धिभिः । इति मत्वात्र नश्चित्तं क्षणं दोलायते स्तुतौ ।।२९।।
तथापि जगतां नाथ या भक्तिस्त्वयि निर्भरा । मुखरीकुरुते सैवास्माकं त्वद्गुणभाषणे ।।३०।।
त्वं देव परमो ब्रह्मा त्वं सर्वज्ञोऽखिलार्थवित् । सर्वदर्शी त्वमेवात्र लोकालोकार्थदर्शकः ।।३१।।
त्वमेव परमो बन्धुर्निःकारणहितंकरः । अबन्धूना सता त्राता भवाब्धेर्धर्मदेशकः ।।३२।।
ज्ञानिनां त्वं महाज्ञानी गुरूणां त्वं महागुरुः । पूज्यानां त्वं विभो पूज्यः स्तुत्याना स्तुतिगोचरः ३३
मान्यानां त्वं परो मान्यो धर्मी त्वं धर्मिणां महान् । त्वं देव वन्दनीयानां वन्दनीयोऽद्भुतोदयः ।।३४।।
जेतृणां त्वं महाजेता तपस्वी त्वं तपस्विनाम् । सुधियां त्वं सुधीर्नाथ कृतिनां त्वं परःकृती ।।३५।।
त्रिजगत्स्वामिना स्वामी दक्षस्त्वं दक्षदेहिनाम् । त्रातृणां त्वं महात्राता जिनानां त्वं परो जिनः ।३६
देवानां त्वं महादेवो नाथ त्वं धर्मदेशिनाम् । धर्मोपदेशदाता च दुर्जयाणां जयी महान् ।।३७।।
धीराणां त्वं महाधीरो व्रतिनां त्वं महाव्रती । शरण्यानां शरण्यस्त्वं दाता त्वं दानिनां परः ।।३८।।

हे प्रभो ! आपके जो असंख्य दिव्यगुण, चार ज्ञान के धारक गणधरों के अगोचर हैं वे सब गुण मेरे समान तुच्छ बुद्धि के धारक अन्य मनुष्यों के द्वारा कैसे स्तुत हो सकते हैं ? ऐसा मान कर यहां हमारा चित्त क्षणभर के लिये स्तुति के विषय में चञ्चल हो रहा है ।।२८–२९।। हे जगन्नाथ ! यद्यपि यह बात है तथापि आपमें हमारी जो अत्यधिक भक्ति है वही हम लोगों को आपका गुणगान करने में वाचालित कर रही है ।।३०।। हे देव ! इस जगत् में तुम्हीं परम ब्रह्म हो, तुम्हीं समस्त पदार्थों के ज्ञाता सर्वज्ञ हो और तुम्हीं लोकालोकसम्बन्धी पदार्थों को देखने वाले सर्वदर्शी हो ।।३१।। तुम्हीं बन्धु रहित सत्पुरुषों के अकारणहितकारी, संसार सागर से रक्षा करने वाले तथा धर्म का उपदेश देने वाले परम बन्धु हो ।।३२।। हे विभो ! तुम ज्ञानियों में महा ज्ञानी हो, गुरुओं में महागुरु हो, पूज्यों में पूज्य हो, स्तुति के योग्य मनुष्यों की स्तुति के विषय हो, माननीयों के परम मान्य हो, धर्मात्माओं में महान् धर्मात्मा हो, वन्दनीयों के वन्दनीय हो, और आश्चर्यकारी अभ्युदय से सहित हो ।।३३–३४।। हे नाथ ! तुम जीतने वालों में महान् जेता हो, तपस्वियों में महान् तपस्वी हो, बुद्धिमानों में महान् बुद्धिमान् हो और कुशल मनुष्यों में परम कुशल हो ।।३५।। आप तीन जगत् के स्वामियों के स्वामी हो, चतुर मनुष्यों में चतुर हो, रक्षा करने वालों में महान् रक्षक हो और जिनों में परम जिन हो ।।३६।। हे नाथ ! तुम देवों में महादेव हो, धर्मोपदेश देने वालों में धर्मोपदेश के दाता हो और दुःख से जीतने योग्य पदार्थों के महान् विजेता हो ।।३७।। तुम धीरो में महाधीर हो, व्रतियो में महाव्रती हो,

१ परा कथम् ग० घ० ।

मद्ब्रह्मचारिणां बालब्रह्मचारी त्वमेव च । उत्कृष्टानां त्वमुत्कृष्टोऽवश्यानां त्व वशीकरः ॥३९॥
लोभिनां त्वं महालोभी त्रिजगद्राज्यसंग्रहे । कोपिनां त्वं परःकोपी दु कर्माक्षारिपानने ॥४०॥
त्रैलोक्यैश्वर्यसंपर्कादीश्वरस्त्वं न चापरः । ह्याकाशात्वगमव्याप्तेर्विष्णुस्त्वं नान्य एव च ॥४१॥
[1]चतुर्मुखप्रसंख्यस्त्वं देव ब्रह्मा न वा परः[2] । त्रिजगन्नायकत्वात्त्व विनायकोऽन्य एव न ॥४२॥
देवीनिकरमध्यस्थस्त्वं वै रागीव लक्ष्यसे[3] । [4]अन्ता रागातिगो धीमान् विरागी त्वं बुधैर्जिन[5] ४३
भोगोपभोगसंयोगाद्भोगीव ज्ञायते जनैः । विद्भिर्योगी विरागत्वात्त्वं चित्रमिति धर्मकृत् ॥४४॥
देव त्वं वेष्टितः सर्वैर्गुणैरापादमस्तकम् । विश्वाश्रयजगर्वाच्च दोषैः स्वप्नेऽपि नेक्षितः ॥४५॥
अस्माभिरर्चितो देव मनाग् राग करोषि[6] न । न निन्दितस्त्वं न च द्वेषं हीत्याश्चर्यं मद्विभो ४६

शरण देने वालो में शरणदायक हो और दानियों में परम दानी हो ॥३८॥ समीचीन ब्रह्मचारियों में आप ही बाल ब्रह्मचारी है, आप ही उत्कृष्टो में उत्कृष्ट हैं और आप ही वश मे न होने वालों को वश करने वाले हैं ॥३९॥ आप तीन जगत् का राज्य संग्रह करने में लोभियों के मध्य महालोभी हैं और दुष्ट कर्म तथा इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को नष्ट करने में क्रोधियों के बीच परम क्रोधी हो ॥४०॥ तीन लोक के ऐश्वर्य के साथ संपर्क होने से आप ही ईश्वर हैं दूसरा कोई ईश्वर नहीं है और ज्ञान के द्वारा लोकाकाश तथा अलोकाकाश में व्याप्त होने से आप ही विष्णु हैं अन्य नहीं ॥४१॥ चार मुखों से युक्त होने के कारण आप ही ब्रह्मा है अन्य कोई ब्रह्मा नही हैं तथा तीन जगत् के नायक होने से आप ही विनायक—विशिष्ट नायक—गणेश हैं अन्य नहीं ॥४२॥ आप देवी समूह के मध्य में स्थित हैं अतः निश्चय ही रागी के समान जान पड़ते हैं और हे जिन ! अन्तरङ्ग में राग रहित हैं अतः विद्वानों के द्वारा बुद्धिमान् तथा विराग कहे जाते हैं ॥ ४३ ॥ भोगोपभोग की वस्तुओं के साथ संयोग होने से आप मनुष्यों के द्वारा भोगी के समान जाने जाते हैं और राग से रहित होने के कारण विद्वानों के द्वारा योगी माने जाते हैं यह आश्चर्य की बात है, इस तरह आप धर्म के कर्ता हैं ॥४४॥ हे देव ! आप समस्त गुणों के द्वारा पैर से लेकर मस्तक तक घिरे हुए हैं तथा हमारा आश्रय तो समस्त विश्व है इस गर्व से दोषों ने स्वप्न में भी आपको नहीं देखा है[7] ॥४५॥ हे देव ! हमारे द्वारा पूजित होने पर आप रञ्च मात्र भी राग नहीं करते हैं और निन्दित होने पर रञ्च मात्र भी द्वेष नहीं करते हैं, इस प्रकार आप विभु का यह बड़ा भारी आश्चर्य है ॥४६॥ वीतराग होने से आपको न पूजा से प्रयोजन है और न निन्दा से फिर भी वैर से । रहित होने

१ चतुर्मुखप्रसङ्ख्यातस्त्वं ग० २ नचापर ग० ३ लक्ष्यते घ० ४ अन्तो ग० घ० ५. जिन. घ० ६. करोति घ० ।
७. को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥२७॥ भक्तामर स्तोत्र

नार्थस्ते वीतरागत्वात्पूजया न च निन्दया । त्यक्तवैरात्तथाप्यत्र तेऽर्चास्माक पुनातु वै ॥४७॥
त्वयि भक्तो जगल्लक्ष्मीमवाप्नोति द्विषोऽद्भुतम् । प्रलीयन्ते च मध्यस्थस्त्वमिद चित्रमाप्तवित् ॥४८॥
न स्नेहो वर्तते नाथ तवोपरि सुजन्मिनाम् । किन्तु हेतुर्भवोऽप्यत्र कृत्स्नदुःखभयकरः ॥४९॥
यथाश्रयन्ति भुक्त्यर्थं पक्षिणः फलित द्रुमम् । तथा त्वा देव सर्वे च स्वर्गमुक्त्याप्तयेऽङ्गिनः ।५०।
अनन्यशरणा दक्षास्त्रिशुद्धयाराधयन्ति ये । त्वां तेऽत्र त्वत्समा. स्युश्च श्रीदेवाशु न संशयः ५१
इति मत्वा जगन्नाथ मनोवाक्कायकर्मभिः । भवद्गुणार्थिनो मुक्त्यै भवन्तमाश्रिता वयम् ।५२॥
अतो देव नमस्तुभ्यमनन्तगुणसिन्धवे । नमस्ते विश्वनाथाय नमस्ते विश्वदर्शिने ॥५३॥
नमस्ते ज्ञानरूपाय नमस्ते बन्धवे सताम् । नमस्ते मुक्तिकान्ताय नमस्ते धर्ममूर्तये ॥५४॥
नमस्ते दिव्यदेहाय नमस्तेऽनन्तशक्तये । नमस्ते विश्वमित्राय नमस्ते घातिनाशिने ॥५५॥

के कारण आपकी पूजा निश्चय से हम सबको पवित्र करे[1] ॥ ४७ ॥ आपका भक्त मनुष्य जगत में लक्ष्मी को प्राप्त होता है और आपका शत्रु क्षण भर में अद्भुत रूप से नष्ट हो जाता है फिर भी आप मध्यस्थ रहते है यह एक आश्चर्य की बात है ॥ ४८ ॥ हे नाथ ! आपके ऊपर यद्यपि प्राणियो का स्नेह नहीं है तथापि समस्त दुःखों का भय उत्पन्न करने वाला भव-संसार ही यहां हेतु है ॥४९॥ जिस प्रकार खाने के लिए पक्षी फले हुए वृक्ष का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे देव ! सभी प्राणी स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये आपकी शरण लेते हैं ॥५०॥ जो चतुर मनुष्य, अनन्य शरण होकर त्रिशुद्धि पूर्वक आपकी आराधना करते है वे शीघ्र ही आपके समान हो जाते हैं इसमें संशय नही है ॥५१॥ ऐसा मान कर हे जगन्नाथ ! आपके गुणों को चाहने वाले हम मन, वचन, काय की क्रिया से मुक्ति प्राप्त करने के लिए आपकी शरण में आये हैं ॥५२॥ इसलिये हे देव ! अनन्त गुणों के सागर स्वरूप आपको नमस्कार हो, आप समस्त लोक के स्वामी है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप विश्व के नाथ है अतः आपको नमस्कार हो और आप विश्वदर्शी है अतः आपको नमस्कार हो ॥५३॥ आप ज्ञान रूप है अतः आपको नमस्कार हो, आप सत्पुरुषों के बन्धु है अतः आपको नमस्कार हो, आप मुक्ति रूप स्त्री के वल्लभ हैं अत. आपको नमस्कार हो, आप धर्म की मूर्ति हैं अतः आपको नमस्कार हो ।५४॥ आप दिव्य-परमौदारिक शरीर के धारक है अतः आपको नमस्कार हो, आप अनन्त वीर्य से सहित है अतः आपको नमस्कार हो, आप सबके मित्र हैं अतः आपको नमस्कार हो और आप घाति कर्मों का नाश करने वाले हैं अतः आपको नमस्कार

१ न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्य ॥५७॥ स्वयंभूस्तोत्र ।

इति स्तवनमस्कारफलेन श्रीजिनाधिप । दिव्यवाक्यामृतेनात्र नश्चित्त प्रीणय[1] द्रुतम् ।५६।
देहि सर्वैर्गुणैः सार्द्धं स्वकीयां भूतिमद्भुताम् । बोधिं कर्मारिनाशं च शिवं दुःखक्षय श्रुतम् ।।५७ ।
विधायेति स्तुतिं नत्वा तत्पदाब्जौ दिवौकस. । तत्सन्मुखा[2]स्वधर्माय स्वस्वकोष्ठं मुदा श्रिता ।।
स पूर्वाभिमुखासीनो दिव्यहर्यासनाश्रितः । धर्ममूर्तिरिवाभात्सुदेवतिर्यग्नरैर्वृतः ।।५९।।
[3]त्यक्त्वा वीथीश्चतुर्दिक्षु चतु कोणेषु पुष्कलाः । प्रत्येकं त्रित्रिसंख्याः स्युः कोष्ठा द्वादश एव हि ६०।
योगीन्द्रा नाकवनार्यस्तथार्यिका सनृपस्त्रियः । ज्योतिष्कवनिताव्यन्तर्यो हि भावनयोषित ।।६१।।
भावना व्यन्तरा ज्योतिष्का देवाः कल्पवासिनः । मनुष्याः पशवश्चेति गणा द्वादश एव हि ।।६२।।
आरभ्य प्राग्दिश देव प्रदक्षिणेन मुक्तये । कृताञ्जलिपुटास्तस्थुः सर्वकोष्ठेष्वनुक्रमात् ।।६३।।
अथ तान् सद्गणान् दृष्ट्वा वचोऽमृतपिपासितान् । समुत्थाय सभामध्ये भूत्वा जिनपुरस्सरः ।।६४।।
रचिताञ्जलिरानम्यापीषन्नम्रो[4] गणाधिपः । स्वयंम्वाख्यश्चतुर्ज्ञानाद्यनेकर्द्धिविभूषितः ।।६५।।

हो ।। ५५ ।। हे श्री जिनेन्द्र ! इस प्रकार स्तवन और नमस्कार के फल से आप हमारे चित्त को दिव्य वचन रूपी अमृत के द्वारा शीघ्र ही संतुष्ट करो ।। ५६ ।। आप हम लोगों के लिये समस्त गुणों के साथ अपनी आश्चर्यकारी विभूति, रत्नत्रय, कर्म रूप शत्रुओं का नाश, मोक्ष, दुःख क्षय और श्रुतज्ञान दीजिये ।। ५७ ।। इस प्रकार अपना नियोग पूर्ण करने के लिए भगवान् के सन्मुख खड़े हुए देवों ने स्तुति कर उनके चरण कमलों को नमस्कार किया और इसके पश्चात् वे हर्षपूर्वक अपने अपने कोठे में चले गये ।।५८।।

जो पूर्वाभिमुख होकर दिव्य सिंहासन पर आरूढ थे ऐसे, देव, तिर्यंच तथा मनुष्यो से घिरे हुए पार्श्व जिनेन्द्र धर्म की मूर्ति के समान सुशोभित हो रहे थे ।। ५९ ।। चार दिशाओं की वीथियों को छोड़कर चार कोनों में एक एक कोने में तीन तीन की संख्या से बारह विस्तृत कोठे थे ।।६०।। उन कोठों में क्रम से मुनिराज, कल्पवासिनी देवियां, राज स्त्रियों से सहित आर्यिकाएं, ज्योतिष्क देवाङ्गनाएं, व्यन्तर देवाङ्गनाएं, भवनवासी देवाङ्गनाएं, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य और पशु ये बारह गण बैठते थे ।।६१–६२।। उपर्युक्त बारह गण, पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर श्री जिनेन्द्र देव की प्रदक्षिणा रूप समस्त कोठों में अनुक्रम से हाथ जोड़े हुए मुक्ति प्राप्ति के लिये स्थित थे ।।६३।।

अथानन्तर वचन रूपी अमृत के प्यासे उन बारह गणों को देख जो सभा के बीच जिनेन्द्र भगवान् के संमुख खड़े हुए थे, जिन्होंने हाथ जोड़ रक्खे थे, नमस्कार कर जो कुछ

१. प्रीणयेद्रुतम् म० २. सुधर्माय ग० ३ त्यक्ता वीथ्यश्चतु ग० ४ रानत्वा म० ग० घ० ।

विश्वसत्त्वहितं वाञ्छन् गुणैर्धर्मोपदेशजैः । विश्वतत्त्वादिपृच्छार्थे तत्स्तव कर्तुमुद्ययौ ॥६६॥
त्वं देव जगतां भर्ता त्वं त्राता च भवाम्बुधेः । धर्मचक्री त्वमेवात्र धर्मचक्रप्रवर्तनात् ॥६७॥
कर्ता त्वं धर्मतीर्थस्य हन्ता पापानि स्वान्ययोः । ज्ञानतीर्थस्य स्रष्टा त्वं त्व देव जगतां हित. ॥६८॥
अबन्धूनां परो बन्धुर्भव्यानां त्वं सुतारकः । शरण्यो भवभीतानां कृपालुस्त्वञ्च धर्मराट् ॥६९॥
त्वं जगत्त्रितयाधीशस्त्वं ब्रह्मा त्वं चतुर्मुख । पुरुषोत्तम एव त्वं श्रीपतिस्त्व विनायक. ॥७०॥
धर्मोपदेशकर्ता त्व त्व त्रिलोकपितामहः । त्वमसंख्यसुरै. सेव्यो देहतो विरतोऽसि च ॥७१॥
ये त्वां नमन्ति भव्यौघा उच्चैर्गोत्र भजन्ति ते । ये प्रार्चयन्ति देव त्वामर्च्याः स्युस्ते भवे भवे ॥७२॥
त्वां संस्तुवन्ति ये दक्षा यान्ति ते स्तवनास्पदम् । भक्ति कुर्वन्ति ये भक्त्या सर्वत्र सुखिनश्च ते ॥७३॥
स्मरन्ति ये गुणान्नाथ ते ते स्युर्गुणवार्द्धयः । ये ध्यायन्ति भवन्तं च भवन्ति त्वत्समा हि ते ॥७४॥
आराधयन्ति ये देव त्वामाराध्याः स्युरेव ते । पालयन्ति तवाज्ञा ये तेषामाज्ञां भजेज्जगत् ॥७५॥

नम्रीभूत थे, चारज्ञान को आदि लेकर अनेक ऋद्धियों से विभूषित थे, तथा धर्मोपदेश से उत्पन्न गुणों के द्वारा जो समस्त जीवों का हित चाहते थे ऐसे स्वयम्भू नामक गणधर समस्त तत्त्व आदि को पूंछने के लिए भगवान् का स्तवन करने हेतु उद्यत हुए ॥६४–६६॥

हे देव ! आप जगत् के भर्ता है, संसार समुद्र से रक्षा करने वाले हैं तथा धर्म चक्र के प्रवर्ताने से आप ही धर्मचक्री हैं ॥६७॥ आप धर्म तीर्थ के कर्ता हैं, निज और पर के पापों का नाश करने वाले है, ज्ञान तीर्थ की सृष्टि करने वाले है और हे देव ! आप जगत् के हितकारी हे ॥६८॥ आप बन्धु रहित जीवों के उत्कृष्ट बन्धु हैं, भव्य जीवों को अच्छी तरह तारने वाले हे, संसार से भयभीत मनुष्यों के शरण दाता हे तथा दयालु धर्मराज हैं ॥६९॥ आप तीनों जगत् के स्वामी हे, आप ही ब्रह्मा हे, आप ही चतुरानन हे, आप ही पुरुषोत्तम-नारायण (पक्ष में श्रेष्ठ पुरुष) हे आप ही श्रीपति–विष्णु (पक्ष में लक्ष्मीपति) हे और आप ही विनायक–गणेश (पक्ष में विशिष्ट नायक) हे ॥ ७० ॥ आप धर्मोपदेश के कर्ता हे, आप तीन लोक के पितामह हे, आप असंख्यात देवों से सेवनीय हे तथा शरीर से विरत हे ॥७१॥ जो भव्य जीवों के समूह आपको नमस्कार करते हे वे उच्च गोत्र को प्राप्त होते हे और हे देव ! जो आपकी पूजा करते हे वे भव भव मे पूज्य होते हे ॥७२॥ जो समर्थ मनुष्य आपकी स्तुति करते हे वे स्तुति के स्थान को प्राप्त होते हे, जो भक्तिपूर्वक आपकी भक्ति करते हे वे सर्वत्र सुखी रहते हे ॥७३॥ हे नाथ ! जो आपके गुणों का स्मरण करते हैं वे गुणों के सागर होते हैं और जो आपका ध्यान करते हे वे आपके समान होते हे ॥ ७४ ॥ हे देव ! जो आपकी आराधना करते हे वे आराधना करने के योग्य होते हे और जो आपकी आज्ञा का पालन करते हे संसार उनकी

ये त्वां पश्यन्ति धर्माय दृश्या: स्युस्ते जगत्त्रये । त्वामाश्रयन्ति ये नाथ तान् श्रयन्ति जगच्छ्रिय: ।७६।
भवद्धर्मोपदेशेन भव्यास्तीर्थेश सम्प्रति । मोहिनो घ्नन्ति मोहारिपापिन पापशात्रवम् ।।७७।।
भवद्वचोऽशुभि: सन्तोऽज्ञानध्वान्तसमुत्करम् । स्फेटयन्ति[1] द्रुतं नूनं दृग्ज्ञानाच्छादकं घनम् ।।७८।।
भवत्तत्वोपदेशेन प्राप्य वैराग्यमञ्जसा । मदनेन समं घ्नन्ति स्वाक्षारातीन् सुधीधना: ।।७९।।
क्षमादिदशधाधर्मं त्वत्त: प्राप्य तपोधना: । बहवो जयन्ति धर्मास्त्रै: कषायारीन् सुदुर्जयान् ।।८०।।
भवद्वाक्यामृतं पीत्वा जन्ममृत्युजराविषम् । हरन्ति भुवने नाथ तत: स्यु: सुखिनो जना: ।।८१।।
केचिद्यास्यन्ति निर्वाणं चाहमिन्द्रपदं परे । केचिन्नाकं च देवेशं भवतीर्थप्रवर्तनात् ।।८२।।
ईहन्ते[2] चातका यद्वत् तृषाक्रान्ता घनात्पय: । जन्माग्निहानये भव्यास्तथा त्वद्वचनामृतम् ।।८३।।
निष्पत्तिर्जायते यद्वत्सस्यानां मेघवर्षणै: । तथा स्वर्मुक्तिबीजानां देव त्वद्धर्मवृष्टिभि: ।।८४।।
अतो नाथ प्रसीद त्वं कुर्वन्ननुग्रहमञ्जसा । धर्मोपदेशपीयूषै: प्रीणयस्व जगत्त्रयम् ।।८५।।

आज्ञा का पालन करता है ।।७५।। जो धर्म के लिए आपके दर्शन करते हैं वे तीनों जगत् में दर्शनीय होते हैं। हे नाथ ! जो आपका आश्रय लेते हैं जगत् की लक्ष्मियां उनका आश्रय लेती हैं ।।७६।। हे तीर्थपते ! इस समय मोही भव्य जीवों के समूह आपके धर्मोपदेश से मोह शत्रुरूपी पापियों को तथा पापरूपी शत्रु को नष्ट करते हैं ।।७७।। सत्पुरुष आपके वचनरूपी किरणों से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान को आच्छादित करने वाले अज्ञानरूपी सघन अन्धकार के समूह को शीघ्र ही नष्ट करते हैं ।।७८।। सुबुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले भव्य जीव, आपके तत्वोपदेश से वास्तविक वैराग्य प्राप्त कर कामदेव के साथ साथ अपने इन्द्रियरूप शत्रुओं को नष्ट करते हैं ।।७९।। कितने ही तपस्वी आपसे क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म को प्राप्त कर धर्मरूपी अस्त्रों के द्वारा कषायरूपी दुर्जन शत्रुओं को जीतते हैं ।। ८० ।। हे नाथ ! आपके वचनरूपी अमृत को पीकर लोग जन्म मृत्यु और जरारूपी विष को नष्ट करते हैं इसलिए वे इस जगत् में सुखी होते हैं ।।८१।। हे भगवान् आपके तीर्थ प्रवर्तन से कोई निर्वाण को प्राप्त होंगे, कोई अहमिन्द्र पद को, कोई स्वर्ग को और कोई इन्द्र पद को प्राप्त करेंगे ।।८२।। जिस प्रकार प्यास से युक्त चातक मेघ से जल चाहते हैं उसी प्रकार भव्यजीव जन्मरूपी अग्नि को नष्ट करने के लिए आपके वचनरूपी अमृत को चाह रहे हैं ।।८३।। जिस प्रकार मेघ वर्षा से धान्यों की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार हे देव ! आपकी धर्मवृष्टि से स्वर्ग तथा मोक्ष के बीजों की निष्पत्ति होती है ।। ८४ ।। इसलिये हे नाथ ! प्रसन्न होओ, वास्तविक उपकार करो और धर्मोपदेश रूपी अमृत के द्वारा तीनों जगत् को संतुष्ट करो ।।८५।।

---

1. नाशयन्ति 2. त्र्यशीतितम श्लोक स० प्र० प्रत्योर्नास्ति ।

भगवंस्तत्त्वविस्तार हेयाहेयं वरागमम् । मोक्षमार्गफल मुक्तेस्त्व निरूपय चाखिलम् ॥८६॥
केन पापेन यान्त्यत्र श्वभ्रतिर्यग्गति[1] जनाः । केन पुण्येन नाक च नृगतिं केन कर्मणा ॥८७॥
बधिराः कर्मणा केन त्वान्धा मूका भवन्ति च । पङ्गवो धनिनो निर्धना केनाचरणेन हि ॥८८॥
पुरुषा विधिना केन जायन्ते वा स्त्रियोऽङ्गिन । नपुंसकाः किलाल्पायुषो दीर्घायुष एव च ॥८९॥
भोगिनो भोगहीनाश्च सुखिनो दुःखिनोऽङ्गिनः । मेधाविनश्च दुर्मेधाः स्यु केनाचरणेन च ॥९०॥
पाण्डित्यं कर्मणा केन मूर्खत्वमाप्नुवन्ति च । रोगात्पुत्रवियोगाश्च भवन्ति विकलाङ्गिनः ॥९१॥
ससारः कर्मणा केन स्थिरः केन परिक्षयः । केन प्रोच्चकुलं नीचं जायते केन हि नृणाम् ॥९२॥
उत्तमाचरणेनात्र केन त्वदीयसत्पदम् । अहमिन्द्रपद चक्रिपदं चोत्पद्यते सताम् ॥९३॥
किं सुधर्मतरोर्मूल तीर्थनाथ कृपापर । इमा सुप्रश्नमाला त्व व्यक्तार्थैः प्ररूपय ॥९४॥
नश्येच्च न यथा जातु तमो नैश्य रवेर्विना । तथा न सशयध्वान्त भवद्वाक्यकिरणैर्विना ॥९५॥
यथा नानुग्रहः पुंसां विना मेघात्परो भुवि । तथा देव भवद्धर्मोपदेश च विना क्वचित् ॥९६॥

हे भगवन् ! आप हेयोपादेय तत्त्वों के विस्तार, उत्कृष्ट आगम, मोक्षमार्ग का फल तथा मुक्ति से सम्बन्ध रखने वाली समस्त विशेषताओं का निरूपण कीजिये ॥८६॥ इस जगत् में मनुष्य किस पाप से नरक और तिर्यंच गति में जाते है, किस पुण्य से देव गति में जाते है और किस कार्य से मनुष्यगति को प्राप्त होते हैं ॥८७॥ मनुष्य किस कर्म से अंधे, गूंगे और लंगड़े होते है तथा किस आचरण से लंगड़े, धनवान् अथवा निर्धन होते है ॥८८। किस कर्म से प्राणी पुरुष, स्त्री अथवा नपुंसक होते हैं तथा किस कर्म से अल्पायुष्क और दीर्घायुष्क होते हैं ॥८९॥ जीव किस आचरण से भोगवान्, भोगरहित, सुखी, दुःखी, बुद्धिमान् और दुर्बुद्धि होते है ॥९०॥ किस कर्म से जीव पाण्डित्य, मूर्खता, रोग तथा पुत्र वियोग को प्राप्त होते है और किस कर्म से विकलाङ्ग होते है ॥९१॥ मनुष्यों का संसार किस कर्म से होता है, किस कर्म से स्थिरता और परिक्षय प्राप्त होता है, तथा किस कर्म से उच्च या नीच कुल होता है ॥९२॥ सत्पुरुषों को किस उत्तम आचरण से आपका प्रशस्त पद, अहमिन्द्र का पद तथा चक्रवर्ती का पद प्राप्त होता है ॥९३॥ हे तीर्थनाथ ! सुधर्मरूपी वृक्ष का मूल क्या है ? आप दया में तत्पर होकर हम सब के लिये इस प्रश्नमाला का स्पष्ट उत्तर कहिये ॥९४॥ जिस प्रकार सूर्य के विना रात्रिका अन्धकार कभी नष्ट नहीं होता उसी प्रकार आपके वाक्यरूप किरणों के विना हम लोगों का संशयरूपी अन्धकार कभी नष्ट नहीं हो सकता ॥९५॥ जिस प्रकार पृथिवी पर मेघ के विना अन्य

१ श्वभ्र तिर्यग्गतिं ख० घ० ।

कल्पशाखिनदीकामधेनुनिध्यादयः पराः । सुचिन्तामणयः स्युः केवलं परोपकारिणः ॥९७॥
त्वं देव जगतां स्वस्य प्रोपकारी स्वचेष्टया । परयात्र भवे नूनमतः को भवता समः ॥९८॥
अतो नाथ कृपां कृत्वा संशयध्वान्तमञ्जसा । दिव्यवाक्यांशुभिः शीघ्रं हरत्वन्तः सतां भुवि ॥९९

मालिनी

इति कृतपरिसुप्रश्नोऽप्यमन्दाङ्गहर्षो, विहितनृसुरकार्यो ज्ञानविज्ञानदक्षः ।
परमगुणसमृद्धस्तत्पदाब्जौ प्रणम्य, निखिलमुनिगणेशो ह्याश्रितः स्वस्य कोष्ठम् ॥१००॥

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्मादेष जिनो नृदेवजनितं भुक्त्वा सुखं प्रत्यहं
धर्मादाप जगत्त्रयाधिपनुतं ज्ञानं परं केवलम् ।
धर्माद्विश्वविभूतिसारकलितं तीर्थङ्करस्यास्पदं
मत्वेतीह नराः प्रयत्नमनसा धर्मं कुरुध्वं सदा ॥१०१॥

पदार्थ पुरुषों का उपकारक नहीं है उसी प्रकार हे देव ! आपके धर्मोपदेश के बिना अन्य पदार्थ कहीं पुरुषों का उपकारक नहीं है ॥ ९६ ॥ कल्पवृक्ष, नदी, कामधेनु, निधि तथा चिन्तामणि आदि उत्कृष्ट पदार्थ केवल पर का उपकार करने वाले हैं परन्तु हे देव ! आप अपनी उत्कृष्ट चेष्टा से निश्चित ही जगत् के तथा अपने आपके अत्यन्त उपकारी हैं अतः आपके समान कौन हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥९७–९८॥ इसलिये हे नाथ ! दया कर दिव्यध्वनिरूपी किरणों के द्वारा पृथिवी पर सत्पुरुषों के अन्तःकरण में विद्यमान संशयरूपी अन्धकार को शीघ्र ही भलीभांति नष्ट करो ॥९९॥ इस प्रकार जिन्होंने अच्छे अच्छे प्रश्न किये थे, जिनके शरीर में बहुतभारी हर्ष व्याप्त हो रहा था, जिन्होंने देव और मनुष्यों का कार्य किया था, जो ज्ञान और विज्ञान में दक्ष थे, तथा उत्कृष्ट गुणों से समृद्ध थे ऐसे समस्त मुनि समूह के स्वामी स्वयंभू गणधर पार्श्वजिनेन्द्र के चरण कमलों को प्रणाम कर अपने कोठे में विराजमान हो गये ॥१००॥

यह पार्श्वजिनेन्द्र, धर्म से मनुष्य और देवगति सम्बन्धी सुख का प्रतिदिन उपभोग कर तीन जगत् के स्वामियों के द्वारा स्तुत उत्कृष्ट केवलज्ञान को प्राप्त हुए थे तथा धर्म से ही समस्त श्रेष्ठविभूतियों से युक्त तीर्थंकर पद को प्राप्त हुए थे ऐसा जानकर हे भव्यजन

त्वं देवो जगदीश्वरार्चितपदस्त्वं धर्मराजा पर—
स्त्वं लोकत्रयतारणार्थचतुरस्त्वं विश्वबन्धूपमः ।
त्वं कालत्रयतत्त्वसूचनपरस्त्वं नाथ निर्ग्रंथराट्
त्वं कर्मारिविनाशकृज्जिनपते त्वं सच्छ्रियं देहि मे ॥१०२॥

इति भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे गणधराप्रच्छावर्णनो नामैकोनविंशतितम सर्गः ॥१९॥

हो ! सावधान चित्त से सदा धर्म करो ॥१०१॥ हे नाथ ! तीनों जगत् के ईश्वरों के द्वारा जिनके चरण पूजित है ऐसे आपही देव हैं, आप ही उत्कृष्ट धर्मराजा हैं, आप ही तीनों लोकों को तारने में चतुर हैं, आपही सबके बन्धु समान हैं, आपही तीन काल सम्बन्धी तत्त्व को सूचित करने में तत्पर हैं, आपही निर्ग्रंथराज है, तथा आपही कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करने वाले है अतः हे जिनेन्द्र ! आप मुझे उत्तम लक्ष्मी अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी प्रदान करें ॥१०२॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति विरचित पार्श्वनाथचरित में गणधर कृत प्रश्नों का वर्णन करने वाला उन्नीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१९॥



विंशतितम सर्ग

श्रीमन्त त्रिजगन्नाथं केवलज्ञानभूषितम् । अनन्तमहिमारूढ श्रीपार्श्वेश नमाम्यहम् ॥१॥
अथ प्रश्नवशाद्देवस्तीर्थनाथो जगद्धितः । इत्थ प्रपञ्चयामास तत्त्वादि परया गिरा ॥२॥
वक्तुरस्य[1] मुखाब्जे न विकृतिः काप्यभूत्परा । न तात्वोष्ठपरिस्पन्दो न खेदश्च प्रभावतः ॥३॥
महान् गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रद्ध्वनिसन्निभः । निरगाच्छ्रीगुरोर्हास्याद्ध्वनिर्व्यक्ताक्षरोऽघहृत् ॥४॥
विवक्षामन्तरेणास्य विविक्ता भारती व्यभूत् । अहो महीयसा शक्तिरीदृशी योगसंभवा ॥५॥
शृणु तत्वं गणाधीश सार्द्ध द्वादशभिर्गणैः । तत्त्वादीनि प्रवक्ष्येऽहं स्वैकाचित्तेन सम्प्रति ॥६॥
जीवादिसत्पदार्थानां याथात्म्य तत्त्वमिष्यते । सम्यग् जैनागमे तत्त्व विद्धि नान्यकुशासने ॥७॥
जीवाजीवास्रवा बन्धः संवरो निर्जरा शिवः । इत्युक्तानि जिनाधीशैः सप्त तत्त्वानि चागमे ॥८॥

विंशतितम सर्ग

श्रीमान्, तीन लोक के नाथ, केवलज्ञान से विभूषित और अनन्त महिमा से युक्त श्री पार्श्वनाथ भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर प्रश्नवश, जगत्हितकारी तीर्थंकर देव उत्कृष्ट वाणी के द्वारा तत्वादि का इस प्रकार विस्तार करने लगे ॥२॥ व्याख्यान करने वाले इन भगवान् के मुख कमल पर कोई भी अन्य विकृति उत्पन्न नहीं हुई थी, न तालु ओंठ आदि अवयवों का हलन-चलन होता था और न कोई खेद ही उत्पन्न हुआ था। यह उनका प्रभाव ही था ॥ ३ ॥ जो पर्वत की गुहा में उत्पन्न झिरने के शब्द के समान थी, स्पष्ट अक्षरो से युक्त थी तथा पापों का नाश करने वाली थी ऐसी महान् दिव्यध्वनि श्रीगुरु के मुख से निकल रही थी ॥४॥ भगवान् की वह पवित्र वाणी इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों की योग से उत्पन्न ऐसी आश्चर्यजनक शक्ति होती ही है ॥ ५ ॥ उन्होंने कहा कि हे गणाधीश ! तुम बारह गणों के साथ एकाग्रचित से इस समय तत्त्व को सुनो मैं तत्त्व आदि को कहता हूँ ॥६॥

जीवादि समीचीन पदार्थों का जो यथार्थ रूप है वही तत्त्व कहलाता है। समीचीन तत्त्व को तुम जैनागम में समझो अन्य मिथ्या शास्त्रों में इसका वर्णन नहीं है ॥७॥ जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व आगम में जिनेन्द्र भग-

१ वक्तुं रम्य मुखाब्जे न ख० घ० ।

[1]संसारिमुक्तभेदेन द्विधा जीवा भवन्त्यहो । मुक्ता भेदविनि:क्राता अनन्तगुणभाजनाः ॥९॥
भव्याभव्यप्रभेदेन द्विधा ससारिणोऽङ्गिनः । त्रसस्थावरभेदेन वा द्वेधा[2] भवगामिनः ॥१०॥
एकाक्षा विकलाक्षा पञ्चाक्षास्त्रेधेति ते मताः । देवनारकतिर्यङ्नृभेदाद्वा ते चतुर्विधाः ॥११॥
एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदाच्च पञ्चधा । पृथ्व्यप्तेजोमरुद्वृक्षत्रसभेदात् षडङ्गिनः ॥१२॥
सञ्ज्ञिनोऽसंज्ञिनो द्व्यक्षास्त्र्यक्षा हि चतुरिन्द्रियाः । एकाक्षा वादरा सूक्ष्मा' सप्तधेत्यङ्गिराशयः ॥१३॥
पर्याप्तेतरभेदेन ता' सप्तजीवयोनयः । गुणिता अखिला जीवसमासाः स्युश्चतुर्दश ॥१४॥
अष्टधा धातवो वादरसूक्ष्मेण चतुर्विधाः । नित्येतरनिकोता हि विकलत्रयदेहिनः ॥१५॥
सञ्ज्ञिनोऽसञ्ज्ञिन' सप्रतिष्ठिता अप्रतिष्ठिताः । इति संसारिणो जीवभेदा एकोनविंशतिः ॥१६॥
ते [3]पर्याप्तेतरालब्धिपर्याप्तैर्वर्गिता भुवि । सर्वे जीवसमासाः सप्तपञ्चाशत्प्रमा मताः ॥१७॥
स्थावराश्च द्विचत्वारिंशद्भेदाः सुरनारकाः । द्विधा पञ्चाक्षतिर्यञ्चश्चतुस्त्रिंशत्प्रमाः स्मृताः ।१८

वान् ने कहे है ॥८॥ संसारी और मुक्त के भेद से जीव दो प्रकार के होते हैं । आश्चर्य है कि अनन्त गुणों के पात्र मुक्त जीव भेदों से रहित है ॥९॥ संसारी जीव भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार के है अथवा त्रस और स्थावर के भेद से भी संसारी प्राणी दो प्रकार के है ॥१०॥ एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय के भेद से संसारी जीव तीन प्रकार के है । देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य के भेद से चार प्रकार के है ॥११॥ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के भेद से पांच प्रकार के हैं । पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस के भेद से छह प्रकार के है ॥१२॥ एकेन्द्रिय के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा दो भेद, विकलत्रय के द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा तीन भेद और पञ्चेन्द्रिय के संज्ञो असंज्ञी की अपेक्षा दो भेद–इस तरह संसारी जीव सात प्रकार के है ॥१३॥ ये सात प्रकार के जीव पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो दो प्रकार होते हैं इसलिए दो से गुणित होने पर चौदह जीव समास होते हैं ॥१४॥ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं के वादर सूक्ष्म की अपेक्षा दो दो भेद होने से आठ भेद, साधारण वनस्पति में नित्य निगोद और इतर निगोद इन दो के वादर और सूक्ष्म की अपेक्षा दो दो भेद होने से चार भेद, विकलत्रय के तीन भेद, पञ्चेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी की अपेक्षा दो भेद तथा प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा दो भेद–सब मिलाकर संसारी जीव के उन्नीस भेद होते है ।१५–१६। ये उन्नीस प्रकार के जीव पर्याप्तक, निर्वृत्त्य पर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक के भेद से पृथिवी पर तीन प्रकार के होते है अतः उन्नीस मे तीन का गुणा करने पर सब जीव समास संतावन माने गये हैं ।१७। स्थावरों के ब्यालीस,

१ समारिमुक्तिभेदन ख० घ० २ वा मुक्तिभवगामिनः ख० ग० घ० ३ पर्याप्तनिर्वृत्यपर्याप्तलब्ध्यपर्याप्तभेदे ।

नवधा मानवाश्चैव नवधा विकलाङ्गिनः । इति जीवसमासा. स्युरष्टानवतिसंख्यका: ।।१९।।
पृथ्व्वप्तेज:समीरा अष्टधा वादरसूक्ष्मत । नित्येतरनिकोताश्चतुर्द्धा वादरसूक्ष्मतः ।।२०।।
निकोतसहितास्तद्रहिताः प्रत्येककायिन· । एकत्र मेलिता एते सर्वे भेदाश्चतुर्दश ।।२१।।
एकाक्षा गुणितास्ते द्विचत्वारिंशत्प्रमा स्फुटम् । पर्याप्तकेतरालब्धिपर्याप्तै स्युर्जिनागमे ।।२२।।
द्विप्रकाराः सुराः स्युः पर्याप्तापर्याप्तभेदतः । तथा च नारका ज्ञेया द्विधा दुःखाब्धिमध्यगा ।२३।
जलस्थलनभश्चारिणः संज्ञ्यसंज्ञिभेदत । षड्विधा गर्भजा जीवाः पञ्चेन्द्रियसमाह्वया ।२४।
भोगभूमिभवा जीवा द्विधा स्थलखगामिनः । ते सर्वे मेलिता अष्टभेदाश्च गुणिता. पुनः ।।२५।।
पर्याप्तेतरभेदाभ्या षोडशैव भवन्त्यपि । सञ्ज्यसंज्ञित्वभेदाभ्या जलस्थलखचारिणः ।।२६।।
षड्धा संमूर्च्छिमास्ते पर्याप्तियुक्तास्तथेतराः । भवन्त्यलब्धिपर्याप्तिकाः प्रत्येकं किलाङ्गिनः ।।२७।।
कृता एकत्र ते सर्वे भेदा अष्टादशप्रमाः । गर्भसंमूर्च्छिमा सर्वे स्युश्चतुस्त्रिंशदङ्गिन ।।२८।।

देव नारकियों के दो दो, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के चौंतीस, मनुष्यों के नो और विकलत्रयों के नौ—सब मिला कर अठानवे जीव समास होते है ।।१८–१९।। पृथिवी जल अग्नि और वायु इन चार के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा आठभेद, साधारण वनस्पति के नित्य निगोद और इतर निगोद की अपेक्षा दो भेद और दोनों के बादर सूक्ष्म की अपेक्षा चार भेद तथा प्रत्येक वनस्पति के सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित की अपेक्षा दो भेद सब एकत्र मिलाकर एकेन्द्रिय के चौदह भेद होते है । ये चौदह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्य पर्याप्तक, और लब्ध्य पर्याप्तक की अपेक्षा तीन तीन प्रकार के होते है इसलिये चौदह में तीन का गुणा करने पर जिनागम में एकेन्द्रियों के ब्यालीस भेद माने गये हैं ।।२०–२२।। देव, पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के है इसी प्रकार दुःखरूपी सागर के मध्य में रहने वाले नारकी भी दो प्रकार के जानना चाहिये ।।२३।। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो के जलचर स्थलचर और नभश्चर की अपेक्षा तीन भेद है और ये तीनों भेद संज्ञी असंज्ञी के भेद से दो दो प्रकार के होते है इस प्रकार छह भेद हुए । ये छह भेद गर्भज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चो के हैं । भोगभूमिज पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के स्थलचर और नभश्चर के भेद से दो भेद है । दोनों मिलाकर आठ भेद हुए । ये आठों भेद पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो प्रकार के है अतः दो का गुणा करने पर इनके सोलह भेद होते हैं । संमूर्च्छन जन्म वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के जलचर, स्थलचर और नभश्चर की अपेक्षा तीन भेद होते हैं और ये तीनों भेद संज्ञी असंज्ञी की अपेक्षा दो भेद वाले होने से छह प्रकार के होते हैं ये छह भेद पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन तीन प्रकार होते है अतः संमूर्च्छन जन्म वाले पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के अठारह भेद होते हैं । गर्भ जन्म वालों के सोलह और संमूर्च्छन जन्म वालों

आर्यम्लेच्छभवा भोगकुभोगभूमिजा नराः	अष्टभेदा मता वै पर्याप्तापर्याप्तिभेदतः	॥२९॥
संमूर्च्छिमा मनुष्या अलब्धिपर्याप्तसञ्ज्ञिकाः	इति [1]विश्वे भवन्त्यत्र नवभेदा [2]नृयोनिजाः	॥३०॥
पर्याप्तादित्रिभेदेन गुणिता विकलाङ्गिनः	नवधा श्रीजिनैः प्रोक्ता ज्ञाननेत्रैर्वरागमे	॥३१॥
अष्टानवतिरेते जीवसमासा विचक्षणैः	विज्ञेया यत्नतस्तेषां दया कार्या मुमुक्षुभिः	॥३२॥
धरोदकाग्निवाताख्या नित्येतरनिकोतकाः	सप्तसप्तपृथग्लक्षाश्च वनस्पतयो दश	॥३३॥
द्वित्रितुर्येन्द्रिया द्वौ द्वौ लक्षौ देवाश्च नारकाः	पशवो हि चतुर्लक्षाश्चतुर्दशनृजातयः	॥३४॥
चतुरशीतिलक्षा इमा जीवजातयोऽखिलाः	रक्षणीयाः प्रयत्नेन ज्ञात्वा दक्षैः स्वमुक्तये	॥३५॥
कोटीकोट्यॆका नवनवतिलक्षाश्च कोटयः	सत्पञ्चाशत्सहस्रा इत्यखिलाङ्गिकुलान्यपि	॥३६॥

के अठारह सब मिलाकर पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च चौतीस प्रकार के होते है ॥२४–२८॥ गर्भज मनुष्यों के आर्यखण्डज, म्लेच्छखण्डज, भोगभूमिज और कुभोगभूमिज ये चार भेद है और चारों भेद पर्याप्तक तथा निर्वृत्यपर्याप्तक की अपेक्षा दो दो प्रकार के है अतः आठ प्रकार के हुए। इनमें लब्ध्यपर्याप्तक संमूर्च्छन मनुष्यों का एक भेद मिलाने से सब मनुष्य नौ प्रकार के होते है ॥२९–३०॥ विकलत्रय जीव पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन प्रकार के है अतः इनका गुणा करने पर ज्ञानरूपी नेत्र के धारक श्री जिनेन्द्र भगवान् ने परमागम में विकलत्रय नौ प्रकार के कहे है ॥३१॥ इस प्रकार बुद्धिमान् जनों को ये अठानवे जीव समास यत्नपूर्वक जानना चाहिये और मोक्षाभिलाषी जीवों को इनकी दया करना चाहिये ॥३२॥

पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन छह की सात सात लाख, वनस्पति की दश लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय की दो दो लाख, देव नारकी और पशुओं की चार चार लाख तथा मनुष्यों की चौदह लाख ये सब मिला कर जीवों की चौरासी लाख जातियां है। चतुर मनुष्यों को अपनी मुक्ति के लिये इन्हे जान कर इनकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करना चाहिये ॥३३–३५॥

समस्त जीवों के कुलकोटियों की संख्या एक कोड़ा कोड़ी निन्यानवे लाख और पचास हजार करोड़ है। भावार्थ–जिन पुद्गल परमाणुओं से जीवों के शरीर की रचना होती है उन्हें कुलकोटी कहते है और शरीर रचना से जीवों की जाति में जो विभिन्नता आती है उसे योनि कहते है। ऊपर जीवों की चौरासी लाख योनियों का वर्णन किया गया है यहां

---

१ सर्वे २. मनुष्या।

जीवित· प्रागनादौ हि जीविष्यति पुनः सदा। जीवत्ययं ततस्तज्ज्ञैर्जीवद्रव्यं किलोच्यते ।।३७।।
अक्षजा. पञ्च च प्राणा मनोवाक्कायजास्त्रय.। आयुरुच्छ्वासनिश्वासो दशैते संज्ञिना मताः ।।३८।।
असंज्ञिना नव स्युस्ते विनात्र मनसाखिलाः। चतुरिन्द्रियजीवानां ह्यष्टौ कर्णैर्विना स्मृताः ।।३९।।
त्रीन्द्रियाणां विना चक्षु. सप्त प्राणाः प्रकीर्तिताः। द्वीन्द्रियाणां हि षट्प्राणा· कथिता नासिकां विना४०
मुखवाग्भ्या विनैकाक्षाणा प्राणाः स्युश्चतु प्रमाः। यथायोग्यमपर्याप्तानां ज्ञेयास्ते जिनागमे ।।४१।।
आहाराङ्गेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासवाक्यचेतसः । षड्वा पर्याप्तयश्चेति विज्ञेयाः संज्ञिदेहिनाम् ।।४२।।
विकलासंज्ञिना पञ्च पर्याप्तयो मनो विना। चतुःपर्याप्तयो ज्ञेया एकाक्षाणां वचो विना ।।४३।।
निश्चयेन भवेत्केवलज्ञानदृग्मयोऽसुमान् । अनन्तसुखवीर्याढ्यः सिद्धसादृश्य एव हि ।।४४।।
व्यवहारेण मत्यादिविभावगुणसंयुतः । नेत्रादिदर्शनैर्युक्तः प्राणी कर्मकृतैः कलौ ।।४५।।

कुल कोटियों की संख्या बतलाई गई है। गोम्मटसार जीव काण्ड में कुल कोटियों की संख्या एक कोड़ा कोटी सत्तानवे लाख पचास हजार करोड़ बतलाई है* ।।३६।।

जो पहले अनादिकाल में जीवित रहा है, पश्चात् सदा जीवित रहेगा और वर्तमान में जीवित है वह जीव के जानने वाले ज्ञानीजनों के द्वारा जीवद्रव्य कहा जाता है ।।३७।। इन्द्रियों से होने वाले पांच, मन वचन काय से होने वाले तीन, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये दस प्राण संज्ञी जीवों के माने गये हैं ।।३८।। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन के बिना सब नौ प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीवों के कानों के बिना आठ प्राण स्मरण किये गये हैं ।।३९।। त्रीन्द्रिय जीवों के चक्षु के बिना सात प्राण कहे गये हैं, द्वीन्द्रिय जीवों के नासिका के बिना छह प्राण होते हैं और एकेन्द्रिय जीवों के मुख–रसना इन्द्रिय तथा वचन बल के बिना चार प्राण होते हैं। अपर्याप्तक जीवों के यथायोग्य प्राण जिनागम में जानने योग्य हैं। भावार्थ–अपर्याप्तक अवस्था में मनोबल वचन बल और श्वासोच्छ्वास ये तीन प्राण नहीं होते हैं अतः संज्ञी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय के सात, चतुरिन्द्रिय के छह, त्रीन्द्रिय के पांच, द्वीन्द्रिय के चार और एकेन्द्रिय के तीन प्राण होते हैं ।।४०–४१।। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियां संज्ञी जीवों के होती हैं ।।४२।। विकलत्रय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रियों के मन के बिना पांच और एकेन्द्रियों के भाषा के बिना चार पर्याप्तियां जानने के योग्य हैं ।।४३।। निश्चयनय से यह प्राणी केवलज्ञान और केवलदर्शन से तन्मय तथा अनन्त सुख और अनन्तवीर्य से संपन्न सिद्धों के समान ही है ।।४४।। व्यवहारनय से संसार में मतिज्ञानादि विभाव गुणों से सहित तथा कर्मकृत चक्षुर्दर्शन आदि दर्शनों से युक्त

* एया य कोडिकोडी सत्ताणउदी य सदसहस्साइं।
पण्णं कोडिसहस्सा सव्वगोणं कुलाणं य ।।११७।। जीव काण्ड ।।

मूर्तपुद्गलसंयोगान्मूर्तोऽङ्गी व्यवहारत. । अमूर्तो निष्कल' शुद्धो ज्ञानमूर्तिश्च निश्चयात्।४६।।
व्यवहारनयेनाङ्ग्यनुपचारमृषात्मना । कर्मनोकर्मणा कर्ता भोक्ता तत्फलमञ्जसा ।।४७।।
उपचारमृषानाम्ना नयेन प्राणभृद्भुवि । कटवस्त्रगृहादीना कर्ता च शिल्पिकर्मणाम् ।।४८।।
अशुद्धनिश्चयेनाङ्गी कर्ता च भावकर्मणाम् । रागद्वेषमदोन्मादशोकादिविषयात्मनाम् ।।४९।।
प्राग्वपुस्त्यजनान्मृत्युः प्रादुर्भावाच्च संभवः । द्रव्यरूपेण नित्यत्व चतुर्गतिषु देहिनाम् ।।५०।।
ज्ञायतेऽतो गणाधीशैरुत्पादव्यय एव च । ध्रौव्यभावोऽत्र संप्रोक्तः सर्वेषां व्यवहारत ।।५१।।
कायप्रमाण आत्माय पर्यायनयतः क्वचित् । उक्तः प्रदेशसहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ।।५२।।
विना सप्तसमुद्घातैर्निश्चयेन भवेत्पुनः । कर्मोत्पन्नाङ्गहीनाङ्गी ह्यसख्यातप्रदेशम ।।५३।।
वेदनाख्यः कषायाख्यो विकुर्वाणसमाह्वयः । मारणान्तिकसज्ञस्तैजसाहारकसंज्ञकौ ।।५४।।

है। भावार्थ—जीव के दश प्राणों का संयोग संसारी दशा में ही होता है मुक्त अवस्था मे मात्र ज्ञान दर्शन सुख और वीर्यरूप भाव प्राण होते है ।।४५।। मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के साथ संयोग होने के कारण यह जीव व्यवहारनय से मूर्तिक कहलाता है और निश्चयनय से अमूर्तिक, शरीर रहित, शुद्ध और ज्ञानमूर्ति है ।।४६।। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा यह जीव वास्तव मे कर्म नो कर्म का कर्ता और उनके फल का भोक्ता है ।४७। उपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा यह जीव पृथिवी पर चटाई वस्त्र तथा घर आदि शिल्प कार्यों का कर्ता है ।।४८।। अशुद्ध निश्चयनय से यह जीव राग द्वेष मद उन्माद तथा शोक आदि रूप भावकर्मों का कर्ता होता है ।।४९।। यद्यपि इस जीव की चारों गतियों में पूर्व शरीर के छूटने से मृत्यु तथा नवीन शरीर के प्रकट होने से उत्पत्ति होती है तथापि द्रव्य की अपेक्षा उसमें नित्यता रहती है ऐसा गणधर देव जानते है। इन सभी जीवों मे उत्पाद व्यय और ध्रौव्यभाव व्यवहारनय से कहा गया है ।५०–५१। दीपक के समान प्रदेशो के संकोच और विस्तार के कारण यह आत्मा पर्यायनय की अपेक्षा कहीं शरीर के प्रमाण कहा गया है। भावार्थ—आत्मप्रदेशों में दीपक के प्रकाश के समान संकोच और विस्तार की शक्ति है अतः उसे पर्यायार्थिक नय से जैसा छोटा बड़ा शरीर प्राप्त होता है उसी के अनुरूप उसका परिमाण हो जाता है ।।५२।। सात समुद्घातों के बिना अन्य समय आत्मा कर्म से उत्पन्न शरीर के प्रमाण हीनाधिक होता है और निश्चयनय से असंख्यात प्रदेशी है। भावार्थ—निश्चयनय से आत्मा असख्यात प्रदेशी है अतः लोकपूरण समुद्घात् के समय समस्त लोकाकाश मे व्याप्त हो जाता है अन्य छह समुद्घातों के समय भी वर्तमान शरीर से बाहर आत्मा के प्रदेश फैल जाते है परन्तु अन्य समय में नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर के प्रमाण ही रहता है ।।५३।। वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस, आहारक और

१. जायते ख० ग० घ० ।

केवलाख्य[1] समुद्घाता[1] सप्तेति श्रीजिनैर्मता.। कैवल्यतैजसाहारा योगिनां स्युः परेऽङ्गिनाम् ।५५।।
पुण्यपापफलाना हि विविधाना चतुर्गतौ । शर्माशर्मकराणा प्राणी भोक्ता व्यवहारतः ।५६।।
स्वस्वरूपस्य कर्ता शुद्धनिश्चयनयादसौ । जन्ममृत्युजरातीतो न कर्ता बन्धमोक्षयोः ।।५७।।
अतोऽत्रात्माप्यसौ ध्येयो निर्विकल्पपदाश्रितैः । गुणैः सिद्धेन सादृश्यो ज्ञानमूर्तिरमूर्तिमान् ।।५८।।
यथाग्निकणकेनात्र दह्यन्ते काष्ठराशयः । अनन्तकर्मकाष्ठानि तथा ध्यानलवाग्निना ।।५९।।
दन्तभग्नो यथा नागो[1] दंष्ट्राभग्नोऽक्षमो हरिः[2] । स्वकार्ये च तथा ध्यानहीनः कर्मारिघातने ।।६०।।
चिन्तामणिश्च रत्नानां कल्पवृक्षोऽत्र शाखिनाम् । [3]त्रिदशानां यथा [4]शक्रो नृणां मध्ये परो जिनः।६१।
आत्मतत्त्वञ्च तत्त्वाना पदार्थानां तथा महान् । स्वकीयात्मपदार्थो द्रव्याणां स्वद्रव्यमेव हि ।।६२।।
इति मत्वा स्वससिद्धयै मनः कृत्वातिनिश्चलम् । विषयेभ्यो विनिःक्रान्त संवेगादिगुणाङ्कितम् ।।६३।।
सर्वद्रव्यवहिर्भूतोऽप्यनन्तगुणसागरः । सर्वावस्थासु सर्वत्र स्वात्मा ध्येयो मुमुक्षुभिः ।।६४।।

केवली ये सात समुद्घात श्री जिनेन्द्र भगवान् ने माने हैं। इनमें कैवल्य, तैजस और आहारक समुद्घात योगियों–मुनियों के ही होते हैं और शेष समुद्घात अन्य जीवों के होते हैं ।।५४–५५।।

यह प्राणी व्यवहारनय से चारों गतियों मे सुख दुःख उत्पन्न करने वाले पुण्य और पाप का भोक्ता होता है ।।५६।। शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा यह जीव आत्मस्वरूप का कर्ता है। जन्म जरा और मृत्यु से रहित है तथा बन्ध और मोक्ष का कर्ता नहीं है ।।५७।। इस लिये निर्विकल्प पद को प्राप्त हुए जीवों को इस जगत् में उस आत्मा का भी ध्यान करना चाहिये जो गुणों की अपेक्षा सिद्धो के समान है, ज्ञानमूर्ति है तथा शरीर से रहित है ।५८। जिस प्रकार अग्नि के एक कण से काठ की राशियां जल जाती हैं उसी प्रकार ध्यान के अंशरूप अग्नि के द्वारा अनन्त कर्मरूपी काठ भस्म हो जाते हैं ।।५९।। जिस प्रकार दांत रहित हाथी अथवा सर्प और ढाढ़ रहित सिंह अपने कार्य में असमर्थ रहता है उसी प्रकार ध्यान रहित साधु कर्मरूपी शत्रु का घात करने में असमर्थ रहता है ।।६०।। जिस प्रकार रत्नो मे चिन्तामणि, वृक्षो मे कल्पवृक्ष और देवों में इन्द्र उत्कृष्ट है उसी प्रकार मनुष्यों के मध्य मे जिनेन्द्र उत्कृष्ट हैं ।। ६१ ।। जिस प्रकार तत्त्वों में आत्मतत्त्व, तथा पदार्थों में स्वकीय आत्म पदार्थ महान् है उसी प्रकार द्रव्यों में आत्म द्रव्य महान् है ।।६२।। ऐसा मान आत्म सिद्धि के लिये मन को अत्यन्त निश्चल, विषयों से दूर तथा संवेगादि गुणों से युक्त कर मुमुक्षु जनो को सब अवस्थाओ में तथा सब स्थानो मे उस स्वकीय आत्मा का ध्यान करना चाहिये जो सब द्रव्यो से पृथक् होकर भी अनन्त गुणों का सागर है।६३–६४। इस

---

१ हस्ती २. सिंह ३. देवानाम् ४ इन्द्र ।

इत्यात्मतत्त्वमाख्याय तीर्थनाथो गणान्प्रति । मार्गणादिकमाख्यातुं प्रारेभे मार्गसिद्धये ॥६५॥
गतिरिन्द्रियकायौ हि योगवेदकषायकः । ज्ञानसंयमदृग्लेश्याभव्यसम्यक्त्वसञ्ज्ञिनः ॥६६॥
आहारो मार्गणाश्चेति चतुर्दश निरूपिताः । जिनैस्तासु बुधैर्मृ ग्यो जीवतत्त्वो महांश्चिदे ॥६७॥
मिथ्यासासादनौ मिश्रोऽविरताख्यश्चतुर्थकः । वं देशविरताख्यः प्रमत्तोऽप्रमत्तसंज्ञकः ॥६८॥
अपूर्वकरणो नाम्नानिवृत्तिकरणाभिधः । हि सूक्ष्मसाम्परायोपशान्तक्षीणकषायकाः ॥६९॥
सयोग्ययोगिनौ मान्यौ सद्गुणाश्रयणादिमे । चतुर्दश जिनैः प्रोक्ता गुणस्थाना गुणाकराः ॥७०॥
मुक्तेः सोपानमाला एते भव्यानां जिनोदिताः । अभव्यानां किलैको मिथ्यागुणस्थानशाश्वतः॥७१॥
हीनाधिकगुणैर्युक्ता [1]अन्वेष्यास्तेषु धीधनैः । गुणानां स्थानकेष्वङ्गिनः परीक्ष्य गुणव्रजैः ॥७२॥
इत्यादिवाक्सुधापूरैराप्लाव्य निखिलां सभाम् । अजीवतत्त्वमाख्यातुं पुनरारब्धवान्प्रभुः ॥७३॥
पुद्गलो बहुधा धर्मोऽधर्म आकाश एव हि । कालश्चेति जिनैः प्रोक्तोऽजीवद्रव्योऽत्र पंचधा ॥७४॥
पूरणाद्गलनाद्दक्षैः पुद्गलोऽय निरूपितः । मूर्तोऽनेकविधः सार्थनामकः कर्मदेहकृत् ॥७५॥

प्रकार पार्श्व जिनेन्द्र बारह सभाओं के प्रति आत्मतत्त्व का निरूपण कर मार्ग की सिद्धि के लिये मार्गणादिक का वर्णन करने के लिये उद्यत हुए ॥६५॥

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं जिनेन्द्र भगवान् ने कही हैं। विद्वानों को उन मार्गणाओं में आत्मज्ञान के लिये श्रेष्ठ जीवतत्त्व की खोज करना चाहिये ॥६६–६७॥ मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिजिन और अयोगिजिन, ये चौदह गुणस्थान जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं। समीचीन गुणों का आश्रय लेने से ये गुणस्थान कहलाते है। सम्यग्दर्शनादि गुणों की खानस्वरूप है। मुक्ति की सीढी स्वरूप ये चौदह गुणस्थान भव्य जीवों के होते है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। अभव्य जीवों के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही शाश्वत रहता है ॥६८–७१॥ बुद्धिरूपी धन को धारण करने वाले मनुष्यों को चाहिये कि वे उपर्युक्त गुणस्थानों में गुणसमूह के द्वारा परीक्षा कर हीनाधिक गुणों से युक्त जीवों का अन्वेषण करें ॥७२॥ इत्यादिवचनरूपी अमृत के पूर से समस्त सभा को तर कर पश्चात् पार्श्व प्रभु ने अजीव तत्त्व का व्याख्यान प्रारम्भ किया ॥७३॥

अनेक प्रकार का पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् ने इस जगत् में अजीव द्रव्य पांच प्रकार का कहा है ॥७४॥ पूरण-गलन-स्वभाव के

१. अन्वेषणीया ।

अष्टौ स्पर्शा रसाः पञ्च वर्णाः पञ्च गन्धौ द्विधा । इति विंशतिरस्यैव गुणाः प्रोक्ता द्विधात्मकाः।।७६।।
शुद्धाणोर्ये गुणाः शुद्धा मताः स्वाभाविकाश्च ते । गुणाः स्कन्धेषु येऽशुद्धा विभावाख्या हि ते बुधैः।।७७
अणुस्कन्धविभेदेन पुद्गलस्य द्विधा स्थितिः । स्निग्धरूक्षमयाणूना संघातः स्कन्ध उच्यते ।।७८।।
अणवः कार्यलिङ्गाः स्युरत्रैकैकतयाखिलाः । नित्या द्रव्यार्थिकेनानित्या पर्यायार्थिकेन च।।७९।।
सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्म सूक्ष्मस्थूलाभिधाः परे । स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः८०
एकोऽणुः सूक्ष्मसूक्ष्मः [1]स्यादद्दश्या नयनैर्नृणाम् । सूक्ष्मास्तेऽपि मता. सद्भिर्ये कर्ममयपुद्गलाः।।८१।।
रसनस्पर्शनघ्राणश्रोत्रैर्ये यान्ति पुद्गलाः । व्यक्तता ते समुद्दिष्टाः सूक्ष्मस्थूला जिनागमे।।८२।।
स्थूलसूक्ष्मा जनैर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । जलज्वालादयः स्थूला उच्यन्ते पुद्गला बुधैः ।८३।

कारण दक्ष पुरुषों ने पुद्गल द्रव्य का निरूपण किया है । यह पुद्गल द्रव्य मूर्त है, अनेक प्रकार का है, सार्थक नाम वाला है और कर्मरूपी शरीर को करने वाला है ।।७५।। आठ स्पर्श, पांच रस, दो गन्ध और पांच रूप इस प्रकार इसी पुद्गल के बीस गुण कहे गये हैं । ये गुण शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार के होते हैं ।।७६।। शुद्ध परमाणु के जो गुण हैं वे विद्वानों द्वारा शुद्ध तथा स्वाभाविक माने गये है और स्कन्धों में जो गुण हैं वे अशुद्ध तथा वैभाविक माने गये है ।।७७।। अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल द्रव्य की दो प्रकार की स्थिति होती है अर्थात् अणु और स्कन्ध इस प्रकार पुद्गल द्रव्य के दो भेद हैं इनमें स्निग्ध और रूक्ष गुण से तन्मय परमाणुओं का समुदाय स्कन्ध कहलाता है ।।७८।। जो इस जगत् में एक एक रूप से अवस्थित हैं वे सब अणु है, ये अणु कार्यलिङ्ग है अर्थात् सूक्ष्म होने के कारण अणु स्वयं तो दृष्टिगोचर नहीं होते किन्तु इनके संयोग से जो स्कन्धरूप कार्य होते हैं उनसे इनका परिज्ञान होता है । ये अणु द्रव्यार्थिकनय से नित्य हैं और पर्यार्यार्थिकनय से अनित्य हैं ।।७९।। सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, स्थूलसूक्ष्म, स्थूल और स्थूलस्थूल'''इस प्रकार पुद्गल द्रव्य छह भेद वाले हैं ।।८०।। इनमे जो एक प्रदेशी परमाणु है वह सूक्ष्म सूक्ष्म कहलाता है । जो मनुष्यों के नेत्रों के द्वारा नहीं देखे जा सकते ऐसे कर्मरूप पुद्गल सत्पुरुषो के द्वारा सूक्ष्म माने गये हैं । स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जो पुद्गल प्रकटता को प्राप्त होते हैं परन्तु नेत्र इन्द्रिय से नहीं देखे जा सकते वे स्पर्श रस गन्ध और शब्द जिनागम में सूक्ष्मस्थूल कहे गये हैं अर्थात् नेत्रों से न दिखने के कारण सूक्ष्म हैं और अन्य इन्द्रियों से जाने जाते हैं इसलिये स्थूल हैं । छाया चांदनी तथा आतप आदि स्थूल सूक्ष्म जानने के योग्य हैं अर्थात् जो नेत्रों से दिखने के कारण स्थूल हैं परन्तु पकड़ में नहीं आते इसलिये सूक्ष्म हैं । जल, ज्वाला आदि पदार्थ विद्वानों के द्वारा स्थूल कहे

१ दृश्यो ख० ग० घ० ।

भूकायाद्रिविमानादय: स्थूलस्थूलपुद्गला: । षड्भेदा इति तीर्थेशै: पुद्गला हि निरूपिता:।८४।।
शब्दो बन्धस्तथा सूक्ष्म: स्थूल: संस्थानसंज्ञक: । भेदस्तमस्तथा छाया उद्योत आतपादय: ।।८५।।
एते पुद्गलपर्याया विभावाख्या मता जिनै । स्वाभाविकाश्च पर्याया अणुरूपा: पृथक् पृथक्।८६।
शरीरवाङ् मन:प्राणापानदु:खसुखादिकान् । कुर्वन्ति पुद्गला जीवाना मृत्युजीवितादिकान् ।८७।
जीवपुद्गलयो: साह्यकर्ता जैनैर्मतो गतो । अमूर्तो नि:क्रियो धर्मो मत्स्याना च यथा जलम्।८८
सहकारी मतोऽधर्म. स्थितौ पुद्गलजीवयो: । अमूर्तो नि:क्रियो नित्यो यथा छायाध्वगामिनाम्।८९
लोकालोकविभेदेन द्विधाकाशोऽस्त्यमूर्तिमान् । अवकाशप्रद: सर्वद्रव्याणा नि:क्रियोऽव्यय: ।।९०।।
पदार्था यत्र लोक्यन्ते लोकाकाशो मतो हि स । तस्माद्बहिरनन्तोऽप्यलोकाकाशोऽस्ति केवल: ।९१।
धर्माधर्मैकजीवाना लोकाकाशस्य संमिता. । असख्याता: प्रदेशा हि पुद्गलानामनेकधा ।।९२।।

जाते हैं, और पृथिवीकाय पर्वत तथा विमान आदि स्थूल स्थूल पुद्गल कहलाते हैं अर्थात् जो पृथक करने पर समुदाय से पृथक् हो जावे परन्तु मिलाने पर पुनः एक हो जाते है ऐसे जल घृत आदि स्थूल है तथा अलग करने पर जो अलग हो जावें और मिलाने पर एक न हो, अलग ही रहें वे पृथिवी पत्थर आदि पदार्थ स्थूल स्थूल कहलाते हैं । इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने छह भेद वाले पुद्गलों का निरूपण किया है ।।८१–८४।। शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान-आकृति, भेद, तम, छाया, उद्योत और आतप आदि ये पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं । जिनेन्द्र भगवान् ने इन सबको पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय माना है तथा अलग अलग अणुरूप जो पर्याय है उसे स्वाभाविक पर्याय स्वीकृत किया है ।।८५–८६।।

पुद्गलद्रव्य जीवों के शरीर वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, दुःख सुख, मरण तथा जीवन आदि कार्यो को करते है अर्थात् ये जीवों के प्रति पुद्गल द्रव्य के उपकार हैं ।।८७।। जिस प्रकार मछलियों के चलने में जल सहायक होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गलों के चलने में जो सहायक होता है, वह धर्मद्रव्य है । यह धर्मद्रव्य अमूर्तिक तथा निष्क्रिय है ।।८८।। जिस प्रकार पथिकों के ठहरने में छाया सहायक होती है उसी प्रकार जीव और पुद्गल के ठहरने में जो सहायक होता है वह अधर्मद्रव्य है । यह अधर्मद्रव्य अमूर्तिक तथा निष्क्रिय है ।।८९।। जो सब द्रव्यों के लिये अवकाश देने वाला है वह आकाश कहलाता है । यह आकाश लोक और अलोक के भेद से दो प्रकार का है, अमूर्तिक है, निष्क्रिय है तथा अविनाशी है ।।९०।। जिसमें जीव पुद्गल आदि पदार्थ देखे जाते हैं वह लोकाकाश माना गया है और उसके बाहर का अनन्त आकाश अलोकाकाश कहलाता है । यह अलोकाश मात्र आकाश ही रहता है इसमे अन्य द्रव्य नहीं रहते ।।९१।।

धर्म, अधर्म, एकजीव और लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं । पुद्गल द्रव्य के प्रदेश संख्यात, असंख्यात और अनन्त के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं ।।९२।। जो द्रव्यों

निश्चयव्यवहारेण द्विधा कालोऽतिनि:क्रिय: । द्रव्याणां सहकारी परिणतौ मूर्तिवर्जित: ।।९३।।
समयादिमय: कालो व्यवहारोऽत्र लक्ष्यते । गोदोहादिक्रियाद्यै: परत्वापरत्वयोगत: ।।९४।।
भिन्नभिन्नाणवो ये लोकाकाशे संस्थिता: शुभा: । राशयश्चैव रत्नानां स कालो निश्चयाभिध:।।९५।।
एकत्र सहजीवेन षडद्रव्या मुनिभि: स्मृता: । ते कालेन विना ज्ञेया: पञ्चास्तिकायसंज्ञका:।।९६।।
पुद्गलो योऽयमायाति कर्मरूपोऽत्र रागिण: । द्रव्यभावविभेदेन द्विधा स आस्रवो भवेत् ।।९७।।
रागद्वेषादियुक्तेन परिणामेन येन हि । आस्रवन्त्यत्र कर्माणि स स्याद्भावास्रवोऽङ्गिनाम्९८
मिथ्यात्वपञ्चकं द्वादशधा विरतयोऽशुभा: । प्रमादा हि त्रिपञ्चैव योगा: पञ्चदशात्मका: ।।९९।
सर्वदु:खाकरीभूता: कषाया: पञ्चविंशति: । एतेऽत्र [1]प्रत्यया ज्ञेया भावास्रवनिबन्धना: ।।१००।।
आयाति कर्मरूपेण पुद्गलो योऽत्र योगिन: । द्रव्यास्रव: स विज्ञेयोऽप्यनन्तभववारक: ।।१०१।।
ध्यानाद्यै रास्रवो रुद्धो यैस्ते स्युर्मुक्तिवल्लभा: । अन्यथा विफल: क्लेशस्तपोवृत्तादिज: सताम् ।१०२।

की परिणति मे सहकारी कारण है वह काल द्रव्य है। यह अत्यन्त निष्क्रिय है, अमूर्तिक है और निश्चय तथा व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है ।।९३।। इनमें जो समय आदि रूप है वह व्यवहार काल है। यह व्यवहार काल गोदोह आदि त्रियाओं तथा परत्व अपरत्व आदि के द्वारा जाना जाता है ।।९४।। और लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर रत्नों की राशि के समान जो पृथक् पृथक् अणुरूप से स्थित है तथा शुभ हैं वे कालाणु निश्चय काल हैं ।।९५।। उपर्युक्त पांच अजीव द्रव्य जीव के साथ एकत्र मिलकर मुनियो के द्वारा छह द्रव्य माने गये हैं। काल के विना शेष पांचद्रव्य पञ्चास्तिकाय कहलाते हैं ।।९६।।

इस जगत् में रागी जीव के जो यह कर्मरूप पुद्गल आता है वह आस्रव है। यह द्रव्यास्रव के भेद से दो प्रकार का है ।।९७।। राग द्वेषादि युक्त जिस परिणाम से कर्म आते हैं जीवो का वह परिणाम भावास्रव है ।।९८।। पांच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार की अविरति, पन्द्रह प्रकार का अशुभ प्रमाद, पन्द्रह प्रकार का योग और समस्त दु:खों की खान स्वरूप पच्चीस प्रकार की कषाय ये भावास्रव के कारणभूत प्रत्यय जानना चाहिये अर्थात् इन सबसे आत्मा में कर्मों का आगमन होता है ।।९९-१००।। योग सहित जिनेन्द्र के कर्मरूप होकर जो पुद्गल आता है उसे द्रव्यास्रव जानना चाहिये। यह द्रव्यास्रव अनन्त भवों का निवारण करने वाला है। भावार्थ–दशमगुणस्थान तक के जीवो के द्रव्यास्रव और भावास्रव दोनों होते हैं परन्तु उसके आगे तेरहवें गुणस्थान तक मात्र द्रव्यास्रव होता है ।।१०१।। जिन्होंने ध्यान आदि के द्वारा आस्रव को रोक लिया है वे ही मुक्तिरूपी स्त्री

1. [illegible]

संश्लेषो जीवकर्मणोर्यः स बन्धो द्विधा मतः । भावद्रव्यप्रभेदेन [1]विश्वाशर्माकरोऽशुभः ॥१०३॥
बध्यन्ते येन भावेन रागादिदूषितेन हि । कर्माणिभावबन्धोऽत्र सोऽनन्तसंसृतिप्रदः ॥१०४॥
प्रकृतिस्थितिबन्धानुभागप्रदेशतोऽङ्गिनाम् । चतुर्धा बन्ध ग्राम्नातोऽत्रानेकविक्रियाकरः ॥१०५॥
प्रकृतिः स्वभावः स्याच्च स्थिति· कालावधारणम् । रसतुल्योऽनुभागः प्रदेशो जीवप्रदेशयुक् ॥१०६॥
स्तः प्रकृतिप्रदेशाख्यौ बन्धौ च योगतः सताम् । स्थित्यनुभागबन्धौ कषायैर्भवनिबन्धनौ[2] ॥१०७॥
यथा बन्धनबद्धो लभते दुःखमनेकशः । कर्मशृङ्खलबद्धोऽङ्गी तथा श्वभ्रादिदुर्गतौ ॥१०८॥
सर्वास्रवनिरोधो यो ध्यानाद्यैर्द्रव्यभावतः । स द्विधा संवरः प्रोक्तः स्वर्गमुक्त्यादिकारकः ।१०९।
चैतन्यपरिणामो य एकीभूतो निजात्मकः । निर्विकल्पमयो ज्ञेयो भावसंवर एव सः ॥११०॥
त्रयोदशविधं वृत्तं परो धर्मदशात्मकः । द्विषड्भेदा ग्रनुप्रेक्षाः परीषहजयोऽखिलः ।१११॥

के प्रिय होते हैं अन्यथा तप और चारित्र आदि से उत्पन्न होने वाला सत्पुरुषों का क्लेश निष्फल होता है अर्थात् वह मोक्ष का साक्षात् साधक नहीं होता है ॥१०२॥

जीव और कर्म का जो संश्लेषात्मक संबन्ध है वह बन्ध कहलाता है। भावबन्ध और द्रव्यबन्ध के भेद से इसके दो भेद हैं। यह बन्ध समस्त दुःखों की खान है तथा अशुभ है ॥१०३॥ रागादि से दूषित जिस भाव से कर्म बन्धते है वह भावबन्ध है। वह भाव बन्ध अनन्त संसार को देने वाला है ॥१०४॥

संसार में जीवों के अनेक विकारों को उत्पन्न करने वाला वह बन्ध प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश बन्ध के भेद से चार प्रकार का माना गया है ॥१०५॥ प्रकृति स्वभाव को कहते है अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्मो का जो ज्ञानादि गुणों को आवृत करने का स्वभाव है वह प्रकृति बन्ध है। उन कर्मो के काल की जो सीमा है वह स्थिति बन्ध है। रस के तुल्य उनमें फल देने का जो तारतम्य है वह अनुभाग बन्ध है और जीव के प्रदेशों के साथ कर्म प्रदेशों का जो मिलना है वह प्रदेश बन्ध है ॥१०६॥ जीवों के प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग से होते हैं और संसार के कारणभूत स्थिति और अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं ॥१०७॥ जिस प्रकार बन्धन मे बधा हुआ पुरुष अनेक दुःख प्राप्त करता है उसी प्रकार कर्म रूपी जंजीर से बंधा हुआ प्राणी नरकादि दुर्गतियों में अनेक दुःख प्राप्त करता है ॥१०८॥

ध्यान आदि के द्वारा जो समस्त आस्रव का रुक जाना है वह सवर कहलाता है। यह संवर द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का कहा गया है तथा स्वर्ग और मोक्ष आदि को करने वाला है ॥१०९॥ एकाकार स्वकीय आत्मा का जो चैतन्य रूप निर्विकल्प परिणाम है वही भाव संवर है ॥११०॥ तेरह प्रकार चारित्र, दश प्रकार का उत्कृष्ट धर्म,

१ निखिलदु खखनिभूत २ भवनिबन्धनं ख० ।

पञ्चधा संयमो ध्यानश्रुताभ्या सयमादयः । भवन्त्यमी सतां सर्वे भावसंवरकारणाः ॥११२॥
निरोधः क्रियते योऽत्र कर्मणां यत्नतो बुधैः । स द्रव्यसवरः प्रोक्तोऽप्यनन्तगुणसागरः ॥११३॥
सवरेण स्वयं ह्येत्य दत्तेऽत्रालिङ्गनं मुदा । सतां स्वस्त्रीव मुक्तिश्रीर्नान्यथा क्लेशकोटिभिः॥११४
प्राक्तनः कर्मबन्धो यः कालेन तपसाथवा । क्षीयते निर्जरा सा सविपाकेतरतो द्विधा ॥११५॥
कर्मपाकेन या जाता सा सविपाकाखिलात्मनाम् । साऽयत्नजनिता हेया परकर्मनिबन्धना ॥११६॥
संवरेण सम याऽत्र निर्जरा क्रियते बुधैः । तपोभिः साऽविपाका प्रादेयानेकसुखाकरा ॥११७॥
निर्जरा कर्मणामत्र जायतेऽपि यथा यथा । आयाति निकट मुक्तिस्तत्कारिणां तथा तथा ।११८।
अत्यन्त योऽत्र विश्लेष कर्मात्मनोः सुयोगिनाम् । काललब्ध्या स मोक्षः स्याद् द्रव्यभावाद् द्विधात्मकः।
क्षयहेतुर्वरो यः परिणामोऽखिलकर्मणाम् । भावमोक्षः स विज्ञेयः कर्ममोचनहेतुकृत् ॥१२०॥
समस्तकर्मदेहाद्यदेवात्मा जायते पृथक् । तदैव द्रव्यमोक्ष स्यादनन्तगुणदायकः ॥१२१॥

बारह अनुप्रेक्षाएं, समस्त परिषह जय, और पांच प्रकार का संयम, इस प्रकार ध्यान और श्रुताध्ययन के साथ जो संयमादिक हैं वे सभी सत्पुरुषो के भाव संवर के कारण हैं ॥१११–११२॥ इस जगत् मे ज्ञानीजनों के द्वारा जो कर्मों का निरोध किया जाता है वह द्रव्य सवर कहा गया है। यह द्रव्य संवर भी अनन्त गुणों का सागर है ॥११३॥ संवर के द्वारा इस जगत् मे मुक्तिरूपी लक्ष्मी स्वयं आकर अपनी स्त्री के समान हर्षपूर्वक सत्पुरुषों के लिये आलिङ्गन देती है इसके बिना करोड़ों क्लेश उठाने पर भी मुक्ति लक्ष्मी का आलिङ्गन प्राप्त नहीं होता ॥११४॥

पूर्व का जो कर्मबन्ध काल पाकर अथवा तप के द्वारा क्षीण होता है वह निर्जरा है। यह निर्जरा सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार की है ॥११५॥ कर्मोदय से समस्त जीवों के जो निर्जरा होती है वह सविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा विना प्रयत्न के ही होती है तथा अन्य कर्मों का कारण है अतः हेय है–छोड़ने के योग्य है ॥११६॥ इस जगत् में सवर के साथ विद्वज्जनों के द्वारा तप से जो निर्जरा की जाती है वह अविपाक निर्जरा है। यह अविपाक निर्जरा अनेक सुखो की खान है तथा ग्रहण करने के योग्य है ॥११७॥ इस लोक मे जैसे जैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है वैसे वैसे ही मुक्ति, निर्जरा करने वालो के निकट आती जाती है ॥११८॥

यहां उत्तम मुनियो के काललब्धि के द्वारा कर्म और आत्मा का जो अत्यन्त पृथग्भाव है वह मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का होता है ॥११९॥ समस्त कर्मों के क्षय का हेतु रूप जो उत्कृष्ट परिणाम है उसे भाव मोक्ष जानना चाहिये। यह भाव मोक्ष कर्ममुक्ति के कारणों को करने वाला है ॥१२०॥ समस्त कर्मरूप शरीर से जिस समय आत्मा पृथक् हो जाता है उसी समय अनन्तगुणों को देने

आपादमस्तकान्तं यथा बद्धो बन्धनैर्दृढैः । मोचनाल्लभते सौख्यं तथा मुक्तो विधेः क्षयात् ।१२२।

तस्मात्कर्मातिगो जीव एरण्डादिकबीजवत् । समयेन व्रजेदूर्ध्वं यावल्लोकाग्रमस्तकम् ।।१२३।।

तत्रैवास्थान्निराबाधः सोऽग्रे गमनवर्जितः । सिद्धो धर्मास्तिकायाभावादनन्तसुखाब्धिग ।।१२४।।

तत्र भुङ्क्ते निराबाधं स्वात्मजं विषयातिगम् । वृद्धिह्रासव्यपेतं स सिद्धः शुद्धो [1]महत्सुखम् ।।१२५।।

दुःखातीतं निरौपम्य शाश्वतं सुखसंभवम् । अनन्तं परमं ह्यन्यद्रव्यानपेक्षमेव हि ।।१२६।।

यद्देवमनुजैः सर्वैः सुखं त्रैलोक्यगोचरम् । भुक्त तस्मादनन्तं तज्जायते परमेष्ठिनाम् ।।१२७।।

एकेन समयेनैव भूषिताना गुणाष्टकैः । नित्यानामशरीराणा सर्वोत्कृष्ट व्ययच्युतम् ।।१२८।।

मालिनी

इति विविधविभङ्गैः सप्ततत्त्वानि मुक्त्यै दृगवगमसुबीजानि प्ररूप्यात्मवान्य ।
परमुदमपि भव्याना चकार स्ववाग्जैरमृतपरमतुल्यैर्मेऽत्र दद्यात्स्वशक्तिम् ।।१२९।।

वाला द्रव्य मोक्ष होता है ।।१२१।। जिस प्रकार पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त सुदृढ़ बंधनो से बंधा हुआ मनुष्य बंधन छूटने से सुख को प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मो के क्षय से मुक्त जीव सुख को प्राप्त होता है ।।१२२।। मोक्ष से कर्मबन्धन रहित जीव एरण्ड आदि के बीज के समान एक समय मात्र में लोकाग्रभाग तक ऊपर की ओर जाता है ।।१२३।। वह मुक्त जीव निराबाधरूप से उसी लोकाग्रभाग में स्थित हो जाता है क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से गमन रहित होता है। मुक्तजीव अनन्त सुखरूपी सागर मे निमग्न रहता है ।।१२४।। वहां वह शुद्ध, सिद्ध परमात्मा, निराबाध, स्वकीय आत्मा से उत्पन्न, विषयातीत, वृद्धि और ह्रास से रहित महान् सुख का उपभोग करते है ।।१२५।। सिद्धों का वह सुख, दुःखों से रहित है, निरुपम है, स्थाई है, आत्मसुख से उत्पन्न है, अनत है, उत्कृष्ट है और परद्रव्य से निरपेक्ष है ।।१२६।। समस्त मनुष्य और देवों के द्वारा तीन लोक सम्बंधी जो सुख आज तक भोगा गया है उस सुख से सिद्ध परमेष्ठी का सुख अनत गुणा होता है ।।१२७।। जो एक ही समय में आठ गुणों से विभूषित है, नित्य है तथा शरीर रहित हैं ऐसे मुक्त जीवों का सुख सर्वोत्कृष्ट तथा विनाश से रहित होता है ।।१२८।

इस प्रकार शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त हुए जिन पार्श्वनाथ भगवान् ने उत्कृष्ट अमृत के तुल्य अपने वचनों से उत्पन्न नाना भङ्गों के द्वारा मुक्ति के लिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उत्तम बीज स्वरूप सात तत्त्वों का निरूपण कर भव्य जीवों को उत्कृष्ट आनंद उत्पन्न किया था वे पार्श्वनाथ जिनेन्द्र इस जगत् में मेरे लिये अपनी शक्ति प्रदान करें ।।१२९।।

१. महान् सुखम् ख० ग० ।

शार्दूलविक्रीडितम्

पार्श्वः सर्वसुखाकरोऽसुखहरो पार्श्वं श्रिता धर्मिणः
पार्श्वेणाशु समाप्यतेऽमरपदं पार्श्वाय मूर्ध्ना नमः ।
पार्श्वान्नास्ति हितङ्करो भवभृता पार्श्वस्य मुक्तिप्रिया
पार्श्वे चित्तमहं दधेऽखिलचिदे मा पार्श्व पार्श्वं नय ॥१३०॥

इति श्रीभट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथचरिते तत्त्वोपदेशवर्णनो नाम विंशतितमः सर्गः ॥२०॥

पार्श्वनाथ भगवान् समस्त सुखों की खान तथा समस्त दुःख हर्ता थे, धर्मात्मा जीव पार्श्वनाथ को प्राप्त हुए थे, पार्श्वनाथ के द्वारा शीघ्र ही अविनाशी पद प्राप्त किया गया था, पार्श्वनाथ के लिये शिर से नमस्कार करता हूँ, पार्श्वनाथ से बढ़कर दूसरा प्राणियों का हित करने वाला नहीं है, पार्श्वनाथ की मुक्ति प्रिया थी, मैं पूर्णज्ञान की प्राप्ति के लिये पार्श्वनाथ में अपना चित्त धारण करता हूँ, हे पार्श्वनाथ ! मुझे अपने समीप ले चलो ॥१३०॥

इस प्रकार श्रीभट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित श्रीपार्श्वनाथचरित में तत्त्वोपदेश का वर्णन करने वाला बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२०॥



एकविंशतितमः सर्गः

धर्मोपदेशदातारं त्रिजगद्भव्यबोधकम् । दिव्यध्वनिसुधापानैर्मूर्ध्ना वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥
अथ प्रागुक्ततत्त्वानि पुण्यपापद्वयेन हि । सार्द्धं नवपदार्थाः स्युर्दृग्ज्ञानशुद्धिकारकाः ॥२॥
मिथ्यात्वपोषणात्सत्त्ववधबन्धनमारणात् । असत्यवचनादन्यश्रीस्त्र्यादिहरणाद्भुवि ॥३॥
उपधेः संग्रहाल्लोभात्पञ्चेन्द्रियप्रसेवनात् । विकथादिप्रदानाच्च बहुभेदात्कषायतः ॥४॥
कौटिल्यमनसो दुष्टवाक्याच्च विक्रियाङ्गतः । सप्तव्यसनतो देवगुरुधर्मादिनिन्दनात् ॥५॥
इत्याद्यन्यदुराचारान्महापापं प्रजायते । विश्वदुःखाकरीभूतं प्रमादिना प्रतिक्षणम् ॥६॥
रोगक्लेशादिबाहुल्यं चान्धत्वं विकलाङ्गता । पंगुत्वं वामनत्वं कुब्जकत्वं च कुजन्मता ॥७॥
दुर्भगत्व हि पापित्वं मूर्खता बुद्धिहीनता । परकिङ्करतातीवकषायित्वं कुरूपता ॥८॥

एकविंशतितम सर्ग

जो धर्मोपदेश के देने वाले थे, और दिव्यध्वनिरूपी अमृत के पान से जो तीन जगत् के भव्य जीवों को प्रबुद्ध करने वाले थे उन जगद्गुरु पार्श्वनाथ को मैं शिर से नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर पहले कहे हुए सात तत्त्व, पुण्य और पाप इन दो के साथ मिल कर नौ पदार्थ होते है। ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की शुद्धि करने वाले है ॥२॥ मिथ्यात्व का पोषण करने से, जीवों के वध बन्धन और मारण से, असत्य वचन से दूसरे की लक्ष्मी तथा स्त्री आदि के अपहरण से, पृथिवी पर परिग्रह का संग्रह करने से, लोभ से, पञ्चेन्द्रियों के सेवन से, विकथा आदि के करने से, नाना प्रकार की कषाय से, कुटिलमन से, दुष्ट वचन से, विकृत शरीर से, सप्तव्यसन से, देव गुरु और धर्म आदि की निन्दा से तथा इन्हीं के समान अन्य दुराचार से प्रमादी जीवों को प्रतिक्षण समस्त दुःखों की खान स्वरूप महान् पाप होता है ॥३–६॥ रोग तथा क्लेश आदि की प्रचुरता, अंधापन, विकलाङ्ग होना, लगड़ा होना, बौना होना, कुबड़ा होना, खोटा जन्म होना, दुर्भग होना, पापी होना, मूर्ख होना, बुद्धि रहित होना, पर का किङ्कर होना, अत्यन्त कषाय से युक्त होना, कुरूप होना, दरिद्र होना, अत्यन्त दीन होना, अल्पायुष्क होना, कुरूप स्त्री का मिलना, शत्रु तुल्य पुत्र और भाइयों का प्राप्त होना, समस्त कुटुम्ब का धर्मघातक, और

दारिद्र्यमतिदीनत्वं स्वल्पजीवित्वमेव हि । कुरूपा कामिनी पुत्राः शत्रुतुल्याश्च बान्धवाः ॥९॥
कुटुम्बं सकलं धर्मघ्नं विश्वाकर्मकारणम् । दुर्गतौ भ्रमणं नीचकुलत्वं ह्ययशो महत् ॥१०॥
इत्याद्यत्रा परं यच्च दृश्यते दुःखदायकम् । पापिनां विद्धि तत्कृत्स्नं पापारिजनितं महत् ॥११॥
यत्किञ्चिद्भुवने निन्द्यं स्वानिष्टं दुःखकारणम् । पापधत्तूरकस्य स्यात्तत्सर्वं कटुकं फलम् ॥१२॥
पापहेतोः परित्यागैः सत्त्वबाधादिटालनैः[1] । हितसत्यवचोभाषणैः परस्त्र्यादिवर्जनैः ॥१३॥
सर्वनार्युपधित्यागैः पञ्चेन्द्रियविनिग्रहैः । प्रयत्नाचरणैः सर्वैः कषायारिनिपातनैः ॥१४॥
धर्मोपदेशकृद्वाक्यैः संवेगांकितमानसैः । स्थिरशान्तवपुर्भिश्च जिनेन्द्रगुरुसेवनैः ॥१५॥
क्षमादिदशधर्माङ्गैर्दृग्ज्ञानाचरणादिभिः । सर्वसत्त्वहिताचारैः [2]सध्यानैर्भावनादिभिः ॥१६॥
इत्याद्यन्यशुभाचारैर्महापुण्यं सतां भुवि । उत्पद्यतेऽनिशं विश्वं विश्वशर्मनिबन्धनम् ॥१७॥
कामिन्यः कमनीयाङ्गाः कामदेवनिभाः सुताः । बान्धवाः प्राणतुल्याश्च भृत्या दक्षा हितंकराः ॥१८॥
सत्पुण्यप्रेरकं सर्वं कुटुम्बं सुखसाधनम् । भोगोपभोगवस्तूनि श्रीधान्यादीन्यनेकशः ॥१९॥

समस्त अकार्यों का करने वाला होना, दुर्गति में भ्रमण करना, नीचकुल में उत्पन्न होना, बहुत भारी अपयश का प्राप्त होना और इन्हें आदि लेकर अन्य जो कुछ भी दुःखदायक सामग्री पापी जीवों के देखी जाती है वह सब महान् सामग्री पापरूपी शत्रु के द्वारा उत्पन्न की हुई जानो ॥७-११॥ संसार में जो कुछ भी निन्दनीय, अपने लिये अनिष्ट तथा दुःख का कारण है वह सब पापरूपी धतूरे का कडुवा फल है ॥१२॥

पाप के कारणों का परित्याग करने से, जीवों की बाधा आदि के दूर करने से, हितकारी सत्य वचन बोलने से, पर स्त्री आदि को छोड़ने से, सब स्त्रियों तथा परिग्रह के त्याग से, पञ्चेन्द्रियों के निग्रह से, प्रयत्न पूर्वक समस्त आचरण करने से, कषायरूपी शत्रु का घात करने से, धर्मोपदेश को करने वाले वचन बोलने से, संवेग से युक्त मन से, स्थिर और शान्त शरीर रखने से, जिनेन्द्र देव और गुरु की सेवा से, क्षमा आदि दशधर्म के अङ्गों से, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि से, सब जीवों का हित करने वाले आचार से, ध्यान सहित भावना आदि से तथा इन्हें आदि लेकर अन्य शुभ क्रियाओं से पृथिवी पर सत्पुरुषों को निरन्तर बहुत भारी पुण्य उत्पन्न होता है। यह पुण्य समस्त सुखों का कारण है ॥१३-१७॥ सुन्दर शरीर की धारक स्त्रियां, कामदेव के समान पुत्र, प्राणों के समान भाई, चतुर और हितकारी सेवक, उत्तम पुण्य कार्यों में प्रेरणा देने वाला सुख का साधन स्वरूप समस्त कुटुम्ब, लक्ष्मी तथा धन धान्यादि भोगोपभोग की अनेक वस्तुएं, एकछत्र राज्य, रोगरहित सुन्दर शरीर, अमृतमयी दिव्यवाणी, पाण्डित्य, निर्मल यश,

1. दूरीकरणैः 2 ध्यानसहितैः

एकच्छत्रांकितं राज्यं रुग्दूरं सुन्दरं वपुः । वाणी सुधामयी दिव्या पाण्डित्यं निर्मलं यशः ।।२०।।
इन्द्रत्वं तीर्थनाथत्वं देवत्वं हृदयं शुभम् । निःकषायित्वमत्यन्तं मान्यत्वं धर्मशीलता ।।२१।।
इत्यादि[1] लभ्यतेऽन्यद्वा वस्तुसारं सुधार्मिकैः । तत्सर्वं विद्धि धीमस्त्व फलं पुण्यतरोर्महत् ।।२२।।
यत्किञ्चिद्दुर्लभं सारं दुराराध्यं जगत्त्रये । सर्वं करतले तच्चायाति पुण्यात्स्वयं सताम् ।।२३।।
इति विश्वपदार्थान् संनिरूप्याखिलतत्त्ववित् । हेयोपादेयमित्याह स आदेयाप्तयेऽङ्गिनाम् ।।२४।।
[2]समस्तासुमता मध्ये पञ्चैव परमेष्ठिनः । जगदर्च्या उपादेया धीमता व्यवहारतः ।।२५।।
अन्तरात्माथवादेय प्रागवस्थास्थयोगिनाम् । साक्षाच्च परमात्मा बहिरात्मानं विहाय वै ।।२६।।
स्वकीय परमात्मा वा निर्विकल्पपदं गतः । सिद्धसादृश्य एवादेयो वीतरागयोगिनाम् ।।२७।।
यद्यप्यजीवतत्त्वोऽत्र विचारसमये चिदे । आदेयोऽपि पुनर्हेयो ध्यानकाले मुनीशिनाम् ।।२८।।
सत्पुण्यास्रवबन्धौ यद्यप्यादेयौ च रागिणाम् । पापस्यापेक्षया हेयौ तथाप्यत्र विरागिणाम् ।।२९।।
साक्षान्मुक्त्यङ्गनाहेतुः सार्द्धं निर्जरयापरः । संवरः सर्वथादेयो मोक्षश्चानन्तशर्मदः ।।३०।।

इन्द्रपद, तीर्थंकर पद, देवत्व, शुभहृदय, अत्यन्त कषाय रहित होना, मान्यता, धर्मशीलता और इन्हें आदि लेकर अन्य जो भी श्रेष्ठ वस्तु धार्मिक जीवों के द्वारा प्राप्त की जाती है उस सबको हे बुद्धिमान् जन हो ! तुम पुण्यरूपी वृक्ष का महान् फल जानो । तीनों जगत् मे जो कुछ भी दुर्लभ, सारभूत तथा कष्ट से आराधना करने योग्य वस्तु होती है वह सब पुण्य से सत्पुरुषों के हस्ततल पर स्वयं आ जाती है ।।१८–२३।। इस प्रकार समस्त तत्त्वों के ज्ञाता भगवान् पार्श्वनाथ सब पदार्थों का अच्छी तरह वर्णन कर प्राणियों को ग्रहण योग्य वस्तुओं की प्राप्ति कराने के लिये हेयोपादेय वस्तुओ का निम्न प्रकार वर्णन करने लगे ।।२४।।

व्यवहारनय से समस्त प्राणियों के बीच जगत्पूज्य पञ्चपरमेष्ठी ही बुद्धिमान् पुरुषो के लिये उपादेय है ।।२५।। अथवा पूर्व अवस्था में स्थित मुनियों के लिये बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा और परमात्मा साक्षात् उपादेय हैं । और वीतराग मुनियों के लिये निर्विकल्प पद को प्राप्त तथा सिद्धो की समानता रखने वाला स्वकीय परमात्मा ही उपादेय है ।।२५–२७।। यद्यपि अजीव तत्त्व विचार के समय ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपादेय भी तथापि ध्यान के समय वह मुनियो के लिये हेय है ।।२८।। यद्यपि रागी मनुष्यों के लिये पाप की अपेक्षा उत्तम पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध उपादेय हैं तथापि विरागी मनुष्यों के लिये यहां हेय है–छोड़ने के योग्य है ।।२९।। निर्जरा के साथ मुक्तिरूपी अङ्गना का साक्षात् हेतु स्वरूप उत्कृष्ट संवर और अनन्त सुख को देने वाला मोक्ष सब प्रकार से उपादेय हैं ।

१ लभते ख० ग० २. अखिलप्राणिनाम् ।

एतेषां विश्वतत्त्वार्थानां श्रद्धानं सुदर्शनम् । व्यवहाराभिध प्राहुर्जिनाः शङ्कादिदूरगम् ।।३१।।
परिज्ञानं पदार्थानां याथातथ्येन यद्भुवि । तज्ज्ञानं व्यवहाराख्यमज्ञानध्वान्तनाशनम् ।३२।।
कृत्स्नाशुभान्निवृत्तिर्या प्रवृत्तिः शुभकर्मणि । त्रयोदशविध वृत्तं तद्भुक्तिमुक्तिकारणम् ।।३३।।
श्रद्धानं क्रियते भव्यै यच्चिन्मूर्तेनिजात्मनः । तत्स्यान्निश्चयसम्यक्त्वं साक्षान्मुक्तिनिबन्धनम् ३४
यत्स्वसंवेदनं स्वात्मध्यानेन परमात्मनः । तज्ज्ञानं निश्चयाभिख्य केवलज्ञानकारणम् ।।३५।।
ध्यानिनां चरणं यद्धि स्वस्वरूपे निजात्मनः । चारित्रं निश्चयाख्यं तत्परमानन्दसागरम् ।।३६।।

भावार्थ—हेयोपादेय तत्त्वों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि व्यवहार नय से जीव तत्त्व में पञ्चपरमेष्ठी उपादेय है शेष हेय है । स्वतत्त्व की अपेक्षा अन्तरात्मा और परमात्मा उपादेय है बहिरात्मा हेय है और वीतराग मनुष्यों की अपेक्षा अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है अन्य हेय है । अजीवतत्त्व ज्ञान की अपेक्षा उपादेय है परन्तु ध्यान के समय हेय है अर्थात् आत्म कल्याण के इच्छुक मनुष्यों को शुद्धात्मतत्त्व का चिन्तन करना चाहिये अजीव का नहीं । रागी मनुष्यों को पापास्रव और पापबन्ध हेय है पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध उपादेय हैं परन्तु वीतरागी—शुद्धोपयोगी मुनियों के लिये दोनों प्रकार के आस्रव और बन्ध हेय है । संवर और अविपाकी निर्जरा मोक्ष के साक्षात् कारण होने से उपादेय ही है हेय नहीं है और लक्ष्यभूत होने से अनन्त सुख को देने वाला उपादेय ही है ।।३०।।

इन समस्त तत्त्वार्थों—अपने अपने यथार्थ स्वरूप से सहित जीवादि पदार्थों के श्रद्धान करने को जिनेन्द्र भगवान् ने व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है । यह व्यवहार सम्यग्दर्शन शङ्का आदि दोषों से रहित होता है ।।३१।। इन्हीं पदार्थों का पृथिवी पर जो यथार्थरूप से जानना है उसे अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते है ।।३२।। समस्त अशुभ कार्यो से निवृत्ति और शुभ कार्यों में जो प्रवृति है वह तेरह प्रकार का चारित्र है । यह चारित्र भुक्ति और मुक्ति का कारण है । भावार्थ—सराग चारित्र के काल में देवायु का बन्ध होता है अतः वह भुक्ति का कारण है । भावार्थ—सराग चारित्र के काल में देवायु वंध होता है अतः वह भुक्ति का कारण है और वीतराग चारित्र से कर्मक्षय होता है अतः वह मुक्ति का कारण है ।।३३।।

भव्य जीवों के द्वारा चैतन्यमूर्ति—ज्ञायक स्वभाव वाले निज आत्मा का जो श्रद्धान किया जाता है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है । यह निश्चय सम्यग्दर्शन मोक्ष का साक्षात् कारण है ।।३४।। स्वात्मध्यान के द्वारा परमात्मा का जो स्वसंवेदन है वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है । यह निश्चय सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का कारण है ।।३५।। ध्यान करने वाले मुनियों का निजात्मा के स्वकीय स्वरूप में जो लीन होना है वह निश्चय सम्यक् चारित्र है । यह निश्चय सम्यक्चारित्र परमानन्द का सागर है—अनन्त सुख से परिपूर्ण है ।।३६।।

निश्चयाख्यमिदं रत्नत्रय तद्भवमोक्षदम् । निरौपम्यसुखाकारं विश्वकल्याणकारकम् ।।३७।।
[1]अगण्यपुण्यसन्ताना[2] जिनेशादिविभूतयः । चाद्यरत्नत्रयेणात्र जायन्ते धीमता पराः ।।३८।।
निश्चयेन सता मोक्षस्तद्भवेऽनन्तशर्मकृत् । उत्पद्यतेऽत्र निःशेषकर्मनाशाद् गुणार्णवः ।।३९।।
ये गता यान्ति यास्यन्ति मुनयोऽत्र शिवालयम् । केवलं ते द्विधासाद्य होद रत्नत्रय बुधा ।।४०।।
अतोऽसौ परमो मोक्षमार्गो रत्नत्रयात्मकः । द्विधाम्नातो जिनाधीशैः शाश्वतो नापर क्वचित् ।
पापिनो व्यसनासक्ता रौद्रध्यानपरायणाः । क्रूरकर्मकराः क्रूरा निर्दयाः सत्त्वघातकाः ।।४२।।
असत्यवादिनोऽन्यस्त्रीलक्ष्मीधान्यादिकाङ्क्षिण. । बह्वारम्भकृतोत्साहा महापरिग्रहान्विताः ।।४३।।
मिथ्यात्वपोषकास्तीव्रकषायिणोऽतिलोभिनः । प्रत्यनीका जिनेन्द्राणा मुनिधर्मादिनिन्दका ।।४४।।
नीचदेवरता मूढाः [3]कृष्णलेश्या मदोद्धताः । ये ते यान्त्यङ्गिनः श्वभ्रं चेत्याद्यन्याघकारिण ४५

यह निश्चय रत्नत्रय उसी भव से मोक्ष को देने वाला है, निरुपम सुख का आह्वान करने वाला है तथा समस्त कल्याणो का करने वाला है ।।३७।। व्यवहार रत्नत्रय से इस जगत् में बुद्धिमान् पुरुषों को असख्य पुण्य की सन्तति तथा तीर्थंकरादि की उत्कृष्ट विभूतिया प्राप्त होती है और निश्चय रत्नत्रय से उसी भव में समस्त कर्मो का नाश हो जाने से अनन्त सुख को करने वाला तथा गुणों का सागर स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।।३८–३९।। जो ज्ञानी मुनिराज आज तक मोक्ष को प्राप्त हुए है अभी प्राप्त हो रहे हैं और आगे प्राप्त होगे वे सब निश्चय से मात्र इसी दो प्रकार के रत्नत्रय को प्राप्त करके ही प्राप्त हुए हैं, हो रहे है और होंगे ।।४०।। इसलिये जिनेन्द्र भगवान् ने इसी उत्कृष्ट तथा स्थाई द्विविध रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को स्वीकृत किया है अन्य को कहीं मोक्षमार्ग नहीं माना है । भावार्थ–न केवल व्यवहार रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है और न केवल निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है किन्तु परस्पर मैत्रीभाव को प्राप्त हुआ द्विविध रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है क्योकि निश्चय से निरपेक्ष व्यवहार रत्नत्रय व्यवहाराभास है और व्यवहार से निरपेक्ष निश्चय रत्नत्रय निश्चयाभास है ।।४१।।

जो जीव पापी है, व्यसनों में आसक्त हैं, रौद्रध्यान में तत्पर रहते है क्रूर कार्यो को करने वाले है, दुष्ट प्रकृति के है, निर्दय हैं, जीवों का घात करने वाले है, असत्यवादी हैं, परस्त्री परलक्ष्मी और परधान्यादि की इच्छा करते हैं, बहुत आरम्भ करने में उत्साह रखते है, बहुत भारी परिग्रह से सहित है, मिथ्यात्व का पोषण करने वाले है, तीव्र कषायी हैं, अत्यन्त लोभी है, जिनेन्द्र के प्रतिकूल है, मुनिधर्म आदि के निन्दक है, नीच देवो की उपासना में लीन है, मूढ–अज्ञानी है, कृष्ण लेश्या वाले हैं, मद से उद्धत हैं तथा इसी प्रकार के अन्य पाप के करने वाले है वे नरकगति को प्राप्त होते है ।।४२–४५।।

१. अगम्य ख० २ सन्तानानि जिनेशादिभूतय ख० ग० घ० ३ कृत्स्न ख० ग० घ० ।

मायाविनोऽत्र ये दुष्टाः परवञ्चनतत्पराः । मिथ्यादृशश्च पैशुन्यकूटकर्मरताः[1] शठाः ।।४६।।
कपोतनीललेश्याढ्या निःशीला धर्मदूरगाः । आर्त्तध्यानपरास्तिर्यग्योनिं ते यान्ति पापिनः ।४७।
आर्त्तरौद्रातिगा दक्षा धर्म्यशुक्लापिताशयाः । जिनभक्ताः सदाचारा व्रतशीलादिभूषिताः ।।४८।।
जितेन्द्रियास्तपोभूषा जिनधर्मपरायणाः । जितक्रोधादिसन्ताना रत्नत्रयविमण्डिताः ।।४६।।
[2]मिथ्याद्रिवज्रतुल्या ये निर्ग्रन्थसेवनोत्सुकाः । निःप्रमादा मदातीताः परनिन्दापराङ्मुखाः ।।५०।
चैत्याद्यन्यशुभकर्माढ्या मुनयः श्रावका भुवि । ते गच्छन्ति यथायोग्यं स्वर्गं शर्माकरं परम् ।५१।।
स्वभावमार्दवोपेताश्चार्जवाढ्याः शुभाशयाः । भद्राः कपोतलेश्या ये मन्दमोहकषायिणः ।।५२।।
स्वल्पारम्भधनाकाङ्क्षिणो व्रजन्त्यत्र देहिनः । नृगतिं ते शुभध्यानाः पुण्यपापवशीकृताः ।।५३।।
शृण्वन्ति परनिन्दादीन् विकथा दुःश्रुतानि च । असत्यदुर्वचोमालाः कूटादीन्यत्र ये शठाः ।।५४।।

जो जीव इस लोक में मायाचारी हैं, दुष्ट हैं, दूसरों को ठगने में तत्पर रहते हैं मिथ्यादृष्टि हैं, चुगल खोरी और कपट के कार्यों में लीन रहते हैं, धूर्त हैं, कापोत और नील लेश्या से युक्त है, शील रहित हैं, धर्म से दूर भागते है, और आर्तध्यान में तत्पर रहते हैं वे पापी जीव तिर्यञ्च योनि को प्राप्त होते हैं ।।४६–४८।।

जो आर्त और रौद्र ध्यान से दूर रहते हैं, कुशल हैं, जिनका मन धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान मे लगा हुआ है, जो जिनेन्द्र भगवान् के भक्त हैं, सदाचारी हैं, व्रत तथा शील आदि से विभूषित है, जितेन्द्रिय हैं, तपरूपी आभूषण से सहित हैं, जिनधर्म की उपासना मे तत्पर रहते हैं, जिन्होने क्रोधादि को सन्तति को जीत लिया है, जो रत्नत्रय से मण्डित हैं, मिथ्यात्वरूपी पर्वत को चूर चूर करने के लिये वज्र के समान हैं, निर्ग्रंथ मुनियों की सेवा करने मे उत्सुक रहते हैं, प्रमादरहित है, मद से दूर हैं, परनिंदा से विमुख हैं, और प्रतिमा निर्माण आदि अन्य शुभ कार्यों से युक्त हैं ऐसे मुनि अथवा श्रावक इस जगत् में यथायोग्य सुख को खान स्वरूप उत्कृष्ट स्वर्ग को प्राप्त होते है ।।४६–५१।।

जो स्वभाव की मृदुता–कोमलता से सहित हैं, आर्जव–निश्छलवृति से युक्त हैं, शुभ अभिप्राय वाले हैं, भद्र हैं, कपोत लेश्या से युक्त हैं, जिनका मोह और कषाय मन्द है, जो अत्यन्त अल्प आरम्भ और अत्यन्त अल्प धन की इच्छा करते हैं, शुभध्यानी है तथा पुण्यपाप-दोनों के वशीभूत हैं वे जीव मनुष्यगति को प्राप्त होते हैं ।।५२–५३।।

जो परनिन्दा, विकथा तथा मिथ्याशास्त्र आदि को सुनते है, असत्य तथा खोटे वचन बोलते हैं, जो अज्ञानी जन इस जगत् मे कपट आदि की बात कहते हैं, और शास्त्रों

[1] [illegible] [2] ...उत्तेन्द्रचन्द्रतुल्या ये निर्ग्रन्थसेवनोत्सुकाः ।
निःप्रमादा मदातीता परनिन्दापराङ्मुखाः ।। ख० ग०

वदन्ति ये श्रुते दोषं श्रुतद्वेषादिहेतुना । अमुत्र वधिराः स्युस्ते ज्ञानावरणकर्मणा ।।५५।।
चोत्सूत्र स्वेच्छया मिथ्याशास्त्राणि कुकथादिकान् । परनिन्दात्मशंसादीन्मृषामर्षादिभाषणान् ।।५६।।
कुर्वन्तो मलमूत्रादीन् भोजनादीन् ब्रुवन्ति ये । मूका स्यु परलोके ते ज्ञानावृतिविधेर्वशात् ।।५७।।
परस्त्रीमुखयोन्यादीन् बन्धोच्चाटनमारणान् । मिथ्यात्वस्थानकादींश्च पापकर्माणि ये मुदा ।५८।
पश्यन्त्यत्र वदन्त्येवाऽदृष्टान् दृष्टान् वृथेर्ष्यया । ते चक्षुर्दृग्विपाकेन भवन्त्यन्धा. सुदु.खिता. ।५९।।
कुतीर्थे गमन चातिभारारोपणमङ्गिनाम् । पादेन ताडनं पापकार्ये गमनमेव ये ।।६०।।
अयत्नव्रजनं व्यर्थं कुर्वन्ति सत्त्ववाधकम् । पङ्गवस्तेभवन्त्यत्र चाङ्गोपाङ्गविधेर्वशात् ।।६१।।
स्वल्पवित्ता हि ये पात्रदानं कुर्वन्त्यनेकधा । जिनचैत्यालयादींश्च देवगुर्वादिपूजनम् ।।६२।।
न्यायेन व्यवसायं च कूटहीनाधिकातिगम् । ते महाधनिन· सन्ति हीहामुत्र शुभोदयात् ।।६३।।
कुर्वते धनगर्वं ये न पात्रे दानपूजनम् । धनिनः कृपणा लक्ष्म्यर्थं कूटाचरणादिकान् ।।६४।।

में द्वेष रखना आदि कारणों से शास्त्रों में दोष बतलाते हे वे परभव में ज्ञानावरण कर्म से बहरे होते है ।।५४–५५।।

जो स्वेच्छानुसार आगमविरुद्ध बोलते है, मिथ्याशास्त्र पढ़ते हैं, विकथा आदि करते हैं, परनिन्दा और आत्मप्रशंसा आदि करते है, असत्य तथा क्रोधादिपूर्ण भाषण करते है तथा मलमूत्रादि और भोजनादि करते हुए बोलते हैं अर्थात् मौन नहीं रखते हैं वे ज्ञानावरण कर्म के वश से परलोक में गूंगे होते है ।।५६–५७।।

जो पुरुष परस्त्रियों के मुख योनि आदि को, बन्ध, उच्चाटन तथा मारण आदि को, मिथ्यात्व के पोषक स्थान आदि को, तथा अन्य पाप कार्य–मैथुन आदि को हर्षपूर्वक देखते है और व्यर्थ ही ईर्ष्या के कारण उनके देखे अनदेखे कार्यों को कहते है वे चक्षुर्दर्शनावरण कर्म के उदय से अत्यंत दुःखी होते हुए अन्धे होते हैं ।।५८–५९।।

जो यहां कुतीर्थ में गमन करते है, प्राणियों पर अधिक भार लादते हैं, उन्हे पैर से ताडित करते है, पाप कार्य मे गमन करते है, तथा जीवो को वाधा पहुँचाने वाला विना देखे निष्प्रयोजन गमन करते हैं वे अङ्गोपाङ्ग नाम कर्म के उदय से परभव में लंगडे होते है ।।६०–६१।।

जो अल्पधनी होकर भी अनेक प्रकार का पात्रदान करते हैं, जिन मन्दिर आदि बनवाते हैं, देव गुरु आदि की पूजा करते हैं, और कपट तथा हीनाधिक तोलने आदि से दूर रहते हुए न्यायपूर्वक व्यापार करते हैं वे पुण्योदय से इसभव तथा परभव मे महाधनी होते हैं ।।६२–६३।। जो धन का गर्व करते हैं, पात्रदान तथा पूजा आदि नहीं करते हैं,

मृषारम्भान् भजन्त्यत्र न तृप्तिं यान्ति सच्छ्रिया । लाभान्तरायकर्मोदयात्स्युस्तेऽतिदरिद्रिणः ॥६५॥
सुजना मन्दरागाश्च स्वस्त्रीसंतोषकारिणः । ईर्ष्यातीव्रकषायादिहीना श्रीजिनपूजकाः ॥६६॥
शुभकर्मकरा येऽत्र ह्यनाचारपराङ्मुखाः । नराः स्युरङ्गिनोऽमुत्र पुंवेदाभिधकर्मणा ॥६७॥
मायाविनोऽतिरागाढ्या अतीवकामिनः शठाः । मैथुनादौ ह्यसतृप्ताः शोकादियुतमानसाः ॥६८॥
पुरुषाः परदाराकाङ्क्षिणो येऽत्रातिमोहिनः । भवन्त्यमुत्रनार्यस्ते स्त्रीवेदविधिपाकतः ॥६९॥
अनङ्गक्रीडनासक्ताश्चातिरागान्धमानसाः । निःशीला लम्पटा वेश्यादासीपश्वादिसेविनः ॥७०॥
अतृप्ताः कामभोगादौ ये नरा. कुधियोऽधमाः । नपुंसकविपाकेन ते जायन्ते नपुंसकाः ॥७१॥
मनोवाक्काययोगेन कृताद्यैश्चातिनिर्दयाः । सत्त्वाना वधबन्धादीन् ये प्राणव्यपरोपणम् ॥७२॥
ह्यङ्गच्छेदनपीडादीन् प्रकुर्युर्विविधान् शठाः । तेऽल्पायुष एवात्र भवन्ति मृत्युपीडिता ॥७३॥
ये मार्दवार्जवोपेताः कृपापूरितमानसाः । प्रयत्नचारिणः सर्वजीवरक्षणतत्पराः ॥७४॥
परपीडातिगा शश्वद्विश्वप्राणिहितकराः । दीर्घायुषोऽत्र ते जायन्ते नृदेवगतौ शुभात् ॥७५॥

धनी होकर कंजूस होते है, लक्ष्मी के लिये कपटपूर्ण आचरण आदि करते है । मिथ्या आरम्भ करते है और उत्तम लक्ष्मी से सतोष को प्राप्त नहीं होते वे लाभान्तराय कर्म के उदय से अत्यन्त दरिद्र होते है ॥६४–६५॥ जो यहां सुजन है, मन्दराग है, अपनी स्त्री में सन्तोष करते है, ईर्ष्या तथा तीव्र कषाय आदि से रहित है, श्री जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करते है, शुभ कार्य करते है और अनाचार से पराङ्मुख रहते है वे परभव में पुंवेद कर्म के उदय से पुरुष होते हैं ॥६६–६७॥ जो पुरुष इस भव में मायाचारी होते है, तीव्रराग से युक्त होते है, अधिक कामी होते है, धूर्त होते है, मैथुन आदि में असंतुष्ट रहते है, मनमें शोक आदि करते है, परस्त्री की इच्छा करते है और अत्यधिक मोही होते है, वे परभव मे स्त्री वेद कर्म के उदय से स्त्री होते है ॥६८–६९॥ दुर्बुद्धि को धारण करने वाले जो नीच मनुष्य अनङ्ग क्रीडा में आसक्त होते है, जिनका मन तीव्र राग से अन्धा होता है, जो शील रहित है, लम्पट है, वेश्या दासी तथा पशु आदि का सेवन करते है तथा कामभोग आदि मे कभी तृप्त नहीं होते है वे नपुंसक वेद के उदय से नपुंसक होते है ॥७०–७१॥ अत्यन्त निर्दयता से युक्त जो मनुष्य इसभव में मन वचन कायरूप योग तथा कृत कारित अनुमोदना से जीवों के वध बन्धन आदि करते है, उनके प्राणों का विघात करते है, अङ्गच्छेदन तथा पीडा पहुंचाना आदि अनेक कार्य करते है वे मूर्ख परभव में मृत्यु से पीडित होते हुए अल्पायुष्क ही होते हैं ॥७२–७३॥ जो पुरुष इसभव में मार्दव और आर्जव धर्म से सहित होते हैं, जिनका मन दया से परिपूर्ण होता है, जो यत्नपूर्वक चलते हैं, सब जीवों की रक्षा करने में तत्पर रहते हैं, पर पीडा से दूर होते हैं, और निरन्तर समस्त प्राणियों का हित करते हैं वे पुण्योदय से मनुष्य तथा देवगति में दीर्घायुष्क होते हैं ॥७४–७५॥

धर्मशीलाः सदाचारा जिनपूजापरायणाः । पात्रदानरता नित्यं व्रतशीलादिमण्डिताः ।।७६।।
संतोषकारिणो येऽत्र निर्जितेन्द्रियचेतस । भोगोपभोगसंपूर्णा. स्यु पुण्यात्सुगतौ च ते ।।७७।।
व्रतशीलदयाहीना दानपूजापराङ्मुखाः । मिथ्यात्ववासिता मूढाः समस्तेन्द्रियलम्पटाः ।७८।
दुराचारा वृषातीताः पापध्यानपराश्च ये । तेऽघपाकेन जायन्ते दीना भोगादिवर्जिताः ।।७९।।
धर्मवन्तो दयायुक्ता महाणुव्रतपालकाः । तपःशीलगुणाढ्याश्च दृग्ज्ञानवृत्तधारिणः ।।८०।।
जिनभक्ताः सदाचारा दानार्चाभावनान्विताः । ये ते सातोदयात्सन्ति महाशर्माब्धिमध्यगाः ।।८१।।
परपीडाकरा धर्मव्रतदानादिवर्जिताः । निःशीला व्यसनासक्ता महारम्भादिकारिणः ।८२
मिथ्याज्ञानकुदेवादिभक्ताश्चेन्द्रियलोलुपा । ये ते दु.खाब्धिमग्नाङ्गा भवन्त्यसातपाकतः ।।८३।।
देवशास्त्रगुरूणा ये ह्याज्ञाविनयशालिनः । शुद्धाशयाः सदाचाराः सिद्धान्तपठनोद्यताः ।।८४।।
मायाचारादिहीनाश्च धार्मिका गुणरागिणः । तेऽतिमेधाविनो ज्ञानावृत्यभावाद्भवन्ति वै ।।८५।।
जिनागमयतीना सद्धर्मादिधर्मिणा च ये । निन्दा कुर्वन्ति शंसा च पापिनां निर्विवेकिनः ।८६।

जो पुरुष इस भव में धर्मशील, सदाचारी, जिन पूजा में तत्पर, पात्रदान में लीन, निरंतर व्रत शील आदि से विभूषित, संतोष करने वाले, तथा इन्द्रिय और मन को जीतने वाले होते है वे पुण्योदय से उत्तम गति में भोगोपभोग से परिपूर्ण होते हैं ।।७६–७७।। जो मनुष्य व्रत शील तथा दया से रहित हैं, दान और पूजा से पराङ्मुख हैं, मिथ्यात्व की वासना से युक्त हैं, मूढ है, समस्त इन्द्रियों के लम्पट है, दुराचारी हैं, धर्म से रहित हैं और पाप के ध्यान में तत्पर है वे पापोदय से दीन तथा भोगादि से रहित होते है ।।७८–७९।। जो धर्म से सहित है, दयायुक्त है, महाव्रत और अणुव्रतों का पालन करते है, तप शील और गुणों से सहित है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के धारक है, जिनभक्त है, सदाचारी है, और दान पूजा तथा भावनाओं से सहित है वे पुण्योदय से महासुखरूपी सागर के मध्यगामी होते है ।।८०–८१।। जो दूसरों को पीडा करते है, धर्म, व्रत तथा दानादि रहित है, निःशील हैं, व्यसनों में आसक्त है, महान् आरम्भ आदि के करने वाले है, मिथ्याज्ञान तथा कुदेवादि के भक्त हैं और इन्द्रियों के लोभी हैं वे असाता वेदनीय के उदय से दुःखरूपी सागर में निमग्न होते है ।।८२–८३।।

जो देव शास्त्र और गुरुओं की आज्ञा तथा विनय से सुशोभित है, शुद्धहृदय हैं, सदाचारी हैं, सिद्धांत ग्रंथो के पढ़ने मे उद्यत रहते हैं, मायाचारादि रहित हैं, धर्मात्मा हैं तथा गुणानुरागी है वे ज्ञानावरण के अभाव से अत्यंत बुद्धिमान् होते हैं ।।८४–८५।। जो जिन देव जिन शास्त्र और मुनियों की, समीचीन धर्म आदि की तथा धर्मात्मा जीवों की निन्दा करते हैं, और पापी जीवों की प्रशंसा करते हैं, विवेक रहित हैं, पुरुषों को कुबुद्धि

पुंसां कुबुद्धिदातारो जिनधर्मपराङ्मुखाः । ते [1]दुर्मेधाविनो मिथ्योदयात्स्युः पापकारिणः ।८७।
कालशुद्धयादिना जैनागमं मुक्त्यै पठन्ति ये । पाठयन्ति विचारज्ञा [2]निःपापाचारणान्विताः ।८८
निःशङ्कादिगुणोपेता धर्मोपदेशतत्पराः । पाण्डित्यमद्भुतं ते च प्राप्नुवन्ति भवे भवे ॥८९॥
दूषणं जिनसूत्रस्य वदन्ति ज्ञानगर्विताः । पठन्ति स्वेच्छया कूटं शास्त्रं विनयदूरगाः ॥९०॥
पाठयन्ति न पाठार्हं तद्गुणाच्छादकाश्च ये । ते ज्ञानावृतिपाकेन महामूर्खा भवन्त्यहो ॥९१॥
निःशीला निर्दया दानव्रतपूजादिवर्जिताः । स्वेच्छाचाररता नानारम्भहिंसादिवर्तिनः ॥९२॥
परपीडाकराः पापकर्मवन्तो वृषातिगाः । ये तेऽसातोदयेनात्र रोगिणः स्युश्चतुर्गतौ ॥९३॥
पशूनां वा नृणां येऽत्र वियोगं कुर्वते शठाः । परस्त्रीधनवस्तून्यपहरन्त्यतिलोभिनः ॥९४॥
अतिशोकाकुला अन्यविघ्नसंतोषकारिणः । ते लभन्ते वियोगांश्च पुत्रदारादिवस्तुषु ॥९५॥
निर्दया येऽङ्गिनो हस्तपादादिच्छेदनं मुदा । भजन्ति परपीडां च नीचकर्मरताः शठाः ॥९६॥

देते हैं और जिनधर्म से पराङ्मुख रहते हैं ऐसे पाप करने वाले जीव मिथ्यात्व के उदय से दुर्बुद्धि होते हैं ॥८६–८७॥ जो मुक्ति के लिये कालशुद्धि आदि का विचार रखते हुए जैनागम को स्वयं पढ़ते हैं तथा दूसरों को पढाते हैं, विचार को जानने वाले हैं, निर्दोष आचरण से सहित हैं, निःशङ्कता आदि गुणों से सहित हैं तथा धर्म का उपदेश देने में तत्पर रहते है वे भवभव में आश्चर्यकारी पाण्डित्य को प्राप्त होते हैं ॥८८–८९॥

जो ज्ञान के गर्व से युक्त हो जिनागम के दोष कहते हैं, अपनी इच्छानुसार कृत्रिम-कल्पित शास्त्रों को पढते हैं, विनय से दूर रहते हैं, पढाने योग्य पाठ को नहीं पढाते हैं तथा गुणी जनों के गुणों का आच्छादन करते हैं वे ज्ञानावरण कर्म के उदय से महामूर्ख होते हैं ॥९०–९१॥ जो शील रहित हैं, दया रहित हैं, दान व्रत और पूजा आदि से रहित हैं स्वेच्छाचार में लीन है, नाना आरम्भ तथा हिंसा आदि में प्रवृत्त है, दूसरों को पीडा करने वाले हैं, पाप कर्मों से युक्त है तथा धर्म का उल्लंघन करने वाले है वे असाता वेदनीय के उदय से चारों गतियों में रोगी होते है ॥ ९२–९३ ॥ जो मूर्ख इस भव में पशुओं और मनुष्यों का वियोग करते है, परस्त्री परधन और पर वस्तुओं का अपहरण करते हैं, अत्यन्त लोभी है, अत्यधिक शोक से युक्त हैं, और दूसरों के विघ्न में संतोष करते है वे पुत्र तथा स्त्री आदि वस्तुओं के वियोग को प्राप्त होते है ॥९४–९५॥

जो निर्दय मनुष्य, हर्षपूर्वक किसी प्राणी के हाथ पैर आदि अङ्गों का छेदन करते हैं, दूसरों को पीडा पहुंचाते है, नीच कार्यों में लीन रहते है, मूर्ख है, अपने अङ्गोपाङ्गों से

१. दुर्बुद्धयः २. नि पापचारणान्विता ब० ।

स्वाङ्गोपाङ्गविकारं च धर्मदूराः कुमार्गगाः। अवाप्नुवन्ति ते पापा विकलाङ्गानि संसृतौ ॥९७॥
मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि श्रेयोऽर्थं वा चरन्ति ये। जैनमार्गबहिर्भूता महामिथ्यात्ववासिताः॥९८॥
नास्तिकाः पापसूत्राढ्या धर्मार्थं सत्त्वहिंसकाः। तीव्राः कषायिणस्तेषामनन्ता भवपद्धतिः ॥९९॥
ये रत्नत्रयभूषाङ्गा जैनमार्गपरायणाः। ध्यानाध्ययनसंसक्ता घोरवीरतपोऽन्विताः॥१००॥
कायक्लेशपराधीना मुनयः स्युर्जितेन्द्रियाः। तेषां कर्मक्षयाद्भूयात्संसारक्षय एव च ॥१०१॥
ये नमन्ति जिनाधीशान्मुनीन्ग्रन्थपरिच्युतान्। भक्त्या धर्मवतो जैनश्रुतादींश्च वृषाप्तये ॥१०२॥
सेवां कुर्वन्ति तेषां च सर्वेषां गुणरञ्जिताः। उच्चैर्गोत्रविपेर्दक्षा उच्चैर्गोत्रं श्रयन्ति ते ॥१०३॥
जिनेन्द्रयतिशास्त्राणां नमस्कारं न कुर्वते। सेवां च विनयं भक्ति येऽधमा गर्विताशयाः ॥१०४॥
नीचदेवरता नीचगुरुधर्मादिसेवकाः। नीचगोत्रवशान्नीचगोत्रं तेषां च जायते ॥१०५॥
कारणानि बुधा दर्शनविशुद्धयादि षोडश। त्रिशुद्धया दृग्विभूषा ये भावयन्ति निरन्तरम् १०६

विकार पूर्ण चेष्टा करते हैं, धर्म से दूर रहते हैं और कुमार्ग में गमन करते हैं वे पापी जीव संसार में विकल अङ्गों को प्राप्त होते हैं ॥९६–९७॥

जो मनुष्य, कल्याण के लिये मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का आचरण करते हैं, जैनमार्ग से बाहर हैं, महामिथ्यात्व की वासना से युक्त हैं, नास्तिक हैं, पापपोषक शास्त्रों से युक्त है, धर्म के लिये जीवों की हिंसा करते हैं, और तीव्र कषाय से युक्त हैं उनकी संसार की पद्धति अनन्त होती है अर्थात् वे अनन्तकाल तक संसार में भ्रमण करते हैं ॥९८–९९॥ जिनके शरीर रत्नत्रयरूप आभूषण से विभूषित हैं, जो जैन मार्ग में तत्पर हैं, ध्यान और अध्ययन में संलग्न रहते हैं, घोर और वीर तप से सहित हैं, कायक्लेश तप के पराधीन हैं, तथा इन्द्रियों को जीतने वाले हैं ऐसे मुनियों के कर्मक्षय होने से संसार का क्षय ही होता है अर्थात् वे नियम से मोक्षगामी होते हैं ॥१००–१०१॥ जो मनुष्य धर्म की प्राप्ति के लिये जिनेन्द्र भगवान्, निर्ग्रन्थ मुनि, धर्मात्मा जीव तथा जैनशास्त्र आदि को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, और गुणों में अनुरक्त होकर उनकी सेवा करते हैं वे चतुर मनुष्य उच्चगोत्र कर्म के उदय से उच्चगोत्र को प्राप्त होते हैं ॥१०२–१०३॥ जो नीच पुरुष अहंकार से युक्त होकर देव गुरु और शास्त्रों को नमस्कार नहीं करते हैं, उनकी सेवा, विनय और भक्ति नहीं करते हैं किन्तु इसके विपरीत नीच देवों में लीन रहते हैं और नीच गुरु तथा नीच धर्मादि की सेवा करते हैं उन्हें नीचगोत्र कर्म के उदय से नीचगोत्र नीच कुल प्राप्त होता है ॥१०४–१०५॥

सम्यग्दर्शनरूपी आभूषण से विभूषित जो ज्ञानी जीव निरन्तर मन वचन काय की शुद्धि पूर्वक दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारणों की भावना करते हैं, वे यहां अनन्त

तीर्थनाथपदं तेऽत्राप्नुवन्त्येव न संशयः । अनन्तमहिमाढ्यं त्रिजगत्क्षोभकारणम् ॥१०७॥
ये चरन्ति तपो घोरं चारित्रं शशिनिर्मलम् । हत्वा विषयसन्तानं ख्यातिपूजाविदूरगाः ॥१०८॥
यतयस्तीव्रसंवेगा ध्यानाध्ययनतत्पराः । अहमिन्द्रविभूतिं ते शर्मखानिं भजन्ति च ॥१०९॥
हत्वा पञ्चाक्षशत्रून्ये दधते चरणं तपः । दुःकरं शासने जैने भव्या निर्जितमानसाः ॥११०॥
देवलोके सुखं भुक्त्वा चक्रनाथा भवन्ति ते । षट्खण्डस्वामिनो रत्ननिधिदेवखगाधिपाः ॥१११॥
निःशङ्कादिगुणोपेतं दर्शनं चन्द्रनिर्मलम् । धर्मकल्पद्रुमस्येव मूलं शुद्धं हि मानसम् ॥११२॥
भवेद्रत्नत्रयं सर्वाङ्गिदया परमा भुवि । परोपकारमत्यन्तमाचारः[1] स्वान्ययोर्हितः ॥११३॥

मालिनी

इति निखिल सुपृच्छापङ्क्तराशेर्विधाय, निरूपमवचनौघैः प्रोत्तरं तीर्थनाथः ।
सकलगणिगणाना यश्चकाराद्भुतं प्र—मुदमसमपदाप्त्यै सोऽस्तु मे संस्तुतोऽत्र ॥११४॥

महिमा से युक्त तथा तीन जगत् के क्षोभ के कारण तीर्थंकर पद को प्राप्त होते ही हैं इसमें संशय नहीं है ॥१०६–१०७॥ जो मुनि विषयों की सन्तति को नष्ट कर प्रसिद्धि तथा पूजा आदि से दूर रहते हुए घोर तप और चन्द्रमा के समान निर्मल चारित्र का आचरण करते हैं, जो अत्यधिक संवेग से युक्त है तथा ध्यान और अध्ययन में तत्पर रहते है वे मुनि सुख की खान स्वरूप अहमिन्द्र की विभूति को प्राप्त होते हैं ॥१०८–१०९॥ मन को जीतने वाले जो भव्यजीव पञ्च इन्द्रियरूपी शत्रुओं को जीत कर जैन शासन में अतिशय कठिन तपश्चरण करते है वे स्वर्ग के सुख भोगकर छह खण्ड के स्वामी, तथा चौदह रत्न नौ निधि देव और विद्याधरों के स्वामी चक्रवर्ती होते हैं ॥११०–१११॥ जो निःशङ्क आदि गुणों से सहित है, चन्द्रमा के समान निर्मल है तथा धर्म रूपी कल्पवृक्ष की जड़ के समान हैं ऐसा सम्यग्दर्शन, शुद्ध हृदय, रत्नत्रय, समस्त प्राणियों पर उत्कृष्ट दया और अत्यधिक परोपकार यह सब स्वपर हितकारी आचार है ॥११२–११३॥

इस प्रकार अनुपम वचनों के समूह से समस्त प्रश्न राशि का भली भांति उत्तर देकर जिन पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने समस्त गणधर और बारह सभाओं को आश्चर्यकारी प्रमोद उत्पन्न किया था वे मेरे द्वारा संस्तुत होते हुए मुझे अनुपम पद की प्राप्ति के लिये हों ॥११४॥

---

1. सचार ख० ।

वसन्ततिलका

य संस्तुतश्च महितः प्रणुतो गणौघै—र्देवो मयापि च मुदं न दधे कदाचित् ।
सन्निन्दितोऽतिकुजनैश्च मनागमर्षं तं संस्तुवे जिनपति वरतद्गुणाय ॥११५॥

इति भट्टारक श्रीसकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे प्रश्नोत्तरनिरूपको नामैकविंशतितमः सर्ग ॥२१॥

जो बारह सभाओं के समूहों तथा मेरे द्वारा संस्तुत, पूजित और नमस्कृत होकर कभी भी हर्ष को धारण नहीं करते थे तथा अत्यन्त दुर्जनों के द्वारा निन्दित होकर रञ्च-मात्र भी क्रोध को धारण नहीं करते थे उन पार्श्व जिनेन्द्र की मैं उनके गुणों की प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रकार से स्तुति करता हूँ ॥११५॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति द्वारा विरचित पार्श्वनाथ चरित में प्रश्नोत्तरों का निरूपण करने वाला इक्कीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२१॥



द्वाविंशतितमः सर्गः

भगवन्तं जगन्नाथं सर्वज्ञं संस्तुवे मुदा । दिव्यध्वनिसुधावृष्ट्या तर्पितत्रिजगज्जनम् ॥१॥
अथ श्वभ्राणि सप्तैव पटलादियुतान्यपि । असंख्यद्वीपवार्द्धींश्च मेर्वादीन् ज्योतिषोऽखिलान् ॥२॥
पटलादियुतान्स्वर्गान्कल्पातीतान् शिवालयम् । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ भोगभूमीतराङ्किते ॥३॥
आयु कायादिभेदौघैर्विस्तरेणाखिलं जगत् । दिव्येन ध्वनिना देवः सोऽभ्यधाद्भव्यतृप्तये[1] ॥४॥
तीर्थेशां चक्रिणां चार्द्धचक्रिणां वलभूभृताम् । सर्वेषां च पुराणानि कल्याणानि सुखान्यपि ॥५॥
तदायुरङ्गवर्णादीन्वार्योत्पत्त्यादिकान्गतीः । विविधाभ्युदयं सर्वं व्याजहार स तीर्थराट् ॥६॥
भविष्यच्चभवद्भूतं यत्सर्वं द्रव्यगोचरम् । लोकालोकं सपर्यायं गणेशं प्रत्यबूबुधत् ॥७॥
श्रुत्वेति [2]तत्त्वसद्भावं चागमं सकलं मुदा । परमाह्लादमाप्पुर्मुक्ता इव विधेर्गणाः ॥८॥
काललब्ध्या तदा केचित् प्रहत्य तद्वचोऽशुभिः । मोहध्वान्तं समासाद्य वैराग्यं सर्ववस्तुषु ॥९॥

जिन्होंने दिव्यध्वनि रूप अमृत की वृष्टि द्वारा तीनों जगत् के जीवों को संतुष्ट कर दिया है, जो जगत् के स्वामी हैं तथा सर्वज्ञ हैं उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं हर्षपूर्वक स्तुति करता हूं ॥१॥

अथानन्तर उन पार्श्वनाथ जिनेन्द्र ने भव्यजीवो की तृप्ति के लिये पटल आदि से युक्त सातो नरक असंख्यात द्वीप समुद्र, मेरु आदि पर्वत, संपूर्ण ज्योतिष्क देव, पटल आदि से सहित स्वर्ग, कल्पातीत विमान—नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पांच अनुत्तर विमान, मोक्ष, भोगभूमि और कर्मभूमि से सहित उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल, इस प्रकार समस्त जगत् का आयु तथा काय आदि के भेद समूहों का निर्देश करते हुए दिव्यध्वनि के द्वारा विस्तार मे कथन किया ॥२–४॥ तीर्थाधिपति भगवान् पार्श्वनाथ ने समस्त तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्ध चक्रवर्ती, और बलभद्रों के पुराण, कल्याणक, सुख, आयु, शरीर के वर्ण आदि का, आर्यों की उत्पत्ति आदि का, गतियों का तथा नाना प्रकार के समस्त अभ्युदयों का वर्णन किया ॥५–६॥ द्रव्य सम्बन्धी जो परिणमन आगे होगा, अभी हो रहा है और पहले हो चुका है उस सबका तथा पर्याय सहित लोकालोक का परिज्ञान गणधर को कराया ॥७॥ इस प्रकार तत्वो के सद्भाव को तथा समस्त आगम को हर्षपूर्वक सुनकर गणधर इस प्रकार परमाह्लाद—उत्कृष्ट आनन्द को प्राप्त हुए मानों कर्मों से मुक्त ही हो गये हों ॥८॥

उस समय काललब्धि से कितने ही भव्य जीवों ने भगवान् की दिव्यध्वनि रूप किरणो के द्वारा मोहान्धकार को नष्ट कर समस्त वस्तुओं में वैराग्य प्राप्त किया तथा

---

१ ...तृप्तये म०ख० २. तत्त्व तद्भाव स० ।

त्यक्त्वा बाह्यान्तर ग्रन्थं भव्या मुक्त्याप्तये द्रुतम् । जगृहुः परमा दीक्षां मुक्तिनारीवशीकराम् ।।१०।।
काश्चिद् भर्त्रा सहादाय महादेव्यः परं तपः । सतीत्वव्रतमापन्ना बभूवू रागदूरगाः ।।११।।
केचिच्च पशवो मर्त्या श्रुत्वा तत्त्वार्थमञ्जसा । अणुव्रतानि सर्वाणि सकलत्रा मुदाददु. ।।१२।।
केचिद्देवा नरस्तिर्यञ्चः काश्चिच्च सुराङ्गनाः । सम्यक्त्वभूषणं चक्रुर्हृदयं शशिनिर्मलम् ।।१३।।
केचिच्च भावना चक्रुः श्रुत्वा तद्ध्वनिमञ्जसा । दानपूजाव्रतादौ हि शक्तिहीनास्तदाप्तये ।।१४।।
अथ ज्योतिष्कदेवोऽसौ पीत्वा तद्वचनामृतम् । मिथ्यावैरविषं सर्वं हत्वानन्तभवोद्भवम् ।।१५।।
प्रणम्य श्रीजगन्नाथं जग्राह शशिनिर्मलम् । सम्यक्त्वं परमं बीजं मुक्तेः शङ्कादिवर्जितम् ।।१६।।
दृष्ट्वाशु तद्विभूतिं च श्रुत्वा तद्ध्वनिमूर्जितम् । प्रबुद्धहृदयोह्यत्य(?) त्यक्त्वा मिथ्यात्वमञ्जसा ।१७।
त्रिःपरीत्य जिनाधीशं नत्वा तत्क्रमपङ्कजौ । भक्त्या स्वकाललब्ध्या तापसास्तद्वनवासिनः १८।
स्वतपःश्रममत्यर्थं व्यर्थं बुद्ध्वाददुर्द्रुतम् । जिनदीक्षा मुदा सप्तशतसंख्याः स्वमुक्तये ।।१९।।

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर मुक्ति प्राप्त करने के लिये शीघ्र ही मुक्तिरूपी नारी को वश करने वाली उत्कृष्ट दीक्षा ग्रहण कर ली ।।९-१०।। कितनी ही रानियां पति के साथ परम तप को अङ्गीकृत कर पातिव्रत्य व्रत को प्राप्त होती हुई राग से दूर हो गयीं अर्थात् अपने पति के साथ उन्होंने भी आर्यिका की दीक्षा ले ली ।।११।। कितने ही तिर्यञ्चों और मनुष्यों ने वास्तविक तत्त्वार्थ को सुनकर अपनी स्त्रियों के साथ हर्षपूर्वक समस्त अणुव्रत ग्रहण किये ।।१२।। कितने ही देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, तथा कितनी ही देवाङ्गनाओं ने चन्द्रमा के समान निर्मल हृदय को सम्यक्त्वरूपी आभूषण से अलंकृत किया ।।१३।। दान पूजा व्रतादि की शक्ति से रहित कितने ही मनुष्यों ने इन सब की प्राप्ति के लिये भली भांति दिव्यध्वनि सुनकर उनकी भावना की ।।१४।।

अथानन्तर कमठ के जीव उस ज्योतिष्क देव ने भगवान् की दिव्यध्वनिरूपी अमृत को पीकर अनन्त भव से उत्पन्न मिथ्या वैररूपी समस्त विष को नष्ट कर दिया तथा जगत् के स्वामी श्री पार्श्व जिनेन्द्र को नमस्कार कर चन्द्रमा के समान निर्मल, शङ्कादि दोषों से रहित मुक्ति के उत्कृष्ट बीज स्वरूप सम्यग्दर्शन को ग्रहण किया ।।१५-१६।। शीघ्र ही भगवान् की विभूति को देखकर तथा उनकी शक्तिशाली दिव्यध्वनि को सुनकर उसका हृदय प्रबुद्ध हो गया जिससे मिथ्यात्व का उसने भली भांति परित्याग कर दिया ।।१७।। जिनेन्द्र भगवान् की तीन प्रदक्षिणाएं दीं तथा उनके चरण कमलों को प्रणाम किया। उस वन में रहने वाले सात सौ तापसियों ने भी स्वकीय काललब्धि से अपने तप के अत्यधिक श्रम को व्यर्थ समझ कर अपनी मुक्ति के लिये भक्ति और हर्षपूर्वक शीघ्र ही जिन

अहो क्व संवरः पापी क्व च सद्दर्शनं भुवि। जटाः क्व तापसा दुष्टाः क्व महान्ति व्रतान्यपि २०
यद्यापि दृग्विशुद्धिं स ते चापुः सुमहाव्रतान्। तत किं नाप्यते भव्यैर्जिनेन्द्रपदसंश्रयात् ॥२१॥
अथासौ श्रीगणाधीशः स्वयम्भ्वाख्यो महर्द्धिकः। महाप्राज्ञः समादाय श्रीजिनादर्थमञ्जसा ॥२२॥
विश्वभव्योपकाराय चकार रचना पराम्। महता द्वादशाङ्गाना नानाभङ्गनयव्रजैः ॥२३॥
द्वादशाङ्गामृताब्धि तमवगाह्य मुनीश्वरा.। जन्ममृत्युजरादाहं जघ्नुस्तत्पाठतत्पराः ॥२४॥
निविष्टेऽथ जगद्भव्ये दिव्यभाषोपसंहृते। सौधर्मेन्द्रो महाप्राज्ञो विधाय करकुड्मलम् ॥२५॥
भक्त्या नत्वोत्तमाङ्गेन तत्पदाब्जौ सुरार्चितौ। प्रारेभे स्तवनं कर्तुं तद्विहारप्रसिद्धये ॥२६॥
स्तोष्ये त्वा त्रिजगद्भर्तोऽप्यनन्तगुणवारिधिम्। पोषक विश्वजन्तूनां सद्धर्मामृतवर्षणैः ॥२७॥
स्वमनोवाक्पवित्रीकरणाय केवल भुवि। मतिप्रकर्षहीनोऽपि भक्तिप्रेरित एव हि ॥२८॥
भवत्पुण्यगुणौघाना या कीर्ति. क्रियते बुधैः। याथातथ्येन सा सर्वा कीर्तिता स्यात्स्तुतिर्जिन ।२६

दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१८–१६॥ आचार्य कहते है कि अहो ! पापी संवर कहां और सम्यग्दर्शन कहां ? पृथिवी पर जटाएं कहां, दुष्ट तापस कहां और महाव्रत कहां ? यदि वह संवर देव सम्यग्दर्शन की विशुद्धता को प्राप्त हो गया और उन तापसियों ने महाव्रत प्राप्त कर लिये तो जिनेन्द्र भगवान् के चरणों के आश्रय से भव्य जीवों द्वारा क्या नहीं प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है ॥२०–२१॥

तदनन्तर महान् ऋद्धियों के धारक तथा महाबुद्धिमान् स्वयंभू नामक गणधर ने श्री जिनेन्द्र देव से भली भांति अर्थ को प्राप्त कर समस्त भव्य जावो के उपकार के लिये नाना भङ्ग और नय समूह से युक्त अत्यन्त विस्तृत द्वादशाङ्गों की उत्कृष्ट रचना की ॥२२–२३॥ उस द्वादशाङ्गरूप अमृत के सागर में अवगाहन कर उसके पठन करने में तत्पर रहने वाले मुनिराजों ने जन्म मृत्यु और जरा की दाह–तपन को नष्ट किया था ॥२४॥

तदनन्तर जब जगद् के भव्यजीव यथा स्थान बैठ गये तथा दिव्यध्वनि की समाप्ति हो गई तब महाबुद्धिमान् सौधर्मेन्द्र ने हाथ जोड़कर उनके देव पूजित चरण कमलों को भक्तिपूर्वक शिर से नमस्कार किया तथा विहार कराने के लिये स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२५–२६॥ हे त्रिलोकीनाथ ! आप अनन्त गुणो के सागर हैं तथा सद्धर्मरूपी अमृत की वर्षा से समस्त जीवो का पोषण करने वाले हैं अतः बुद्धि की अधिकता से रहित होने पर भी मात्र भक्ति से प्रेरित होकर मैं पृथिवी पर केवल अपने मन और वचन को पवित्र करने के लिए आपकी स्तुति करूंगा ॥२७–२८॥ हे जिन ! ज्ञानी जनों के द्वारा आपके पवित्र गुण समूह की जो कीर्ति की जाती है उनका वर्णन किया जाता है वही सब परमार्थ से स्तुति कही गई है ॥२६॥

सिद्धान्तपारगो दक्षो महामतिविशारद. । गुणदोषविचारज्ञ' स्तोतास्य दृष्टिभूषित: ।।३०।।
अनन्तगुणसपन्न: परमेष्ठी जगद्गुरु: । विश्वसत्त्वहितायुक्त: स्तुत्यो दोषातिगो महान् ।३१
अनन्तमहिमारूढ भवत्साहश्यसत्पदम् । प्रभो स्तवनकर्तृणां कीर्तितं स्तुतिजं फलम् ।३२।
बुद्धचादिसकलां प्राप्य सामग्री स्तुतिगोचराम् । किं विशिष्टफलार्थी ते बुधो नाधात्स्तवं प्रभो ।३३
इत्याकलय्य चित्तेन तुष्टूषु' मा फलार्थिनम् । नाथ प्रसन्नया दृष्टया पुनीहि त्वं विरागवान् ।३४।
या देव त्वयि मे भक्ति: परा त्वद्गुणभाषणे । मुखरीकुरुते सा मा नि शङ्का मन्दधीयुतम् ।।३५।।
त्वयि भक्तिर्भृतालपापि महती फलसम्पदम् । फलत्येव न सन्देह' कल्पवल्लीव धीमताम् ।।३६।।
भूषावरायुधत्यागादतिसौम्य वपुस्तव । आचष्टे देहिना धीर सर्वदोषविनिग्रहम् ।।३७।।
निर्भूषमपि कान्त ते प्रभानिर्जितभास्करम् । दिव्यमौदारिकं देहं भवेद्भुवनभूषणम् ।।३८।।
निरम्बरमपीहातिसुन्दर कान्तिसकुलम् । तेऽङ्गं भातीव संपूर्ण बिम्बमिन्दो: परं प्रभो ।३९।

सिद्धान्त के पारगामी, चतुर, महाबुद्धि के धारक विद्वान्, गुण दोष के विचार को जानने वाले तथा सम्यग्दर्शन से विभूषित गणधर इनके स्तोता–स्तुति कर्ता थे और अनन्त गुणों से सहित, परमेष्ठी, जगद्गुरु, समस्त प्राणियों के हित में संलग्न, दोषातीत तथा महान् श्री पार्श्व जिनेन्द्र स्तुत्य–स्तुति के विषय थे ।।३०–३१।। हे प्रभो ! अनन्त महिमा से युक्त आपके समान पद की प्राप्ति होना यह स्तुति करने वाले जीवों को स्तुति से प्राप्त होने वाला फल है ।।३२।। हे प्रभो ! स्तुति से सम्बन्ध रखने वाली बुद्धि आदि समस्त सामग्री को प्राप्त कर विशिष्ट फल का इच्छुक विद्वान् क्या आपकी स्तुति नहीं करेगा ? अवश्य करेगा ।।३३।। हृदय से ऐसा विचार कर फल की इच्छा करता हुआ मैं आपकी स्तुति करना चाहता हूँ । हे नाथ ! यद्यपि आप राग रहित हैं तथापि प्रसन्न दृष्टि से मुझे पवित्र करो ।।३४।। हे देव ! आपमें तथा आपके गुण कथन करने में जो मेरी भक्ति है वही नि:संदेह रूप से मुझ मन्द बुद्धि को मुखरित कर रही है–बोलने के लिये प्रेरित कर रही है ।।३५।। आपके विषय में धारण की हुई भक्ति अल्प होने पर भी कल्पलता के समान बुद्धिमान् मनुष्यों को बहुतभारी फलरूप संपत्ति नियम से फलती है इसमें संदेह नहीं है ।।३६।। हे धीर ! आभूषण तथा उत्कृष्ट शस्त्रों के त्याग से अत्यन्त सौम्य रूपता को प्राप्त हुआ आपका शरीर प्राणियों को बता रहा है कि आपने समस्त दोषों का निग्रह कर लिया है ।।३७।। जो आभूषण रहित होने पर भी सुन्दर है तथा जिसने अपनी प्रभा से सूर्य को जीत लिया है ऐसा आपका दिव्य औदारिक शरीर ससार का आभूषण है ।।३८।। हे प्रभो ! जो वस्त्ररहित होकर भी इस जगत् में अत्यन्त सुन्दर है तथा कान्ति से परिपूर्ण है ऐसा आपका शरीर संपूर्ण उत्कृष्ट चन्द्र बिम्ब के समान सुशोभित हो रहा है ।।३९।।

नीर्येश तव वक्त्राब्जं प्रक्षरद्वचनामृतम् । जगता प्रीणक प्राभाद्धर्मस्येव निधानकम् ।।४०।।
मोहान्धकूपमपातादुद्धतुं त्व क्षमोऽङ्गिनाम् । निःकारणजगद्बन्धुस्त्व देव विश्वनायक: ।।४१।।
अज्ञानध्वान्तहन्ता त्वं केवलावगमाशुभि. । लोकालोकाखिलार्थानां दीपस्त्वं द्योतको जिन ।४२
तव भामण्डल नाथ हन्ति वाह्यं तमो नृणाम् । अन्तरङ्ग च दिव्यध्वनि: सर्वार्थप्रकाशक: ।।४३।।
तव नेत्रोत्पलेऽतीवसौम्ये दिव्ये गतभ्रमे । अताम्रे वदत: पुंसां कोपारिविजयं प्रभो ।।४४।।
जितेन्दुविम्वमत्यन्तमुन्दर ते मुखाम्बुजम् । आत्यन्तिकी मन.शुद्धि ब्रूते विकारवर्जनात् ।४५।।
मेरोर्यथाचलो नान्यो महान् कल्पद्रुमाद् द्रुम: । मणिश्चिन्तामणेर्धर्मश्चाङ्गिरक्षणात: क्वचित् ।४६
तथा न त्रिजगन्नाथ त्वत्तो देवोऽपरोऽद्भुत: । जातु नास्ति न भूतो न भविष्यति जगत्त्रये ।।४७।।
अतस्त्वां स्वमुदेडे नाम्नाष्टोत्तरशतेन हि । अष्टाधिकसहस्रेण नाम्ना देव विभूषित: ।।४८।।
श्रीमान्निर्ग्रन्थराट् स्वामी [1]गणेशो विश्वनायक: । स्वयंभूर्वृषभो भर्त्ता विश्वात्माप्यपुनर्भव ।।४६।।

हे तीर्थराज ! जिससे वचनरूप अमृत झर रहा है तथा जो समस्त जगत् को संतुष्ट करने वाला है ऐसा आपका मुख कमल धर्म के खजाना के समान सुशोभित हो रहा है ।।४०।। हे देव ! आप मोहरूपी अन्ध कूप के पतन से प्राणियों का उद्धार करने के लिये समर्थ हैं इसलिये आप जगत् के अकारण वन्धु तथा विश्व के नायक हैं ।।४१।। हे जिन ! आप केवलज्ञान रूप किरणों के द्वारा अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने वाले हैं तथा लोकालोक के समस्त पदार्थों के प्रकाशक होने से दीपरूप हैं ।।४२।।

हे नाथ ! आपका भामण्डल मनुष्यों के वाह्य अन्धकार को नष्ट करता है और समस्त अर्थों को प्रकाशित करने वाली दिव्यध्वनि अन्तरङ्ग अन्धकार को नष्ट करती है ।।४३।। हे प्रभो ! जो अत्यन्त सौम्य हैं, दिव्य हैं, भ्रम से रहित है तथा लालिमा से शून्य हैं ऐसे आपके नेत्र कमल पुरुषों को बतला रहे हैं कि आपने क्रोधरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली है ।।४४।। जिसने चन्द्र विम्ब को जीत लिया है, तथा जो अत्यन्त सुन्दर है ऐसा आपका मुख कमल विकार रहित होने से मन की आत्यन्तिक शुद्धि को कह रहा है ।।४५।। जिस प्रकार मेरु से बढ़कर अन्य पर्वत बडा नहीं है, कल्पवृक्ष से बढ़कर दूसरा महान् वृक्ष नहीं है, और चिन्तामणि से बढकर दूसरा महान् मणि नही है और जीव रक्षा से बढ़कर कहीं दूसरा धर्म नहीं है उसी प्रकार हे त्रिजगन्नाथ ! आप से बढकर दूसरा आश्चर्यकारी देव तीनों जगत् मे न कभी है न कभी हुआ है और न कभी होगा ।।४६–४७।। इसलिये एक सौ आठ नामों के द्वारा स्वकीय हर्षपूर्वक आपकी स्तुति करता हूँ । वैसे हे देव ! आप एक हजार आठ नामों से विभूषित हैं ।।४८।।

हे भगवन् ! आप अनन्त चतुष्टयरूप अन्तरङ्ग और अष्ट प्रातिहार्य वहिरङ्ग लक्ष्मी से सहित हैं इसलिये श्रीमान् हैं १. आप अन्तरङ्ग वहिरङ्ग परिग्रह से रहित दिगम्वर मुद्रा-

[1] [illegible]

सर्वदर्शी जगन्नाथो धर्मात्मा धर्मबान्धवः । धर्ममूर्तिर्महाधर्मकर्ता धर्मप्रदो विभुः ॥५०॥
अमूर्तोऽत्यन्तपुण्यात्माप्यनन्तोऽनन्तशक्तिमान् । शरण्यो विश्वलोकेशो दयामूर्तिर्महाव्रती ॥५१॥
वाग्मी चतुर्मुखो ब्रह्मा निःकर्मा निर्जितेन्द्रियः । मारजिज्जितमिथ्यात्व कर्मघ्नोऽपि यमान्तकः ।५२
दिगम्बरो जगद्व्यापी भव्यबन्धुर्जगद्गुरुः । कामदः कामहन्ता सुन्दरोऽप्यानन्ददायकः ॥५३॥
जिनेन्द्रो जिनराड् विष्णुः परमेष्ठी पुरातनः । ज्ञानज्योतिश्च पूतात्मा महान् सूक्ष्मो जगत्पतिः।५४

धारी मुनियों के स्वामी होने से निर्ग्रन्थराट् हैं २. स्व-ज्ञानादिगुणरूप धन से युक्त होने के कारण स्वामी है ३. द्वादशसभारूप गणों के अधिपति होने से गणेश है ४. सबके स्वामी होने से विश्वनायक हैं ५. अपने स्वयं के पुरुषार्थ से अरहन्त अवस्था को प्राप्त हुए हैं इसलिये स्वयंभू है ६. वृष-धर्म से सुशोभित होने से वृषभ है ७. हितोपदेश के द्वारा समस्त जीवों का पोषण करते है अथवा अनन्त गुणों को धारण करते हैं इसलिये भर्ता है ८. विश्व-समस्त पदार्थ आपकी आत्मा में प्रतिबिम्बित है इसलिये आप विश्वात्मा है ९. आप पुनर्जन्म से रहित है अर्थात् अब आपको जन्म धारण नहीं करना है इसलिये आप अपुनर्भव है १०. समस्त पदार्थो को देखते है इसलिये सर्वदर्शी है ११. तीनों जगत् के स्वामी हैं इसलिये जगन्नाथ हैं १२. धर्म ही आपकी आत्मा है अतः आप धर्मात्मा है १३. आप सब के हितकारी हैं अतः धर्मबान्धव है १४. धर्म की मूर्तिस्वरूप होने से धर्ममूर्ति हैं १५. महान् धर्म के करने वाले होने से महाधर्मकर्ता हैं १६. धर्म के देने वाले होने से धर्मप्रद हैं १७. विशिष्ट ऐश्वर्य से सहित होने के कारण विभु हैं १८. स्पर्श रस गन्ध और वर्णरूप मूर्ति से रहित होने के कारण अमूर्त है १९. अत्यन्त पुण्यरूप होने से अत्यन्तपुण्यात्मा हैं २०. अन्त विनाश से रहित होने के कारण अनन्त हैं २१. अनन्त शक्ति-वीर्य से सहित होने से अनन्तशक्तिमान् हैं २२. शरण देने में निपुण होने से शरण्य हैं २३. समस्त लोक के स्वामी होने से विश्वलोकेश हैं २४. दयास्वरूप होने से दयामूर्ति हैं २५. महाव्रतों से युक्त होने के कारण महाव्रती है २६. प्रशस्त वचनों से सहित हैं अतः वाग्मी हैं २७. समवसरण में चारों ओर से आपका मुख दिखाई देता है इसलिये आप चतुर्मुख हैं २८. स्वकीय गुणों की वृद्धि करने से ब्रह्मा हैं २९. कर्मों से रहित हैं अतः निष्कर्मा हैं ३०. आपने संपूर्णरूप से इन्द्रियों को जीत लिया है इसलिये निर्जितेन्द्रिय हैं ३१. मार-काम को जीत लेने से मारजित हैं ३२. मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त कर लेने से जितमिथ्यात्व हैं ३३. घातिया कर्मों को नष्ट कर चुके हैं अतः कर्मघ्न हैं ३४. यम-मृत्यु का अन्त करने वाले हैं इसलिये यमान्तक हैं ३५.

धर्मचक्री प्रशान्तात्मा निर्लेपो निष्कलोऽमरः । सिद्धो बुद्ध प्रसिद्धात्मा श्रीपतिः पुरुषोत्तम ॥५५॥
दिव्यभाषापतिर्दिव्योऽप्यच्युत परमेश्वरः । महातपा महातेजा महाध्यानी निरञ्जनः ॥५६॥
तीर्थकर्ता विचारज्ञो विवेकी शीलभूषणः । अनन्तमहिमा दक्षो निर्भूषो विगतायुधः ॥५७॥

दिशा ही आपके वस्त्र हैं अर्थात् आप निर्विकार नग्न मुद्रा के धारक हैं अतः दिगम्बर हैं ३६. समस्त जगत् के ज्ञायक होने से जगद्व्यापी हैं ३७. भव्य जीवों के हितकारी होने से भव्यबन्धु हैं ३८. जगत् के गुरु हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं अतः जगद्गुरु हैं ३९. काम—मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं अतः कामद कहलाते हैं ४०. काम की बाधा को नष्ट करने वाले हैं अतः कामहन्ता कहे जाते हैं ४१. अत्यन्त मनोहर हैं इसलिये सुन्दर हैं ४२. आनंद को देने वाले होने से आनंददायक हैं ४३. जिनों—अरहंतों में श्रेष्ठ हैं अतः जिनेंद्र हैं ४४. जिनों के स्वामी होने से जिनराट् हैं ४५. ज्ञान की अपेक्षा सर्वत्र व्यापक होने से विष्णु हैं ४६. परमपद में स्थित होनें से परमेष्ठी हैं ४७. अनादिकाल से ज्ञानस्वभाव होने के कारण पुरातन हैं ४८. ज्ञान ही आपकी ज्योति होने से ज्ञानज्योति कहलाते हैं ४९. आपकी आत्मा पूत—पवित्र है अतः पूतात्मा कहे जाते हैं ५०. सब से श्रेष्ठ हैं अतः महान् हैं ५१. इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं हैं अतः सूक्ष्म हैं ५२. जगत् के स्वामी हैं इसलिये जगत्पति कहलाते हैं ५३. धर्मचक्र के प्रवर्तक हैं इसलिये धर्मचक्री कहे जाते हैं ५४. आपकी आत्मा अत्यन्त शान्त है इसलिये प्रशान्तात्मा हैं ५५. कर्मरूपी लेप से रहित होने के कारण निर्लेप हैं ५६. द्रव्य स्वभाव की अपेक्षा कल—शरीर से होने के कारण निष्कल हैं ५७. मृत्यु से रहित होने से अमर हैं ५८. शुद्ध स्वभाव की उपलब्धि होने से सिद्ध हैं ५९. केवलज्ञान से युक्त होने के कारण बुद्ध हैं ६०. प्रसिद्ध आत्मा से सहित होने के कारण प्रसिद्धात्मा हैं ६१. अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग लक्ष्मी के स्वामी होने से श्रीपति हैं ६२. पुरुषों में उत्तम—श्रेष्ठ होने से पुरुषोत्तम हैं ६३. दिव्यभाषा-निरक्षरी तथा सर्वभाषा स्वरूप परिणत होने वाली दिव्यध्वनि के स्वामी होने से दिव्यभाषापति हैं ६४. स्वयं सुन्दर होने से दिव्य हैं ६५. स्वकीयस्वभाव से कभी च्युत नहीं होते इसलिये अच्युत हैं ६६. परम ऐश्वर्य—शत इन्द्रों को नम्रीभूत करने वाले ऐश्वर्य से सहित होने के कारण परमेश्वर हैं ६७. महान् तपस्वी होने से महातपा हैं ६८. महान् तेजस्वी से होने महातेजा हैं ६९. महान् ध्यानी होने से महाध्यानी हैं ७०. कर्मरूपी अञ्जन से रहित होने के कारण निरञ्जन हैं ७१. तीर्थ—धर्माम्नाय के करने वाले

सर्वज्ञः सर्वदृक् [illegible]ात्मा जिनाग्रणी । मन्त्रमूर्तिर्महादेवो देवदेवोऽतिनिर्मल· ।।५८।।
कृतकृत्योऽति[illegible]ब्रह्मा महागुणी । दिव्यदेहो महारूपो नित्यो मृत्युञ्जय कृती । ५९।।
यमी यत[illegible]. स्रष्टा स्तुत्य. पूतोऽमरार्चितः । विद्येशो नि क्रियो धर्मी जातरूपो विदांवर ।।६०।
एतेषामपि मध्ये यो नाम्नैकेन विभो तव । करोति स्तवन सोऽपि लभते त्रिजगच्छ्रियम् ।।६१।।
समस्तैर्नामभिर्यस्त्वा सार्थं स्तौति जिनाधिप । सद्दृष्टि. सोऽचिरात् किं न जायते भवता सम ।६२
अतो देव नमस्तुभ्य नमस्ते ज्ञानमूर्तये । जगद्धिताय तीर्थेश नमस्तेऽनन्तशर्मणे ।।६३।।

होने से तीर्थंकर्ता है ७२. विचार के ज्ञाता होने से विचारज्ञ है ७३. भेद विज्ञानी होने से विवेकी है ७४. शील ही आपका भूषण है अतः शीलभूषण है ७५. अनन्त महिमा से सहित हैं अतः अनन्तमहिमा हैं ७६. कुशल अथवा समर्थ होने से दक्ष है ७७. आभूषणों से रहित हैं अतः निर्भूष है ७८. आयुध–शस्त्रों से रहित है अतः विगतायुध है ७९. सबको जानने से सर्वज्ञ हैं ८०. सर्वदर्शी होने से सर्वदृक् हैं ८१. सबका हितकरने वाले है इसलिये सार्व हैं ८२. आपकी आत्मा अत्यन्त सौम्य हैं इसलिये सुसौम्यात्मा हैं ८३. जिनों में अग्रणी हैं अतः जिनाग्रणी कहलाते है ८४. मन्त्रों की मूर्तिरूप होने से मंत्रमूर्ति कहलाते है ८५. सब देवों मे महान् श्रेष्ठ हैं अतः महादेव कहे जाते है ८६. देवो के देव होने से देवदेव हैं ८७. अत्यन्त स्वच्छ हृदय होने से अतिनिर्मल है ८८. आप सब कार्य कर चुके हैं अतः कृतकृत्य कहलाते है ८९. दोषों से सर्वथा रहित होने से अतिनिर्दोष हैं ९०. परब्रह्मरूप होने से परब्रह्म हैं ९१. महान् गुणों से सहित होने के कारण महागुणी है ९२. दिव्य–परमौदारिक शरीर से सहित होने के कारण दिव्यदेह हैं ९३. महान् रूपवान् होने से महारूप हैं ९४. स्वभावदृष्टि की अपेक्षा कभी नष्ट न होने से नित्य है ९५. मृत्यु को जीत लिया है इसलिये मृत्युञ्जय कहलाते है ९६. सब कार्य कर चुके है अतः कृती है ९७. यम–सयम से सहित है इसलिये यमी कहलाते है ९८. यतियों–मुनियों के स्वामी है अतः यतीश्वर हैं ९९. सृष्टि–षट्कर्मरूप सृष्टि के उपदेष्टा होने से स्रष्टा हैं १००. स्तुति के योग्य होने से स्तुत्य हैं १०१. पवित्र होने से पूत है १०२. देवों के द्वारा पूजित होने से अमरार्चित है १०३. समस्त विद्याओं के स्वामी है अतः विद्येश कहलाते है १०४. क्रिया से रहित हैं इसलिये निःक्रिय है १०५. धर्म से सहित है अतः धर्मी है १०६. सद्योजात बालक के समान निर्विकार रूप को धारण करने वाले हैं अतः जातरूप है १०७. और ज्ञानियों में श्रेष्ठ है अतः विदांवर है १०८ । हे विभो! इन नामों के मध्य में एक नाम से भी जो आपकी स्तुति करता है वह तीन जगत् की लक्ष्मी

नमस्ते वीतमोहाय नमस्ते बन्धवे सताम् । नमस्ते विश्वनाथा[illegible] श्रीपतिः पुण्ये ॥६४॥
जितेन्द्रिय नमस्तुभ्य चानन्तगुणशालिने । शरण्याय नमस्तुभ्य व[illegible] निरञ्ज[illegible] ॥६५॥
स्तुत्वा नत्वेति तीर्थेशं सौधर्मेन्द्रोऽतिपुण्यधी: । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावन[illegible] ॥६६॥
भगवन् भव्यसस्याना मिथ्यानावृष्टिशोषिणाम् । धर्मामृतप्रसेकेन तर्पय त्व सुमेघवद् ॥६७॥
भव्यसार्थाधिप स्वामिस्त्व विश्वोद्धरणक्षम: । धर्मचक्रमिद सज्ज त्वज्जयोद्योगसाधनम् ॥६८॥
मोहारिपृतनां देव निर्धूय मार्गरोधिनीम् । उपदेष्टुं हि सन्मार्गं ते कालोऽयमुपस्थित. ॥६९॥
तद्विहारमिति प्रार्थ्य स्तुत्वा नत्वा मुहुर्मुहु । विश्वसत्त्वहितायासौ शक्रोऽभूद्धर्मसाह्यकृत् ॥७०॥
विश्वभव्यहितोद्युक्त स्वयबुद्धोऽखिलार्थवित् । जनाब्जानुग्रह कर्तुं मृत्तस्थेऽथ जिनांशुमान् ॥७१॥

को प्राप्त होता है फिर हे जिनेन्द्र ! जो समस्त सार्थक नामों से आपकी स्तुति करता है वह सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही क्या आपके समान नहीं हो जाता ? अर्थात् अवश्य हो जाता है ॥४९–६३॥ इसलिये हे देव ! आपको नमस्कार हो । आप ज्ञान की मूर्तिस्वरूप हैं अतः आपको नमस्कार हो । हे तीर्थपते ! आप जगत् के हितकारी तथा अनन्त सुख से संपन्न हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६४॥ आप मोह रहित हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप सत्पुरुषों के बन्धु स्वरूप हैं अतः आपको नमस्कार हो । आप सब लोगों के स्वामी हैं अतः आपको नमस्कार हो और कर्मों के शत्रु हैं अतः आपको नमस्कार हो ॥६५॥ हे जितेन्द्रिय! आपको नमस्कार हो । हे अनंत गुणों से सुशोभित ! आपको नमस्कार हो । सब को शरण देने वाले तथा धर्मतीर्थ के प्रवर्ताने वाले आपको नमस्कार हो ॥६६॥ इस प्रकार अत्यंत पवित्र बुद्धि के धारक सौधर्मेन्द्र ने तीर्थपति श्री पार्श्वनाथ जिनेंद्र की स्तुति कर उन्हें नमस्कार किया पश्चात् तीर्थ विहार की यह प्रार्थना की ॥६७॥

हे भगवन् ! आप उत्तम मेघ के समान मिथ्यात्वरूपी अनावृष्टि से सूखते हुए भव्य जीवरूपी धान्य को धर्मरूपी जल के सेचन से संतुष्ट कीजिये ॥६८॥ हे भव्यसमूह के अधिपति स्वामिन् ! आप विश्व का उद्धार करने में समर्थ है, आपकी विजय सम्बन्धी उद्योग का साधन स्वरूप यह धर्मचक्र तैयार है ॥६९॥ हे देव ! मोक्षमार्ग को रोकने वाली मोह शत्रु की सेना को नष्ट कर समीचीन मार्ग के उपदेश देने का आपका यह समय उपस्थित हुआ है ॥६९॥ अतः समस्त प्राणियों के हित के लिए विहार कीजिए इस प्रकार प्रार्थना कर स्तुति कर तथा बार बार नमस्कार कर सौधर्मेन्द्र धर्म का सहायक हुआ अर्थात् धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति में प्रेरक कारण हुआ ॥७०॥

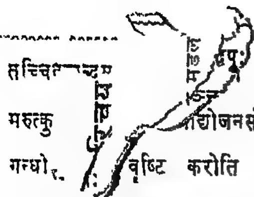
तदनन्तर समस्त भव्य जीवों का हित करने में तत्पर, स्वयंबुद्ध और समस्त पदार्थों के ज्ञाता पार्श्व जिनेन्द्र रूपी सूर्य जनता रूपी कमल का उपकार करने के लिए

प्रध्वनद्ध्वानि [redacted]च्छत्रत्रयाङ्कितः । देवदुन्दुभिसयुक्तो भानुकोटयधिकप्रभः ॥७२॥
दिव्य [redacted]शोकतरुशोभितः । पुष्पवृष्टिसमाकीर्णः सितचामरवीजित ॥७३॥
द्विषड् [redacted]च्यः समवसृत्यादिभूषित । प्रचक्रे विजयोद्योग धर्मचक्राधिपो जिनः ॥७४॥
जयेत्युच्चैर्गिरा देवा घोषमाणाः खमण्डलम् । दिशा मुखानि तेजोभिर्द्योनयन्त प्रतस्थिरे ॥७५॥
प्रतस्थे भगवानित्थमनुयात खगामरैः । अनिच्छापूर्विका वृत्तिमास्कन्दन्निव भानुमान् ॥७६॥
शतयोजनमान सुभिक्षं सर्वासु दिक्षु हि । प्रत्येक जायते तस्यास्थानाद् घातिविनाशिन ॥७७॥
विश्वसबोधनायेवास्पृशन् देवो महीतलम् । व्रजत्येव नभोभागे भव्याङ्ग्युद्धरणोद्यत ॥७८॥
सिहादिक्रूरसत्त्वौघैर्हन्यन्ते जातु नाङ्गिन । तत्प्रशामप्रभावेण वैरिभि श्रीजिनान्तिके ॥७९॥
अनन्तसुखतृप्तस्य वीतरागस्य सत्पते । अस्यास्ति कवलाहारं न जातु मोहव्ययत्ययात् ॥८०॥
देवस्यानन्तशक्तेर्निर्जितदुर्घातिकर्मणः । नोपसर्गा हि केचिच्च भवन्ति जातु नेतय ॥८१॥

उठे ॥७१॥ जो गरजती हुई दिव्य ध्वनि से गम्भीर थे, श्वेत छत्रत्रय से सहित थे, देव-दुन्दुभियों से युक्त थे, जिनका भामण्डल करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रभा वाला था, जो दिव्य सिंहासन पर आरूढ थे, अशोक वृक्ष से सुशोभित थे, पुष्प वर्षा से व्याप्त थे, जिन पर सफेद चामर ढोले जा रहे थे, जो बारह सभाओं से सहित थे, समवसरण आदि से विभूषित थे तथा धर्मचक्र के स्वामी थे ऐसे श्री पार्श्व जिनेन्द्र ने विजय का उद्योग किया अर्थात् वे विहार के लिए उद्यत हुए ॥७१–७४॥ 'जय जय' इस प्रकार की उच्चवाणी के द्वारा जो गगन मण्डल को गुंजित कर रहे थे तथा अपने तेज से जो दिशाओ के अग्र-भाग को प्रकाशित कर रहे थे ऐसे देव लोग भगवान् के साथ प्रस्थान कर रहे थे। ७५॥ इस प्रकार देव और विद्याधर जिनके पीछे पीछे चल रहे थे तथा जो अनिच्छा पूर्वक वृत्ति को प्राप्त थे—इच्छा पूर्वक जो विहार नहीं कर रहे थे ऐसे भगवान् पार्श्वनाथ ने सूर्य के समान प्रस्थान किया ॥ ७६ ॥ घातिया कर्मों का क्षय करने वाले भगवान् जहां विराजमान थे वहां से सौ योजन तक सब दिशाओं मे सुभिक्ष रहता था ॥७७॥ भव्य जीवों का उद्धार करने में तत्पर हुए श्री पार्श्व जिनेन्द्र सबको संबोधित करने के लिए ही मानों पृथिवीतल का स्पर्श न करते हुए आकाश मे ही विहार करते थे ॥७८॥ श्री जिनेन्द्र के समीप उनकी लोकोत्तर शान्ति के प्रभाव से वैरयुक्त सिंह आदिक दुष्ट जीवों के समूह द्वारा कभी कोई जीव नही मारे जाते थे ॥७९॥ अनन्त सुख से संतुष्ट, वीतराग तथा सत्पुरुषों के स्वामी इन पार्श्व जिनेन्द्र के मोह का अभाव हो जाने से कभी भी कवलाहार नहीं होता था ॥८०॥ अनन्त बल से सहित तथा दुष्ट घातिया कर्मों को जीतने वाले भगवान् के समीप न कभी कोई उपसर्ग होते थे और न अतिवृष्टि

चतुर्दिक्षु जिनस्यास्य प्रक्षरद्वचनामृतम् । दृश्यते भव्यसंघौघै[illegible] श्रीपतिः पुरुर्[illegible]म् ॥८२॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखात्मनोऽस्य संभवेत् । स्वामित्व सर्वविद्याना दी[illegible]नी निर[illegible] ॥८३॥
दिव्यौदारिकदेहस्थस्यास्य जातु न जायते । छाया स्वल्पापि माहात्म्यात् त्रिछत्रा[illegible] ॥८४
केवलज्ञाननेत्रस्य नष्टे घातिचतुष्टये । निमेषो न क्वचित्स्यात्सद्भद्रयोर्नयनाब्ज[illegible] ॥८५॥
घातिकर्मविनाशेन जिनेन्द्रस्यास्य जायते । न वृद्धिर्नखकेशानां मनाग् दिव्याङ्गधारिणः ॥८६॥
एतेऽत्रातिशया दिव्या घातिकर्मक्षयोद्भवाः । अनन्यविषया अस्य भवन्ति परमा दश ॥८७॥
अर्द्धमागधिकाकारा भाषा परिणता विभोः । पशूना बहुभव्यानां सर्वसंदेहनाशिनी ॥८८॥
मृगसिंहादिमर्त्यानां जातिकारणवैरिणाम् । जायते परमा मैत्री तन्माहात्म्याज्जिनान्तिके ॥८९॥
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्या भवन्ति तरवोऽखिलाः । देवातिशयमाहात्म्यान्निकटे श्रीजगद्गुरोः ॥९०॥
परितो जिनदेवस्य दिव्या रत्नमयी मही । आदर्शसन्निभा संस्यात्सर्वोपद्रववर्जिता ॥९१॥
सुगन्धिशिशिरो वातकुमारोद्भव एव हि । व्रजन्तं तं जगन्नाथमनुव्रजति मारुतः ॥९२॥

अनावृष्टि आदि ईतियां ही प्रकट होती थीं ॥८१॥ जिनसे दिव्यध्वनि रूपी अमृत झर रहा है ऐसे भगवान् के सुन्दर चार मुख भव्य समूहों के द्वारा चारों दिशाओं में दिखाई दे रहे थे ॥८२॥ अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य स्वरूप इन भगवान् के तीनो जगत् को प्रकाशित करने के लिए दीपिका स्वरूप समस्त विद्याओं का स्वामित्व प्रकट हुआ था ॥८३॥ दिव्य परमौदारिक शरीर में स्थित तथा छत्रत्रय से सुशोभित इन भगवान् के माहात्म्य से कभी इनकी रञ्चमात्र भी छाया नही पड़ती थी ॥८४॥ चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर जिनके केवलज्ञान रूपी नेत्र प्रकट हुआ है ऐसे इन भगवान् के उत्तम नयन कमलों में कहीं भी टिमकार नहीं होता था ॥८५॥ घातिया कर्मों के विनाश से जिनके दिव्य परमौदारिक शरीर प्रकट हुआ है ऐसे इन भगवान् के नख और केशो मे थोडी भी वृद्धि नहीं होती थी ।८६। जो घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं तथा अन्यत्र नहीं पाये जाते हैं ऐसे ये केवलज्ञान के दश उत्कृष्ट अतिशय इन पार्श्व जिनेन्द्र के प्रकट हुए थे ॥ ८७ ॥ भगवान् की भाषा अर्धमागधीरूप परिणत हुई थी तथा पशुओं और अनेक भव्य जीवों के समस्त संदेह को नष्ट करने वाली थी ॥८८॥ जिनेन्द्र भगवान् के समीप मे उनके माहात्म्य से जन्मजात वैर करने वाले मृग, सिंहादि पशुओं तथा मनुष्यो में परम मित्रता हो जाती थी ॥८९॥ श्री जगद्गुरु के निकट देव-कृत अतिशय के माहात्म्य से समस्त वृक्ष सब ऋतुओं के फल और पुष्पों से युक्त हो जाते थे ॥९०॥ जिनेन्द्र भगवान् के चारो ओर की दिव्य और रत्नमयी भूमि दर्पण के समान निर्मल तथा सब उपद्रवो से रहित हो गयी थी ॥९१॥ जब त्रिलोकीनाथ भगवान् विहार



सच्चित्... सन्निधौ विभोः । सर्वेषां परमानन्दो जायते धर्मशर्मकृत् ॥९३॥
मरुत्कु... योजनसंमितम् । कुर्यान्महीतलं रम्यं तृणकीटादिवर्जितम् ॥९४॥
गन्धो... वृष्टिं करोति स्तनितामरः । अस्यान्ते दिव्यगन्धाढ्यां विद्युन्मालादिभूषिताम्॥९५
पादन्यासेऽस्य पद्मानि संचारयन्ति निर्जराः । हैम्यानि निखिलानि द्विशतानि पञ्चविंशतिः॥९६॥
शाल्यादिकृत्स्नसस्यानि सर्वर्तुविविधं फलम् । फलन्ति फलसन्नम्राणि देवेशस्य सन्निधौ ॥९७॥
शरत्कालसरः प्रख्यं निर्मलं व्योम जायते । भवन्ति निर्मलाः सर्वा दिशः पार्श्वे जिनेशिनः॥९८॥
शक्राज्ञया प्रकुर्वन्ति ह्याह्वाननं परस्परम् । देवा जिनेन्द्रयात्रायै धर्मकार्योद्यताशयाः ॥९९॥
व्रजत्यस्य पुरो दिव्यं धर्मचक्रं सुरैर्धृतम् । सहस्रारं महादीप्तं हतमिथ्याघसंचयम् ॥१००॥
आदर्शादीनि दिव्याष्टमङ्गलानि दिवौकसः । प्रकल्पन्ते जिनेन्द्रस्य भक्त्या तत्पदकाङ्क्षिणः ॥

करते थे तब उनके पीछे पीछे वायु कुमार देवों के द्वारा उत्पन्न शीतल और सुगन्धित वायु चलती थी ॥ ९२ ॥ भगवान् के सन्निधान में उनके चिदानन्द के माहात्म्य से सभा में रहने वाले सभी जीवों को धर्म-सुख-स्वाभाविक सुख को करने वाला परमानन्द होता था ॥९३॥ वायुकुमार के देव इनके ठहरने के स्थान से लेकर एक योजन तक के पृथिवी तल को रमणीय तथा तृण और कीड़ों आदि से रहित कर देते थे ॥९४॥ मेघकुमार जाति के देव इनके समीप दिव्यगन्ध से युक्त तथा बिजलियों के समूह से सुशोभित गन्धोदक की वृष्टि करते थे ॥९५॥ इनके पैर रखने के स्थान पर देव सुवर्ण कमलों की रचना करते थे और वे सुवर्ण कमल सब मिलाकर दो सौ पच्चीस रहते थे । भावार्थ– विहार काल में देव लोग भगवान् के चरण कमलों के नीचे तथा आजू बाजू में पन्द्रह पन्द्रह कमलों की पंक्तियां रचते थे उन सब कमलों की संख्या दो सौ पच्चीस होती थी ॥९६॥ देवाधिदेव पार्श्व जिनेन्द्र के समीप धान को आदि लेकर समस्त अनाजों के पौधे फलों से नम्रीभूत रह कर सब ऋतुओं के विविध फलों को फलते थे ॥९७॥ जिनेन्द्र भगवान् के समीप आकाश शरद् ऋतु के सरोवर के समान निर्मल हो गया था और सभी दिशाएं भी निर्मल हो गई थीं ॥९८॥ जिनका अभिप्राय धर्म कार्य में लग रहा है ऐसे देव, इन्द्र की आज्ञा से जिनेन्द्र देव की यात्रा के लिये–उनके साथ चलने के लिये परस्पर एक दूसरे को बुला रहे थे ॥९९॥ जिसे देवों ने धारण कर रखा था, जिसमें हजार आरे थे, जो महादेदीप्यमान था, तथा जिसने मिथ्यात्व तथा पापों के समूह को नष्ट कर दिया था ऐसा दिव्य धर्मचक्र इनके आगे आगे चल रहा था ॥१००॥ जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति से उनके पद की इच्छा करने वाले देव, दर्पण आदि आठ मङ्गल द्रव्यों की रचना करते जाते थे ॥१०१॥

मालिनी

सुरवरविहितैश्चेति द्विसप्तप्रमैर्यो—ह्यतिशयपरमैः मंभूषितस्तीर्थनाथः ... ॥
कृतबहुसुविहारो भव्यसंबोधनार्थं भवतु जिनवरो मे स स्वसंभूतिसि... ॥१०२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यस्यैतेऽतिशया भवन्ति च चतुस्त्रिंशत्प्रमा प्रातिहा—
र्याण्यष्टौ विगलान्तमभ्नि सकलं ज्ञानं परं दर्शनम् ।
वीर्यं सौख्यमनारतं च स मया संपूजितः संस्तुतो
वारंवारमनन्तसद्गुणमयो मेऽस्तु स्वराज्याप्तये ॥१०३॥

मालिनी

समवसरणयुक्तो वेष्टितः सर्वसंघै—रमृतसमवचोभिस्तर्पितानेकभव्यः ।
दुरिततिमिरहंता केवलज्ञानभाभिः प्रकटित शिवमार्गो य स्तमीडे[1] शिवाय ॥१०४॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे जिनेन्द्रविहारकर्मवर्णनो नाम द्वाविंशतितमः सर्गः ॥२२॥

जो देवरचित चौदह उत्कृष्ट अतिशयों से विभूषित थे तथा भव्य जीवों के संबोधनार्थ जिन्होंने अद्भुत विहार किया था ऐसे वे पार्श्व जिनेन्द्र मुझे आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिये हों ॥१०२॥ जिनके उपर्युक्त चौतीस अतिशय थे, आठ प्रातिहार्य थे और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टय निरन्तर विद्यमान थे, जिनकी मैंने बार बार अच्छी तरह पूजा और स्तुति की है तथा जो अनन्त सद्गुणों से तन्मय थे वे पार्श्वजिनेन्द्र मुझे स्वराज्य की प्राप्ति के लिये हों ॥१०३॥ जो समवसरण से युक्त थे, सब संघों से—ऋषि मुनि यति और अनगार अथवा मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका इन चार प्रकार के संघों से परिवृत थे, अमृत तुल्य वचनों के द्वारा जिन्होंने अनेक भव्यजीवों को संतुष्ट किया था, जो पापरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले थे तथा जिन्होंने केवलज्ञान की प्रभा से मोक्षमार्ग को प्रकटित किया था उन पार्श्वजिनेन्द्र की मैं मोक्ष प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूँ ॥१०४॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचित पार्श्वनाथचरित में जिनेन्द्र भगवान् के विहार का वर्णन करने वाला बाईसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२२॥

---

1. स्तौमि १०४ ।

त्रयोविंशतितमः सर्गः

[1]अर [illegible] व्यं चतुःसघविभूषितम् । जिनेन्द्रं शिरसा वन्दे जगत्सम्बोधनोद्यतम् ॥१॥
अप्सरःसु [illegible] नटन्तीषु विविध नर्तनं परम् । तदग्रेऽतिमनोहारिहावभावलयादिभिः ॥२॥
किन्नरीषु सुगायन्तीषु सुकण्ठीषु लसत्स्वनम् । तज्जयोद्भवगीतानि मनोज्ञानि शुभान्यपि ॥३॥
मिथ्यामोहादिशत्रूणा पठत्सु विजयं परम् । गन्धर्वेषु महादुन्दुभिषु ध्वनत्सु निर्भरम् ॥४॥
वेष्टितो नाकिनाथौघैश्चतुःसघैश्च धर्मराट् । कुर्वन् धर्ममयी वृष्टि दिव्यध्वनिसुधारसैः ॥५॥
प्रीणयन्भव्यसस्यादीन्[2] स्वर्मुक्तिफलकारिणः । आर्यखण्डं शुभाकीर्णं विजहार जिनाग्रणीः ॥६॥
मिथ्याज्ञानतमोराशिं विघटय्य वचोऽशुभिः । जिनेनो द्योतयामास मोक्षमार्गं गतभ्रमम् ॥७॥
तद्वचोऽमृतमास्वाद्य दाह मोहाक्षकामजम् । हत्वापु. परमं सौख्यं स्वात्मजं बहवो बुधा' ॥८॥

त्रयोविंशतितम सर्ग

जो असंख्य देवों के द्वारा सम्यक् प्रकार से सेवनीय थे, जो चतुर्विध संघ से विभूषित थे तथा जगत् को सम्बोधित करने के लिये उद्यत थे ऐसे श्री पार्श्वजिनेन्द्र को मैं शिर से नमस्कार करता हूँ ॥१॥

जब अप्सरायें भगवान् के आगे अत्यन्त मनोहर हावभाव और लय आदि के द्वारा नाना प्रकार का उत्कृष्ट नृत्य कर रही थीं ॥२॥ जब कलकण्ठी किन्नरियां मधुर स्वर से उनके मनोहर तथा शुभ विजय गीत गा रहीं थीं ॥३॥ जब गन्धर्व देव मिथ्यामोह आदि शत्रुओं को जीत लेने का उत्कृष्ट पाठ पढ़ रहे थे और बड़े बड़े दुन्दुभि बाजे जब अत्यधिक शब्द कर रहे थे तब इन्द्रों के समूहों और चतुर्विध संघों से वेष्टित भगवान् जिनेन्द्र दिव्य-ध्वनिरूपी अमृत रस के द्वारा धर्मवृष्टि करते हुए तथा स्वर्ग और मोक्षरूपी फल को उत्पन्न करने वाले भव्यजीवरूपी धान को संतुष्ट करते हुए शुभ आर्यखण्ड में विहार कर रहे थे ॥४–६॥ जिनराजरूपी सूर्य ने दिव्यध्वनि रूपी किरणों के द्वारा मिथ्याज्ञानरूपी अन्धकार की राशि को विघटित कर भ्रम रहित मोक्षमार्ग को प्रकाशित किया था ॥७॥ उनके वचन रूपी अमृत का आस्वाद कर अनेक विद्वज्जनों ने मोह इन्द्रिय तथा काम से उत्पन्न दाह को नष्ट किया था और उसके फलस्वरूप स्वात्मोत्थ परमसुख को प्राप्त किया था ॥८॥

१ नृसुरासुरसंसेव्यम् २. सत्त्वादीन् ग० ।

यतो हग्ज्ञानवृत्तादिरत्नौघैर्मूल्यवर्जितै. । तप·शीलादिरत्नैश्च [illegible] श्रीपति: पुरुष [illegible] ।।९।।
पुतो भव्यौघसार्थानां सार्थवाहो महाधनी । शिवाध्वनि ददात्येवा [illegible] नी निरन्त [illegible] ।।१०।।
केभ्यश्च दृष्टिरत्नान्यन्येभ्यो ज्ञानमणीश्च सः । परेभ्यो वृत्तरत्नानि दद्याद्भव्येभ्य [illegible] ।।११।।
नर्दार्थिभ्यस्तपोरत्नं शीलरत्नानि चानिशम् । स दत्ते कल्पशाखीव मनोऽभिलषित [illegible] ।।१२।।
ततोऽसौ विश्वलक्ष्म्याढ्यो महादातात्र कथ्यते । बुधैर्मध्ये मुदा नृणा सर्वदानविधौ क्षम: ।।१३।।
यत्किञ्चिद्दुर्लभं वस्तु य ईहन्तेऽतिलोभिन: । दद्यात्तेभ्य: स्वकीयं स समस्तं वा पदं निजम् ।१४।
यद्यहो स्वर्गमुक्त्यादीन्भव्येभ्य. स ददात्यपि । ततो न भुवने दाता जात्वन्यस्तत्समो महान् ।१५।।
तद्दिव्यध्वनिसूर्यांशुभिर्विश्वे प्रकटीकृते । तदान्ये दुर्मता भान्ति खद्योता इव नि:प्रभा ।।१६।।
जिनभानूदये संचरन्ति साधुमुनीश्वरा: । तदा कुलिङ्गिनो मन्दा नश्यन्ति तस्करा इव ।१७।
कुरुकोशलकाशीसुह्मावन्तीपुण्ड्रमालवान् । अङ्गवङ्गकलिङ्गाख्यपञ्चालमगधाभिधान् ।।१८।।

जिस कारण वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी अमूल्य रत्नों तथा मोहादिक अन्धकार को नष्ट करने वाले तप शील आदि रत्नों से युक्त थे उस कारण भव्य समूह रूप व्यापारियों के बीच महा धनवान् सार्थवाह–प्रमुख व्यापारी थे और इसीलिए वे मोक्ष के मार्ग में निरन्तर अनेक रत्नों को देते ही रहते थे ।।९–१०।। किन्हीं भव्यों के लिए वे सम्यग्दर्शन रूपी रत्न देते थे तो अन्य भव्यों के लिये ज्ञानरूपी मार्ग प्रदान करते थे और दूसरे भव्य जीवों के लिये चारित्र रूपी रत्न देते थे ।।११।। जिस प्रकार कल्प वृक्ष मन चाहे फल को देता है उसी प्रकार वे इच्छुक मनुष्यों के लिये निरन्तर तप रूपी रत्न और शील रूपी रत्न देते रहते थे ।।१२।। इसीलिये वे इस जगत् में विद्वानों के द्वारा बड़े हर्ष से मनुष्यों के मध्य सर्वदान में समर्थ समस्त लक्ष्मी से युक्त महादाता कहे जाते थे ।।१३।। अत्यन्त लोभी मनुष्य जिस किसी दुर्लभ वस्तु को चाहते थे वे उन्हें वह दुर्लभ वस्तु तथा अपना समस्त पद प्रदान करते थे ।।१४।। जब कि वे भव्य जीवों के लिए स्वर्ग तथा मोक्ष आदि प्रदान करते थे तब इस जगत् में उनके समान दूसरा दाता कभी नहीं था ।।१५।। जब उनकी दिव्यध्वनि रूपी सूर्य की किरणों से समस्त विश्व प्रकटित–प्रकाशित हो गया तब अन्य मिथ्या मतावलम्बी जीव जुगनुओं के समान प्रभा रहित हो गये ।।१६।। उस समय जिनेन्द्र रूपी सूर्य का उदय होने पर मुनिराज अच्छी तरह विचरण करते थे और हीन बुद्धि कुलिङ्गी चोरों के समान नष्ट हो गये थे ।।१७।।

समीचीन मार्ग का उपदेश देने में उद्यत श्री पार्श्व जिनेंद्र ने बड़े वैभव के साथ कुरु, कोशल, काशी, सुह्म, अवंती, पुण्ड्र, मालव, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, पञ्चाल, मगध,

विदर्भभद्रदेश- [illegible] जिनः । विजहार महाभूत्या सन्मार्गदेशनोद्यतः ॥१९॥
स्वयं [illegible] चतुर्ज्ञानयुता दश । अनेकर्द्धिसमापन्ना नमन्त्यस्य क्रमाम्बुजम् ॥२०॥
अज्ञा [illegible] ारः सर्वपूर्वाब्धिपारगाः । सार्द्धत्रिशतसंख्या सन्मुनीन्द्राः संस्तुवन्त्यहो ॥२१॥
स्यु [illegible] र्यशुक्लाढ्याः सिद्धान्तपठनोद्यताः । यतयो युतपूर्वाणि शतानि नव शिक्षकाः ॥२२॥
नमन्त्यस्य पदद्वन्द्वं चतुर्दशशतप्रमाः । [1]यमिनोऽवधिसंपन्ना रूपिद्रव्यप्रदीपकाः ॥२३॥
केवलज्ञानिनोऽस्य स्युर्लोकालोकविलोकिनः । सहस्रप्रमितास्तत्सादृश्या ज्ञानादिसद्गुणैः ॥२४॥
सहस्रसमिता ज्ञेया विक्रियर्द्धिविभूषिताः । यतीशाः श्रीजिनस्यानेकरूपकरणे क्षमाः ॥२५॥
ज्ञातसूक्ष्मपदार्थौघाः सार्द्धसप्तशतप्रमाः । धरन्ति शिरसास्याज्ञां मनःपर्ययबोधिनः ॥२६॥
कुमतध्वान्तहन्तारः सन्मार्गोद्योतनोद्यताः । विभो श्रयन्ति पादाब्जौ वादिनः षट्शतप्रमाः ॥२७॥
पिण्डीकृता[2] हि ते सर्वे त्यक्तसङ्गास्तपोधनाः । अभ्यर्णीकृतनिर्वाणाः स्युः सहस्राणि षोडश ॥२८॥
एकशाटीं विना त्यक्तद्विधासर्वपरिग्रहाः । ध्यानाध्ययनससक्ता मुक्तिससाधनोद्यताः ॥२९॥

विदर्भ, भद्रदेश तथा दशार्ण आदि अनेक देशों में विहार किया था ॥१८–१९॥ चार ज्ञान से युक्त तथा अनेक ऋद्धियों से सम्पन्न स्वयम्भू आदि दश गणधर इनके चरण कमलों को नमस्कार करते थे ॥२०॥ अहो अज्ञान रूपी अंधकार को हरने वाले तथा सर्व-पूर्व रूप समुद्र के पारगामी तीन सौ पचास मुनिराज उनकी सम्यक् प्रकार से स्तुति करते थे ॥२१॥ धर्म्य और शुक्ल ध्यान से सहित तथा सिद्धान्त के पढ़ने में उद्यत रहने वाले नौ सौ शिक्षक उनके साथ थे ॥ २२ ॥ रूपी द्रव्य को प्रकाशित करने वाले चौदह सौ अवधिज्ञानी इनके चरण युगल को नमस्कार करते थे ॥२३॥ लोक अलोक को देखने वाले तथा ज्ञान आदि सद्गुणों के द्वारा उनका सादृश्य प्राप्त करने वाले एक हजार केवलज्ञानी उनके साथ थे ॥२४॥ श्री जिनेंद्र के समवसरण में विक्रिया ऋद्धि से विभूषित तथा अनेक रूप बनाने में समर्थ एक हजार मुनिराज विक्रिया ऋद्धि के धारक थे ॥२५॥ जिन्होंने सूक्ष्म पदार्थों के समूह को जान लिया था ऐसे सात सौ पचास मनः-पर्यय ज्ञानी शिर से उनकी वन्दना करते थे ॥२६॥ जो कुमत रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले थे, समीचीन मोक्ष मार्ग को प्रकाशित करने में तत्पर रहते थे ऐसे छह सौ वादी मुनिराज उनके चरण कमलों का आश्रय लेते थे ॥२७॥ सब मिला कर परिग्रह के त्यागी तथा मोक्ष के निकटवर्ती सोलह हजार तपस्वी मुनि उनके साथ थे ॥२८॥ एक साड़ी को छोड़कर शेष समस्त द्विविध परिग्रह का जिन्होंने त्याग कर दिया था, जो ध्यान और अध्ययन में संलग्न रहती थीं तथा मुक्ति की साधना में उद्यत रहती थीं ऐसी मुनी-

१ मुनय. २. राशीकृता.

सुलोचनादिमुख्या आर्यिका अस्य पदाम्बुजौ । प्रणमन्त्येव षट्त्रिं... परा: ॥३०॥
श्रावका दृग्व्रतोपेता दानपूजनतत्परा: । एकलक्षप्रमाणा अ... श्रीपति: पुरुष... ३१॥
दृक्शीलदानपूजाढ्या: श्राविका जिनभाक्तिका: । त्रिलक्षगणना पूजयन्त्यस्य... पत्नी निरन्... ३२।
चतुर्णिकायका देवा इन्द्राद्या। संख्यवर्जिता । शच्यादिप्रमुखा देव्यो भक्तिभारवशी... ३॥
एकाग्रचेतसा नित्य प्रभो: पादसरोरुहम् । गीतनर्तनपूजानमस्काराद्यैर्भजन्ति ... ३४॥
सिंहाहिनकुलाद्यास्तिर्यञ्चो दृग्व्रतभूषिता: । संख्यातास्त्यक्तवैरा नमस्यन्ति श्रीजिनांघ्रिपम् ३५।
द्विषड्भेदैर्गणैरेतै साद्धं धर्मप्रवृत्तये । दर्शयस्तत्त्वसद्भाव ध्वस्ताज्ञानतमश्चयम् ॥३६॥
वर्षन् धर्मामृत देवो विजहार महीतलम् । मासपञ्चकहीनं कालं वर्षसप्ततिप्रमम् ॥३७॥
प्रासन्नीकृतनिर्वाणो विहरन् विषयान्वहून् । आजगाम क्रमात्सम्मेदाचलाग्र जिनाधिराट् ।३८॥
यत्र विंशतितीर्थेशा हत्वा कर्मरिपून् गता: । बहवोऽन्ये मुनीन्द्राश्चानन्तसौख्याकर शिवम् ।३९।
वहत्येव धराया य. सत्तीर्थता नता स्तुताम् । अर्च्यां च त्रिजगन्नाथैस्तुङ्गोऽद्रिर्मुनिसेवित: ।४०।

चना को आदि लेकर छत्तीस हजार उत्कृष्ट आर्यिकाएं इनके चरण कमलों को प्रणाम करती थीं ॥ २९–३० ॥ सम्यग्दर्शन से सहित तथा दान और पूजन में तत्पर एक लाख श्रावक इनके चरण कमलों की पूजा करते थे ॥३१॥ सम्यग्दर्शन, शील, दान और पूजा से सहित जिन भक्त तीन लाख श्राविकाएं इनके चरणों की पूजा करतीं और नमस्कार करती थी ॥ ३२ ॥ चार निकाय के असंख्यात देव तथा भक्ति भार से वशीकृत इन्द्राणी आदि देवियां एकाग्रचित्त से गीत, नृत्य, पूजा तथा नमस्कार आदि से निरन्तर प्रभु के चरण कमलों की सेवा करती थीं ॥३३–३४॥ सम्यग्दर्शन और एक देश व्रत से विभूषित सिंह, सर्प, नेवला आदि संख्यात तिर्यञ्च वैरभाव छोड़कर श्री जिनराज को नमस्कार करते थे ॥३५॥

इन उपर्युक्त बारह सभाओं के साथ धर्म की प्रवृत्ति के लिए तत्त्व का सद्भाव दिखाते हुए, अज्ञान रूपी अन्धकार के समूह का नाश करते हुए तथा धर्मामृत की वर्षा करते हुए श्री पार्श्वदेव ने पांच माह कम बहत्तर वर्ष तक पृथिवी तल पर विहार किया ॥३६-३७॥ जब मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त निकट रह गयी तब अनेक देशों में विहार करते हुए पार्श्व जिनेंद्र क्रम से उस सम्मेदाचल के शिखर पर आये जहां बीस तीर्थंकर और बहुत मुनि कर्म रुप शत्रुओं को नष्ट कर अनन्त सुख की खान स्वरूप मोक्ष को प्राप्त हुए थे ॥३८–३९॥ मुनियों के द्वारा सेवित जो उन्नत पर्वत, पृथिवी पर तीर्थङ्करों से नमस्कृत, स्तुत और पूजित उत्तम तीर्थपने को धारण करता है ॥ ४० ॥ जिस पर्वत पर स्थित तथा जिनेंद्र भगवान् के चरण कमलों से पवित्र की हुई निर्वाण भूमि वन्दना और स्तुति करने

निव... ...नेन्द्राह्निपविनिनताम् । आयान्ति वन्दितुं स्तोतुं देवाश्च मुनय खगा:।।४१
यत्र ...हात्म्याद् व्याघ्रादिक्रूरजातय: । बाधा कुर्वन्ति जीवाना न मनाक् कलुषातिगा:।।४२
सर्वर्तु ... दीन् फलन्ति तरुजातय. । तीर्थेशसन्निधौ तत्र सच्छाया हि मनोहरा ।।४३।।
इत्यादिवर्णनोपेतेऽचले तस्मिन् जिनाग्रणी: । मासैक योगमारुध्य मौनालम्बी गतक्रिय ।।४४।।
षड्त्रिंशन्मुनिभि. सार्द्धं प्रतिमायोगमादधे । शेषाघात्यघहन्तार मुक्तिकान्तासुखाप्तये ।।४५।।
काययोगेऽतिसूक्ष्मे स्थिति कृत्वा मनो वच. । त्यक्त्वा शुक्लेन नाम्ना सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिना ४६
द्वासप्ततिप्रकृत्यरातीन् जघान जिनेश्वर: । सयोग्याख्यगुणस्थानस्यैवान्त्यसमये द्रुतम् ।।४७।।
काययोगं पुनस्त्यक्त्वाशु प्रकृतीस्त्रयोदश । अयोग्याख्यगुणस्थाने तुर्यशुक्लासिना स्वयम् ।४८।
लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालेन विनिहत्य स: । कृत्स्नकर्माङ्गनिर्मुक्तो बभूवाद्भुतकर्मकृत् ।।४९।।
तत: कायत्रयापाये नष्टे कर्माङ्गबन्धने । एकेन समयेनैव लोकाग्रशिखर परम् ।।५०।।

के लिये मुनि तथा विद्याधर आते रहते हैं ।।४१।। जहां तीर्थंङ्कर भगवान् के माहात्म्य से व्याघ्र आदि क्रूर जाति के तिर्यञ्च कलुष भाव से रहित होकर जीवों को थोड़ी भी बाधा नहीं करते हैं ।।४२।। उस पर्वत पर तीर्थङ्कर भगवान् के सन्निधान में उत्तम छाया से युक्त मनोहर वृक्ष सब ऋतुओं के फल पुष्प आदि को फलते हैं ।।४३।। इत्यादि वर्णना से सहित उस पर्वत पर श्री पार्श्व जिनेंद्र ने एक माह का योग निरोध कर छत्तीस मुनियों के साथ मुक्ति रमा के सुख की प्राप्ति के लिये शेष अघातिया कर्मों को नष्ट करने वाला प्रतिमा योग धारण किया । इस समय वे मौन से सहित तथा हलन चलन आदि क्रियाओं से रहित थे ।।४४–४५।। मनोयोग और वचन योग को छोड़ कर तथा अत्यन्त सूक्ष्म काय योग में स्थित होकर श्री पार्श्व जिनेंद्र ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यान के द्वारा सयोगी गुण स्थान* के अंत समय में बहत्तर प्रकृति रूपी शत्रुओं का शीघ्र ही नाश किया और फिर शीघ्र ही काय योग का त्याग कर अयोगी गुण स्थान में चतुर्थ शुक्ल ध्यान रूपी खड्ग के द्वारा तेरह प्रकृतियों का पांच लघु अक्षरों के उच्चारण काल में स्वयं क्षय किया और इसके फल स्वरूप अद्भुत कार्य को करने वाले पार्श्व प्रभु समस्त कर्मरूप शरीर से निर्मुक्त हो गये ।।४६–४९।। तदनतर औदारिक तैजस और कार्मण इन तीनों शरीरों का अभाव होने और कार्मण शरीर का बंधन नष्ट होने पर वे एक ही समय में

* यहां संयोग केवली गुण स्थान के अन्त मे जो बहत्तर प्रकृतियो के क्षय का वर्णन किया है वह भ्रान्त है क्योकि इनका क्षय अयोग केवली गुणस्थान के उपान्त्य समय मे होता है और शेष तेरह प्रकृतियों का क्षय अन्त्य समय में होता है। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान सयोग केवली के अवश्य होता है परन्तु उससे कर्मों की निर्जरा ही होती है क्षय नही ।

जगामाशु स्वभावेन स ऊर्द्ध्वगतिजेन हि । अनन्तसुखसम्पन्नः स्वा श्रीपतिः पुरुष ।।५१।।
श्रावणे मासि सप्तम्या सितपक्षे दिनादिमे[1] । भागे विशाखनक्षत्रे शुभलग्नो निरञ्ज ।।५२।।
अनन्तसुखसंलीनो गुणाष्टकविभूषित । अमूर्तश्चरमाङ्गाद्धि किञ्चिदूनाकृति ।।५३।।
वन्द्योजगत्त्रयाधीशैर्नित्यो ज्ञानमयोऽद्भुत. । केवलज्ञानगम्योऽतिसूक्ष्म· सिद्धो निर ।।५४।।
तत्रास्थादपि धर्मास्तिकायाभावाद्गतिच्युतः । अनन्तकालमासाद्य मुक्तिकान्तां सुदुर्लभाम् ।।५५।।
तन्मोक्षगमनं ज्ञात्वा स्वचिह्नै रथ निर्जरा । चतुर्णिकायकाः सेन्द्रा महाभूत्युपलक्षिता ।।५६।।
स्वस्ववाहनमारूढा धर्मामृतरसाशिन. । तत्राजग्मुर्जिनेन्द्रस्य प्रान्तपूजाचिकीर्षया ।।५७।।
पवित्र परम दिव्य शरीरं मोक्षसाधनम् । विमोमत्वा व्यधुर्देवाः पराद्ध्यं शिविकार्पितम् ५८।
ततो देहस्य देवेन्द्राश्चक्रु पूजा महाद्भुताम् । चन्दनागुरुकर्पूराद्यै सुद्रव्यैः सुगन्धिभि ।।५९।।
प्रणेमु. परया भक्त्या मूर्ध्ना सर्वे दिवौकस. । पवित्र तच्छरीरं प्रभोर्दिव्य शिवकारणम् ।।६०।।

ऊर्ध्व गति स्वभाव से शीघ्र ही लोकाग्र की उत्कृष्ट शिखर पर जा पहुँचे । वे अनंत सुख से सम्पन्न, स्वाधीन और शरीर रहित थे ।। ५०–५१ ।। वे श्रावण शुक्ला सप्तमी के पूर्वाह्न काल में विशाखा नक्षत्र तथा उत्तम शुभ लग्न आदि के रहते हुये निर्वाण को प्राप्त हुये थे ।।५२।।

जो अनन्तसुख में निमग्न थे, आठ कर्मो के अभाव में प्रकट होने वाले अनन्तज्ञानादि आठ गुणो से विभूषित थे, अमूर्त थे, अन्तिम शरीर से कुछ कम आकृति को धारण करने वाले थे, महान् थे, तीन जगत् के स्वामियों के द्वारा वन्दनीय थे, नित्य थे, अद्भुत थे, केवल ज्ञान गम्य थे, अत्यन्त सूक्ष्म थे, सिद्ध थे, निरञ्जन–कर्मकालिमा से रहित थे तथा धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोकाग्र के आगे गति से रहित थे ऐसे श्री पार्श्वजिनेन्द्र अत्यन्त दुर्लभ मुक्तिरूपी कान्ता को प्राप्तकर उसी लोकाग्रभाग में अनन्त काल के लिये स्थिर हो गये ।।५३–५५।।

तदनन्तर अपने अपने चिह्नों से उनके मोक्षगमन का समाचार जानकर महाविभूति से युक्त, इन्द्र सहित चारों निकाय के देव धर्मरूप अमृत रस का सेवन करते हुए अपने अपने वाहनो पर आरूढ होकर जिनेन्द्र भगवान् के निर्वाण क्षेत्र की पूजा करने की इच्छा से वहां आये ।।५६–५७।। देवो ने विभु के मोक्ष के साधनभूत परमौदारिक शरीर को परम पवित्र मान कर उत्कृष्ट शिविका में विराजमान किया ।।५८।। पश्चात् इन्द्रों ने उनके शरीर की चन्दन अगुरु कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यो से महान् अद्भुत पूजा की ।।५९।। समस्त देवो ने मोक्ष के कारणभूत भगवान् के उस पवित्र दिव्य शरीर को परम भक्ति से शि

---

1 पूर्वाह्णे ।

अग्नीन्द्रमुकुटो ... पु: परम् । तत्क्षणं प्राप पर्यायान्तरं गन्धोपलक्षितम् ॥६१॥
ततो ... चकल्याणभागिन: । भवामोऽत्र वयं ह्येवमित्युक्त्वा चिरकालत ।६२॥
लल ... कण्ठे हृदये च भुजद्वये । संस्पृश्य भक्तिभारेण प्रापु: पुण्य महत्सुरा: ॥६३॥
सकल ... : शक्रा धर्मरागरसोत्कटा: । आनन्दनाटकं संपादयामासुर्मनोहरम् ॥६४॥
एव ... तदन्त्यकल्याणपूजनं विधिवत्सुरा: । विधायोपार्ज्य सत्पुण्यं जग्मु: स्वस्वसमाश्रयम् ६५।

मालिनी

इति विविधसुख यो मर्त्यलोके च नाके निरुपममतिसारं नि प्रपञ्च प्रभुक्त्वा ।
सकलचरणयोगात्प्राप मुक्त्यङ्गनाज—ममलमचलसौख्य तत्सुखाप्त्यै तमीडे ॥६६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो बाल्येऽपि निहत्य मोहमदनाक्षारीन्बहून् धीरधी—
वैराग्यासिबलेन कर्मजनित त्यक्त्वा कुटुम्ब परम् ।

के द्वारा प्रणाम किया ॥६०॥ पश्चात् सुगन्ध से सहित उनका वह शरीर अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि के द्वारा उसी क्षण अन्य पर्याय को प्राप्त हो गया—भस्म हो गया ॥६१॥

तदनन्तर भस्म को लेकर हम भी इसी तरह इस जगत् में पञ्चकल्याणकों के भागी होवें ऐसा कह कर उन देवों ने चिरकाल तक उस भस्म को ललाट, मस्तक, कण्ठ, हृदय, और दोनों भुजाओं में भक्तिभार से लगाकर महान् पुण्य को प्राप्त किया ॥६२–६३। पश्चात् देवाङ्गनाओं से सहित तथा धर्मराग के रस से परिपूर्ण इन्द्रों ने आनन्द नाम का मनोहर नाटक किया ॥६४॥ इस प्रकार देव विधिपूर्वक अन्तिम कल्याणक की पूजा कर तथा उत्तम पुण्य का उपार्जन कर अपने अपने स्थानों पर चले गये ॥६५॥

इस प्रकार जिन्होंने मनुष्य लोक तथा स्वर्ग लोक में नाना प्रकार के अनुपम, अत्यन्त श्रेष्ठ वास्तविक सुख का उपभोग कर सकलचारित्र के योग से मुक्तिरूपी अङ्गना से उत्पन्न निर्मल और अविनाशी सुख प्राप्त किया था उन पार्श्वनाथ भगवान् को मैं उस सुख की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं ॥६६॥ जिन्होंने बाल्य अवस्था में ही स्थिर बुद्धि तथा वैराग्यरूपी तलवार के बल से मोह काम तथा इन्द्रियरूपी अनेक शत्रुओं को नष्ट कर तथा कर्मजनित उत्कृष्ट कुटुम्ब और अद्भुत भोगों से श्रेष्ठ समस्त राज्य का त्याग कर मुक्तिरूपी स्त्री की माता स्वरूप उत्तम दीक्षा को ग्रहण किया था वे पार्श्वनाथ भगवान् मोक्ष प्राप्ति पर्यंत 'मैं बाल्यावस्था में भी तप कर सकूं' इसके लिये सहायक होवें

राज्यं चाद्भुतभोगसारमखिलं जग्राह दीक्षां परां [illegible] श्रीपतिः पुरुषे [illegible]
मुक्तिस्त्रीजननी स मेऽस्तु तपसे [illegible]नी निरन्[illegible] ॥६७॥

यो वीर्यं प्रकटं विधाय परमं घोरोपसर्गे कृते
दुष्टेनैव कुशत्रुणा वरमहाध्यानेन शुक्ले [illegible]

हत्वा घातिचतुष्टयं शिवकरं व्यक्तं व्यधात्केवलं
ज्ञानं शक्रनरार्चितं स भगवान् दद्यात्स्वशक्तिं मम ॥६८॥

योऽज्ञानतमो घनं च सुधियामुच्छेद्य वाक्यांशुभि—
लोकालोकमशेषमेव विविधं धर्मं प्रकाश्य द्विधा ।

मुक्तेर्मार्गमतीवगूढममलं दृग्ज्ञानवृत्तात्मकं
प्रापानन्तसुखास्पदं स्वशिरसा तं नौमि तद्वृद्धये ॥६९॥

वसन्ततिलका

यन्नाममात्रजपनादरिदुष्टभूप—चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनाम् ।
दुर्व्याधिवह्निहरिसर्पकुकर्मभाजां शीघ्रं च नश्यति भयं तमहं सदेडे ॥७०॥
यच्चिन्तनादखिलविघ्नचयं दुरन्तं धर्मादिकार्यविविधे कुनृपादिजातम् ।
नाशं प्रयाति खलु चात्र सुमङ्गलादौ वन्दे तमेव शिरसा शिवविघ्नहान्यै ॥७१॥

॥६७॥ जिन्होंने दुष्ट खोटे शत्रु के द्वारा घोर उपसर्ग किये जाने पर उत्कृष्ट वीर्य को प्रकट कर तथा शुक्लध्यान नामक उत्कृष्ट महा ध्यान से चार घातिया कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कराने वाले, इन्द्र तथा मनुष्यों के द्वारा पूजित केवलज्ञान को व्यक्त किया था वे पार्श्वनाथ भगवान् मेरे लिये अपनी शक्ति प्रदान करें ॥ ६८ ॥ जिन्होंने वचनरूपी किरणों के द्वारा विद्वज्जनों के अज्ञानरूपी घोर अंधकार को नष्ट कर समस्त लोकालोक और गृहस्थ तथा मुनि के भेद से दो प्रकार के धर्म को प्रकाशित कर अत्यंत गूढ, निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक तथा अनंत सुख के स्थान स्वरूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त किया था मैं उन पार्श्वनाथ भगवान् को उस मोक्षमार्ग की वृद्धि के लिये अपने मस्तक से नमस्कार करता हूँ ॥६९॥ जिनके नाममात्र के जाप से शत्रु, दुष्ट राजा, चौर, ग्रह, भ्रम, निशाचर, शाकिनी, दुष्टरोग, अग्नि, सिंह, सर्प और कुकृत्य करने वाले मनुष्यों का भय शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उन पार्श्वनाथ भगवान् की मैं सदा स्तुति करता हूँ ॥७०॥ जिनका चिंतन करने से धर्मादि के विविध कार्यों में खोटे राजा आदि से होने वाला दुःखदायक समस्त विघ्नों का समूह निश्चय से नाश को प्राप्त हो जाता है इस जगत्

चि लक्ष्मीः सौख्यं त्रिलोकजनितं च समीहितार्थः ।
सर्वं संलक्ष्यते तमिह नौमि समीहिताप्त्यै ॥७२॥
। महान्तः पापाद्रयोऽसुखनगाः शतचूर्णताञ्च ।
तद्गुणसमूहसुरञ्जितानां कुर्वेऽनिशं स्वहृदयेऽघविहानये तम् ॥७३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पार्श्वो विघ्नविनाशको वृषजुषां पार्श्वं श्रिता धार्मिकाः
पार्श्वेणाशु विलभ्यतेऽखिलसुखं पार्श्वाय तस्मै नमः ।
पार्श्वान्नास्त्यपरो हितार्थजनकः पार्श्वस्य मुक्तिः प्रिया
पार्श्वे चित्तमहं दधे जिनप मा शीघ्रं स्वपार्श्वे नय ॥७४॥

स्रग्धरा

विश्वार्च्यं विश्ववन्द्यं गुणगणजलधिं त्यक्तदोषं महान्तं-
श्रीमन्तं लोकनाथं प्रकटितसुवृषं मुक्तिकान्तं जिनेन्द्रम् ।

में मङ्गलमय कार्य के प्रारम्भ में मोक्ष सम्बंधी विघ्नों को नष्ट करने के लिये उन्हीं पार्श्वनाथ भगवान् को मैं शिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥७१॥ जिनका पूजन करने से उनके भक्तजन, निरुपम उत्कृष्ट लक्ष्मी, तीन लोक सम्बन्धी सुख, अभिलषित पदार्थ, और समस्त उत्कृष्ट दुर्लभ पदार्थों को प्राप्त होते हैं मैं यहां उन पार्श्वनाथ भगवान् की अभिलषित अर्थ की प्राप्ति के लिये स्तुति करता हूँ ॥७२॥ जिनके ध्यानरूपी वज्र के प्रहार से उनके गुण समूह में अनुरक्त भव्यजीवों के अत्यन्त कठिन विशाल पापरूपी पर्वत तथा दुःखरूपी वृक्ष शतचूर्णता—सौ टूकपने को प्राप्त हो जाते हैं उन पार्श्वनाथ भगवान् को पापों का नाश करने के लिये मैं निरन्तर अपने हृदय में धारण करता हूँ ॥७३॥

पार्श्वनाथ भगवान् धर्मात्मा जीवों के विघ्न को नष्ट करने वाले थे, धार्मिक लोग भगवान् पार्श्वनाथ को प्राप्त हुए थे, पार्श्वनाथ भगवान् के द्वारा शीघ्र ही समस्त सुख प्राप्त होता है, उन पार्श्वनाथ भगवान् के लिये नमस्कार हो, पार्श्वनाथ से बढ़ कर दूसरा हित को उत्पन्न करने वाला नहीं है, पार्श्वनाथ भगवान् को मुक्ति प्रिय थी, मैं पार्श्वनाथ जिनेन्द्र में अपना मन लगाता हूँ, हे जिनराज ! मुझे शीघ्र ही अपने निकट ले चलो ॥ ७४ ॥ जो सबके द्वारा पूज्य हैं, सबके द्वारा वन्दनीय हैं, गुण समूह के सागर हैं, दोषों से रहित हैं, महान् हैं, श्रीमान् हैं, लोक के स्वामी हैं, उत्तम धर्म को प्रकट करने वाले हैं, मुक्ति कान्ता के पति हैं, जिनेन्द्र हैं, धर्म भक्त जीवो के

हन्तारं विघ्नराशेर्वृषचरणजुषां पार्श्वनाथं गताघं [illegible] श्रीपतिः पुरुषं [illegible]
दातारं कामितार्थस्य सुशिवगतिदं [illegible] नी निरञ्[illegible] ॥७५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

जात· प्रागमरुभूतिरत्र किल यो मन्त्री ततोऽघादिभ—
स्तुङ्ग· प्राप्यं वृषं पुनः शशिप्रभो देवः सहस्रारजः ।
विद्येश· पुनरग्निवेग खगपो विद्युत्प्रभाख्योऽमरः
कल्पेऽप्यच्युतनामके सुनृपतिर्वै वज्रनाम्न्याख्यकः ॥७६॥
तस्मादप्यहमिन्द्र एव परमो ग्रैवेयके मध्यमे
ह्यानन्दाख्यनृपः पुनश्च सुरराट् कल्पे परेऽप्यानते ।
पश्चात्तीर्थंकरो जगत्त्रयनुतः श्री पार्श्वनाथो महान्
सत्कल्याणकभाजनः शिववधूभर्ता स मेऽव्याद्भवात् ॥७७॥
पापी प्राक्कमठस्ततोऽप्यघवशात्क्रूरः खलः कुर्कुटः
सर्पो नारक एव चानुनरके धूमप्रभाख्येऽशुभात् ।
तस्माच्चाजगरोऽनुनारकखलः श्वभ्रे व्यधाद् द्वित्रिके
व्याधोऽघादनुनारकोऽतिविषमे रौद्रेऽशुभे सप्तमे ॥७८॥

विघ्न समूह को नष्ट करने वाले हैं, निष्पाप हैं, वाञ्छित अर्थ के दाता हैं और उत्तम मोक्ष गति को देने वाले हैं उन पार्श्वनाथ भगवान् को मैं अपनी भक्ति पूर्वक शिर से नमस्कार करता हूँ ॥७५॥

जो पहले मरुभूति नाम के मंत्री थे, फिर पाप के कारण उन्नत हाथी हुए, पश्चात् धर्म को प्राप्त कर सहस्रार स्वर्ग में शशिप्रभ नामक देव हुए, पुनः विद्याओं के स्वामी अग्निवेग नामक विद्याधर राजा हुए, तदनन्तर अच्युत स्वर्ग में विद्युत्प्रभ नामक देव हुए, फिर वज्रनाभि नामक चक्रवर्ती हुए, उसके बाद मध्यमग्रैवेयक में उत्तम अहमिन्द्र हुए, पुनः आनन्द नामक राजा हुए, पश्चात् आनत नामक उत्तम स्वर्ग में इन्द्र हुए, तदनन्तर तीनों जगत् के द्वारा स्तुत, प्रशस्त पञ्चकल्याणकों के स्वामी, तथा मुक्तिवधू के भर्ता श्री पार्श्वनाथ नामक तीर्थंकर हुए वे संसार से हमारी रक्षा करें ॥७६–७७॥

जो पहले पापी कमठ हुआ फिर पाप के वश से क्रूर दुष्ट कुर्कुट सर्प हुआ, फिर पाप के उदय से धूमप्रभ नरक में नारकी हुआ, पश्चात् अजगर हुआ, फिर छठवें नरक में दुष्ट नारकी हुआ, तदनन्तर भील हुआ, पुनः अत्यन्त विषम भयंकर और अशुभ सप्तम



...क धूमप्रभाख्येऽप्यनु—

भ्रान्त्वा भूरिभवान्कुदु:खकलितान्भूपो महीपालक ।

...दुष्टहृदयो जातोऽस्ति वैरादिह—

ज्ञात्वेतीह विदो न वैरमशुभं प्राणात्यये कुर्वते ॥७९॥

...ॱ जिनेश्वरोऽतिबहुधा सौख्यं नृनाकोद्भव

लब्ध्वा प्राप सुनित्यमुक्तिवनिता कोपात्कुदु:ख परम् ।

सप्राप्त: कमठो दुरन्तमनिशं तिर्यग्भव श्वभ्रज

मत्वेतीह जना निहत्य निखिलं कोप भजध्वं क्षमाम् ॥८०॥

एवं श्रीजिनपुङ्गवोऽत्र च मया सवन्दित: संस्तुतो

नित्यं तत्सुचरित्रसाररचनाव्याजेन योऽनेकधा ।

बोधिं दिव्यसमाधिमुत्तममृतिं दु:कर्मणा च क्षयं

दु:खस्यापि शिवं स्वकीयविभवं दद्यात्स मे धीरताम् ॥८१॥

वसन्ततिलका

शेषा हि ये जिनवरा जितमोहमल्ला, ज्ञानार्कदिव्यकिरणैरवभास्य लोकम् ।

प्रापु: सुमुक्तिवनितोद्भवसारसौख्यं, तत्पादपङ्कजवनान्यहमाश्रयामि ॥८२॥

नरक में नारकी हुआ, पश्चात् सिंह हुआ, फिर धूमप्रभ नामक भयंकर नरक में नारकी हुआ, पुन: कुत्सित दु:खों से युक्त अनेक भवों में भ्रमण कर महीपालक नामका राजा हुआ तदनन्तर तीव्र वैर के कारण इस जगत् में दुष्ट हृदय वाला संवर नामक देव हुआ । ऐसा जान कर ज्ञानी जीव प्राणविघात होने पर भी अशुभ वैर नहीं करते हैं ॥७८–७९॥

श्री पार्श्वजिनेन्द्र इस जगत् में क्षमा के द्वारा मनुष्य और देवगतिसम्बन्धी अनेक प्रकार के सुख प्राप्त कर अत्यन्त नित्य मुक्तिरूपी वनिता को प्राप्त हुए और क्रोध से कमठ तिर्यञ्च और नरकगति सम्बन्धी बहुत भारी भयंकर दु:ख को प्राप्त हुआ, ऐसा जान कर हे भव्यजन हो ! समस्त क्रोध को नष्ट कर क्षमा की आराधना करो ॥८०॥

इस प्रकार इस ग्रन्थ में मैंने उत्तम चरित की श्रेष्ठ रचना के बहाने जिनकी अनेक प्रकार से निरन्तर वन्दना और स्तुति की है वे श्री पार्श्व जिनेन्द्र मेरे लिये बोधि–रत्नत्रय, दिव्यसमाधि, उत्तम मरण, दुष्ट कर्मों का क्षय, दु:ख का क्षय, मोक्ष, अपना विभव और धीरता प्रदान करें ॥८१॥ मोहरूपी मल्ल को जीतने वाले जो शेष जिनेन्द्र, ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों से लोक को प्रकाशित कर सुमुक्तिरूपी वनिता से उत्पन्न होने वाले श्रेष्ठ सुख को प्राप्त हुए हैं मैं उनके चरणरूपी कमलवन का आश्रय लेता हूँ ॥८२॥ जो अनेक प्रकार

स्वागता

ये निहत्य बहुधा विधिजाल स्वाङ्गमेव तपसा [illegible] श्रीपतिः पुरुष [illegible] ।।

लोकमूर्ध्नि सुसद्गुणभूषास्ते दिशन्तु मम मोक्षमिहाढ्य [illegible] नी निरञ्ज [illegible] ।।

वसन्ततिलका

ये ह्याचरन्ति विमलं खलु पञ्चभेदमाचारमत्र निपुणाः स्वयमात्मशक्त्या ।

आचारयन्ति यमिना शिवकर्महेतो-र्वन्दे तदङ्घ्रिकमलान्वरतद्गुणौघैः ।।८४।।

ये सतरन्ति वरधीदृढपोतयुक्ता, ज्ञानार्णवं च सकलं लघु तारयन्ति ।

शिष्यान्सुवाक्यकिरणैः शिवमन्दिराप्त्यै, ज्ञानाय यामि शरण किल तत्क्रमाब्जम् ।।८५।।

स्रग्धरा

प्रावृट्काले द्रुमूले फणिजलनिचितेऽद्य्. सुयोग परं ये

हेमन्ते दिक्सुवस्त्रावृतदृढवपुषश्चत्वरेऽतीवशीते ।

ग्रीष्मे चाद्र्यग्रभूते इनकिरणचयैः सुष्ठु तप्ते शिलाग्रे

ते मे वन्द्याः प्रदद्युर्वरशिवगतये साधव. स्वस्वशक्तिम् ।।८६।।

अर्च्यं मान्य स्तुत च त्रिभुवनपतिभिः सेवितं मुक्तिकामै—

नित्य सद्धर्मबीज. शरणमनुपम. दुःखसत्रस्तपुंसाम् ।

के तप के द्वारा कर्म समूह तथा स्वकीय शरीर को ही नष्ट कर लोक के अग्रभाग को प्राप्त हुए हैं उत्तम गुण रूपी आभूषणों से सहित वे सिद्ध परमेष्ठी इस जगत् में मुझे मोक्ष प्रदान करें ।।८३।। लोकोत्तर सामर्थ्य से युक्त जो इस जगत् में पांच प्रकार के निर्मल आचार का अपनी शक्ति द्वारा स्वयं आचरण करते हैं और मोक्ष प्राप्ति के लिए अन्य मुनियो को आचरण कराते हैं उन आचार्यों के चरण कमलों को मैं उनके उत्कृष्ट गुण समूह के कारण नमस्कार करता हूं ।।८४।। उत्कृष्ट बुद्धि रूपी सुदृढ़ जहाज से युक्त जो समस्त ज्ञान रूपी सागर को शीघ्र ही तिर जाते हैं तथा उत्तम वचन रूपी किरणों के द्वारा जो शिष्यों को तिराते हैं मै मोक्ष महल की प्राप्ति तथा ज्ञान के लिये उन उपाध्याय परमेष्ठी के चरण कमल की शरण को प्राप्त होता हूं ।। ८५ ।। जिनका सुदृढ़ शरीर दिशा रूपी वस्त्रों से आवृत है ऐसे जो वर्षाकाल में सर्प तथा जल से व्याप्त वृक्ष के नीचे हेमन्त ऋतु मे अत्यन्त शीतल चौराहे पर और ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के अग्रभाग स्वरूप, सूर्य के किरण समूह से अच्छी तरह तपे हुये शिला के अग्रभाग पर उत्तम ध्यान धारण करते थे वे वन्दनीय साधु परमेष्ठी मुझे मोक्ष रूपी उत्कृष्ट गति के लिये अपनी अपनी शक्ति प्रदान करें ।।८६।। जो मुक्ति के इच्छुक तीन लोक के स्वामियों के द्वारा पूज्य है, मान्य है, स्तुत है, सेवित है, नित्य है, सद्धर्म का बीज है, दुःख से भयभीत मनुष्यों के लिये

पाप ... सुखजनकं स्वर्गसोपानभूतं

जीयान्नित्यं धरित्र्या गुणगणसदनं शासन तीर्थकर्तु. ॥८७॥

स्वागता

... परिपठन्ति सुशास्त्र पाठयन्ति सुविदो वरशिष्यान् ।

एनसा च विनिरोधनिर्जरा जायते बहुशुभं खलु तेषाम् ॥८८॥

शृण्वते इममतीव पवित्रं ग्रन्थसारमपि ये वरबुद्धया ।

ते स्वमोहमदनारिविनाशाद्यान्ति कल्यमसम ससुखाब्धिम् ॥८९॥

ये लिखन्ति निपुणा इममेव लेखयन्ति सुधनेन च वा ये ।

ज्ञानतीर्थसुविदस्तदहान्यै ते तरन्त्यचिरत श्रुतवार्द्धिम् ॥९०॥

ग्रन्थसारमिममेव मुनीन्द्राः कृत्स्नदोषरहिताः श्रुतपूर्णा :

शोधयन्तु निपुणा वरबुद्ध्या पार्श्वनाथभवपद्धतिजातम् ॥९१॥

इन्द्रवज्रा

न कीर्तिपूजादिसुलाभलोभान्न वा कवित्वाद्यभिमानतोऽयम् ।

ग्रन्थः कृतः किन्तु परार्थबुद्धया स्यातो परेषां च हिताय नूनम् ॥९२॥

अनुपम शरण है, पाप को नष्ट करने वाला है, तत्त्व का मूल कारण है, मोक्ष सुख को उत्पन्न करने वाला है, स्वर्ग की सीढ़ी स्वरूप है तथा गुण समूह का घर है ऐसा तीर्थङ्कर का शासन पृथिवी पर निरन्तर जयवन्त रहे ॥८७॥

जो सम्यग्ज्ञानी जीव इस समीचीन शास्त्र को अच्छी तरह पढ़ते हैं तथा उत्तम शिष्यों को पढ़ाते है उनके निश्चय से पापों का संवर और निर्जरा तथा बहुत प्रकार का कल्याण निश्चय से होता है ॥८८॥ जो मनुष्य उत्कृष्ट बुद्धि के द्वारा इस अत्यन्त पवित्र श्रेष्ठ ग्रन्थ को सुनते हैं वे अपने मोह और काम रूपी शत्रु का नाश होने से सुख रूपी सागर से सहित अनुपम नीरोगता को प्राप्त होते हैं ॥८९॥ ज्ञान रूपी तीर्थ को जानने वाले जो चतुर मनुष्य इस ग्रन्थ को स्वयं लिखते है तथा उसकी हानि न हो इस उद्देश्य से उत्तम धन के द्वारा दूसरों से लिखवाते हैं वे शीघ्र ही श्रुत रूपी सागर को तिर जाते है ॥९०॥ समस्त दोषों से रहित तथा श्रुतज्ञान से परिपूर्ण चतुर मुनिराज, पार्श्वनाथ भगवान् की भव परम्परा का वर्णन करने से उत्पन्न इस श्रेष्ठ ग्रन्थ का अपनी उत्कृष्ट बुद्धि से संशोधन करें ॥ ९१ ॥ मैंने यह ग्रन्थ न तो कीर्ति पूजा आदि के उत्तम काम के लोभ से किया है और न कवित्व आदि के अभिमान से ही किया है किन्तु परार्थ बुद्धि मे

स्वागता

अक्षरस्वरसुसन्धिसुमात्रादि-च्युतं यदपि किञ्चिदपीह ।
ज्ञानहीनचलचित्तप्रमादात्तत्क्षमस्व जिनवाणि समस्तम् ।। ९३ ।।

मालिनी

प्रथगमजलधि. श्रीपार्श्वनाथस्य दिव्यं, सकलविशदकीर्तेः प्रादुरासीन्मुनीन्द्रात् ।
यदिह वरचरित्रं तद्धि दक्षै. प्रणन्यं, जयति सुजनसेव्यं जैनधर्मोऽस्ति यावत् ।। ९४ ।।

शार्दूलविक्रीडितम्

सर्वे तीर्थंकरा महातिशयिनः सिद्धा हि कर्मातिगा-
दिव्याष्टाद्भुतसद्गुणैश्च सहिताः श्रीसाधवश्च त्रिधा ।
शुक्लध्यानसुयोगसाधनपरा विद्याम्बुधेः पारगा
ये ते विश्वगुणाकराश्च शिवदं कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ।। ९५ ।।

स्रग्धरा

विश्वार्च्या विश्ववन्द्याः सकलवृषधरा मुक्तिकान्ताप्रसक्ता-
हन्तारः कर्मशत्रून् सुगुणजलधयो जाप्यरूपेण नित्यम् ।

ग्रन्थ जीवों के हित के लिये निश्चय से इसका कथन किया है ।।९२।। मैंने इस ग्रन्थ में ज्ञान की हीनता, चित्त की चञ्चलता तथा प्रमाद से जो कुछ भी अक्षर स्वर सन्धि तथा मात्रा आदि की त्रुटि की हो हे जिनवाणी माता ! उस सबको क्षमा करो ।।९३।। पार्श्वनाथ भगवान् का जो यह दिव्य तथा उत्कृष्ट चरित्र सकल कीर्ति मुनिराज से प्रादुर्भूत हुआ है वह ज्ञान का सागर है तथा चतुर मनुष्यों के द्वारा प्रशंसनीय है । सत्पुरुषों के द्वारा सेवित-पठन पाठन मे लाया जाने वाला यह ग्रन्थ जब तक जैन धर्म है तब तक जयवन्त प्रवर्ते ।।९४।। महान् अतिशयो से सहित समस्त तीर्थंकर, दिव्य तथा आश्चर्यकारी आठ गुणों से सहित कर्मातीत सिद्ध परमेष्ठी तथा आचार्य उपाध्याय और साधु के भेद से तीन प्रकार के वे साधु परमेष्ठी जो शुक्लध्यान का सुयोग सिद्ध करने में तत्पर हैं, विद्या रूपी समुद्र के पारगामी हैं तथा समस्त गुणो की खान स्वरूप हैं मेरे लिये मोक्ष दायक मङ्गल प्रदान करें ।।९५।।

जो सबके द्वारा पूज्य हैं, वन्दनीय हैं, समस्त धर्म को धारण करने वाले हैं, उत्तम गुणों के सागर हैं और जाप्यरूप से भव्यजीवों के द्वारा निरन्तर आराधनीय हैं ऐसे मोक्ष

द्रव्य दात्री सौ० श्रीमती सेठानी मनफूल बाई



धर्मपत्नी श्रीमान् सेठ बालचन्दजी पाटनी, (निवाई)

द्रव्यदात्री महोदया का संक्षिप्त परिचय

सौ० श्रीमती सेठानी मनफूल बाई श्री जैन वीर मडल व व्यापारी मडल नवाई के अध्यक्ष, तथा अखिल विश्व जैन मिशन के महान प्रेमी एव राजस्थान प्रान्तीय अ. वि जैन मिशन वारा के भू० पू० अध्यक्ष, २५०० वें भगवान महावीर निर्वाण समिति तहसील नवाई के अध्यक्ष, सौम्य व सरल स्वभावी सेठ बालचन्दजी पाटनी की धर्मपत्नी है। आप सहज सौम्य धर्म-परायण सरल हृदया महिला है। समय २ पर गुप्त दान देती रहती है। आपके सुपुत्र चि० राजेन्द्र कुमार हाल ही मे कृषि उपज मडी एव नगर पालिका नवाई के सदस्य चुने गये है। आपका पुत्र–पुत्री, पौत्र–पौत्री आदि से भरा पूरा परिवार है। आपने धर्म प्रेम वश इस ग्रंथ के प्रकाशन मे जो द्रव्य दान दिया है वह सराहनीय है। आप इसी प्रकार धार्मिक कार्यों एवं साहित्यिक सेवामे अपनी चचलालक्ष्मी का सदुपयोग करती रहे यह कामना है।

सम्पादकीय निवेदन

अन्वर्थ नाम के धारक पूज्य श्री १०८ श्रुतसागरजी महाराज दिगम्बर जैन साधुओ में आचार्यकल्प उपाधि से प्रसिद्ध है। जहा आप संघस्थ साधु साध्वियों के संरक्षण तथा ज्ञानवर्धन का पूर्ण ध्यान रखते है वहा जनसाधारण की ज्ञान पिपासा को भी शान्त करने का प्रयास करते है। सस्कृत तथा प्राकृत भाषा के गहन ग्रन्थो का रुचिवर्धक सरल अनुवादन और प्रकाशन कराकर वे जनसाधारण को स्वाध्याय की अच्छी सामग्री जुटा देते है। तपःपूत आत्मा मे इतनी शक्ति प्रकट हुई है कि बडे बडे धनपति स्वयमेव उनके चरणो मे निवेदन करते देखे जाते है कि हमारे कुछ द्रव्य का सदुपयोग करा दीजिये। जिनागम के प्रचार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि होती है। इस विचार से आप ग्रन्थो के प्रकाशन की ओर धनपति गृहस्थो का चित्त आकृष्ट कर देते है। 'सम्यग्ज्ञान ही जीवो को सुखप्राप्ति का प्रमुख कारण है' इसलिये जितना अधिक सम्यग्ज्ञान का विकास हो सके उतना ही यह जीव शाश्वत शान्ति प्रदाता सुख के निकट पहुँच सकता है।

श्री १०५ माता विशुद्धमतिजी के द्वारा निर्मित त्रिलोकसार की नूतन टीका का प्रकाशन अभी हाल सम्पन्न हुआ है। इस ग्रन्थ के मूल तथा सस्कृत टीका के पाठभेद लेने के संदर्भ में गतवर्ष मुझे १५ दिन निवाई मे रहना पडा था। संघ का चातुर्मास योग भी वही था। उस समय आचार्यकल्प श्री श्रुतसागरजी महाराज ने सकलकीर्ति आचार्य रचित पार्श्वनाथ चरित के संपादन और अनुवाद का आदेश दिया। यह ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित भी था इसलिये पूज्यश्री का इसके प्रकाशन की ओर लक्ष्य था। आदेश के साथ ही आपने ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन झालरापाटन तथा जयपुर के शास्त्र भण्डारो से ४ हस्तलिखित प्रतिया भी मगा दी। सुयोग की बात थी कि इस कार्य का प्रारम्भ निवाई मे ही होगया। दिन मे पाठभेद लेने का काम चलता था और रात्रि के समय मैंने यह कार्य शुरू कर दिया था। लगभग चार माह के प्रयास के बाद ग्रन्थ की प्रेस कापी तैयार हो गयी। प्रेस कापी को महाराजश्री ने स्वय पढा और लेखन सम्बन्धी व शुद्धियो को ठीक कराकर श्री वीर प्रेस, के सचालक श्री प० भवरलालजी न्यायतीर्थ को सौंप दी। पण्डितजी ने बडी रुचि पूर्वक तत्परता से ग्रन्थ को मुद्रित कर दिया।

भगवान् पार्श्वनाथ जन जन के श्रद्धाभाजन है। उनका वर्तमान तथा पूर्व जीवन अलौकिक घटनाओं से भरा हुआ है। मरुभूति के प्रति कमठ का एकपक्षीय वैर देख कर आखो के सामने सौजन्य और दौर्जन्य का सच्चा चित्र उपस्थित हो जाता है। प्रशमगुण के अवतार मरुभूति के जीव को जो आगे चलकर पार्श्वनाथ तीर्थंकर बना है, कितना परेशान किया है ? यह देख हृदय मे कमठ के जीव की दुष्टता और मरुभूति के जीव की सहिष्णुता का दृश्य सामने आ जाता है। पूर्वभवो की बात जाने दो, वर्तमान भव मे भी उसने कितना भयंकर उपसर्ग उन पर किया था, यह पढ कर शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। अन्त मे धरणेन्द्र और पद्मावती के द्वारा जो कि कुमार पार्श्वनाथ के मुख से सदुपदेश सुन कर नाग नागिनी की पर्याय छोड़ देव देवी हुए थे, उस भयंकर उपसर्ग का निवारण हुआ और मुनिराज पार्श्वनाथ केवलज्ञान प्राप्त कर भगवान् अरहन्त बन गये। कमठ का जीव अपने कुकृत्य का प्रायश्चित्त कर सदा के लिये निर्वैर हो गया।

इन्ही पार्श्वनाथ भगवान् का चरित इस ग्रन्थ में लिखा गया है। जैन साहित्य भाण्डारों मे अज्ञात वास करने वाले सहस्रो जैन ग्रन्थो के अन्वेषक डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल जयपुर ने इसकी प्रस्तावना लिखी है। उनके प्रति मेरा सहज विद्यानुराग है। पूज्य श्री १०८ अजितसागरजी महाराज ने ग्रन्थ को देख कर अनेक सुझाव दिये हैं इसलिये उनके प्रति विनम्र श्रद्धा प्रकट करता हूँ। श्री ब्र० लाडमलजी ने इसके मुद्रण की व्यवस्था की है इसलिये उनके प्रति आभार है। ग्रन्थ के प्रकाशन मे जिन धर्म प्रेमी बन्धुओं ने अर्थराशि प्रदान कर पाठको के लिये स्वाध्याय की सुरुचिपूर्ण सामग्री दी है इसलिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ में वृत्त वर्णन के साथ जैनतत्त्वज्ञान का भी अच्छा वर्णन आया है इसलिये नियमित स्वाध्याय करने वाले महानुभाव अनायास ही तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। कविवर भूधरदासजी ने स्वरचित छन्दोवद्ध पार्श्वपुराण मे इस ग्रन्थ से बहुत कुछ सामग्री ली है।

'मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजानि इस अनन्य श्रद्धा भाव से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति कर मैं एकबार बड़े संकट से निवृत्त हुआ था। इसलिये उनके इस पावन चरित ग्रन्थ का संपादन तथा अनुवाद कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता है। जिनवाणी की उपासना मे मुझे अपार आनन्द की उपलब्धि होती है। पठन-पाठन तथा दिनचर्या से अतिरिक्त जो समय मुझे मिलता है उसका उपयोग जिनवाणी की उपासना मे ही होता है।

बुद्धिपूर्वक प्रयास तो यही करता हूँ कि कही कोई त्रुटि न रह जाय ; फिर भी अल्पज्ञानी हूँ इसलिये त्रुटियो का रह जाना संभव है। उन त्रुटियो के विषय मे विद्वानो से क्षमाप्रार्थी हूँ। इस प्रकार प्रूफ की गलतियो के लिए भी मुझे खेद है।

संपादन मे उपयुक्त हस्त लिखित प्रतियो का परिचय और सांकेतिक नाम मैंने लिखकर रख लिये थे, परन्तु इस लेख के लिखते समय वे उपलब्ध नही हो सके। कही अन्य कागजातों में वे पत्रक दब गये। अवस्थाजन्य विस्मृति दोष के कारण जब उन पत्रको को प्राप्त न कर सका तब मैंने झालरापाटन वासी श्री निवासजी शास्त्री को लिखा। उन्होने पं० पन्नालाल सरस्वती भवन की ३ प्रतियो का परिचय भेज दिया जो अग्रिम स्तम्भ मे दिया जा रहा है। हां, जयपुर की प्रतियों का परिचय रह गया इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। जयपुर की प्रतियां डा० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल ने भिजवायी थी। ग्रन्थ तथा ग्रन्थकार का विशिष्ट परिचय आदरणीय डा० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल द्वारा लिखित प्रस्तावना से अवगत करने की प्रार्थना है।

अन्तमें परम पूज्य श्रुतसागरजी महाराज के चरणो मे नत मस्तक होता हुआ श्रद्धा भाव प्रकट करता हूँ। उनके अभी हाल जयपुर मे कहे हुए शब्द कि 'पण्डितजी आपके हाथ तो कांपने लगे परन्तु आत्मा नहीं कांपती' रह रह कर कानों में गूंजते रहते हैं। कब उद्धार होगा गृहस्थी के अन्धकूप में ?

विनीत :

पन्नालाल साहित्याचार्य

सागर,
श्रावण तृतीया
वीर निर्वाण शती रजत जयन्ती
वी० २५०१

हस्त लिखित प्रतियों का परिचय

'क' प्रति

यह प्रति ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवन झालरापाटन की है। श्रीमान् पं० श्रीनिवासजी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसकी पत्र स० १०५ है। पत्रो का आकार १०½×५ इंच है। प्रत्येक पत्र मे १० पक्तिया है और प्रति पक्ति में ३८-४० तक अक्षर है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। लिखने मे लाल और काली स्याही का उपयोग किया गया है। लेखन काल चैत्र सुदी १५ संवत् १८५५ है। अन्त मे लेख है—

श्रीमत्पूज्य पण्डितजी श्री १०५ ताराचन्द्रजी तत् शिष्य लिखितं पं० श्रीचन्द्र महारोठ मध्ये आदिनाथ जिनालये, शुभं भवतु। भवन में इस प्रति का जनरल नंबर ३४५ और पु० न० २४८ है। *इस प्रति मे १ से ६१ तक और ८८ से १०५ तक के पत्र है, बीच के पत्र नही है इसलिये इसका पूरा* उपयोग नही किया जा सका है।

'ख' प्रति

यह प्रति भी ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवन झालरापाटन की है। इसका जनरल नं० ३४७ तथा पु० न० २५६ है। पत्र संख्या १८३ है। पत्रों का आकार ११×५ इंच है। प्रत्येक पंक्ति में ३०-३२ अक्षर है। काली स्याही का उपयोग किया गया है। लिपि सुवाच्य है। पाठ शुद्ध किये है। किसी विद्वान् लेखक ने इस प्रति के पाठ शुद्धि किये है। एक ही स्याही का प्रयोग होने से सर्गसमाप्ति आदि का पता चलाना कष्ट साध्य है। इसका लेखन काल १८६६ है। आषाढ सुदी ११ भृगुवार को श्री घासील ल ब्राह्मण ने लिखकर पूर्ण की है।

'ग' प्रति

यह प्रति भी झालरापाटन की ही है। इसका जनरल न० ३४८ और पु० नं० ४५५ है। पत्र संख्या १६७ है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। पत्रों का आकार ८×५½ इंच है। प्रत्येज पत्र मे ११ पक्तियां और प्रत्येक पंक्ति मे २५-२९ अक्षर है। लेखन काल १८६७ है। घासीलाल ब्राह्मण की लिखी है।

जयपुर की प्रतियो का परिचय नही दिया जा सका है।

प्रस्तावना

संस्कृत भाषा एवं साहित्य के विकास मे जैनाचार्यों एवं सन्तो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भगवान महावीर ने अपना दिव्य सन्देश अर्धमागधी भाषा मे दिया था और उनके परिनिर्वाण के पश्चात् एक हजार वर्ष से भी अधिक समय देश मे प्राकृत भाषा का वर्चस्व रहा और उसमे अपार साहित्य लिखा गया, लेकिन जब जैनाचार्यो ने देश के बुद्धजीवियो की रुचि संस्कृत की ओर अधिक देखी तथा संस्कृत भाषा का विद्वान् ही पंडितो की श्रेणी मे समझा जाने लगा तो उन्होंने संस्कृत भाषा को अपनाने मे अपना पूर्ण समर्थन दिया और अपनी लेखनी द्वारा संस्कृत में सभी विषयो के विकास पर इतना अधिक लिखा कि अभी तक पूर्ण रूप से उसका इतिहास भी नही लिखा जा सका। उन्होने काव्य लिखे, पुराण लिखे, कथा एवं नाटक लिखे। आध्यात्मिक एवं सिद्धांत ग्रन्थो की रचना की। दर्शन एवं न्याय पर शीर्षस्थ ग्रन्थो की रचना करके संस्कृत साहित्य के इतिहास मे अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। यही नही आयुर्वेद, ज्योतिष, मन्त्र शास्त्र, गणित जैसे विषयों पर भी उन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की। संस्कृत भाषा मे ग्रन्थ निर्माण का उनका यह क्रम गत डेढ हजार वर्षो से उसी अबाध गति से चल रहा है। आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य पूज्यपाद, आचार्य रविषेण, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, विद्यानन्द एवं अमृतचन्द्र जैसे महान् आचार्यों पर किसे हर्ष नही होगा? इसी तरह आचार्य गुणभद्र, वादीभसिंह, महावीराचार्य, आचार्य शुभचन्द्र, हस्तिमल्ल, जैसे आचार्यो ने संस्कृत भाषा मे अपार साहित्य लिख कर संस्कृत साहित्य के यश एवं गौरव को द्विगुणित किया। १४ वी शताब्दी मे ही देश में भट्टारक संस्था ने लोकप्रियता प्राप्त की। ये भट्टारक स्वयं ही आचार्य, उपाध्याय एवं सर्वसाधु के रूप मे सर्वत्र समादृत थे। इन्होने अपने ५०० वर्षों के युग में न केवल जैन धर्म की ही सर्वत्र प्रभावना की किन्तु अपनी महान् विद्वत्ता से संस्कृत साहित्य की अनोखी सेवा की और देश को अपने त्याग एवं ज्ञान से एक नवीन दिशा प्रदान की।

इन भट्टारकों में भट्टारक सकलकीर्ति का नाम विशेषत. उल्लेखनीय है।

वे ऐसे ही सन्त शिरोमणि हैं जिनकी रचनायें राजस्थान के शास्त्र भण्डारो का गौरव बढा रही हैं। इस प्रदेश का ऐसा कोई ग्रन्थागार नही जिसमे उनकी कम से कम तीन चार कृतियाँ संग्र-

शांतसुखकरास्तीर्थनाथाश्च सिद्धा

ये तेऽनन्ता मुनीन्द्रा शुभसुखसदनं मङ्गलं च प्रदद्यु: ॥ ९६ ॥

मालिनी

जिनवररुचिमूलो ज्ञानसत्पीठबन्धः, सकलचरणशाखो दानपत्रप्रसूनः ।
शिवसुखफलनम्रो धर्मकल्पद्रुमो वोऽस्तु सुशिवफलकामैः सेव्य एवाष्टसिद्धयै ॥९७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

धर्मो विश्वसमीहितार्थजनको धर्मं व्यधुर्धार्मिका

धर्मेणाशु शिवं भजन्ति मुनयो धर्माय मुक्त्यै नमः ।

धर्मान्नास्त्यपरोऽखिलार्थसुखदो धर्मस्य मूलं सुदृग्

धर्मे चित्तमहं दधेऽन्तकमुखाद्धे धर्म रक्षाशु माम् ॥ ९८ ॥

सर्वे श्रीजिनपुङ्गवाश्च विमलाः सिद्धा अमूर्ता विदो

विश्वार्च्या गुरवो जिनेन्द्रमुखजा सिद्धान्तधर्मादयः ।

कर्तारो जिनशासनस्य महिता सवन्दिताः संस्तुता

ये ते मेऽत्र दिशन्तु मुक्तिजनके शुद्धिं च रत्नत्रये ॥ ९९ ॥

सुख को करने वाले तीर्थङ्कर, सिद्ध भगवान् तथा अनन्त मुनिराज मेरे लिये शुभ सुख के गृहस्वरूप मङ्गल प्रदान करें ॥९६॥ जिनेंद्रभगवान् की श्रद्धा ही जिसकी जड है, सम्यग्ज्ञान ही जिसकी पींड हैं, सकल चारित्र ही जिसकी शाखाएं है, दान ही जिसके पत्ते और फूल है, जो मोक्ष सुखरूपी फलों से नम्रीभूत है तथा उत्तम मोक्षरूपी फल के इच्छुक मनुष्यों के द्वारा सेवनीय है ऐसा धर्मरूपी कल्पवृक्ष तुम सब को अणिमा महिमा आदि आठ सिद्धियों के लिये हो ॥९७॥

धर्म, समस्त वाञ्छित पदार्थों को उत्पन्न करने वाला है, धार्मिक पुरुष धर्मको करते थे, मुनि धर्म के द्वारा शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं, मुक्ति प्राप्ति के लिये धर्म को नमस्कार है, धर्म से बढकर समस्त सुखों को देने वाला दूसरा पदार्थ नहीं है, धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, मैं धर्म में चित्त लगाता हूँ, हे धर्म ! यम के मुख से मेरी शीघ्र ही रक्षा करो ॥९८॥ समस्त जिनराज–तीर्थकर, निर्मल अमूर्तिक और ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमेष्ठी, सबके द्वारा पूजनीय गुरु, जिनेन्द्र भगवान् के मुख से उत्पन्न सिद्धान्त धर्म आदि तथा जिन शासन के कर्ता जो मेरे द्वारा पूजित, वन्दित तथा संस्तुत हुए हैं वे सब इस जगत् में मुक्ति

---

१ जिनेन्द्ररुचि ।

अनुष्टुप्

पञ्चाशदधिकान्येवाष्टाविंशतिशतान्यपि ।
श्लोकसंख्याश्च विज्ञेया सर्वग्रन्थस्य लेखकैः ॥१००॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते पार्श्वनाथचरित्रे श्री पार्श्वनाथमोक्षगमन वर्णनो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः ॥ २३ ॥

को प्राप्त कराने वाले रत्नत्रय में मेरी विशुद्धि करें। भावार्थ–इन सबके प्रसाद से मेरा रत्नत्रय निर्दोष हो ॥६६॥

लेखकों द्वारा इस सम्पूर्ण ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या अठ्ठाईस सौ पचास २८५० जानने योग्य है ॥१००॥

इस प्रकार भट्टारकश्रीसकलकीर्ति द्वारा विरचित पार्श्वनाथचरित में श्रीपार्श्वनाथ भगवान् के मोक्षगमन का वर्णन करने वाला तेईसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२३॥



टीकाकर्तृ प्रशस्तिः

श्रीलालितनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
पन्नालालेन बालेन सागरग्रामवासिना ॥१॥
श्रीश्रुतसागराभिख्यमुनीन्द्रस्य महामतेः ।
समासाद्य समादेशं भव्यकल्याणकारकम् ॥२॥
पार्श्वनाथचरित्रस्य रचितस्य महाधिया ।
भट्टारकपदाढ्ये न जिनधर्मप्रभाविणा ॥३॥
सकलकीर्त्याचार्येण टीकैषा रचिता शुभा ।
सार्धद्विकसहस्राब्दे सुगते वीरनिर्वृतेः ॥४॥
वैशाखकृष्णपक्षस्य प्रतिपत्सत्तिथौ रवेः ।
वासरेह्यपराह्णे च पूर्णैषा भुवि वर्तताम् ॥५॥
मोदाय भव्यजीवानां यावच्चन्द्रदिवाकरम् ।
शोधयन्तु बुधा एतां स्वधियामलयोन्मलाम् ॥६॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा स्खलितं यत्पदे पदे ।
क्षमध्वं विबुधास्तन्मे ज्ञानवारिधिसन्निभाः ॥७॥
येन कर्माष्टकं दग्धं शुक्लध्यानानलेन वै ।
श्रीमान् पार्श्वजिनेन्द्रोऽसौ पातु मां भववारिधेः ॥८॥
श्री श्रुतसागराभिख्यो मुनीन्द्रो महितोऽमरैः ।
सद्धर्मवत्सलो नित्यं पातु मां गृहकर्दमात् ॥९॥

